संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २०

आचार्य सकलकीर्ति विरचित

मूलाचार प्रदीप

(भाषा टीका सहित)

अनुवादक

धर्मरत्न पं० लालाराम शास्त्री

सम्पादक

पं० विद्याकुमार सेठी

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

मूलाचार प्रदीप

कृतिकार : आचार्य सकलकीर्ति

अनुवादक : धर्मरत्न पं० लालाराम शास्त्री

सम्पादक : पं० विद्याकुमार सेठी

संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत्

आवृत्ति : २५४३) ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल, ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें, जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव

विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वत्वर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

श्रमणों की परम्परा में मूलाचार विषयक संस्कृत भाषा में निबद्ध रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। आचार्य सकलकीर्ति द्वारा रचित मूलाचार प्रदीप ग्रन्थ विस्तार पूर्वक सरल भाषा में प्रत्येक विषय का स्पष्टीकरण करते हुए उपलब्ध होता है। अतः संयम स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया गया। पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित तो था किन्तु बेशुमार अशुद्धियों के साथ पढ़ने में आता था। इस ग्रन्थ का पुनः शुद्ध सम्पादन एवं संशोधन कार्य संघस्थ मुनिराजों, आर्यिका माताजी एवं ब्रह्मचारिणी बहिनों के द्वारा बड़े परिश्रम के साथ किया गया है। एतदर्थ पूर्व प्रकाशित संस्था, ग्रन्थ के अनुवादक तथा पुनः प्रकाशन में सहयोगी सभी सुधी जनों का हृदय से आभार व्यक्त करते हैं।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आचार्य सकलकीर्ति

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास में जैनाचार्यों एवं सन्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भगवान महावीर ने अपना दिव्य सन्देश अर्धमागधी भाषा में दिया था और उनके परिनिर्वाण के पश्चात् एक हजार वर्ष से भी अधिक समय देश में प्राकृत भाषा का वर्चस्व रहा और उसमें अपार साहित्य लिखा गया, लेकिन जब जैनाचार्यों ने देश के बुद्धिजीवियों की रुचि संस्कृत की ओर अधिक देखी तथा संस्कृत भाषा का विद्वान् ही पंडितों की श्रेणी में समझा जाने लगा तो उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाने में अपना पूर्ण समर्थन दिया और अपनी लेखनी द्वारा संस्कृत में सभी विषयों के विकास पर इतना अधिक लिखा कि अभी तक पूर्णरूप से उसका इतिहास भी नहीं लिखा जा सका। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे, कथा एवं नाटक लिखे।

आध्यात्मिक एवं सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की। दर्शन एवं न्याय पर शीर्षस्थ ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। यही नहीं आयुर्वेद, ज्योतिष, मन्त्र शास्त्र, गणित जैसे विषयों पर भी उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत भाषा में ग्रन्थ निर्माण का उनका यह क्रम गत डेढ़ हजार वर्षों से उसी अबाध गति से चल रहा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य रविषेण, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, विद्यानन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों पर किसे हर्ष नहीं होगा?

इसी तरह आचार्य गुणभद्र, वादीभसिंह, महावीराचार्य, आचार्य शुभचन्द्र, हस्तिमल्ल जैसे आचार्यों ने संस्कृत भाषा में अपार साहित्य लिखकर संस्कृत साहित्य के यश एवं गौरव को द्विगुणित किया। १४ वीं शताब्दी में ही देश में भट्टारक संस्था ने लोकप्रियता प्राप्त की। ये भट्टारक स्वयं ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में सर्वत्र समादृत थे। इन्होंने अपने ५०० वर्षों के युग में न केवल जैनधर्म की ही सर्वत्र प्रभावना की किन्तु अपनी महान् विद्वत्ता से संस्कृत साहित्य की अनोखी सेवा की और देश को अपने त्याग एवं ज्ञान से एक नवीन दिशा प्रदान की।

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। वे ऐसे ही सन्त शिरोमणि हैं, जिनकी रचनाएँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारों का गौरव बढ़ा रही हैं। इस प्रदेश का ऐसा कोई ग्रन्थागार नहीं जिसमें उनकी कम से कम तीन चार कृतियाँ संग्रहित नहीं हों। वे साहित्य गगन के ऐसे महान् तपस्वी सन्त हैं जिनकी विद्वत्ता पर देश का सम्पूर्ण विद्वत् समाज गर्व कर सकता है। वे साहित्य गगन के सूर्य हैं और अपनी काव्य प्रतिभा से गत ७०० वर्षों से सभी को आलोकित कर रखा है। उन्होंने संस्कृत एवं राजस्थानी में दो-चार नहीं, पचासों रचनाएँ निबद्ध कीं और काव्य, पुराण, चरित, कथा, अध्यात्म, सुभाषित आदि विविध विषयों पर अधिकार पूर्वक लिखा। गुजरात,

बागड़, मेवाड़ एवं ढूंढाहड़ प्रदेश में जिनके पचासों शिष्य प्रशिष्यों ने उनकी कृतियों की प्रतिलिपियाँ करके यहाँ के शास्त्र भण्डारों की शोभा में अभिवृद्धि की और गत ५०० वर्षों से जिनकी कृतियों का स्वाध्याय एवं पठन-पाठन का समाज में सर्वाधिक प्रचार रहा है। जिनमें कितने ही पुराण एवं चरित्र ग्रन्थों की हिन्दी टीकाएँ हो चुकी हैं तथा अभी तक भी वही क्रम चालू है। ऐसे महाकवि का संस्कृत साहित्य के इतिहास में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलना निःसंदेह विचारणीय है। ''राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व''[१] पुस्तक में सर्वप्रथम लेखक ने भट्टारक सकलकीर्ति पर जब विस्तृत प्रकाश डाला तो विद्वानों का इस ओर ध्यान गया और उदयपुर विश्वविद्यालय से डॉ॰ बिहारीलालजी जैन ने भट्टारक सकलकीर्ति पर एक शोध-प्रबन्ध लिखकर उनके जीवन एवं कर्तृत्व पर गहरी खोज की और बहुत ही सुन्दर रीति से उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया। प्रसन्नता का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध को स्वीकृत करके श्री बिहारीलाल जैन को पी-एच॰ डी॰ की उपाधि से सम्मानित भी कर दिया है। डॉ॰ जैन ने सकलकीर्ति की आयु एवं जीवन के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य उपस्थित किए हैं लेकिन आचार्य सकलकीर्ति के विशाल साहित्य को देखते हुए अभी उनका और भी विस्तृत मूल्यांकन होना शेष है। अभी तक विद्वानों ने सर्वे के रूप में उनके साहित्य का नामोल्लेख किया है तथा उनका सामान्य परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है किन्तु उनकी प्रत्येक कृति ही अपूर्व कृति है जिसमें सभी प्रकार की ज्ञान सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे एवं कथा साहित्य लिखा और जनसाधारण में उन्हें लोकप्रिय बनाया। उन्होंने संस्कृत में ही नहीं, राजस्थानी भाषा में भी लिखा। इसमें भट्टारक सकलकीर्ति के महान् व्यक्तित्व को देखा एवं परखा जा सकता है।

जीवन परिचय—

भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहने वाले थे। इनकी जाति हूमड थी।[२] ''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' कहावत के अनुसार गर्भधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा—

---

१. साहित्य शोध विभाग श्री दिग॰ जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित।

२. हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चोऊद त्रिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ।
न्याति माँहि मुहुतवंत हूँबड़ हरषि बखाणिइये।
करमसिह वितपन्न उदयवंत इम जाणीए॥३॥
शाभित रस अरधांगि, भूलि सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यंगारित अगिं पेखु प्रत्यक्ष पुरंदरीय॥४॥ —सकलकीर्ति रास

''तजि वयण सुणीसार, कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गंगानीर, चन्दन नन्दन तुम्ह तणुए॥९॥
जलनिधि गहिर गम्भीर खीरोपम सोहामणुए।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि॥१०॥''

बालक का नाम पूरनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया। एक पट्टाबलि में इनका नाम पदार्थ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणों से युक्त था। पाँच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्रबुद्धि का था इसलिए शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अर्हद्भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा वे क्षमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे। गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया लेकिन विवाह बंधन में बँधने के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गतिविधियाँ देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा। पूर्णसिंह के कुछ समझ में नहीं आता और वे बार-बार साधुजीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति माँगते रहते।

अन्त में पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६ वें वर्ष में अपार सम्पत्ति को तिलांजलि देकर साधुजीवन अपना लिया। वे आत्मकल्याण के साथ-साथ जगत् कल्याण की ओर चल पड़े।

''भट्टारक सकलकीर्ति नु रास'' के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी। उस समय भट्टारक पद्मनन्दि का मुख्य केन्द्र नैणवां (उदयपुर) था और वे आगम ग्रन्थों के पारगामी विद्वान् माने जाते थे, इसलिए ये भी नेणवां चले गए और उनके शिष्य बनकर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहाँ ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत् साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपने जीवन का एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वें वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और नाम सकलकीर्ति रखा गया।

विहार—

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन संवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षों में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब विहार किया।

उस समय जनसाधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गई थी। साधु-सन्तों

के विहार का प्रभाव था। जनसाधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हें सरल भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था, इसलिए सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशों में विहार किया और सारे समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने कितने ही यात्रा-संघों का नेतृत्व किया। सर्वप्रथम उन्होंने गिरनार की संघ के साथ यात्रा प्रारम्भ की। फिर वे चंपानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहाँ से आने के पश्चात् हूमड जातीय रतना के साथ मांगीतुंगी की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश में धार्मिक चेतना फिर से जागृत होने लगी।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन—

तीर्थ यात्राओं के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव मन्दिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएँ करवाने का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने अपने जीवन में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया। इस कार्य में योग देने वालों में संघपति नरपाल एवं उनकी पत्नी बहुरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। गलियाकोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से ''चतुर्विंशति जिनबिम्ब'' की स्थापना की थी।

नागदा जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया। भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानों के जैन मन्दिरों में मिलती हैं। प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन आयोजनों से तत्कालीन समाज में जो जनजागृति उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पांडित्य—

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्होंने जिन-जिन परम्पराओं की नींव रखी, उनका बाद में खूब विकास हुआ। वे गम्भीर अध्ययन युक्त सन्त थे। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भट्टारक भुवनकीर्ति जैसे विद्वानों का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था, इसलिए जहाँ भी इनका विहार हो जाता था वहीं इनके सैकड़ों भक्त बन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान् थे ही किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। ब्रह्म जिनदास ने अपने ग्रन्थों में भट्टारक सकलकीर्ति को महाकवि, निर्ग्रन्थराज शुद्ध चरित्रधारी एवं तपोनिधि आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[१]

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन-

---

१. ततो भवत्तस्य जगत्प्रसिद्धेः पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्तिः।
महाकविः शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी॥ —जम्बू स्वामी चरित्र

जन का चित्त स्वत: ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा अनेक पुराण ग्रन्थों के रचयिता थे।[१]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होने वाले प्राय: सभी भट्टारकों ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्यकुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने आपको मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसलिए ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा सम्बोधित किए गए हैं। इन्होंने बागड़ प्रदेश में जहाँ भट्टारकों का कोई

प्रभाव नहीं था। संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा का भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चरित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पदयात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महाविद्वान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले साधु थे।

मृत्यु—

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं॰ परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह में इनकी मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डॉ॰ ज्योतिप्रसाद जैन एवं डॉ॰ प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डॉ॰ ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते हैं जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नहीं जान पड़ता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवनगाथा है। उसमें स्पष्टरूप से संवत् १४४३ को जन्म एवं संवत् १४९९

---

१. तत्पट्ट पंकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवर: प्रतापी।
महाकवित्वादिकला प्रवीण: तपोनिधि: श्री सकलादिकीर्ति:॥ –हरिवंश पुराण
तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तम–शास्त्रकारी।
भट्टारक श्रीसकलादिकीर्ति: प्रसिद्धनामाजनि पुण्यमूर्ति:॥२१६॥ –उपदेशरत्नमाला–सकलभूषण

में स्वर्गवास होने को स्वीकार किया है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था—

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का प्रभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थयात्रा बड़े-बड़े संघों में होती थी। उनका नेतृत्व करने वाले साधु होते थे। तीर्थ यात्राएँ बहुत लम्बी होती थीं तथा वहाँ से सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किए जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी तथा संघ के सभी साधुओं को पढ़ाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारकगण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रन्थ श्रावकों के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत-उपवास की समाप्ति पर श्रावकों द्वारा इन ग्रन्थों की प्रतियाँ विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों को भेंट स्वरूप दे दी जाती थीं। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी और न उनके पढ़ने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रन्थों की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि कराई जाती थी और उन्हें साधु-सन्तों को पढ़ने के लिए दे दिया जाता था।

साहित्य सेवा—

साहित्य सेवा में सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होंने अपने साधुजीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो। संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहजरूप में ही काव्य रचना करते थे, इसलिए उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्यरूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड़ एवं गुजरात प्रदेश में होने वाले अनेक साधु सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जनसाधारण की भावना को जागृत किया। इन्होंने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएँ एवं ८ राजस्थानी रचनाएँ निबद्ध की थीं।

राजस्थान में ग्रन्थ भण्डारों की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं।

संस्कृत की रचनाएँ—

१. मूलाचार प्रदीप, २, प्रश्नोत्तरोपासकाचार, ३. आदिपुराण, ४. उत्तरपुराण, ५. शांतिनाथ

चरित्र, ६. वर्धमान चरित्र, ७. मल्लिनाथ चरित्र, ८ यशोधर चरित्र, ९. धन्यकुमार चरित्र, १०. सुकुमाल चरित्र, ११. सुदर्शन चरित्र, १२ सद्भाषितावली, १३ पार्श्वनाथ चरित्र, १४. व्रतकथा कोष, १५. नेमिजिन चरित्र, १६. कर्मविपाक, १७ तत्त्वार्थसार दीपक, १८. सिद्धान्तसार दीपक, १९. आगमसार, २०. परमात्मराज स्तोत्र, २१. सारचतुर्विंशतिका, २२. श्रीपाल चरित्र, २३. जम्बूस्वामी चरित्र, २४. द्वादशानुप्रेक्षा।

पूजा ग्रन्थ—

२५. अष्टाह्निका पूजा, २६ सोलहकारण पूजा, २७. गणधरवलय पूजा। राजस्थानी कृतियाँ—

१. आराधना प्रतिबोधसार, २. नेमीश्वर गीत, ३. मुक्तावलि गीत, ४. णमोकार फल गीत, ५. सोलहकारण रास, ६. सारशिखामणि रास, ७. शान्तिनाथ फागु।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएँ हो सकती हैं जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिए, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र० जिनदास ने इन्हीं की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएँ निबद्ध की हैं।

उक्त संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठी पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और भी कृतियाँ हैं जो राजस्थान के शास्त्र भंडारों में उपलब्ध होती हैं। ये सभी कृतियाँ जैन समाज में लोकप्रिय रही हैं तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओं में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यों में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है। उनके चरित काव्यों के पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यों के नायक त्रेसठ शलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरस पर्यवसानी हैं।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एवं तत्त्वार्थसार दीपक तथा कर्मविपाक जैसी रचनाएँ उनके अगाध ज्ञान के परिचायक हैं। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ़ रहस्यों का निचोड़ है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांगज्ञान का प्रतीक है, जिसमें सकलकीर्ति ने जगत् के प्राणियों को सुन्दर शिक्षाएँ भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्मकल्याण करने की ओर अग्रसर हो सकें। वास्तव में वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे। ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नहीं होगा?

राजस्थानी रचनाएँ—

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएँ मिली हैं वे सभी लघु रचनाएँ हैं जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था। इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में ३० ग्रन्थों की रचना करके माँ भारती की अपूर्व सेवा की और देश में संस्कृत के पठन-पाठन का जबरदस्त प्रचार किया।

प्रस्तावना

'मूलाचार प्रदीप' ग्रन्थ के बारह अधिकारों का संक्षिप्त सारात्मक अथवा विशिष्ट अंश—

आचार्य सकलकीर्ति ने १२ अधिकारों में मुनियों के मूलगुण एवं उत्तरगुणों का बहुत सुबोध एवं रहस्यात्मक वर्णन किया।

प्रथम ही आचार्य श्री ने ३८ श्लोकों में नमस्काररूप मंगलाचरण किया। आपने मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठी के गुणों का क्रमिक एवं बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया। पाठक गण स्वयं अनुभव करेंगे कि इसी प्रकार से अरहन्तादिक के गुणों का स्मरण करें तो चित्त की एकाग्रता के साथ-साथ ध्यान की सिद्धि भी हो सकती है। पुनः आचार्य महोदय ने शास्त्र रचना की प्रतिज्ञा करते हुए २८ मूलगुणों का बहुत ही सरल भाषा में वर्णन किया है।

अहिंसा महाव्रत—(१) २६४ गाथाओं में आचार्य श्री ने अहिंसा महाव्रत के पालन हेतु जीवों की काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, योनियों को समझने की प्रेरणा दी है। (२) पंच स्थावरों का स्वरूप निर्देश करते हुए प्राणियों को पृथ्वीकायादि के अस्तित्व का श्रद्धान करने की प्रेरणा दी है। (३) इन जीवों के अस्तित्व का श्रद्धान नहीं करने वाले जीवों को, दीर्घ संसारी, पापी, मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी, संसार में डूबने वाला, जिन धर्म से बाहर आदि शब्दों के द्वारा तिरस्कृत किया है। (४) आचार्यों ने जिनलिंगधारी मुनिराज को, पृथ्वीकायादिक जीवों की रक्षा के लिए निम्न बातों का निर्देश किया है—

(अ) पृथ्वीकायादिक की विराधना से विरत मुनिराज अपने हाथ-पैर की अंगुली से, खपरादि से पृथ्वी को नहीं खोदते।

(ब) शौचादिक कार्यों में भी त्रियोग से जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं करते।

(स) शरीर में शीत ज्वर आदि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा आदि तेजकायिक युक्त अग्नि को कभी काम में नहीं लेते।

(द) अधिक दाह होने पर भी वस्त्र से, वस्त्र के कोने से, पंखे से, पत्र से, दूसरों के द्वारा भी वायु नहीं करवाना चाहिए। अधिक उष्णता से पीड़ित होने पर भी वायुकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख से नहीं निकालना चाहिए।

(५) हाथ-पैर आदि के द्वारा अनन्त जीवों का नाश करने वाली वनस्पति की विराधना नहीं करनी चाहिए।

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना में वचनगुप्ति के स्थान पर एषणा समिति का वाचन किया है

और चार भावनाओं का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के सदृश्य ही किया है।

सत्य महाव्रत १. सत्य महाव्रत के स्वरूप का निर्देश करते हुए आचार्य ने अर्हत् मुद्राधारी मुनिराज को निर्मल, कल्याणकारी, वैराग्य की स्थिरता वाले गुण की वृद्धि करने वाले शुभ वचन ही बोलने की प्रेरणा दायक है। २. आगमानुकूल वचन नहीं बोलने के समय मौन ही धारण करने की प्रेरणा दी है एवं असत्य के दूषण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि विष खा लेना, विष्टा खा लेना तो अच्छा है परन्तु असत्य बोलना कभी अच्छा नहीं है। ३. अनेक गुणों से सम्पन्न मुनि असत्य भाषण से चाण्डाल के समान निंद्य समझा जाता है। ४. तत्त्वार्थ के सदृश्य ही सत्य महाव्रत की भावना भाने की प्रेरणा दी है।

अचौर्य महाव्रत—[१] अचौर्य महाव्रत का वर्णन करते हुए आचार्य श्री ने कण्ठगत प्राण होने पर भी बिना दिया हुआ द्रव्य एवं संयम की हानि करने वाला द्रव्य लेने का निषेध किया। [२] पंच परमेष्ठी की जिस द्रव्य से पूजा की है, उस निर्माल्य द्रव्य को कभी नहीं लेना चाहिए। [३] निर्माल्य द्रव्य लेने वाले को नरक में जाने से कोई नहीं बचा सकता। [४] दन्त शुद्धि करने के लिए भी आचार्य महाव्रतधारी के लिए बिना दिए तृण भी न ग्रहण करने का आदेश दिया है।

अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखने वाली भावनाओं का बहुत रहस्यात्मक वर्णन किया है जो कि तत्त्वार्थसूत्र से विदृश्य है–(क) याचना नहीं करना (ख) किसी को कुछ आज्ञा नहीं देना (ग) किसी पदार्थ में ममत्व नहीं रखना। (घ) निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (ङ) साधर्मी पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल बर्ताव करना। **विशेष**—अत्यन्त गम्भीरता से विचारा जाए तो तत्त्वार्थसूत्र में कथित भावनाओं का सार आचार्य ने अपने शब्दों में किया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—इस महाव्रत का वर्णन तो बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। १. ब्रह्मचारी को स्त्री संसर्ग ही कलंक का कारण है। ऐसा मानकर ब्रह्मचारी को कोमल बिछौने एवं आसन पर बैठने का निषेध किया है। २. स्त्री का मुख देखना मात्र ही अनेक अनर्थ का कारण है तो साक्षात् स्त्री संसर्ग कलंक का कारण क्यों नहीं होगा। ३. ब्रह्मचारियों को स्त्री के श्रृंगार, कला, नृत्यादि को देखने का भी कठोर रूप से निषेध किया है। ४. स्त्री के संसर्ग से योगी भ्रष्ट होकर नरक में जाता है। ५. ब्रह्मचर्य की पाँच भावना में चार भावनाओं का तो तत्त्वार्थसूत्र के सदृश्य ही वर्णन किया गया है। ६. परन्तु पाँचवीं भावना में शरीर संस्कार के स्थान पर आचार्य महोदय ने स्त्री के रहने, सोने, उठने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिए त्याग करना बताया है।

परिग्रह त्याग महाव्रत–इस महाव्रत का आचार्य श्री ने आकिंचन्य महाव्रत के नाम से वर्णन किया। १. चेतन, अचेतन, बाह्य, अभ्यन्तर परिग्रह में मूर्च्छा के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य ने आकिंचन्य व्रत का बहुत अच्छा वर्णन किया है। २. ज्ञान, संयम, शौच के उपकरण के अलावा

आचार्य ने सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दी है। ३. वसतिकादि में भी स्वामित्व रखने को परिग्रह बताकर मुनिधर्म के अयोग्य पदार्थ को एक बाल के अग्रभाग का करोड़वाँ भाग भी नहीं ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। ४. तत्त्वार्थसूत्र के सादृश्य ही परिग्रह महाव्रत को शुद्ध रखने के लिए ५ भावनाओं की प्रेरणा दी है। ५. महाव्रत की परिभाषा करते हुए आचार्य कहते हैं कि महापुरुष जिसको धारण करते हैं एवं महान् पद मोक्ष को प्रदान करने वाला महाव्रत के नाम को सार्थक सिद्ध किया है। इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए प्रथम अधिकार को पूर्ण किया।

द्वितीय अधिकार

ईर्या समिति—३३६ श्लोक में आचार्य श्री ने पाँच समितियों का विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य बताते हैं कि–१. बिना प्रयोजन किसी भी गाँव या घर में मुनिराज को नहीं जाना चाहिए। २. कितना व कैसा भी श्रेष्ठ कार्य आ जाने पर भी सूर्यास्त व सूर्योदय के पूर्व मुनिराज को गमन नहीं करना चाहिए। ३. सैकड़ों कार्य होने पर भी मुनिराज चातुर्मास में न तो स्वयं गमन करे न व्रती को ही बाहर भेजें। ४. प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति नहीं देना चाहिए। यहाँ आ, वहाँ जा, यहाँ बैठ, इस कार्य को कर, भोजन कर इस प्रकार कहना भी पाप का कारण है।५. दयावान मुनिराज को हिलते हुए काष्ठ, पाषाण पर पैर देकर गमन नहीं करना चाहिए। ६. मार्ग में खड़े रहकर भी बात करने का निषेध किया तो चलते हुए वार्तालाप का निषेध तो नियम से ही समझ लेना चाहिए।

भाषा समिति—भाषा समिति के वर्णन में आचार्य महोदय ने १. आत्म प्रशंसा, विकथा, हँसी, निन्दा, चुगली आदि के वचन बोलने का निषेध करते हुए त्याग पूर्वक धर्ममार्ग में प्रवृत्ति करवाने वाले सारभूत, परिमित वचन बोलने को ही भाषा समिति कहा है। २ सत्य के दस भेदों का स्वरूप बहुत ही सुन्दर रूप से बतलाया है। पुनः ९ प्रकार की अनुभयादि भाषाओं का कथन किया है। ३. जो सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हो उसे सत्य व अनुभय भाषा बोलने की प्रेरणा दी है।४. दस प्रकार की निंद्य भाषाओं के त्याग की प्रेरणा दी है।५. व्रती पुरुष को ब्रह्मचर्य का घात करने वाली स्त्री आदि विकथा भी कभी नहीं करना चाहिए। ६. धर्मकथा के अलावा किसी भी प्रकार की कथा त्यागियों को न तो करनी ही चाहिए, न सुनना ही चाहिए।

७. वधकारी वचनों को कहने का निषेध किया है। ८. संघ के दोष का कथन भी पाप का कारण बताते हुए और भी अनेकों दोषों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

एषणा समिति—१. ठण्डा, गर्म जैसा शुद्ध प्रासुक भोजन श्रावक के यहाँ मिले वैसा ही ले लेना एषणा समिति है। २. भोजन के ४६ दोषों को ८ भेदों में गर्भित कर संक्षेप में भेदों का कथन किया। ३. अन्य आचारसार के कथनानुसार आचार्यश्री ने एषणा समिति के दोषों का कथन किया।

जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठण्डा हो गया ही ऐसा जल संयमियों को नहीं लेना चाहिए। आगे आचार्य श्री ने ६ कारणों से आहार ग्रहण करे व ६ कारणों से आहार का त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. दस प्रकार के अशन दोष में छठ दायक दोष में वेश्या हो, दासी हो, आर्यिका हो या लाल वस्त्र पहनने वाली हो ऐसी स्त्री दान दे अथवा मुनि ले तो दायकदोष उत्पन्न होता है। (४४९ गाथा) ५. तदनन्तर १४ मल दोषों का वर्णन करते हुए उत्तम, मध्यम, जघन्य मलों का भेद दर्शाया है। ६. शुद्ध भोजन की खोज करके आहार लेने वाले मुनि अधःकर्म दोषों से दूषित नहीं होते। भोजनचर्या के काल का कथन करते हुए धनी-निर्धन का भेद नहीं करना चाहिए। ७. पुनः ५ प्रकार की गोचर वृत्ति का कथन किया है एवं भोजन के कालादि ३२ प्रकार के अन्तराय का कथन किया है। स्वाद को छोड़कर भोजन करना चाहिए। ८. थकान आदि की अपेक्षा के बिना श्रावकों के घर में नहीं बैठना चाहिए। ९. मुनियों को कभी दिन में नहीं सोना चाहिए एवं १०. विकथादि करने, धर्मध्यान के दुर्लभ काल को व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहिए।

आदान निक्षेपण समिति—१. इस समिति के कथन में आचार्यश्री ने ज्ञान, संयम एवं शौचोपकरण को अच्छी तरह देख-भालकर रखने एवं उठाने की प्रेरणा दी है। २. पाटा, संस्तर आदि को हिलाना-चलाना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से जीवों की विराधना होती है। ३. नहीं हिलने वाले संस्तरादि पर बैठना व सोना चाहिए। ४. दुःप्रतिलेखना के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने अच्छी तरह पहले देखकर फिर सावधानीपूर्वक पिच्छिका से मार्जन करने की प्रेरणा दी है। ५. जो मुनि आदान-निक्षेपण समिति का पालन करते हैं, उन्हीं के अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है। ६. जो इस समिति का पालन नहीं करता है वह मुनि शिथिलाचारी व जीवों की विराधना करने वाला होता है। ७. अन्त में आचार्य मुनिराज को आदेश देते हैं कि तुम इस अनेक गुणों की खानि आदान-निक्षेपण समिति का पालन करो।

प्रतिष्ठापन समिति—१. जो प्रदेश दृष्टि के अगोचर हैं उस स्थान पर किसी भी प्रकार के मल के निक्षेपण का निषेध किया है। २. संयमियों को नाक एवं कफ के मल को डालकर उसके ऊपर बालू डाल देना चाहिए। ३. दीवार को पिच्छिका से मार्जन करके खुजाल आदि करना चाहिए।

४. क्योंकि बिना यत्नाचार से मल-मूत्रादि के त्याग करने वाले के त्रस जीवों का भी घात होता है तो स्थावर जीवों की तो बात ही क्या, अतः मोक्ष की इच्छा करने वाले को इस प्रतिष्ठापन समिति का पालन अवश्य करना चाहिए। ५. जो इन पाँचों समितियों का पालन करने में शिथिलता करते हैं, वे निन्दनीय एवं प्रमादी हैं। उनके अहिंसादि सब व्रत नष्ट हो जाते हैं एवं उन्हें अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। पाठकगण स्वयं इस शास्त्र के पठन से अनुभव करेंगे कि आचार्यों ने कितना रहस्यात्मक वर्णन किया है।

तृतीय अधिकार

आचार्यों ने ४३८ श्लोकों में ५ इन्द्रिय निरोध एवं षट् आवश्यकों का विस्तृत वर्णन किया।

चक्षु इन्द्रिय निरोध—१. चक्षु इन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण का वर्णन बहुत ही सारगर्भित किया है। २. मोक्षार्थी को चित्त मोहित करने वाले वस्त्र अथवा वस्त्र के किनारे भी नहीं देखना चाहिए। ३. मुनियों को भोगोपभोग के पवित्र पदार्थों को भी नहीं देखना चाहिए। ४. राजा, सामंत आदि की सेना को देखना भी रौद्रध्यान का कारण है। ५. सम्यग्दृष्टियों को कुदेवादि एवं छः अनायतन को भी नहीं देखना चाहिए। ६. आत्मशुद्धि के लिए राग को उत्पन्न करने वाले नगर आदि को भी नहीं देखना चाहिए। ७. कदाचित् राग की वृद्धिकारक पदार्थ दिख भी जाए तो दृष्टि नीची कर लेना चाहिए। ८. इन्द्रिय को नहीं जीतने वाले के मन की चंचलता से ब्रह्मचर्य भी नहीं टिक सकता है, अतः मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिए।

श्रोत इन्द्रिय निरोध—श्रोत इन्द्रिय के कथन में १. आचार्य श्री कहते हैं कि मोक्षार्थी को ६ प्रकार के स्वरों को रागपूर्वक नहीं सुनना चाहिए। २. शृंगार रस आदि को बढ़ाने वाले शास्त्र को भी नहीं सुनना चाहिए। ३. विकथा, परनिन्दा, कुकाव्य को सुनने से बुद्धि विपरीत होती है एवं सम्यग्दर्शन भी छूट जाता है। ४. राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले शब्दों को नहीं सुनना चाहिए।

घ्राण इन्द्रिय निरोध—घ्राण इन्द्रिय निरोध करने के लिए १. मोक्षार्थी को सुगन्धित पदार्थों में राग एवं दुर्गन्धित पदार्थों में द्वेष नहीं करना चाहिए।

जिह्वा इन्द्रिय निरोध—१. जिह्वा इन्द्रिय का निरोध उसी के होता है जो जिह्वा को मनोज्ञ लगने वाले षट्रस मिश्रित पदार्थों में गृद्धता धारण नहीं करते। २ जो मूर्ख मुनि राग-द्वेष पूर्वक आहार करते हैं, उनके पग-पग पर कर्मबंध होता है। ३. जो यति, राक्षणी एवं सर्पिणी के समान जिह्वा इन्द्रिय को जीतने में असमर्थ हैं वे कामरूपी योद्धा को कभी नहीं जीत सकते। आचार्य श्री ने मिष्ट रस की इच्छा रखने वाले साधुओं को कड़े शब्दों में भर्त्सना दी है।

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—आचार्य श्री ने स्पर्शन इन्द्रिय के १. विजेता को कोमल आसन, बिछौना पर सोना, बैठना एवं कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना भी ब्रह्मचर्य नाशक मानकर त्याग करने की प्रेरणा दी है। २. ग्रीष्मऋतु में अनायास शीत का एवं शीतऋतु में अनायास धूप आदि का संयोग हो जाने पर भी इन्द्रिय विजेता मुनिराज को राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। ३. आचार्य श्री ने स्पर्शन एवं रसना इन्द्रिय को कामेन्द्रिय एवं शेष इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय रूप कहा है। ४. इन्द्रियों के अनेक दोष बतलाते हुए इनके आधीन न होने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार ११२ श्लोकों में इन्द्रियों का स्वरूप एवं इन्द्रिय विजेता के अनेक गुणों का विशद वर्णन किया है।

विशेष—आचार्य ने इन इन्द्रियों के निरोधों का वर्णन पश्चात् आनुपूर्वी क्रम से किया है।

षट् आवश्यक—

सामायिक—अनुकूल प्रतिकूल १. परिस्थितियों में राग-द्वेष का परित्याग ही सामायिक है। ६ प्रकार से सामायिक के भेदों का कथन करते हुए ऋतु परिवर्तन में राग-द्वेष करने का निषेध किया है और २. काँटों से भरे वन में द्वेष एवं बगीचे में राग करने का निषेध किया है। ३. छह प्रकार की सामायिक में भाव सामायिक को मुख्य बताया है। ४. अजितनाथ भगवान से पार्श्वनाथ भगवान तक के २२ तीर्थंकरों ने सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है। ५. आदि व अन्त के तीर्थंकरों ने मन्दबुद्धि एवं वक्रबुद्धि वाले जीवों को सामायिक व छेदोपस्थापना दोनों संयम का उपदेश दिया है। ६. सामायिक की महिमा बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं—जो कर्म करोड़ों वर्षों के तप से नष्ट नहीं होते वह सामायिक के बल से आधे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। ७. अभव्य जीव भी द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक जाता है। ८. प्रथम चक्रवर्ती दिनभर के पापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे। इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य श्री ने सामायिक का स्वरूप व महिमा का वर्णन कितना सुबोध एवं अपूर्व शैली से किया है।

स्तवन-१. नामादि के भेद से स्तवन भी ६ प्रकार के हैं। प्रत्येक स्तवन का विस्तृत वर्णन किया है। २. अन्त में स्तुति की महिमा का वर्णन करते हुए स्तुति का फल रत्नत्रय की प्राप्ति करने की इच्छा की है, रत्नत्रय प्राप्ति की इच्छा निदान नहीं है। ३. जिनेन्द्र भगवान ने कार्यसिद्धि के लिए रत्नत्रय आदि की इच्छा को अनुभय भाषा कहा है। ४. पंच परमेष्ठी आदि के गुणों में उत्पन्न हुआ स्वाभाविक अनुराग को प्रशस्त अनुराग कहते हैं। ५. यह राग रत्नत्रय को उत्पन्न करने वाला है। आचार्य श्री ने स्तुति का स्वरूप एवं उसकी महिमा का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन किया है।

वन्दना—१. किसी एक तीर्थंकर आदि की स्तुति करना ही वन्दना आवश्यक है। इसका भी नामादिक के भेद से ६ प्रकार का वर्णन किया है। २. वन्दना में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म इन ४ कर्मों से वन्दना की जाती है। इन चार कर्मों का आचार्य ने बड़ी सरल भाषा में वर्णन किया है। ३. विनय के ५ भेद किए हैं—(क) लोकानुवृत्ति (ख) अर्थनिमित्तिक (ग) कामहेतुक (घ) भय और (ङ) मोक्ष संज्ञक, ये पाँच भेद किए हैं। प्रत्येक के स्वरूप का वर्णन करते हुए चार विनय को हेय बताया है एवं ४. सर्वोत्कृष्ट मोक्ष विनय धारण करने की प्रेरणा देते हुए इसका विस्तृत वर्णन किया है। ५. आगे आचार्य कृतिकर्म का वर्णन करते हुए कब कौन-कौन-सी भक्ति करना चाहिए इसका बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। ६. पुनः वन्दना के अनादतादि ३२ दोषों का वर्णन करते हुए उन दोषों का त्याग करने की प्रेरणा दी है।

चतुर्थ अधिकार

१. आचार्यदेव ने चतुर्थ अध्याय में प्रतिक्रमण आदि तीन शेष आवश्यक एवं केशलोंचादि

सात विशेष गुणों का ३३९ श्लोकों में वर्णन किया है।

प्रतिक्रमण—प्रथम ही मंगलाचरण के पश्चात् प्रतिक्रमण का स्वरूप एवं नामादि के भेद से उसके छह भेदों का परिभाषा सहित वर्णन किया। ३. पुनः उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद किए। (१) प्रतिक्रामक (२) प्रतिक्रमण एवं (३) प्रतिक्रमितव्य के तीन भेदों का भी सुन्दर वर्णन किया है। ४. व्रतों की शुद्धि के लिए अन्तःकरण शुद्ध करके आलोचना करनी चाहिए। इसके दैवसिक आदि सात भेदों का कथन किया है। ५. व्रतों की शुद्धि के लिए निन्दा, गर्हा एवं शोकपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए। ६. अंतरंग शुद्धि का कारण भाव प्रतिक्रमण ही है। ७. स्वभाव सरल अथवा कुटिल बुद्धि वाले शिष्य होने से प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर ने पूर्ण प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा दी है परन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के शिष्य बुद्धिमान एवं प्रमाद रहित थे, अतः उन्होंने प्रमाद से जिस व्रत में दूषण लगे उतना ही प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। ८. आचार्यश्री ने प्रतिक्रमण की विस्तृत महिमा बताकर आत्मार्थियों को आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है।

प्रत्याख्यान—१. तपश्चरण के लिए योग्य अथवा अयोग्य पदार्थों का त्याग करना ही प्रत्याख्यान है। २. निक्षेपों के भेद से प्रत्याख्यान छह प्रकार का होता है। ३. नामादि प्रत्याख्यान का स्वरूप बहुत सरल एवं स्पष्टरूप से किया है। (१) प्रत्याख्यापक (२) प्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यातव्य इन तीनों का स्वरूप बताया है। ४. जो कि प्रत्याख्यान करने वाले को जानना नितान्त आवश्यक है। पुनः अनागत आदि प्रत्याख्यान के दस भेदों का कथन करते हुए तपश्चरण की वृद्धि के लिए इनका पालन करने की प्रेरणा दी। ५. किसी द्रव्य से मिले हुए जल को पीने से उपवास खण्डित होता है। वेला, तेला आदि में जो पानी का त्याग न कर सके तो उसे उष्ण जल ग्रहण करना चाहिए। ६. मुनि को प्राणों का अन्त आने पर भी एक बार भोजन के पश्चात् जलादि ग्रहण नहीं करना चाहिए। ७. प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखने की प्रेरणा एवं उसका स्वरूप का वर्णन किया है। ८. कण्ठगत प्राणों के होने पर अथवा करोड़ों उपसर्ग आने पर भी प्रत्याख्यान को भंग नहीं करना चाहिए। ९. अन्त में प्रत्याख्यान के पालन करने के गुण एवं उसको भंग करने के दूषण का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

कायोत्सर्ग—१. आचार्य श्री कायोत्सर्ग का स्वरूप बताकर इसको अनन्तवीर्य का उत्पन्न करने वाला बतलाया है। २. नामादिक निक्षेप से भी छह भेद किए एवं इनका स्वरूप निर्देश किया है।

(१) उत्थितोत्थित (२) उत्थितोपविष्ट (३) उपविष्ठोथित (४) उपविष्टोपविष्ट के भेद से कायोत्सर्ग के चार भेद किए हैं। ३. दो को शुभ व दो को अशुभ ध्यान बतलाते हुए अशुभ ध्यान के त्याग की प्रेरणा दी है। ४. पुनः कायोत्सर्ग करने वाले के निद्राजयी आदि अनेक गुणों का वर्णन

किया है। ५. चतुर पुरुष व्रतादिक में दोष लगने पर कायोत्सर्ग करते हैं। ६. पुनः कायोत्सर्ग के फल का वर्णन करते हुए आत्मार्थियों को कायोत्सर्ग करने की प्रेरणा दी है। ७. उत्कृष्ट एवं जघन्य कायोत्सर्ग के काल का वर्णन करते हुए प्रतिक्रमणादि में कितने कायोत्सर्ग करना चाहिए उसका क्रमिक वर्णन किया। ८. बत्तीस दोषों से रहित धर्मध्यानादि पूर्वक किया हुआ कायोत्सर्ग अनेक ऋद्धियों का कारण होता है। ९. पुनः घोटकादि बत्तीस दोषों का स्वरूप सहित वर्णन किया एवं इन दोषों के त्याग की प्रेरणा दी। समर्थ अथवा असमर्थ सभी को कार्यसिद्धि के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। १०. अन्त में आचार्यदेव ने कायोत्सर्ग की महिमा का बहुत सुन्दर वर्णन किया। आवश्यक नाम की सार्थकता बताते हुए आवश्यकों की महिमा बताई है। ११. जो मुनि स्वाध्याय के लोभ से समस्त आवश्यक पूर्णरूप से नहीं करता अथवा कम करता है उस पर मूर्खता सवार हो जाती है एवं उसके उभयलोक का सुख नष्ट हो जाता है। १२. अनेक उदाहरणों के द्वारा बिना आवश्यकों के कार्य सिद्धि का निषेध किया है अन्त में त्रियोग की शुद्धिपूर्वक आवश्यकों के पालने की प्रेरणा दी है। १३. मुनिराजों के १३ क्रियाओं में निषिद्धिका एवं आसिका इन दो को ही मुख्य करके आचार्य श्री ने स्वरूप निर्देश किया है। १४. जिस मुनि के त्रियोग चंचल है, कषाय एवं ममत्व नहीं घटा है उसके निषिद्धिका शब्द नाममात्र के लिए कहा है। १५ भोगादिक एवं ख्याति आदि की इच्छा रखने वाले के लिए आसिका शब्द नाममात्र के लिए ही होता है।

केशलोंच मूलगुण का स्वरूप—१. बिना क्लेश के बालों को उखाड़ना मुनियों का केशलोंच नाम का मूलगुण है। २. केशलोंच का उत्तमादि कालों की अपेक्षा वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि करोड़ों रोग हो जाने पर भी ५वें महीने में केशलोंच नहीं करना चाहिए। ३. केशलौंच करने से लाभ एवं मुण्डन करवाने से हानि का स्पष्ट वर्णन किया है।

अचेलकत्व मूलगुण—१.आचार्यश्री अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप निर्देश करते हुए बताते हैं कि जिनलिंग वीरपुरुष ही धारण करते हैं। विकारों को नष्ट करने में असमर्थ कायरपुरुष धारण नहीं कर सकते। २. जो मुनि ब्रह्मचर्य वस्त्र से सुरक्षित हैं वे ही वास्तविक नग्न हैं। ३. कोपीन मात्र आवरण भी चिंता, व्याकुलता एवं अनेक अशुभ ध्यान का कारण है।

अस्नान व्रत का स्वरूप—१. आचार्यदेव कहते हैं कि आत्म शुद्धता के लिए स्नानादि का त्याग करना एवं पसीनादि से युक्त शरीर धारण करना अस्नान नामक व्रत है। २. पुनः स्नान त्याग से लाभ एवं स्नान करने से हानि का वर्णन करते हुए अस्नान व्रत को धारण करने की प्रेरणा दी है। ३. जिसका अन्तःकरण पापों से मलिन है ऐसे मिथ्यादृष्टि की स्नान से शुद्धि नहीं होती है।

भूमिशयन मूलगुण का स्वरूप—१. इस मूलगुण के स्वरूप का वर्णन करते हुए भूमिशयन से लाभ और कोमल शय्या पर सोने से हानि का वर्णन किया। २. कोमल शय्या पर सोने से ब्रह्मचर्य

नष्ट हो जाता है। ३. कठिन आसन पर बैठने एवं सोने से निद्रा पर विजय होती है। समस्त पाप एवं अनर्थों का समुद्र इस निद्रा को अन्न-पान की मात्रा अत्यन्त कम करके इसको जीतना चाहिए। ४ जो निद्रारूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ है उसको ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ५. मुनियों को रोगादिक के होने पर भी दिन में निद्रा नहीं लेना चाहिए। ६. रात्रि के मध्य भाग में अन्तर्मुहूर्त तक ही निद्रा लेनी चाहिए। ७. कण्ठगत प्राण होने पर भी रात्रि के पहले एवं अन्तिम भाग (पहर) में निद्रा नहीं लेना चाहिए। ८. अन्त में भूमिशयन नामक मूलगुण की महिमा बताकर इसे धारण करने की प्रेरणा दी है।

अदन्तधावन मूलगुण—१. वैराग्य वृद्धि के लिए नखादि से दाँतों के इकट्ठे मल को दूर नहीं करना ही अदन्तधावन मूलगुण है। २. दन्तधावन में हानि एवं अदन्तधावन में लाभ का वर्णन किया। ३. मुख प्रक्षालादि का दूर से त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. अन्त में अदन्तधावन मूलगुण की महिमा बतलाते हुए आचार्य ने उसको पालन करने की प्रेरणा दी है।

स्थिति भोजन नामक मूलगुण—१. स्थिति भोजन नामक मूलगुण के स्वरूप का निर्देश करते हुए स्थिति भोजन करने से लाभ एवं बैठकर भोजन करने से हानि का निर्देश किया है। २. करोड़ों व्याधियां होने पर भी एवं प्राणों का नाश होने पर भी मुनिराज को बैठकर भोजन नहीं करने की प्रेरणा दी है। ३. मुनिराज को बैठकर कभी जल पानादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। ४. तीर्थंकरदेव १ वर्ष के उपवास के पश्चात् भी खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं ऐसा कहते हुए अन्त में स्थिति भोजन की महिमा बतलाकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है।

एकभुक्त नामक मूलगुण—१. इसके स्वरूप को बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि मुनिराज सूर्योदय के ३ घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त के ३ घड़ी पहले तक योग्य काल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्त के भीतर तक आहार लेते हैं, ये एकभुक्त नामक मूलगुण है। २. पुनः आचार्य एक-भुक्त भोजन के ग्रहण से लाभ एवं इस मूलगुण के भंग होने से हानि का निर्देश किया है। ३. मुनि को तीव्र ज्वरादि के होने पर भी दूसरी बार जल ग्रहण नहीं करने की प्रेरणा दी है। ४. इस प्रकार मूलगुणों की महिमा बताते हुए कण्ठगत प्राण होने पर भी इसको भंग नहीं करने की प्रेरणा दी है। ५. उत्तरगुणों के लिए मूर्ख मुनि मूलगुणों का घात करते हैं वे मुक्तिरूपी फल को प्राप्त नहीं कर सकते। ६. पुनः आचार्य ने उपसर्गादिक आने पर भी स्वप्न में भी मूलगुणों को नहीं छोड़ने की प्रेरणा दी है एवं अतिचारादिक नहीं लगाना चाहिए। ७. पुनः अतिचारादिक के स्वरूप का निर्देश करते हुए मूलगुण के फल को बतलाकर इस अधिकार को पूर्ण किया।

पंचम अधिकार

१. दर्शनाचार—सम्पूर्ण जगत् में जिनकी कीर्ति फैल रही है ऐसे सकलकीर्ति आचार्य ने

पंचाचार के वर्णन में २५२ श्लोकों द्वारा दर्शनाचार का वर्णन किया। २. पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके, कारणपूर्वक पंचाचार के निरूपण करने की प्रतिज्ञा की। ३. तदनन्तर पंचाचार के भेदों का नामोल्लेख करते हुए आचार्य सबसे प्रसिद्ध एवं शुद्धि का कारण दर्शनाचार को कहा है। ४. तदनन्तर सम्यग्दर्शन के भेद एवं उनके स्वरूप का निर्देश किया। पुनः आचार्यदेव ने, शास्त्र, गुरु एवं धर्म का बहुत मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। ५. जिनेन्द्रदेव के बताये हुए धर्म का श्रद्धानादिक करते हैं उन्हीं के सम्यग्दर्शन होता है। ६. पुनः जिन सप्ततत्त्वों के श्रद्धान से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है, उनका विस्तृत वर्णन किया है। ७. जीव तत्त्व–जीवतत्त्व के स्वरूप निर्देश में संसारी जीवों का पंच स्थावरादि एवं त्रस जीवों का वर्णन किया है। पुनः जीवों की योनि एवं कुल भेदों का कथन किया है। आचार्यश्री ने व्यवहार एवं निश्चयनय से जीवों का स्वरूप निर्देश करके अजीवतत्त्व का वर्णन किया। ८. अजीव तत्त्व–अजीव तत्त्व के निर्देश में पुद्गल द्रव्य के स्कन्धादिक भेद से चार भेद किए। पुनः पुद्गलादि द्रव्यों के उपकार आदि का कथन किया है। ९. आस्रव तत्त्व–आस्रवतत्त्व के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया। जो मुनि ध्यानादि द्वारा आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं, उनके यम नियमादि सब व्यर्थ हैं। जो मुनि कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं वे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे जीत सकते हैं? १०. बंध तत्त्व–बंध तत्त्व का कथन करते हुए आचार्य कहते हैं जो मुनि महा तपश्चरण करके ध्यानरूपी शस्त्र से कर्मबन्ध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त नहीं हो सकता, वह तो संसाररूपी वन में भ्रमण करता ही रहता है। ११. संवर तत्त्व–कर्मों के आस्रव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है वही भाव संवर है। १३ प्रकार के चारित्रादि भाव संवर के कारण हैं। जो मुनि योगों का निग्रह करके संवर करता है, उसी का जन्म व दीक्षादिक सार्थक है। संवर रहित मुनि का तपादिक भूसी कूटने के समान व्यर्थ, क्लेशकारी है। १२. निर्जरा तत्त्व–निर्जरा तत्त्व का स्वरूप एवं भेदों का कथन किया है। रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्ष को प्रदान करने वाली कर्मों की निर्जरा करने की प्रेरणा दी है। १३. मोक्ष तत्त्व–द्रव्यमोक्ष एवं भावमोक्ष का कथन करके सिद्धों के सुख का वर्णन किया। पुनः प्रयत्नपूर्वक मोक्ष सुख प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। पुण्य-पाप का वर्णन करके पुण्यादि प्रकृतियों की संख्या बतलायी है। १४. सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप निर्देश किया। १५. कुलपर्वतादि का भूभाग चलायमान हो जाए परन्तु जिनेन्द्र भगवान का वचन चलायमान अथवा अन्यथा नहीं हो सकता। १६. सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिए सप्त तत्त्वों के विषय में शंकादि के त्याग की प्रेरणा दी है। १७. दूराकांक्षा का दूर करना ही निःकांक्षित अंग है। १८. पुनः द्रव्य-भाव चिकित्सा का स्वरूप निर्देश किया। इस प्रकार से निःकांक्षित अंगों का सरलतम शब्दों में स्वरूप निर्देश किया है। १९. आठ अंगों की महिमा बताकर आचार्य श्री ने उन अंगों को प्रसन्नतापूर्वक धारण करने की प्रेरणा दी है। २०. तीन मूढ़ता का स्वरूप बताकर उन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है। २१. पुनः आठ मदों के स्वरूप को बताकर जाति आदि के मद करने को

निरर्थकता बताई है। २२. कण्ठगत प्राण होने पर भी बुद्धिमानों को जात्यादिक का मद नहीं करना चाहिए।

२३. पुनः नरक के कारणभूत छह अनायतनों के त्याग की प्रेरणा दी है। शंकादिक दोषों के भी त्याग की प्रेरणा दी है। २४. आचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत अच्छे रूप से करके मोक्षार्थी को सम्यग्दर्शन के सन्मुख किया है। २५. सम्यग्दर्शन से युक्त प्रारम्भ करने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ है एवं सम्यग्दर्शन से रहित तपस्वी साधु निंद्य होता है। २६. इस प्रकार सम्यग्दर्शन से युक्त नरक में निवास करना अच्छा है परन्तु इसके बिना स्वर्ग में निवास करना शोभा नहीं देता है। २७. इस प्रकार सम्यग्दर्शन धारी जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न नहीं होते, इसका वर्णन कर सम्यग्दर्शन की महिमा कहकर दर्शनाचार का वर्णन करने वाला पाँचवाँ अधिकार पूर्ण किया।

छठा अधिकार

१. आचार्य श्री ने ५२६ श्लोकों में शेष ४ पंचाचार का विस्तृत वर्णन किया है। २. मंगलाचरण के पश्चात् उत्तम ज्ञान की परिभाषा सारगर्भित शब्दों में की है। ज्ञानाचार के आठ भेद बताकर सिद्धान्त शास्त्र के पढ़ने योग्य काल का वर्णन किया है। ३. तदनन्तर काल शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय से लाभ एवं अकाल में स्वाध्याय से हानि का वर्णन किया। ४. आत्मार्थियों को द्रव्यादिक शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है। ५. किन शास्त्रों को काल शुद्धिपूर्वक पढ़ना चाहिए। ६. पंचसंग्रह, गोम्मटसारादि ग्रन्थ अन्य काल में भी पढ़े जा सकते हैं। विनयाचार-सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने के पूर्व एवं अन्त में उपवास अथवा पाँच कायोत्सर्ग करने का कथन किया है। ७. उपधानाचार के वर्णन में ग्रन्थ समाप्ति तक विकार एवं पौष्टिकता रहित आहार ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानाचार के आठों अङ्गों का वर्णन शास्त्र स्वाध्याय करने से पाठकगण समझ लें, विस्तार भय से नहीं लिखा। ८. ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त होता है। अतः विनयादिक के साथ ज्ञान के अभ्यास करने की प्रेरणा दी। ९. आचार्य श्री ने अनेकों उदाहरणों के द्वारा ज्ञानाचार की महत्ता प्रकट करके मोक्षार्थी को आगम अभ्यास की प्रेरणा दी है।

चारित्राचार—१. नौ कोटि से पाँचों पापों का त्याग करना महाव्रत है एवं रात्रिचर्या के दूषण बताकर छठे रात्रि भोजन त्याग व्रत की रक्षा की प्रेरणा दी है। २. तदनन्तर तीन गुप्तियों का सरल सुबोध एवं विस्तृत वर्णन करके उसे पालने की प्रेरणा दी। ३. अप्रशस्त प्रणिधान को त्यागकर प्रशस्त प्रणिधान को धारण करने की प्रेरणा दी है। ४. जो मुनि ध्यान एवं आगमरूपी अमृत समुद्र में अपने मन को जैसे-जैसे लगाते वैसे-वैसे मनोगुप्ति की पूर्णता होती है। ५. जो मुनि अपने चंचल मन को बाह्य विषयों से रोकने में असमर्थ है उसके अन्य गुप्ति कैसे हो सकती है? ६. मनोगुप्ति पालन करने के फल को बताकर उसे पालने की प्रेरणा दी है। ७. वाग्गुप्ति को पालने वाले मुनि को

या तो नित्य मौन रहना चाहिए या शिष्यों को आगम पढ़ाना चाहिए अथवा करुणाबुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिए कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिए। ८. मुनियों को प्राण त्याग का समय आने पर भी व्रतादिक की निर्मलता एवं कारितजन्य प्राण घात के दोषों की निवृत्ति के लिए ''तुम आओ, जाओ, प्रसन्न बैठो, यह कार्य शीघ्र करो'' ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिए। ९. मौनव्रत ध्यान को प्रकट करने में दीपक के समान है। इत्यादिक रूप से मौनव्रत की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है। १०. शरीर की चंचलता से अनेक प्रकार की हानि होती है। ११. ध्यान उत्पन्न करने में माता के समान कायगुप्ति पालन करने की प्रेरणा दी है।

१२. अन्त में चारित्र की महिमा बताकर आचार्यदेव कहते हैं कि चारित्र के अभाव में उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन, उत्कृष्ट ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं। १३. ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से भ्रष्ट है, शिथिल है तो वह भी लंगड़े की भाँति मोक्षमार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता। १४. अतः चारित्र की महिमा समझकर प्राणों के त्याग के समय भी सर्वोत्कृष्ट चारित्र को मलिन नहीं करने की प्रेरणा दी है। **तपाचार**—१. तपाचार का स्वरूप एवं उसके भेदों का प्रथम ही निर्देश किया है। २. अनशन तप के साकांक्ष, निराकांक्ष दो भेद बताए। पुनः साकांक्ष तप के कनकावली एवं निराकांक्ष तप के भक्त प्रत्याख्यान मरणादिक अनेक भेद किए हैं। ३. जिनेन्द्रदेव ने बाह्य तपश्चरण उसे ही कहा है, जिससे अभ्यन्तर तप की वृद्धि करने वाले ध्यान, अध्ययन तप की वृद्धि हो। ४. आचार्यदेव ने बाह्यतप की महिमा बताकर मोक्ष प्राप्ति के लिए समस्त शक्ति लगाकर बाह्यतप करने की प्रेरणा दी है। ५. जो दूसरों को दिखाई न दे एवं अज्ञानीजन जिसे धारण नहीं कर सके वही श्रेष्ठ अभ्यन्तरतप है। आचार्यदेव ने तपश्चरण का सारभूत वैयावृत्ति तप है। पुनः

(१) प्रायश्चित तप—१. प्रायश्चित तप के आलोचनादिक दस भेदों का निर्देश करके उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्देश किया। २. आकम्पितादि दोषों को दूर करके आलोचना करने की प्रेरणा दी है। ३. आचार्य कैसे साधु को व्रतादिक में दूषण लगने पर कैसा-कैसा प्रायश्चित देते हैं इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है। ४. पुनः व्रतों में दूषण लगने पर प्रायश्चित लेने में लाभ एवं नहीं लेने से हानि का वर्णन करके आत्मार्थियों को प्रायश्चित लेने की प्रेरणा दी है।

(२) विनय तप—१. विनय तप के पाँच भेदों का वर्णन विस्तार सहित करके मुमुक्षु जीवों को विनय करने की प्रेरणा दी है। २. उपचार विनय के प्रत्यक्षादिक भेद से छह प्रकार की होती है। ३. पुनः शारीरिक विनय के सात भेदों का वर्णन किया है। अन्त में विनय तप की महत्ता एवं उसको धारण करने का बड़ा ही रोचक वर्णन किया।

(३) वैयावृत्य तप—१. अशुभ ध्यान को नष्ट करने के लिए एवं श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिए आचार्यादिक की सेवा-सुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है। २ आचार्य श्री ने १० प्रकार के मुनि का

स्वरूप बतलाकर १० प्रकार की वैयावृत्य का स्वरूप निर्देश किया है। ३. वैयावृत्य करने वाले के निर्विचिकित्सा अंग का पालन एवं तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य बन्ध होता है अतः आत्मार्थियों को वैयावृत्ति करनी चाहिए।

(४) स्वाध्याय तप—१. आचार्यश्री ने स्वाध्याय का स्वरूप व उसके भेदों का वर्णन करके स्वाध्याय की महिमा बताकर स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है। २. समस्त तपाचार में स्वाध्याय के समान न तो तप हुआ है और न आगे होगा। ३. क्योंकि स्वाध्याय से इन्द्रियनिरोध, तीन गुप्ति का पालन, संवर, निर्जरा, मोक्ष की प्राप्तिरूप अनेक लाभ होते हैं।

(५) कायोत्सर्ग तप—१. कायोत्सर्ग का वर्णन पहले षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग नाम के छठे आवश्यक में विस्तृत वर्णन किया गया है।

(६) ध्यान तप—१. समस्त चिंतन को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिन्तन करना ही ध्यान है। २. ध्यान के प्रशस्त एवं अप्रशस्त भेद-प्रभेद करके आचार्यश्री ने उनका अच्छा वर्णन किया। ३. आर्त्तध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं छठे गुणस्थान में जघन्य होता है। ४. उसी प्रकार रौद्रध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है। ५. रौद्रध्यान की सामग्री प्रमाद एवं कषायें हैं। आचार्यश्री ने अपाय विचयादि धर्मध्यान के परिभाषाओं सहित दस भेदों का कथन किया है। ६. यहाँ अनित्यादि बारह भावनाओं के चिन्तन करने को संस्थान विचय धर्मध्यान बताया है। ७. ध्यानादि के भेद से धर्मध्यान ४ प्रकार का है। ८. बुद्धिमान तथा एकान्तवास में सदा सन्तुष्ट रहने वाला आत्मा धर्म ध्यान का ध्याता होता है। ९. इसी प्रकार शुक्लध्यान आदि का बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन करके अन्त में तप की महिमा को बताकर साधक को तपाचार पालन करने की प्रेरणा दी है। १०. इन्द्रिय लम्पटी, शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते उनकी बड़े कठोर शब्दों में आलोचना की है। वीर्याचार—१ बल वीर्य आदि को प्रकट करके जो संयमाचार का पालन करते हैं वह ही वीर्याचार है। २. बल एवं वीर्य शब्दों की परिभाषा का कथन करके प्राणिसंयम एवं इन्द्रियसंयम के भेद करके प्राणिसंयम के २७ भेदों का परिभाषाओं सहित कथन किया, अन्त में पंचाचार की महिमा बताकर उसको पालन करने की प्रेरणा दी। ३. इस प्रकार ५२६ श्लोकों में अन्तिम चार आचारों का विस्तृत वर्णन करके यह छठा अधिकार पूर्ण किया।

सातवाँ अधिकार

१. आचार्य श्री ने १६९ श्लोकों में मुनियों के समाचार का वर्णन किया। मंगलाचरण करके समाचार का स्वरूप एवं औधिक व पदविभागिक के भेद से समाचार के दो भेद किए हैं। २. औधिक समाचार के इच्छाकार आदि १० भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया है। ३. पुनः उपसम्पत् समाचार के विनयादिक के ५ भेद का स्वरूप निर्देश किया। ४. तदनन्तर सूत्र उपसम्पत् के तीन भेदों

का स्वरूप बताया एवं पदविभागी समाचार का स्वरूप निर्देश किया। ५. आगम अभ्यास के लिए यदि दूसरे संघ में जाना हो तो अपने गुरु से शिष्य ३ बार, ५ बार, ७ बार पूछता है। ६. संघ से निकलना हो तो किसी मुनि को अकेला कभी नहीं निकलना चाहिए। ७. पुनः ग्रहिता एवं ग्रहितार्थाश्रित विहार के इस प्रकार दो भेद किए। ८. कैसे गुणों वाला मुनि एकलविहारी हो सकता है एवं कैसे आचार वाला मुनि एकल विहार न करें। ९. एकल विहार करने से ५ प्रकार की हानि व अनेक दोषों का वर्णन करके एकल विहार करने का निषेध किया है। १०. शिष्य को आगमादिक के अध्ययन हेतु कैसे संघ (गुरुकुल) में निवास करना चाहिए। ११. पंचम काल में एकल विहार करने का निषेध क्यों किया, इसका आचार्य ने अच्छे हेतुओं के द्वारा समाधान किया है। आचार्य श्री ने अनेक हेतुओं से एकल विहार करने का निषेध किया है।

१२. पुनः आचार्य के गुणों का निर्देश बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। १३. अभ्यागत मुनि आचार्य संघ में आता है तो वे परस्पर में किस प्रकार वात्सल्य भाव से व्यवहारिक कर्तव्य निभाते हैं।

१४. तीन दिन तक किस प्रकार स्वाध्याय, आहार विहारादि चर्या की परीक्षा करते हैं। तीन दिन पश्चात् आगन्तुक साधु का नाम, गुरु, दीक्षादिक का काल पूछकर फिर विधिपूर्वक श्रुतादिक का पठन-पाठन का आदेश देते हैं। १५. अगर आगन्तुक साधु के व्रताचार शुद्ध नहीं है तो उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित देते हैं अगर प्रायश्चित स्वीकार नहीं करता तो उसे संघ में नहीं रखते हैं। १६. इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य कितने अनुभवी एवं व्यवहार कुशल होते हैं। १७. पुनः आगन्तुक साधु किस प्रकार द्रव्यादिक की शुद्धिपूर्वक श्रुताभ्यास करते हैं। यदि नहीं करते हैं तो क्या हानि होती है, इसका वर्णन किया है। १८. आगन्तुक साधु को स्वगण के समान ही परगण के आचार्य से पूछकर सब कार्य करना चाहिए। १९. मुनि को आर्यिकादि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है, अतः बिना प्रयोजन इनसे बातचीत नहीं करना चाहिए। २०. अकेले मुनि से अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो व्रतों की शुद्धि के लिए मुनि को उत्तर नहीं देना चाहिए।

२१. तरुण मुनि एवं तरुण आर्यिका बातचीत करे तो ५ प्रकार के दोष लगते हैं। २२. आर्यिका के आश्रम में मुनि को स्वाध्यायादि क्रिया करने का निषेध किया। उसी प्रकार आर्यिका को भी मुनि के आश्रम में स्वाध्यायादि क्रिया नहीं करना चाहिए। २३. आर्यिका को प्रतिक्रमण आदि करवाने वाले आचार्य के गुणों का निर्देश किया है एवं मुनियों के योग्य समाचारों को आर्यिकाओं को भी पालन करना चाहिए। २४. आर्यिकाओं को वृक्ष-मूलादि योग धारण करने का निषेध किया। २५. पुनः आर्यिकाओं के विशेष समाचार का निर्देश करते हुए मायाचारी लोभादि से रहित, लज्जादि गुणों सहित एक-दूसरों की परस्पर रक्षा करते हुए रहना चाहिए। २६. शरीर पर पसीने से धूल या नाकादि

का मल लगा हो तो इससे कोई हानि नहीं परन्तु अपने शरीर का संस्कार तो कभी नहीं करना चाहिए। २७. उन्हें अनुप्रेक्षादि के चिन्तवनादि शुभ ध्यान में ही समय बिताना चाहिए। २८. आर्यिकाओं के दो तीन अथवा अधिक दस-बीस आर्यिकाओं के साथ रहना चाहिए। २९. अकेली आर्यिका को किसी भी समय विहार या गमन नहीं करना चाहिए। ३०. भिक्षादि के लिए भी ५-७ वृद्ध आर्यिकाओं के बीच में अथवा कुछ आगे-पीछे चलने की प्रेरणा दी है। ३१. आर्यिका आचार्य वन्दनादि के योग्य समय में जाती है तो आचार्य से ५ हाथ, उपाध्याय से ६ हाथ, साधु से ७ हाथ दूर बैठकर गवासन से भक्तिपूर्वक नमस्कार करती है। इस प्रकार आचार्य श्री ने मुनियों के समाचार का वर्णन करते हुए सातवाँ अध्याय पूर्ण किया।

आठवाँ अधिकार

१. आचार्यश्री ने १७३ श्लोकों में मुनियों की भावना का वर्णन किया है। २. पंचपरमेष्ठी एवं सरस्वती देवी आदि को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके मुनियों की भावना के कथन की प्रतिज्ञा की है। ३. मुनियों की भावना को जो श्रद्धापूर्वक सुनते हैं वे भव्यजीव स्वर्ण के समान शुद्ध होते हैं। ४. मुनियों के लिए दस शुद्धियों का कथन किया।

(१) लिंगशुद्धि—१. संसार शरीर आदि का स्वरूप समझकर धनादि का मोह त्याग कर विशुद्ध जो जिनलिंग धारण करते हैं उनके लिंग शुद्धि होती है। २. जो शरीर का संस्कार नहीं करते, जिनका शरीर मल से युक्त होने पर भी जो कर्ममल से सदा दूर रहते हैं। ३. त्रियोगी की शुद्धतापूर्वक द्वादशांगरूपी अमृत से भरे हुए सर्वोत्कृष्ट धर्मतीर्थ का चिन्तन करते हैं। ४. जो काम भोग से सदा विरक्त हैं एवं जिनमुद्रा के धारी हैं। ५. जो प्रमाद रहित होकर चरित्राचरण का पालन एवं दस धर्मों को धारण करते हैं। ६. इस प्रकार उपरोक्त अनेक निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों का पालन करते उनके लिंग शुद्धि मानी गयी है।

(२) व्रत शुद्धि—१. जो बुद्धिमान मुनि अष्ट प्रवचन मातृकाओं से युक्त पंच महाव्रतों का पालन करते हैं उनके व्रत शुद्धि है। २. जो मुनि परिग्रह से रहित हैं फिर भी रत्नत्रय परिग्रह को धारण करते हैं। ३. मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग परिग्रह की भी स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते हैं। ४. जो अत्यन्त संतोषी है। ५. सदा मौन धारण करते हैं। ६. सूर्यास्त के पश्चात् विहार नहीं करते हैं। ७.बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। ८. इस प्रकार जो व्रतों को निर्मल पालन करते हैं उन महामुनि के व्रत शुद्धि होती है।

(३) वसतिका शुद्धि—१. जो धीर-वीर विशाल हृदय वाले मुनि ध्यान की सिद्धि के लिए गुफादि एकान्त स्थान में निवास करते हैं उनके वसतिका शुद्धि होती है। २. ऐसे मुनि गाँव में एक दिन एवं नगर में पाँच दिन रहते हैं। ३. एकलविहारी, निर्भीक वनों में निवास करते हैं। ४. शरीर से

ममत्व धारण नहीं करते हैं। वज्रवृषभनाराचसंहनन को धारण करने वाले वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिए सैकड़ों उपसर्ग आ जाने पर अथवा परीषहों के आ जाने पर भयानक जीवों से घोर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं। ५. सिंहादिक के भीषण शब्दों को सुनकर रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्धि होती है।

(४) विहार शुद्धि—१. स्वतन्त्र विहार करने वाले मुनिराज सूर्योदय के बाद एवं सूर्यास्त होने के पहले धर्म प्रवृत्ति के लिए ईर्यापथ से गमन करते हैं। उनके उत्तम विहार शुद्धि होती है। २. जो मुनि जीवों की योनि आदि का ज्ञान करके उनकी नवकोटि से कभी विराधना नहीं करते। ३. वे अपने हाथों में डण्डा आदि हिंसा के उपकरणों को कभी नहीं रखते हैं। ४. पैर में काँटा या तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़े की धार से छिद जाए उसकी पीड़ा होने पर भी कभी क्लेश नहीं करते हैं। ५. आत्मा के चतुर्गति भ्रमण का निरन्तर चिन्तन करके जो निराकुल चित्त एवं वैराग्यभाव से आगम का चिन्तन करते हैं। ६. सुन्दर, असुन्दर स्थान में विहार करते हुए स्त्रियादिक को देखने में अन्ध, कुतीर्थों के लिए लंगड़े, विकथा करने के लिए गूँगे, शरीर से निस्पृह एवं मुक्ति को सिद्ध करने की तीव्र लालसा है, ऐसे अनेक प्रकार के गुणों से युक्त मुनि के विहार शुद्धि होती है।

(५) भिक्षा शुद्धि–१. शरीर की स्थिति के लिए उपवासादिक के पारणा के दिन योग्य घर में नवकोटि से शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उनके भिक्षा शुद्धि होती है। २. यथालब्ध सरस, नीरस जैसा शुद्ध आहार मिलता है उसे बिना स्वाद से ग्रहण कर लेते हैं। ३. अशुभ आहार के मिलने पर खेदखिन्न एवं शुभ आहार के मिलने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते। अशुद्ध आहार का दूर से ही त्याग करते हैं। ४. शुद्ध आहार लेने पर भी प्रतिक्रमण करते हैं ऐसे अनेक गुणों से युक्त मुनि के भिक्षाशुद्धि होती है।

(६) ज्ञान शुद्धि—१. अभिमान से रहित कालादि शुद्धिपूर्वक एकाग्रचित्त से अंग पूर्वों का पठन-पाठन करते हैं उनके ज्ञान शुद्धि होती है। २. जो मुनि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ एवं मति आदि चार ज्ञानों से युक्त हैं जो सदा श्रेष्ठ ध्यान में लीन हैं। ३. त्रियोग शुद्धिपूर्वक जो सदा समस्त अंगों को पढ़ते-पढ़ाते हैं, उनका चिन्तन करते हैं, किंचित् भी प्रसिद्धि एवं बड़प्पन की इच्छा नहीं करते ऐसे उपरोक्त कहे अनेक उपाय करते हैं उन्हीं मुनि के ज्ञान शुद्धि होती है।

(७) उज्झन शुद्धि—१. शरीर में प्रक्षालन आदि संस्कार भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है, अत्यन्त अशुभ मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार जो परिग्रह में किसी समय भी मोह उत्पन्न नहीं करते। उनके उज्झन शुद्धि होती है। २. शरीर के संस्कार से रहित सैकड़ों रोगों के आने पर उनके प्रतिकार रहित जो शरीर भोग एवं बन्धुवर्ग के पारमार्थिक स्वरूप को विचार कर उनमें स्नेह नहीं करते उन्हीं के उज्झन शुद्धि होती है।

(८) वाक्य शुद्धि—१. जो मुनि धर्म की सिद्धि के लिए एकान्तमत से रहित अनेकान्तमयी हित-मित-प्रिय वचन बोलते, उनके वाक्यशुद्धि होती है। २. धर्म से विरुद्ध वचन पूछने या बिना पूछे कभी नहीं बोलते। ३. अनेक प्रकार के अनर्थ देखते एवं सुनते हैं एवं सार-असार पदार्थ को जानते हैं फिर भी वे गूँगे के समान बने रह कर किसी की निंदा स्तुति नहीं करते हैं। ४. पाप की खानि विकथाओं को वे मुनि कभी नहीं करते। ५. वे मुनिराज संवेग वैराग्य को उत्पन्न करने वाली महापुरुषों की श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं उन्हीं के वाक्य शुद्धि होती है।

(९) तप शुद्धि—१. जो व्रत गुप्ति आदि से सुशोभित हैं प्रमाद रहित अपनी शक्ति के अनुसार बारह प्रकार के तपों को ज्ञानपूर्वक करते है उनके तप शुद्धि होती है। २. शरीर से आसक्त फिर भी धैर्य बल को धारण करने वाले बेला, तेला, महीने दो महीने आदि के उपवास को धारण करते हैं। ३. पारणा के दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं। ४ नीरस आहार करते हैं। ५. शीत-उष्ण की बाधा को जीतते हैं। ६. अनेक प्रकार के योग धारण करते हैं। ७. परीषह सहने में रंचमात्र खेद नहीं करते हैं. इस प्रकार से घोर उग्र तप करते हैं, उनके तप शुद्धि होती है।

(१०) ध्यान शुद्धि—१. आर्त रौद्रध्यान का त्यागकर पर्वतों की गुफा में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्म ध्यानादि धारण करते हैं। २. उनके कर्मरूपी वन को जलाने में ज्वाला के समान ध्यान शुद्धि होती है। ३. मनरूपी दुर्द्धर हाथी विषम वन में घूमता रहता है। इसको ध्यानरूपी अंकुश से वश करते हैं। ४. आचार्यश्री ने श्रेष्ठ ध्यान को एक नगर की उपमा देकर उसका सुन्दर वर्णन किया। ५. इस ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनि कैसे वाणों से शत्रुओं को जीतते हैं। ६. कर्म शत्रुओं को जीतकर कैसा साम्राज्य प्राप्त करते हैं; इसका वर्णन किया। ७. आगे मुनि के श्रमण, साधु आदि नामों की सार्थकता का वर्णन किया। ८. अन्त में दस प्रकार की शुद्धियों की महिमा एवं फल को बताकर सम्पूर्ण भावनाएँ एवं आत्म शुद्धि की प्राप्ति की भावना की है।

नौवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १५२ श्लोकों द्वारा समयसार नामक नौवें अध्याय का कथन किया। २. प्रथम मंगलाचरण करके समस्त ग्रन्थों (अधिकार) एवं चार आराधनाओं में सारभूत यहाँ समयसार की महिमा का कथन किया। ३. जो द्रव्यादिक शुद्धि का आश्रय करके सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण करने का प्रयत्न करता है वह मुनि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। ४. बिना चारित्र के कोई शुद्ध नहीं हो सकता। ५. पुनः मुनि को भिक्षावृत्ति धारण करने की, जितेन्द्रिय बनने की, लोक व्यवहार से दूर रहने आदि अनेक प्रकार की शिक्षा दी है। ६. ज्ञान, ध्यान और संयम का कार्य निर्देश करते हुए इन तीनों का संयोग ही मोक्ष का कारण है ऐसा निर्देश किया। ७. पुनः व्रतादिक के लिए सम्यग्दर्शन ही मूल है। ८. मुनि को ज्ञान की अपेक्षा चारित्र को प्रधान मानने की प्रेरणा दी है।

चार जिन कल्प—१. पूर्ण रूप से नग्नता धारण करना। २. वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलौंच करना। ३. संस्कारों से रहित शरीर में निर्ममता धारण करना। ४. प्रतिलेखन के लिए पिच्छिका धारण करना ये चार लिंग कल्प कहे हैं। ५. पुनः मयूर पिच्छ की पिच्छिका के पाँच गुणों का वर्णन किया है। ६. जो मुनि बिना शुद्ध किए आहार ग्रहण कर लेता है उसको प्रायश्चितरूप पुनः दीक्षा देना चाहिए। ७. जो मुनि कीर्ति आदि के लिए मूलगुणों को भंग करता है उसके अभ्रावकाश आदि योग व्यर्थ है। ८. बिना शुद्ध आहार करने के अनेकों दोषों का वर्णन किया है। ९. जो अधःकर्म नाम के दोष से दूषित आहार करते हैं। उनके तपादिक व्यर्थ हैं। १०. जो मुनि पंच पापों से नहीं डरते एवं त्रियोग से अन्न के पकवाने आदि की अनुमोदना में प्रवर्तते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। ११. निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा है परन्तु मासोपवास के पारणा के दिन भी सदोष आहार लेना अच्छा नहीं। १२. पुनः आचार्य श्री ने बाह्य एवं अभ्यन्तर जुगुप्सा का वर्णन किया। १३, जहाँ रागद्वेष उत्पन्न हो, व्रतों का भंग हो, ध्यान-अध्ययनादि में विघ्न उपस्थित ऐसे क्षेत्रों को मुनियों को छोड़ देना चाहिए। १४. जहाँ संयम की हानि हो, दीक्षा लेने वाले धर्मात्मा लोगों का निवास न हो। १५. जहाँ स्त्री राज्य करती हो ऐसे क्षेत्रों में मुनि को कभी नहीं रहना चाहिए। १६. मुनि को कायोत्सर्ग स्वाध्याय आदि के लिए भी आर्यिका के आश्रम में एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए क्योंकि स्त्रियों के संसर्ग से उभय प्रकार की जुगुप्सा प्रकट होती है। १७. जो मुनि नीच पुरुषों की संगति करता है वह क्रोधादि अनेक दूषणों से युक्त हो जाता है। १८. ऐसे मुनि की सदाचारी कभी संगति नहीं करें। १९. पहले आचार्य का शिष्य न बन करके आचार्य पद धारण करने के लिए घूमता है उसे घोंघाचार्य दंभाचारी समझना चाहिए। २०. मुनि को मैं बहुत दिनों का दीक्षित हूँ ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिए। २१. ध्यान अध्ययन में लीन मुनि संवररूपी जहाज पर चढ़कर शीघ्र संसार से पार हो जाते हैं। २२. पुनः आचार्य श्री ने निद्रा को राक्षसी के समान अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाली बताकर उसे जीतने की प्रेरणा दी है। २३. मुनिराज समुद्र के समान कषाय, इन्द्रिय सुखों को फेंक (दूर) करके एकाग्रचित्त से आत्मा का ध्यान करते हैं। २४. कषायों के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। २५. जो मुनि कषायों के वशीभूत है वह असंयमी, कुमार्गगामी और मिथ्यादृष्टि है। २६. गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है अतः समाधि के समय मुनि को अपने गण में नहीं रहना चाहिए। २७. मुनिराज को अनन्त संसार को बढ़ाने वाली चार-चार अंगुल प्रमाण जिह्वा इन्द्रिय एवं कामेन्द्रिय को वैराग्यरूपी मन्त्र से कील देना चाहिए। स्त्रियों का संसर्ग चारित्र से भ्रष्ट करने वाला है, अतः मुनिराज को जिस स्त्री के हाथ-पैर कटे हुए हो और नाक, कान भी कटे हुए हो ऐसी स्त्री यदि सौ वर्ष को भी हो तो भी व्रतियों को दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। २८. पुनः दस ब्रह्मचर्य को घात करने के कारणों का निर्देश किया है।

दसवाँ अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८७ श्लोकों में प्रत्याख्यान संस्तर नामक अधिकार का वर्णन किया। मंगलाचरण करके आचार्य श्री ने दुर्भिक्षादि पड़ जाने पर संन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। २. संन्यास ग्रहण करने वाले को प्रथम क्षमा माँगनी चाहिए एवं सबको क्षमा कर देना चाहिए। ३. स्वगण का त्याग करके परगण में प्रवेश करना चाहिए। ४ पुनः अपने दोषों की आलोचना करके समाधि के लिए निर्यापक आचार्य बनाना चाहिए। ५ पुनः निर्यापकाचार्य आगमानुसार मृत्यु के आवीचीमरणादि १७ भेदों का स्वरूपपूर्वक कथन करते हैं। ६. चार आराधना करने वाले को दुर्गति के कारण अशुभ मरण का त्याग करना चाहिए। ७. शिष्य के द्वारा देव दुर्गति का स्वरूप एवं उनमें जाने वाले जीवों का स्वरूप पूछने पर बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। ८. कैसे आचरण करने वाले मुनि संसार में भटके हैं एवं कैसे आचरण वाले मुनि संसार से पार होते हैं उसका वर्णन किया। ९ निर्यापकाचार्य क्षपक को अनेक प्रकार से दुर्गति आदि का स्वरूप बताकर बाल-बाल मरण से विरक्त करके पंडित मरण की प्रेरणा देते हैं। १०. तदनन्तर क्षपक चार आराधना की शुद्धि को प्रारम्भ करता है। चार आराधना एवं क्षमादि गुणों को धारण कर काया एवं कषाय का सल्लेखना करता है। ११. समस्त गुणों का आधार एवं सारभूत आत्मा का आश्रय लेकर समस्त दोषों की निंदा-गर्हा करके ३३ आसादना को नहीं लगाने की प्रतिज्ञा करता है। १२. आचार्य क्षपक को उपवासादि तप के द्वारा शरीर को कृश करने की प्रेरणा देते हैं। १३. अन्नादि के त्याग का क्रम बताकर धारण करने योग्य १० प्रकार के मुण्डन के स्वरूप का वर्णन करते हैं। १४ मोक्षदायिनी दीक्षा भी इन्हीं दस मुण्डन से सफल मानी जाती है। १५. क्षपक को नरकादिक दुःखों का एवं संसार के दुःखों का चिंतन करना चाहिए। १६ क्षपक को प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिए परमेष्ठी वाचक पदों का चिन्तन करने की प्रेरणा दी है। १७. रोगादिक आने पर किस प्रकार चिन्तन कर अपने मन को स्थिर रखता है इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। १८. यद्यपि क्षपक निरीह वृत्ति का धारक होता है फिर भी महालोभ के लिए उद्यम करता है। १९. एक उत्तमगति, पंचमगति के फल की याचना करता है। २०. इस प्रकार आत्मा का ध्यान पंचपरमेष्ठी वाचक पदों का चिन्तन एवं निर्यापकाचार्य के मुख से निकले सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए प्रशस्त ध्यान पूर्वक प्राणों का त्याग करता है। २०. समाधि के फल का निर्देश कर उसे धारण करने की प्रेरणा देते हैं। २१. अन्त में आराधना की महिमा बताकर आचार्यदेव ने आराधना की प्राप्ति के लिए नमस्कार किया है।

ग्यारहवाँ अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८८ श्लोकों द्वारा शील गुण एवं दस लक्षण धर्म का निरूपण किया है। २. प्रथम मंगलाचरण किया पश्चात् ३ योग, ३ करण, ४ संज्ञा, ५ इन्द्रियाँ, १० प्रकार के पृथ्वीकाय जीव और १० प्रकार के उत्तम क्षमादि धर्म, इन सब योगादिक को परस्पर में गुणा कर देने से

१८००० भेद शील के होते हैं। ३. आचार्य श्री ने सरल सुबोध भाषा में योगादि का स्वरूप बताकर इनके त्याग से ब्रह्मचर्य होता है। ४. शील पालन करने वालों का एक दिन जीना अच्छा परन्तु बिना शील के सैकड़ों, करोड़ों वर्ष जीना भी व्यर्थ है। ५. तदनन्तर अनेक प्रकार से शील की महिमा बतलाकर शील पालने की प्रेरणा दी है। ६. हिंसादिक के २१ भेद, अतिक्रमणादिक के ४ भेद, पृथ्वीकायादिक के १०० भेद, ब्रह्मचर्य विराधना के दस दोष, आलोचना के दस दोष इन सब हिंसादिक को परस्पर गुणा करने से मुनि के ८४ लाख उत्तरगुण होते हैं। ७. आचार्य श्री ने हिंसादिक का स्वरूप बताकर इनके त्यागने की प्रेरणा दी है। ८. उत्तर गुणों की महिमा बताकर इनको पालने की प्रेरणा दी है। ९. दशधर्म–ये मुनियों के लिए सुख के समुद्र एवं मुक्ति नगर गमन के लिए मार्ग में पाथेय हैं।

उत्तम क्षमा–१. आचार्य श्री ने क्षमा का स्वरूप बताकर क्रोधादिक के निमित्त आने पर किस प्रकार का चिन्तन कर एवं क्षमा धारण कर दुष्ट दुर्वचनादि को सहना चाहिए। २ कोई मारे तो भी मुनिराज किस प्रकार का चिन्तन कर क्षमा धारण करते हैं। ३. मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने पहले अनेक कष्ट सहन करके जो उपशमरूप परिणामों का अभ्यास किया वह व्यर्थ हो जायेगा। ४. इस प्रकार क्रोध नहीं करने से अनेक गुण एवं क्रोध करने से हानियों का वर्णन प्रसिद्ध महापुरुषों का उदाहरण देकर किया एवं नित्य ही क्षमा धारण करने की प्रेरणा दी।

उत्तम मार्दव–१. ज्ञान के आठ कारणों की उत्तमता प्राप्त होने पर भी कोमल योग को धारण कर मद का त्याग करना मार्दव धर्म है। २. मार्दव धर्म की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है।

उत्तम आर्जव–१. सरल बुद्धि को धारण कर मन में जो कार्य जिस रूप से चिन्तन किया, उसको उसी रूप से कहना एवं करना उत्तम आर्जव धर्म का लक्षण है। २. मन, वचन, काय की सरलता से अव्रती भोगभूमि के जीव स्वर्ग में एवं बिल्ली, मगरमच्छादि मायाचारी जीव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं। ३. मायाचारी से उत्पन्न अनेक हानियों का वर्णन करके आर्जव धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है।

सत्य धर्म–१. सिद्धान्त को जानने वाले मुनि तत्त्वों के अर्थ से सुशोभित यथार्थ, सारभूत वचन, भाषा समिति का अवलम्बन लेकर कहते हैं वह सत्य धर्म का लक्षण है।

शौच धर्म-१.जो मुनि इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति त्यागकर मन में समस्त पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण करते हैं एवं लोभ को जीतकर शौच गुण को धारण करते हैं उन्हीं के शौच गुण होता है। २. लोभ चार प्रकार बताया है–(क) जीवित रहने का लोभ (ख) आरोग्य रहने का लोभ (ग) पंचेन्द्रिय का लोभ (घ) भोगोपभोग सामग्री का लोभ। इन लोभों को त्याग करने की प्रेरणा दी।

संयम धर्म—१. त्रियोग की शुद्धिपूर्वक ५ इन्द्रिय, एक मन का निरोध एवं षट् काय के जीवों की विराधना नहीं करते, वही जिनेन्द्रदेव कथित संयम है। २. आचार्य श्री ने उपेक्षा संयम एवं अपहृत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद भी किए हैं एवं ३. उनके स्वरूप का कथन किया है। ४. सामायिक आदि के भेद से उत्कृष्ट संयम ५ प्रकार का है। ५. आचार्यश्री ने प्रत्येक का स्पष्ट वर्णन किया है। ६. संयम के बिना तप, ध्यान एवं व्रतादिक सब व्यर्थ है।

उत्तम तप—पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना तप है।

उत्तम त्याग—१. त्रियोगों से दोनों प्रकार के परिग्रहों में मूर्च्छा एवं ममत्व का त्याग कर देना त्याग है। २. ज्ञान दानादिक के भेद से त्याग के चार भेद किए हैं।

उत्तम आकिंचन्य धर्म—१. जो निस्पृह मुनि त्रियोग की शुद्धता पूर्वक शरीर, परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग करना आकिंचन्य धर्म है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—१. राग-द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है। इस प्रकार आचार्य श्री ने दस धर्मों की महिमा का वर्णन करके उसको धारण करने की प्रेरणा दी है।

बारहवाँ अधिकार

१. आचार्य श्री ने २३१ श्लोकों में अनुप्रेक्षा, परीषह एवं ऋद्धियों का वर्णन किया है। प्रथम अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने वाले मुनिराज को नमस्काररूप मंगलाचरण किया है।

(१) अनित्य भावना—१. इन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद क्षणभंगुर हैं। २. चंचल स्त्री सांकल के समान बन्धन में डालने वाली है। ३. कुटुम्ब विडम्बना मात्र है। ४. पुत्र जाल के समान बाँधने वाले हैं। ५. घर का निवास कारागार के समान है। ६. इस प्रकार अनेक प्रकार से जगत् की अनित्यता बताकर आत्मार्थी को रत्नत्रय धारण कर अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष को सिद्ध कर लेने की प्रेरणा दी है।

(२) अशरण भावना—१. जीव को जब यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब उससे बचाने वाला शरणभूत तीन लोक में कोई नहीं दिखाई देता। अतः अरहन्तादिक ही शरणभूत है ऐसा जानकर उनकी शरण लेनी चाहिए।

(३) संसार भावना—१. पंच परावर्तन का स्वरूप सरल भाषा में समझाया है। २. मिथ्यात्वादि अशुभ भावों से कर्मों का उदय आता है। ३. उससे संसार में महान् दुःखों को उठाता है। ४. इस प्रकार आत्मार्थी को रत्नत्रय द्वारा शीघ्र मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिए।

(४) एकत्व भावना—१. जीव अकेला कर्मबन्ध करता है। अकेला ही सुख-दुःख को भोगता है। २. अनेक भोगोपभोग सामग्री से पोषित ये शरीर भी जीव के एक पेंड भी साथ नहीं जाता

है। ३. आत्मार्थी को मोक्ष रूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिए एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

(५) अन्यत्व भावना—१. जहाँ मरने पर शरीर साक्षात् भिन्न दिखाई देता है। २. स्त्री आदि समस्त कुटुम्ब वर्ग भी भिन्न ही हैं, रत्नत्रय को छोड़कर कोई पदार्थ मेरा नहीं है। इस प्रकार आत्मा को अन्तरंग में ही शरीर से भिन्न समझकर चिंतन करना चाहिए।

(६) अशुचि भावना—१. नरकादि गति में अशुचिमय शरीर को प्राप्त करता है तथा जो भोग स्त्रियों की अपवित्र योनि से उत्पन्न हो तो भला ये भोग अशुचिमय क्यों नहीं होंगे, अतः विरक्त पुरुषों को अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष को सिद्ध करना चाहिए।

(७) आस्रव भावना—१ जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है। २. वे निरंतर कर्मों का आस्रव करते रहने से सैकड़ों दुःखों से भरे संसार समुद्र में डूबते हैं।

(८) संवर भावना—१. कर्मों के आस्रव का निरोध करना ही संवर है। २. क्षमादि भावों से कषायादि दुर्भावों को रोकने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

(९) निर्जरा भावना-१. चारित्ररूपी गुण को धारण करने से तपश्चरण के द्वारा मोक्ष को देने वाली निर्जरा होती है। २. जिस प्रकार अग्नि के द्वारा स्वर्ण पाषाण युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपरूपी अग्नि से संवर, निर्जरा करने वाला भव्यजीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।

(१०) लोक भावना—१. आचार्यश्री ने लोक भावना का वर्णन करते हुए उर्ध्व, मध्य और अधोलोक का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र मोह का नाश करूँ मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

(११) बोधि दुर्लभ भावना—१. आचार्यश्री ने मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तम कुलादि अनेक मोक्ष पुरुषार्थ की सामग्री की दुर्लभता बताई है। २. अन्त में सबसे दुर्लभ समाधिमरण है ऐसा कथन करके रत्नत्रय को धारण कर मोक्षादि का प्राप्त करना ही बोधि का फल कहा है।

(१२) धर्म भावना—१. धर्म की इच्छा रखने वाले को मुक्ति एवं मुक्ति को प्रदान कराने वाले धर्म को पालन करने की प्रेरणा दी है। २. आचार्यश्री ने बारह भावना की महिमा बताकर उसे सदा चिन्तन करने की प्रेरणा दी है।

परीषह—१. मुनिराज चारित्रमार्ग अथवा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए सदा परीषह सहन करते हैं। २. आचार्यश्री ने संसार में भ्रमण करते हुए पराधीनतावश जो वेदना सहन की उसका चिंतन करके क्षुधा, तृषा, वेदना को सहन करने की प्रेरणा दी है। ३. मुनिराज ध्यानरूपी अग्नि से शीत वेदना को जीतते हैं। ४. आचार्य श्री ने अनेक प्रकार के चिन्तन द्वारा मुनि परीषहों को जीतते हैं। ५. इसका बहुत ही सुन्दर हृदयग्राही वर्णन किया है। ६. कौन से कर्म के उदय से कौन-कौन-सा परीषह

होता है एवं कौन-कौन से गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं। इसका वर्णन किया। ७. आचार्यश्री ने मुनि को कर्मोदय से प्राप्त परीषहों को कर्म नाश करने के लिए ध्यानादि द्वारा सहन करने की प्रेरणा दी है। ८. परीषहजय से लाभ एवं परीषह नहीं जीतने से हानि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया।

ऋद्धियाँ—१. सम्पूर्ण ऋद्धियाँ तपश्चरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रकट होती है। २. तदनंतर ऋद्धियों के बुद्धिऋद्धि आदि आठ भेद किए हैं। ३. बुद्धिऋद्धि के १८, क्रियाऋद्धि के २, (चारणऋद्धि के ९ भेद) विक्रियाऋद्धि के ११, तपऋद्धि के ७, बलऋद्धि के ३, रसऋद्धि के ६, क्षेत्रऋद्धि के २ इस प्रकार आचार्य श्री ने ८ ऋद्धियों के भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया। ४. जो मुनि त्रियोग की शुद्धतापूर्वक, बिना किसी आकांक्षा के पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके स्वतः ये ऋद्धियाँ प्रकट होती है। ५. जो मुनि दीक्षा धारण करके तपश्चरण नहीं करते उनके अनेक प्रकार के रोग होते हैं। ६. आचार्य श्री ने पुनः श्रेष्ठ तपश्चरण करने की प्रेरणा दी। ७. आचार्यश्री लिखते हैं हैं कि मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों का सार लेकर मुनि के लिए इस सद्ग्रन्थ की रचना की है।

यह ग्रन्थ श्रेष्ठ आचारों को दिखाने वाला दीपक है, अतः इस ग्रन्थ का मूलाचार प्रदीप नाम सार्थक है। इस प्रकार अन्त में भी अर्हन्तादिक की वन्दना करके रत्नत्रय आदि पद की श्रेष्ठ याचना की है। इस प्रकार पाठकगण आद्योपांत इस ग्रन्थ को पढ़कर स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य को अरहन्तादिक के प्रति कितना बहुमान था कि प्रत्येक अधिकार के आदि एवं अन्त में उनके गुणों का स्मरण पूर्वक नमस्कार किया। मुनि धर्म का सांगोपांग वर्णन किया। प्रत्येक प्रकरण का हृदयगामी वर्णन करके उसकी महत्ता दर्शाकर आत्मार्थी को उसके पालन की प्रेरणा दी है। यह ग्रन्थ मुनि एवं श्रावक दोनों को ही आत्मोत्थान में सहकारी है, क्योंकि मुनि एवं श्रावक दोनों एक नदी के दो किनारे हैं। एक किनारे के नष्ट होने पर नदी अपने आप में नदी नहीं रहती है। उसी प्रकार श्रावक मुनि भी एक दूसरे के पूरक हैं। मुनि के अभाव में श्रावक को, मोक्षमार्ग को कौन बताएगा। श्रावकों के अभाव में मुनि की साधना में निमित्तभूत आहारादिक क्रिया भी निर्बाध रूप से इस काल में हीन संहनन के कारण नहीं हो सकती। अतः पाठकों से अनुरोध है कि पुनः-पुनः इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर अपनी आत्मपरिणति को निर्मल बनाएँ। इत्यलम्।

विषयानुक्रमणिका

तीसरा अधिकार

चौथा अधिकार

पाँचवाँ अधिकार

छठा अधिकार

सातवाँ अधिकार

आठवाँ अधिकार

नौवाँ अधिकार

दसवाँ अधिकार

ग्यारहवाँ अधिकार

बारहवाँ अधिकार

❑ ❑ ❑

आचार्यवर्य श्री सकलकीर्ति विरचित

मूलाचार प्रदीप

(भाषा टीका सहित)

प्रथमोऽध्यायः

मंगलाचरण संस्कृत आचार्यकृत—

श्रीमन्तं मुक्तिभर्त्तारं वृषभं वृषनायकं।
धर्मतीर्थकरं ज्येष्ठं वन्देऽनन्तगुणार्णवम् ॥१॥

भाषा टीकाकार कृत मंगलाचरण—

परमेष्ठी पाँचों नमूँ जिनवाणी उर लाय।
मूलाचार-प्रदीप की टीका लिखूँ बनाय॥

अर्थ—जो भगवान् श्री वृषभदेव स्वामी अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, जो मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं, धर्म के नायक हैं, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हैं, इस युग के तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं और अनंत गुणों के समुद्र हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव की वंदना करता हूँ।

आचाराङ्गं बभाषे यो यत्याचारनिरूपकम्।
आदौ चतुर्थकालस्यात्राद्यं मोक्षाप्तये सताम् ॥२॥
तमादितीर्थकर्त्तारं यत्याचारपरायणम्।
आचारशुद्धये स्तौमि धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ॥३॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों को इस भरतक्षेत्र में आज भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस चतुर्थकाल के प्रारम्भ में ही जिन्होंने मुनियों के आचरणों का निरूपण किया था तथा जो मुनियों के आचरण पालन करने में स्वयं तत्पर हुए थे और जिन्होंने इस युग में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की है, ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव की मैं आचार्य (सकलकीर्ति) अपने आचरण शुद्ध करने के लिए स्तुति करता हूँ।

येन प्रकाशितं लोकेऽस्मिन्नाचाराङ्गमूर्जितम्।
हीयमानमपि स्थास्यति यावदन्तिमं दिनम् ॥४॥
कालस्य पञ्चमस्यादौ तं नौम्याचारपारगम्।
श्रीवर्द्धमाननामानं मिथ्याज्ञानतमोपहम् ॥५॥

अर्थ—जो भगवान् वर्धमान स्वामी मिथ्याज्ञानरूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान हैं और जिन्होंने इस संसार में अत्यन्त देदीप्यमान आचारांग को प्रकाशित किया है तथा उन वर्धमान स्वामी का कहा हुआ जो आचारांग इस पंचमकाल के आदि में दिनोंदिन घटता हुआ भी इस पंचमकाल के अंत तक बराबर बना रहेगा, ऐसे आचारांग को निरूपण करने वाले और आचार पालन करने में पारंगत भगवान् वर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ।

शेषा ये तीर्थकर्त्तार आचाराङ्गप्रवर्त्तिनः।
आचारभूषिता वन्द्यास्त्रिजगत्स्वामिभिः स्तुताः ॥६॥
अजिताद्या जिनाधीशा विश्वभव्यहितोद्यताः।
सन्तु ते मे स्वभूत्याप्त्यै वन्दिताः संस्तुता मया ॥७॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक मध्य के तीर्थंकर भी आचारांग की प्रवृत्ति करने वाले हैं, आचार से विभूषित हैं, तीनों लोकों के स्वामी जिनकी वंदना करते हैं, स्तुति करते हैं तथा जो समस्त भव्यजीवों के हित करने में उद्यत रहते हैं और मैंने भी जिनकी वंदना और स्तुति की है, ऐसे वे तीर्थंकर परमदेव मुझे अपनी अनंतचतुष्टयरूपी विभूति की प्राप्ति के लिए हों।

विदेहे पूर्वसंज्ञे यः प्रवर्त्तयति मुक्तये।
अद्यापि भव्यजीवानामाचाराङ्गं सुवृत्तदम् ॥८॥
तस्मै तीर्थकृते श्रीसीमंधरस्वामिने नमः।
तद्गुणाय जिनेन्द्राय ह्यनन्तगुणसिंधवे ॥९॥

अर्थ—जो भगवान् सीमंधरस्वामी पूर्व विदेह क्षेत्र में भव्यजीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए आज भी निर्मल चरित्र को बतलाने वाले आचारांग की प्रवृत्ति कर रहे हैं, जो अनंतगुणों के समुद्र हैं और जिनेन्द्र हैं, ऐसे भगवान् सीमंधरस्वामी को उनके गुण प्राप्त करने के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

येऽत्रार्द्धाधिकसद्वीपद्वये सन्ति जिनाधिपाः।
आचारवर्त्तिनः पुंसां दिव्येन ध्वनिना भुवि ॥१०॥
आचारभूषणा अन्तातीताः कालत्रयोद्भवाः।
वन्द्याः स्तुत्याः सुरेन्द्राद्यैस्ते मे सन्त्वस्य सिद्धये ॥११॥

अर्थ—इस ढाईद्वीप में भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में होने वाले जिन तीर्थंकर वा

सामान्य केवलियों ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा इस संसार में भव्यजीवों के लिए आचारांग की प्रवृत्ति की है, जो आचार से विभूषित हैं और इन्द्रादिक देव भी जिनकी वंदना और स्तुति सदा किया करते हैं, ऐसे अनंत तीर्थंकर वा सामान्य केवली भगवान् मेरे इस कार्य की सिद्धि करें।

आचाराङ्गोक्तमार्गेणाराध्य रत्नत्रयं द्विधा।
तपसाहत्य कर्माणि येऽगुर्निर्वाणमद्भुतम् ॥१२॥
आचारफलमाप्तांस्तान् सिद्धान् लोकाग्रवासिनः।
दिव्याष्टगुणशर्माब्धीन् वन्देऽनन्तान् शिवाप्तये ॥१३॥

अर्थ—जिन्होंने आचारांग में कही हुई विधि के व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय का आराधन कर, तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों का नाश किया है और इस प्रकार अद्‌भुत मोक्षपद प्राप्त किया है तथा जो इस प्रकार आचार पालन करने के फल को प्राप्त हुए हैं, जो लोक शिखर पर विराजमान हैं और दिव्य आठ गुणरूपी कल्याण के समुद्र हैं, ऐसे अनंत सिद्धों को मैं मोक्ष प्राप्ति के लिए वंदना करता हूँ।

आचरन्ति स्वयं साक्षात् पञ्चाचारं सुखाकरम्।
आचारशास्त्रयुक्त्या ये शिष्याणां चारयन्ति च ॥१४॥
स्वर्गमुक्त्यादिसौख्याय सूरयो विश्ववन्दिताः।
तेषां पादाम्बुजान् नौमि पञ्चाचारविशुद्धये ॥१५॥

अर्थ—जो आचार्य सुख की खान हैं, ऐसे पाँचों आचारों को स्वयं साक्षात् पालन करते हैं, जो आचार शास्त्रों से सदा सुशोभित रहते हैं, जो शिष्यों को स्वर्ग-मोक्ष आदि के सुख प्राप्त कराने के लिए उन्हीं पंचाचारों को उन शिष्यों से सदा पालन कराते हैं और समस्त संसार जिनकी वंदना करता है, ऐसे आचार्य परमेष्ठी के चरण कमलों को मैं अपने पंचाचार की विशुद्धि के लिए सदा नमस्कार करता हूँ।

आचारप्रमुखाङ्गानि निष्प्रमादाः पठन्ति ये।
पाठयन्ति विनेयानां ज्ञानायाज्ञानहानये ॥१६॥
पाठकास्त्रिजगद्वंद्या महामतिविशारदाः।
विश्वदीपाः श्रये तेषां क्रमाब्जानङ्गहेतवे ॥१७॥

अर्थ—जो उपाध्याय अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए या अज्ञान को दूर करने के लिए प्रमाद रहित होकर आचारांग आदि अंगों को सदा पढ़ते रहते हैं और शिष्यों को पढ़ाते रहते हैं तथा जो तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय हैं, महाबुद्धि को धारण करने से जो अत्यन्त चतुर हैं और जो संसार के समस्त पदार्थों का स्वरूप दिखलाने के लिए दीपक के समान हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के चरण

कमलों का मैं उन समस्त अंगों की प्राप्ति के लिए आश्रय लेता हूँ।

ज्ञाताचारादिसर्वांगास् त्रिकालयोगधारिणः।
उग्रदीप्तमहाघोरतपोलङ्कृतविग्रहाः ॥१८॥
साधवो ये त्रिलोकार्च्या निष्प्रमादाः जितेन्द्रियाः।
गुहाद्र्यादिकृतावासास्तेभ्यः सुतपसे नमः ॥१९॥

अर्थ—जो साधु आचार आदि समस्त अंगों को जानते हैं, जो तीनों काल में योग धारण करते हैं, जिनका शरीर उग्रतप, दीप्ततप, महातप और घोरतप आदि तपों से अलंकृत है, जो तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हैं, प्रमादरहित हैं, जितेन्द्रिय हैं और जो गुफा वा पर्वतों आदि में निवास करते हैं, उन साधु परमेष्ठियों के लिए मैं तपश्चरण की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

प्रारम्भे तुर्यकालस्य रचितं येन धीमता।
आचाराङ्गं शिवाप्त्यै च वृषभसेनगणेशिना ॥२०॥
गुरोस्तदर्थमादाय तं सप्तर्द्धिविभूषितम्।
चतुर्ज्ञानधरं स्तौमि कवीन्द्रं तद्गुणाप्तये ॥२१॥

अर्थ—जिन श्री वृषभसेन महाचतुर गणधर ने चौथे काल के प्रारम्भ में मोक्ष प्राप्त करने, कराने के लिए अपने गुरु भगवान् वृषभदेव से उस अंग का अर्थ लेकर आचारांग की रचना की है तथा जो सप्त ऋद्धियों से विभूषित हैं और चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं, ऐसे कवियों के इन्द्र भगवान् वृषभसेन गणधर की मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ।

पदरूपेण येनात्राचाराङ्गं रचितं परम्।
आचारवृत्तयेऽनाचारनिषेधाय योगिनाम् ॥२२॥
तस्यांशं वर्त्ततेऽद्यापि स्थास्यत्यग्रे न संशयः।
स्तुवेऽहं तं गणाधीशं गौतमं गुणवारिधिम् ॥२३॥

अर्थ—जिन भगवान् गौतम गणधर ने मुनियों के आचार की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अनाचार का निषेध करने के लिए पदरूप से आचारांग की उत्कृष्ट रचना की है तथा उसी आचारांग का अंश आज भी विद्यमान है और आगे भी अवश्य निःसंदेह बना रहेगा, ऐसे गुणों के समुद्र भगवान् गौतम गणधर की मैं स्तुति करता हूँ।

शेषा गणधरा आचाराङ्गादिरचने क्षमाः।
चतुर्ज्ञानाखिलार्थज्ञा ये महाचारभूषिताः ॥२४॥
मोक्षमार्गप्रणेतारो महान्तो मुक्तिगामिनः।
तान् सर्वान् शिरसा वन्दे तत्समस्तगुणाप्तये ॥२५॥

अर्थ—बाकी के जितने गणधर हैं जो कि आचारांगादिक की रचना करने में समर्थ हैं, जो अपने चारों ज्ञानों से समस्त पदार्थों के जानकार हैं, जो महा-आचारों से विभूषित हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाले हैं, जो महापुरुष हैं और मोक्षगामी हैं, ऐसे समस्त गणधरों को मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करने के लिए मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

यत्प्रसादेन मेऽत्राभूत् रागदूरा महामतिः।
समर्थानेकशास्त्राणां रचने शुभदाऽनघा ॥२६॥
सा जिनेन्द्रमुखोत्पन्ना भारती पूजिता स्तुता।
वर्द्धिता श्रीगणेशाद्यैर्मया चास्तु चिदे मम ॥२७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई जिस सरस्वती के प्रसाद से मेरी यह महाबुद्धि रागरहित होकर अनेक शास्त्रों की रचना करने में समर्थ हुई है तथा जो शुभ (पुण्य) देने वाली है, पाप रहित है, गणधरदेवों ने जिसकी पूजा की है, स्तुति की है और खूब वृद्धि की है तथा मैंने भी जिसकी पूजा स्तुति और वृद्धि की है, ऐसी सरस्वती देवी मेरे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करो।

अङ्गपूर्वप्रकीर्णादीनामाचाराद्यर्थसूचकान् ।
त्रिजगद्दीपकान् सर्वांस्तदर्थाप्त्यै भजेऽन्वहम् ॥२८॥

अर्थ—इस प्रकार अंग, पूर्व और प्रकीर्ण आदि में कहे हुए आचार आदि के अर्थ को सूचित करने वाले और तीनों जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले जितने भी महापुरुष हैं, उन सबकी मैं उन अंग, पूर्व और प्रकीर्णक का अर्थ जानने के लिए प्रतिदिन सेवा करता हूँ।

सुधर्मसूरिजम्बूस्वामिनौ केवललोचनौ।
शुद्धाचारान्वितौ नौमि स्वाचाराङ्गप्ररूपकौ ॥२९॥

अर्थ—केवलज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले, शुद्धाचार को पालन करने वाले और अपने आचारांग को निरूपण करने वाले सुधर्मा गणधर और जम्बूस्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

विष्णुश्च नंदिमित्राख्योऽपराजितो मुनीश्वरः।
गोवर्द्धनो मुमुक्षुश्च भद्रबाहुर्जगन्नुतः ॥३०॥
श्रुतकेवलिनोऽत्रैते पञ्चाचारादिदेशिनः।
परमाचारसम्पन्नाः कीर्त्तिताः सन्तु मे चिदे ॥३१॥

अर्थ—(१) विष्णु (२) नंदिमित्र (३) मुनिराज अपराजित (४) मोक्ष की इच्छा करने वाले गोवर्द्धन और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है ऐसे (५) भद्रबाहु; ये पाँच इस पंचमकाल में श्रुतकेवली हुए हैं। ये पाँचों ही श्रुतकेवली पंचाचार का उपदेश देने वाले हैं और परमोत्कृष्ट आचार को पालन करने वाले हैं, इसलिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ जिससे कि मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो।

विशाखाचार्यमुख्या ये सूरयो बहवो भुवि।
आचाराङ्गादिशास्त्रज्ञाः दद्युस्ते मे स्तुताः श्रुतम् ॥३२॥

अर्थ—इस संसार में विशाखाचार्य को आदि लेकर और भी अनेक आचार्य हुए हैं जो कि आचारांगादि शास्त्रों के जानकार हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ, वे सब मुझे श्रुतज्ञान को प्रदान करें।

कवीन्द्रा वादिनो ये श्रीकुन्दकुन्दादिसूरयः।
तान् स्तुवे सत्कवित्वाय स्वाचारश्रुतसूचकान् ॥३३॥

अर्थ—आचार प्ररूपक श्रुतज्ञान का निरूपण करने वाले और भी जो कविराज या वादी मुनि हुए हैं अथवा श्री कुन्दकुन्दादिक आचार्य हुए हैं, उन सबकी मैं श्रेष्ठ कवित्व प्राप्त करने के लिए स्तुति करता हूँ।

बाह्यान्तर्ग्रन्थनिर्मुक्तान् दिग्वस्त्रालङ्कृतान् परान्।
मदीयांश्च गुरून्नौमि विश्वान् गुरुगुणाप्तये ॥३४॥

अर्थ—जो बाह्य और अंतरंग परिग्रह से सर्वथा रहित हैं, जो दिशारूपी वस्त्रों से ही सुशोभित हैं अर्थात् दिगम्बर हैं और इसलिए जो उत्कृष्ट हैं, ऐसे अपने समस्त गुरुओं के लिए भी मैं उनके श्रेष्ठ गुण प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

इति तद्विघ्नहान्यै च माङ्गल्यार्थप्रसिद्धये।
स्तुता ये वन्दिता ग्रन्थारम्भेऽर्हच्छ्रुतयोगिनः ॥३५॥
इष्टा इष्टाप्तये सन्तु प्रत्यूहान् घ्नन्तु तस्य च।
कुर्वन्तु मङ्गलं ते मे विश्वमाङ्गल्यकारिणः ॥३६॥

अर्थ—इस प्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में इसकी रचना में होने वाले विघ्नों को दूर करने के लिए तथा मंगलमय पदार्थों की प्राप्ति के लिए जिन अरहंत, शास्त्र और मुनियों की वंदना की है या उनकी स्तुति की है, ऐसे वे समस्त संसार में मंगल करने वाले देव, शास्त्र, गुरु, इष्ट या पंचपरमेष्ठी मुझे इष्ट की प्राप्ति के लिए हों अर्थात् मेरे ग्रन्थ को पूर्ण करें, उसमें होने वाले विघ्नों को नष्ट करें और मेरे लिए मंगल करें।

इष्टदेवान् प्रणम्येति विज्ञायार्थान् परान् शुभान्।
मूलाचारादिसद्ग्रन्थानामाचारप्रवर्त्तये ॥३७॥
महाग्रन्थं करिष्येऽहं श्रीमूलाचारदीपकम्।
हिताय मे यतीनां च शुद्धाचारार्थदेशकम् ॥३८॥

अर्थ—इस प्रकार मैं अपने इष्टदेवों को नमस्कार कर तथा शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर, मूलाचार आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में कहे हुए आचारों की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अपना और मुनियों

का हित करने के लिए, शुद्धाचार के स्वरूप का निरूपण करने वाले 'मूलाचार-प्रदीप' नाम के महाग्रन्थ की रचना करता हूँ।

आचारांग का वर्णन—

आचाराङ्गं यदष्टादशसहस्रपदान्वितम्।
श्रुतकेवलिभिः प्रोक्तं ह्यर्थैर्गाम्भीरमब्धिवत् ॥३९॥

अर्थ—आचारांग नाम के अंग में अठारह हजार पद हैं। वह श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ है तथा समुद्र के समान अर्थों से महा गंभीर है।

शत षोडश कोट्यामा चतुस्त्रिंशच्च कोटयः।
त्र्यशीतिरथलक्षाण्यष्टासप्ततिशतान्यपि ॥४०॥
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा इति संख्या जिनोदिता।
आगमेऽक्षरसंख्याभिः पदैकस्य न चान्यथा ॥४१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने कहे हुए आगम में एक-एक पद के अक्षरों की संख्या सोलह अरब चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अट्ठासी बतलाई है। यह अन्यथा नहीं है।

एतदङ्गमहाग्रन्थं, समस्ताचारदीपकम्।
मया प्रोक्तं कथं शक्यं कविना स्वल्पबुद्धिना ॥४२॥
तथापि पूर्वसूर्यादिप्रणामार्जितपुण्यतः।
स्तोकं सारं करिष्यामि ग्रन्थमाचारसूचकम् ॥४३॥

अर्थ—समस्त आचारांग को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान यह आचारांग नाम का बड़ा ग्रन्थ है। यह इतना बड़ा महाग्रन्थ भला अत्यन्त थोड़ी-सी बुद्धि को धारण करने वाले मुझ ऐसे कवि से कैसे कहा जा सकता है तथापि पहले के आचार्यों को प्रणाम करने से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से आचार को सूचित करने वाले बहुत ही स्वल्प और सारभूत ग्रन्थ की रचना मैं करूँगा।

तस्यादौ ये जिनैः प्रोक्ता अष्टाविंशतिसंख्यकाः।
परा मूलगुणाः सारा मूलभूताः सुयोगिनाम् ॥४४॥
गुणानां चात्र दीक्षाया आचारस्य शिवङ्करान्।
तान् प्रवक्ष्ये स्वशक्त्याहं सर्वान् सर्वार्थसाधकान् ॥४५॥

अर्थ—इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और श्रेष्ठ मुनियों के मूलभूत २८ मूलगुणों को कहूँगा। ये मूलगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, मुनियों के गुण, दीक्षा और आचार को मंगल करने वाले हैं और समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाले हैं, उन्हीं सबको मैं अपनी शक्ति के अनुसार

कहूँगा।

२८ मूलगुणों का संक्षिप्त वर्णन—

महाव्रतानि पञ्चैव परा समितयस्तथा।
पञ्चेन्द्रियनिरोधाश्च लोच आवश्यकानि षट् ॥४६॥
अचेलत्वं ततोऽस्नानं धराशयनमेव हि।
अदन्तघर्षणं रागदूरं च स्थितिभोजनम् ॥४७॥
एकभक्तं समासेनामी सन्मूलगुणाबुधैः।
विज्ञेयाः कर्महन्तारः शिवशर्मगुणाकराः ॥४८॥
पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि विस्तरेण पृथक् पृथक्।
विस्ताररुचिशिष्याणामनुग्राहाय सिद्धये ॥४९॥

अर्थ—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों का निरोध, ६ आवश्यक, (१) केशलोंच (२) नग्नत्व धारण करना (३) स्नान नहीं करना (४) दंत-घर्षण नहीं करना (५) रागरहित खड़े होकर भोजन करना (६) दिन में एकबार ही भोजन करना और (७) भूमि पर शयन करना ये संक्षेप में २८ मूलगुण हैं। ये समस्त मूलगुण कर्मों को नाश करने वाले हैं और मोक्ष के सुख तथा सिद्धों में होने वाले समस्त गुणों को देने वाले हैं। विद्वानों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

'पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि' के अन्तर्गत प्रतिज्ञा-कथन। अर्थ विस्तार के साथ समझने वाले शिष्यों का उपकार करने के लिए तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए आगे हम इनका अलग-अलग स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं।

महाव्रतों की परिभाषा—

हिंसाया अनृतात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहात्।
कृत्स्नान्मनोवचःकायैः कृतकारितमाननैः ॥५०॥
सर्वथा विरतिर्या च क्रियते मुनिपुङ्गवैः।
महाव्रतानि तान्यत्र कथ्यन्ते योगिनां जिनैः ॥५१॥

अर्थ—श्रेष्ठ मुनिराज अपने मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जो (१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) कुशील और (५) परिग्रह इन ५ पापों का पूर्णरूप से सर्वथा त्याग कर देते हैं, उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव मुनियों के महाव्रत कहते हैं।

(१) अहिंसा महाव्रत का लक्षण—

हृदा च वपुषा वाचा कृतेन कारितेन च।
स्वानुमत्या प्रयत्नेन रक्षायात्र विधीयते ॥५२॥

मत्वात्मसदृशान् जीवान् नवभेदैः षडङ्गिनाम्।
मूलं सर्वव्रतानां स्यात् प्रथमं तन्महाव्रतम् ॥५३॥

अर्थ—छहों काय के समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान समझकर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के ९ भेदों से प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना पहला अहिंसा महाव्रत कहलाता है। इस अहिंसा महाव्रत को समस्त व्रतों का मूल समझना चाहिए।

कायेन्द्रियगुणस्थान-मार्गणाश्च कुलान्यपि।
योनिश्च सर्वजीवानां ज्ञात्वा सम्यग् जिनागमे ॥५४॥
तेषां विविधजीवाना-मिति रक्षा प्रयत्नतः।
कर्त्तव्या मुनिभिर्नित्यं सर्वथा च कृतादिभिः ॥५५॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले जिनागम के अनुसार समस्त जीवों की काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल और योनियों को समझ लेना चाहिए और फिर उन अनेक प्रकार के जीवों की रक्षा सब तरह से, बड़े प्रयत्न से, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से करनी चाहिए।

शिलाद्रि-धातुरत्नादि-खरपृथ्व्यङ्गिनो बहून्।
मृदादि मृदुपृथ्वीकायांश्च सूक्ष्मेतरान् सदा ॥५६॥
हस्तपादाङ्गुलि काष्ठ-शलाका खर्परादिभिः।
न खनेत् खानयेन्नैव न लिखेन्नैव लेखयेत् ॥५७॥
न भञ्ज्याद् भञ्जयेन्नैव न हन्याद् घातयेन्न च।
जातु सङ्घटयेन्नैव पीडयेन्न दयार्त्तधीः ॥५८॥
खनन्तं च लिखन्तं वा भक्तवन्तं परं जनम्।
निघ्नन्तं घट्टयन्तं वा पीडयन्तं धरात्मनः ॥५९॥
नानुमन्येत योगीऽत्याद्यैः प्रकारैर्विराधना।
न कार्या मुनिभिस्तेषां योगैराद्यव्रताप्तये ॥६०॥

अर्थ—शिला, पर्वत, धातु, रत्न आदि में बहुत से कठिन पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं तथा मिट्टी आदि में बहुत से कोमल पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं तथा उनके भी स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं इसलिए मुनिराज अपने हाथ से, पैर से, उंगली से, लकड़ी से, सलाई से या खप्पर से पृथ्वीकायिक जीवसहित पृथ्वी को न खोदते हैं, न खुदवाते हैं, न उस पर लकीरें करते हैं, न कराते हैं, न उसे तोड़ते हैं, न तुड़वाते हैं, न उस पर चोट पहुँचाते हैं, न चोट पहुँचवाते हैं तथा अपने हृदय में दया बुद्धि धारण कर न उस पृथ्वी को परस्पर रगड़ते हैं, न उसको किसी प्रकार की पीड़ा देते हैं। यदि कोई अन्य भक्त पुरुष उस पृथ्वी को खोदता है या उस पर लकीरें करवाता है, उस पर चोट मारता है, रगड़ता है या

अन्य किसी प्रकार से उन जीवों को पीड़ा पहुँचाता है तो वे योगी उसकी अनुमोदना भी नहीं करते। इस प्रकार वे मुनिराज अहिंसा महाव्रत को प्राप्त करने के लिए उन पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना कभी नहीं करते।

ये पृथ्वीकायिका जीवा ये पृथ्वीकायमाश्रिताः।
पृथ्वीकायसमारम्भाद् ध्रुवं तेषां विराधना ॥६१॥
तस्मात् पृथ्वीसमारम्भो द्विविधस्त्रिविधेन च।
यावज्जीवं न योग्योऽत्र जिनमार्गानुचारिणाम् ॥६२॥

अर्थ—पृथ्वीकाय का समारंभ करने से, पृथ्वीकायिक जीवों की तथा पृथ्वीकाय के आश्रय रहने वाले जीवों की विराधना अवश्य होती है, इसलिए जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दोनों प्रकार के पृथ्वी का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए।

न श्रद्दधाति यो जीवान् पृथ्वीकायगतानिमान्।
स भवेद् दीर्घसंसारी लिङ्गस्थोऽप्यतिदुर्मतिः ॥६३॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जिनलिंग धारण करके भी, पृथ्वीकाय में प्राप्त हुए जीवों का, श्रद्धान नहीं करता है, उसे दीर्घ संसारी ही समझना चाहिए।

मत्वेति तत्समारम्भो जातु कार्यो न योगिभिः।
स्वेन वान्येन मुक्त्याप्त्यै चैत्यगेहादिकारणैः ॥६४॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए, स्वयं वा दूसरे के द्वारा, जिनालय आदि बनवाकर भी पृथ्वी का समारंभ नहीं करना चाहिए।

(जलकायिक जीवों का रक्षण)

स्थूलाणुबिन्दुमेघावश्यादिजलदेहिनाम् ।
न कुर्यात्कारयेन्नैव स्पर्शसङ्घट्टनादिकम् ॥६५॥

अर्थ—मेघ वा बर्फ की बूँदों में रहने वाले जलकायिक जीवों का, स्पर्श वा संघट्टन न कभी करना चाहिए और न कराना चाहिए।

बाधां चान्यं च कुर्वन्तं मनसा नानुमन्यते।
वाचाङ्गेन यतिः शौच-पादप्रक्षालनादिभिः ॥६६॥
जीवा अप्कायिका येऽत्र ये चाप्कायं समाश्रिताः।
अप्कायाङ्गिसमारम्भात्स्फुटं तेषां परिक्षयः ॥६७॥

तस्मादपां समारम्भो द्विधा वाक्कायमानसैः।
यावज्जीवं मनाक् योग्यो नात्रार्हद्वेषधारिणाम् ॥६८॥

अर्थ—इसी प्रकार शौच, पाद प्रक्षालन आदि के द्वारा, उन जीवों को बाधा देने वाले, अन्य पुरुषों को, मन-वचन-काय से कभी अनुमोदना नहीं करनी चाहिए क्योंकि जलकायिक जीवों से भरे हुए, जल का समारंभ करने से (जल को काम में लाने से), जलकायिक जीव और जलकाय के आश्रय रहने वाले जीवों का नाश अवश्य ही होता है। इसलिए अरहंत के भेष को धारण करने वाले मुनियों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जीवनपर्यन्त दोनों प्रकार के जल का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए।

न श्रद्दधाति योऽत्रैतान् प्राणिनोऽप्कायतामितान्।
स भवेद् दीर्घसंसारी लिङ्गस्थोऽपि कुमार्गगः ॥६९॥
ज्ञात्वेति जलकायानां कार्या हिंसा न जातुचित्।
शौचादिकारणैर्दक्षैर्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥७०॥

अर्थ—जो मुनि अप्काय में प्राप्त हुए इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, वह कुमार्गगामी दीर्घ संसारी होता है, इसलिए चतुर मुनियों को, शौचादि कार्यों में, जलकायिक जीवों की हिंसा, मन-वचन-काय से कभी नहीं करनी चाहिए।

(अग्निकायिक जीवों का रक्षण)

ज्वालाङ्गारार्चिशुद्धाग्न्यादितैजःकायिकात्मनाम्।
शीतज्वरादिके जाते सति कार्यं न संयतैः ॥७१॥

अर्थ—मुनियों को शीतज्वरादि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा, शुद्ध अग्नि आदि तेजस्कायिक जीव सहित अग्नि को कभी काम में नहीं लाना चाहिए।

विध्यापनं कराद्यैः प्रज्वालनं च विराधनम्।
सङ्घटनं क्वचिद्घातं प्रच्छादनं कदर्थनम् ॥७२॥

अर्थ—मुनियों को अपने हाथ से या अन्य किसी उपाय से, न तो अग्नि को बुझाना चाहिए, न जलाना चाहिए, न उसका घात करना चाहिए।

अधश्चोर्ध्वं चतुर्दिक्षु विदिक्षु ह्यनिलोऽखिलान्।
भस्मसात् कुरुते जीवान् षड्विधान् स्वोष्णतापतः ॥७३॥

अर्थ—यह अग्नि अपनी उष्णता के संताप से ऊपर, नीचे, चारों दिशाओं, विदिशाओं में छहों प्रकार के समस्त जीवों को भस्म कर देती है।

तस्योद्योतेऽतिपापाढ्ये - ऽनेकसत्त्वक्षयङ्करे।
ईहते न यमी स्थातुं कदापि सति कारणे ॥७४॥

अर्थ—इस अग्नि का उद्योत या प्रकाश जीवों का नाश करने वाला और पापरूप है, इसलिए मुनिराज कारण मिलने पर भी, उसके प्रकाश में कभी रहने की इच्छा नहीं करते।

क्षेपक श्लोक (दशवैकालिक ग्रन्थे)

पावीणं पच्छिमं वावि उदीचिं दाहिणं तहा।
अधो दहदि उड्ढं च दिसासु विदिसासु य ॥१॥

अर्थ—यही बात दशवैकालिक ग्रन्थ में लिखी है—यह अग्नि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, दिशा तथा विदिशा में सब जीवों को जला देती है।

क्षेपक गाथा नं. २

एसो जीवोत्ति अक्खादो हव्ववाहो ण संसओ।
तमुज्जोवपदावड्ढं मणसावि णं पच्छए ॥२॥

अर्थ—अतएव अपने मन से, अग्नि के प्रकाश की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

ये तेजस्कायिकाजीवा येऽत्र तेजोङ्गमाश्रिताः।
तेजःकायसमारम्भाद् मुन्क्षु तेषां विहंसनम् ॥७५॥

अर्थ—इसलिए अग्नि का समारंभ करने से तेजस्कायिक जीवों की तथा तेजस्काय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है।

तस्मात्तेजःसमारम्भस्त्रियोगैर्द्विविधः क्वचित्।
निर्ग्रन्थसंयतानां च यावज्जीवं हि नोचितः ॥७६॥

अर्थ—इसलिए निर्ग्रंथ मुनियों को अपने जीवनपर्यंत मन, वचन, काय से दोनों प्रकार की अग्नि का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए।

एतान् यो मन्यते नैवाप्तान् तेजोङ्गं च देहिनः।
मिथ्यादृष्टिः स विज्ञेयो लिङ्गस्थोऽप्यतिपापभाक् ॥७७॥

अर्थ—जो मुनि तेजस्काय में प्राप्त हुए जीवों को नहीं मानता, वह मुनि होकर भी अत्यन्त पापी, मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञात्वेत्यग्निसमारम्भोऽनन्तजीवक्षयङ्करः।
मनोङ्गवचनैर्जातु न कार्यः प्रेक्षणादिभिः ॥७८॥

अर्थ—इसलिए अग्नि के समारंभ को, अनंत जीवों का नाश करने वाला समझकर, देखने आदि कार्यों के लिए भी मन-वचन-काय से उसका समारंभ नहीं करना चाहिए।

(वायुकायिक जीवों का रक्षण)

उत्किल्युद्भ्रमगुंजादि वातकायिकजन्मिनाम्।
वधोत्पत्तिकरं वातं कुर्याज्जातु न संयतः ॥७९॥

अर्थ—मुनियों को अनेक प्रकार की वायु में रहने वाले, वायुकायिक जीवों का घात करने वाली, वायु कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

कारयेन्न च वस्त्रेण व्यजनेन करेण वा।
वस्त्रकोणेन पत्रेण सति दाहे परेण वा ॥८०॥

अर्थ—मुनियों को अधिक दाह होने पर भी वस्त्र से, पंखे से, हाथ से, वस्त्र के कोने से या पत्ते से, दूसरे के द्वारा भी कभी वायु उत्पन्न नहीं कराना चाहिए।

ये वातकायिका जीवा वातकायं च ये श्रिताः।
वातकायसमारम्भात् हिंसा तेषां न चान्यथा ॥८१॥

अर्थ—वायु का प्रारम्भ करने से, वायुकायिक जीवों की या वायुकाय के आश्रित रहने वाले जीवों की, हिंसा अवश्य होती है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

तस्माद्वातसमारम्भो द्विधा योगत्रयैरपि।
जिनमार्गानुलग्नानां यावज्जीवं न युज्यते ॥८२॥

अर्थ—इसलिए जिनमार्ग में लगे हुए मुनियों को, अपने जीवनपर्यंत मन, वचन, काय से दोनों प्रकार की वायु का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए।

न श्रद्दधाति योऽत्रामून् जीवान् वाताङ्गमाश्रितान्।
संसारसागरे मग्नो द्रव्यलिङ्गी स केवलम् ॥८३॥

अर्थ—जो मुनि इन वातकाय के आश्रित रहने वाले जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह संसार सागर में डूबता है उसे केवल द्रव्यलिंगी ही समझना चाहिए।

मत्वेति स्वशरीरादौ वातः कार्यो न जातुचित्।
वाताङ्गिवधकृद्दक्षैर्मुखाद्यैरुष्णपीडितैः ॥८४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को, उष्णता से पीड़ित होने पर भी, वातकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु, अपने मुख आदि से भी कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

हरिताङ्कुरबीजानां पत्रपुष्पादिकाङ्गिनाम्।
वनस्पतिशरीराणां मुनिर्जातु करोति न ॥८५॥
कारयेन्न त्रिशुद्धयाऽत्र छेदनं भेदनं क्वचित्।
प्रपीडनं वधं बाधां स्पर्शनं च विराधनाम् ॥८६॥

अर्थ—मुनिराज मन-वचन-काय की शुद्धता धारण करने के कारण हरित अंकुर, बीज, पत्र, पुष्प आदि के आश्रित रहने वाले वनस्पतिकायिक जीवों का छेदन, भेदन, पीड़न, वध, बाधा, स्पर्श और विराधना आदि न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं।

सैवालं पुष्पिकादीनामनन्तकायदेहिनाम्।
विधेया जातु हिंसा न गमनागमनादिभिः ॥८७॥

अर्थ—मुनियों को गमन, आगमन आदि के करने में सैवाल (काई) और पुष्पिका (फूलन अथवा बरसात में होने वाला एक छोटा पौधा जिसके ऊपर सफेद फूल सा रहता है) आदि में रहने वाले अनंतकाय जीवों की हिंसा भी कभी नहीं करनी चाहिए।

ये वनस्पतिकाया ये वनस्पत्यङ्गमाश्रिताः।
वनस्पतिसमारम्भाद्वधस्तेषां हि देहिनाम् ॥८८॥

अर्थ—वनस्पति का समारंभ करने से, वनस्पतिकायिक जीव और वनस्पतिकाय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है।

तस्मात्तेषां समारम्भो द्विधा योगत्रिकैः क्वचित्।
मरणान्तं न योग्योऽर्हन्मुद्रास्वीकृतयोगिनाम् ॥८९॥

अर्थ—इसलिए अर्हन्मुद्रा यानि जिनलिंग को स्वीकार करने वाले मुनियों को अपने जीवनपर्यंत मन-वचन-काय से उन दोनों प्रकार की वनस्पति का समारंभ नहीं करना चाहिए।

न रोचतेऽत्र यो ह्येतान् जीवान् वनस्पतिं गतान्।
जिनधर्मबहिर्भूतो मिथ्यादृष्टिः स पापधीः ॥९०॥

अर्थ—जो मुनि वनस्पति में प्राप्त हुए इन जीवों को नहीं मानता, उसे जिन धर्म से बाहर, मिथ्यादृष्टि और पापी समझना चाहिए।

विज्ञायेति न कर्त्तव्या वनस्पतिविराधना।
हस्तपादादिभिर्जातु ह्यनन्तं सत्त्वनाशदा ॥९१॥

अर्थ—यही समझकर अपने हाथ, पैर आदि के द्वारा अनंत जीवों का नाश करने वाली वनस्पति की विराधना कभी नहीं करनी चाहिए।

त्रस जीवों की विराधना का निषेध—

द्वित्रितूर्येन्द्रियाणां च पञ्चाक्षाणां त्रसात्मनाम्।
बाधा नैव विधातव्या मुनिभिर्यत्नतत्परैः ॥९२॥

अर्थ—प्रयत्न करने में तत्पर रहने वाले मुनियों को दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, त्रस जीवों को बाधा कभी नहीं करनी चाहिए।

गमने चासने स्थाने रात्रौ वा दृष्टिगोचरे।
सर्वथा च दयाकार्या मृदुपिच्छिकयेक्षणात् ॥९३॥

अर्थ—मुनियों को चलने में, बैठने में, शय्यासन करने में, रात्रि वा दिन में, कोमल पिच्छिका से वा देखकर जीवों पर सर्वथा दया करनी चाहिए।

त्रसकायाश्च ये जीवास्त्रसकायं हि ये श्रिताः।
त्रसकायसमारम्भात्तेषां बाधा वधोऽथवा ॥९४॥

अर्थ—त्रसकायिक जीवों का समारंभ करने से (त्रस जीव विशिष्ट वस्तुओं को काम में लाने से), त्रस जीवों की और त्रस जीवों के आश्रित रहने वाले जीवों की, बाधा अथवा उनका वध अवश्य होता है।

तस्मात् त्रससमारम्भो द्विधा योगैः कृतादिभिः।
योग्यो न मृत्युपर्यन्तं जिनवेषधृतात्मनाम् ॥९५॥

अर्थ—इसलिए जिनलिंग धारण करने वाले मुनियों को, अपने जीवनपर्यंत मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से दोनों प्रकार के त्रस जीवों का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए।

न मन्यतेङ्गिनोऽत्रैतान् यस्त्रसत्वं गतान् बहून्।
लिङ्गस्थोऽपि स पापात्मा भ्रमेद् घोरां भवाटवीम् ॥९६॥

अर्थ—जो मुनि, त्रस पर्याय को प्राप्त हुए अनेक प्रकार के जीवों को नहीं मानता है, वह पापी, जिनलिंग धारण करता हुआ भी संसाररूपी घोर वन में परिभ्रमण करता है।

विचिन्त्येति प्रयत्नेन दया त्रसाङ्गिनां सदा।
अनुष्ठेया न बाधा चात्राप्रमत्तैस्तपोधनैः ॥९७॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद का त्याग करने वाले मुनियों को, प्रयत्नपूर्वक त्रस जीवों की दया पालनी चाहिए तथा उनकी बाधा कभी नहीं करना चाहिए।

त्रिशुद्ध्येत्यनिशं योऽत्र रक्षां कुर्यात्षडङ्गिनाम्।
अप्रमत्तो भवेत् तस्याद्यं सम्पूर्णं महाव्रतम् ॥९८॥

अर्थ—यही समझकर जो मुनि अप्रमत्त होकर तथा मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक, छहों प्रकार के जीवों की रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है, उसके पहला अहिंसा महाव्रत पलता है।

महाव्रती की शोभा—

सर्वजीवकृपाक्रान्त-मना योऽखिलदेहिनाम्।
यत्नाचारी सुरक्षायै महाव्रती स नापरः ॥९९॥

अर्थ—जो मुनि अपने मन में समस्त जीवों की दया धारण कर, समस्त जीवों की रक्षा के लिए पूर्ण

प्रयत्न करता है उसे ही महाव्रती समझना चाहिए उसके सिवाय, अन्य कोई महाव्रती नहीं हो सकता।

यतो जीवे मृते वा न कर्मबन्धः पदे पदे।
अयत्नचारिणां नूनं व्रतभङ्गोऽशुभा गतिः ॥१००॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो मुनि यत्नाचार का पालन नहीं करता, उससे जीव मरे या न मरे, फिर भी उसके क्षण-क्षण में कर्मों का बंध होता ही है। इसके सिवाय, उनके व्रतों का भंग होता है और उससे अशुभ गति की प्राप्ति होती है।

क्वचिन्मृतेऽप्यहो जीवो यत्नाचारिमुनीशिनाम्।
न बन्धःकर्मणां किन्तु शुद्धिः स्याद्योगशुद्धितः ॥१०१॥

अर्थ—जो मुनि, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक करते हैं, उनसे यदि कोई जीव मर भी जाये, तो भी उनके कर्मों का बंध नहीं होता तथा उनके मन-वचन-काय की शुद्धि होने से, उनके आत्मा की शुद्धि और बढ़ जाती है।

तस्माद् व्रतार्थिनो दक्षाः यत्नं कुर्वन्तु सर्वथा।
सर्वजीवदयासिद्ध्यै त्रिशुद्ध्या सद्व्रताय च ॥१०२॥

अर्थ—इसलिए अपने व्रतों की रक्षा की इच्छा करने वाले, चतुर मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक, अपने श्रेष्ठ व्रतों की रक्षा के लिए और समस्त जीवों की दया पालन करने के लिए, पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

अहिंसा का गौरव—

अहिंसा जननी प्रोक्ता सर्वेषां च व्रतात्मनाम्।
दृग्ज्ञानवृत्तरत्नानां खनी विश्व-हितङ्करा ॥१०३॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस अहिंसा को समस्त व्रतों की माता बतलायी है और समस्त रत्नत्रय की खान बतलायी है तथा समस्त जीवों का हित करने वाली बतलायी है।

सूत्राधारेण तिष्ठन्ति दामहारादयो यथा।
कृपाधारेण सर्वे च योगिनां सद्गुणास्तथा ॥१०४॥

अर्थ—जिस प्रकार सूत की गाँठ से बनने वाले हार, सूत के ही आधार से ठहर सकते हैं, उसी प्रकार मुनियों के समस्त सद्गुण, जीवों की कृपा के आधार से ही ठहरते हैं।

शेषव्रतसमित्यादीन् ब्रुवन्ति श्रीजिनाधिपाः।
आद्यव्रतविशुद्ध्यर्थं केवलं च तपःक्रिया ॥१०५॥

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के अतिरिक्त जितने भी व्रत, समिति और तपश्चरण आदि हैं, वे सब केवल एक इसी अहिंसा महाव्रत की विशुद्धि के लिए ही, भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

विना तेन व्रतेनास्मात् सर्वंशेषव्रतव्रजम्।
व्यर्थं स्याच्च तपोघोरं यतीनां तुषखंडनम् ॥१०६॥

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के बिना, बाकी के जितने व्रतों का समुदाय है अथवा जितना भी मुनियों का घोर तपश्चरण है, वह सब व्यर्थ है, भूसी को कूटने के समान असार है।

दयापूर्वमनुष्ठानं तपोयोगादिभिः कृतम्।
भवेन्मोक्षतरोर्बीजं सतां विश्वर्धिकारणम् ॥१०७॥

अर्थ—यदि तपश्चरण, योग आदि के द्वारा किया हुआ अनुष्ठान, दयापूर्वक किया जाता है तो वह सज्जनों को मोक्षरूपी वृक्ष का बीज माना जाता है तथा समस्त ऋद्धियों का कारण बन जाता है।

कृत्स्नसत्त्वकृपाक्रान्तं यस्यासीन्मानसं शुभं।
सिद्धं समीहितं तस्य संवरो निर्जरा शिवम् ॥१०८॥

अर्थ—जिस मुनि का शुभ हृदय समस्त जीवों की कृपा से भरा हुआ है, उसके संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

क्रियते स्वगृहत्यागो दीक्षा च गृह्यते बुधैः।
केवलं करुणासिद्ध्यै तां विना तौ निरर्थकौ ॥१०९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग जो अपने घर का त्याग करते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं, वह केवल दया की सिद्धि के लिए ही करते हैं, यदि दया नहीं है, तो घर का त्याग और दीक्षा दोनों ही व्यर्थ हैं।

विज्ञायेति विधायोच्चैः सर्वं जीवकदम्बकम्।
समानं स्वात्मनश्चित्ते रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥११०॥

अर्थ—यही समझकर तथा समस्त जीवों के समूह को अपने हृदय में, अपनी आत्मा के समान मानकर, बड़े प्रयत्न के साथ अच्छी तरह उनकी रक्षा करनी चाहिए।

गमनागमनोत्सर्गे प्रावृट्कालेङ्गि संकुले।
अहोरात्रे यतीन्द्रैश्चादान-निक्षेपणादिना ॥१११॥
ये यत्नचारिणोऽत्राहो पालयन्ति व्रतोत्तमम्।
तेषां सर्वव्रतान्येव यान्ति सम्पूर्णतां लघु ॥११२॥

अर्थ—वर्षाकाल में बहुत से जीवों का समुदाय उत्पन्न हो जाता है, इसीलिए मुनिराज उन दिनों में गमन, आगमन का त्याग कर देते हैं। उन दिनों में जो मुनिराज रात-दिन के किसी पदार्थ के ग्रहण करने या रखने आदि के द्वारा, यत्नाचारपूर्वक इस अहिंसा महाव्रतरूपी उत्तम व्रत का पालन करते हैं, उनके अन्य समस्त व्रत बहुत ही शीघ्र पूर्ण हो जाते हैं।

यदि कश्चिदहो दत्ते मृत्यर्थं कस्यचिन्महीम्।
सर्वां रत्नादिपूर्णां स तथापीच्छति नो मृतिम् ॥११३॥
अतो विश्वाङ्गिनां लोकेऽभयदानात्परान्न च।
विद्यते परमं दानं वृथा दानं दयां विना ॥११४॥

अर्थ—यदि किसी से यह कहा जाये कि हम तुझे समस्त रत्नों से परिपूर्ण इस समस्त पृथ्वी को देते हैं, इसके बदले तू मर जा परन्तु इतने पर भी कोई मरने की इच्छा नहीं करता, इसलिए कहना चाहिए कि इस संसार में समस्त जीवों को अभयदान से बढ़कर और कोई दान नहीं है। यह अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान है। दया के बिना, अन्य दान सब व्यर्थ है।

हिंसैव पञ्चपापानां परं पापं निगद्यते।
विश्वदु:खाकरीभूता श्वभ्रद्वारि-प्रतोलिका ॥११५॥

अर्थ—पाँचों पापों में यह हिंसा ही सबसे बड़ा पाप कहा जाता है। यह हिंसा समस्त दु:खों की खान है और नरक के द्वार की गली है।

ये केचिद् दु:सहा रोगा: सर्वदु:खविधायिन:।
तेऽखिला निर्दयानां च जायन्तेऽत्राधयोऽशुभात् ॥११६॥

अर्थ—इस संसार में समस्त दु:खों को देने वाले जितने भी कठिन रोग हैं वे सब निर्दयी जीवों के ही होते हैं तथा इसी निर्दयता के पाप से मानसिक व्याधियाँ भी होती हैं।

दुर्गतिर्जीवघातेन सद्गतिर्जीवरक्षणात्।
देहिनां च विदित्वेति यदिष्टं तत्त्वमाचर ॥११७॥

अर्थ—इस संसार में जीवों को, जीवों का घात करने से दुर्गति प्राप्त होती है तथा जीवों की रक्षा करने से उत्तम गति प्राप्त होती है। यही समझकर हे जीव! जो तुझे अच्छा लगे सो कर।

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना—

एषणासमितिश्चित्तगुप्तीर्यासमिती परे।
तथैवादाननिक्षेपणाख्यासमितिरुत्तमा ॥११८॥
दृशालोकितपानादि-भोजनं पञ्चभावना:।
इत्यार्या भावयन्त्वाद्यव्रतस्थैर्यार्थमन्वहम् ॥११९॥

अर्थ—(१) एषणासमिति (२) मनोगुप्ति (३) ईर्यासमिति (४) आदाननिक्षेपण समिति (५) आलोकित पान-भोजन; ये पाँच इस अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं। इस अहिंसा महाव्रत को स्थिर रखने के लिए, मुनियों को प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतन करना चाहिए।

भावितं भावनाभिः प्रथमं सारं महाव्रतं।
प्रारोहति परां कोटिं शुद्धिं मुक्तिकरं सताम् ॥१२०॥

अर्थ—सज्जनों को मोक्ष प्रदान करने वाली और सारभूत यह अहिंसा महाव्रत इन भावनाओं के चिंतन करने से सर्वोत्तम शुद्धता को प्राप्त होता है।

अहिंसा व्रत की सार्थकता उपसंहार रूप में—

असमगुणनिधानं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्।
व्रतसकलसुमूलं तीर्थनाथैर्निषेव्यम्॥
अभयकरमपापं सर्वयत्नेन दक्षाः।
भजत शिवसुखाप्त्यै ह्यादिमं सद्व्रतं भोः ॥१२१॥

अर्थ—यह अहिंसा महाव्रत सर्वोत्तम गुणों का निधान है, स्वर्ग, मोक्ष का कारण है, समस्त व्रतों का मूल है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव के द्वारा भी सेवन करने योग्य है तथा समस्त जीवों को अभय देने वाला है और पापों से सर्वथा रहित है। इसलिए हे चतुर पुरुषो! मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए, सब तरह के प्रयत्न करके इस महाव्रत का पालन करो।

द्वितीय सत्य महाव्रत का वर्णन—

तथ्यं हितं मितं सारं जिनसूत्रानुगं शुभम्।
निष्पापं करुणाक्रान्तं ब्रूयते यन्मुनीश्वरैः ॥१२२॥
धर्मज्ञानोपदेशाय रागद्वेषादिदूरगम्।
वचनं श्रीजिनैः प्रोक्तं तद्द्वितीयं महाव्रतम् ॥१२३॥

अर्थ—मुनिराज जो धर्म और ज्ञान के उपदेश के लिए रागद्वेष रहित, यथार्थ हित करने वाले, परिमित, सारभूत, जिनशास्त्रों के अनुसार शुभ, पाप रहित और करुणा से भरे हुए जो वचन कहते हैं, उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव दूसरा सत्य महाव्रत कहते हैं।

वचः सत्यमसत्यं चोभयं ह्यनुभयं परम्।
चतुर्धेति गणाधीशैरुक्तं वचनमञ्जसा ॥१२४॥

अर्थ—भगवान् गणधर देवों ने वचन के चार भेद बतलाए हैं–(१) सत्यवचन (२) असत्यवचन (३) उभयवचन और (४) अनुभयवचन।

असत्योभयनामाऽत्र द्विधा वाक्यं शुभातिगम्।
सर्वपापकरं त्याज्यं दूरतो व्रतकांक्षिभिः ॥१२५॥

अर्थ—इनमें से (१) असत्य और (२) उभय दोनों प्रकार के वचन अशुभ हैं और समस्त पापों के करने वाले हैं इसलिए व्रत धारण करने की इच्छा करने वालों को इन दोनों को दूर से ही त्याग

देना चाहिए।

सत्यानुभयसद्वाणी जगच्छर्मविधायिनी।
निष्पापा धर्मदा वाच्या सारा धर्माय योगिभिः ॥१२६॥

अर्थ—सत्य और अनुभय वचन संसार का कल्याण करने वाले हैं, पापरहित हैं, धर्म की वृद्धि करने वाले हैं, कहने योग्य हैं और सारभूत हैं इसलिए मुनियों को ये ही दो प्रकार के वचन कहने चाहिए।

प्रियं हितं वचः किञ्चित्परं किञ्चिद्धिताप्रियं।
अप्रियाहितमेवान्यच्चतुर्धेति वचो नृणाम् ॥१२७॥

अर्थ—कोई वचन प्रिय होकर भी हित करने वाले होते हैं, कोई हित करने वाले होकर भी अप्रिय होते हैं तथा कोई प्रिय भी नहीं होते और हित करने वाले भी नहीं होते, इन तीनों के अतिरिक्त जो वचन हैं वे सब चौथे भेद में शामिल हैं।

अप्रियाहितमेवैकं स्वान्ययोः पापदुःखदम्।
यत्नेन परिहर्त्तव्यं संयतैर्धर्मसिद्धये ॥१२८॥

अर्थ—इनमें से अप्रिय और अहित करने वाले वचन अपने और दूसरे दोनों को दुःख देने वाले हैं तथा पाप उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिए ऐसे वचन बोलने का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए।

क्वचिद् धर्मवशाद् ग्राह्यं हिताप्रियं महात्मभिः।
वचनं धर्मसिद्ध्यर्थं विपाके केवलं हितम् ॥१२९॥

अर्थ—महात्मा लोग कभी-कभी धर्म के निमित्त से होने वाले हितकारी किन्तु अप्रिय वचनों को धर्म की सिद्धि करने वाले और ग्रहण करने योग्य समझते हैं क्योंकि ऐसे वचनों का अंतिम फल आत्मा का हित ही होता है।

हितं प्रियं च वक्तव्यं वचः सर्वार्थसिद्धये।
प्रस्पष्टं निर्मलं दक्षैर्धर्मोपदेशनाय च ॥१३०॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को समस्त पदार्थों की सिद्धि के लिए और धर्म का उपदेश देने के लिए, निर्मल और स्पष्ट ऐसे हितकारी प्रिय वचन ही कहने चाहिए।

चौरस्य चौर एवायं ह्यन्धस्यान्धोऽत्र पापिनः।
पापी षंडस्य षंडो रंडाया रंडेति दुर्वचः ॥१३१॥

अर्थ—चोर को चोर कहना, अंधे को अंधा कहना, पापी को पापी कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना और रांड को रांड कहना 'दुर्वचन' कहलाते हैं।

सत्यं चापि न वक्तव्यं परक्रोधादिकारणम्।
निष्ठुरं कटुकं निन्द्यं वचः पीडाकरं नृणाम् ॥१३२॥

अर्थ—यद्यपि ये वचन सत्य हैं तथापि दूसरों को क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए, इनके अतिरिक्त कठोर, कड़वे, निंदनीय और मनुष्यों को दुःख उत्पन्न करने वाले वचन भी कभी नहीं कहने चाहिए।

वचसा येन जायेत बाधा पीडा च देहिनाम्।
तत्सत्यमपि लोकेऽस्मिन् न सत्यं गदितं बुधैः ॥१३३॥

अर्थ—जिन वचनों से जीवों को पीड़ा या बाधा पहुँचती हो, ऐसे वचन यद्यपि सत्य हों तथापि बुद्धिमान् लोग इस संसार में ऐसे वचनों को 'सत्य' कभी नहीं कहते।

जीवरक्षा हिताद्यर्थं वचो ब्रूतं क्वचिद् बुधैः।
असत्यमपि सत्यं स्यात् परार्थेन शुभप्रदम् ॥१३४॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्यों को जीवों की रक्षा और किसी आत्मा का हित करने के लिए कभी-कभी 'असत्य वचन' भी कहने पड़ते हैं परन्तु ऐसे असत्य वचन दूसरे का कल्याण करने के कारण सत्य और शुभप्रद या कल्याण करने वाले ही माने जाते है।

येन संताप्यते लोकः क्रोधलोभादयोऽखिलाः।
वधबन्धान्यपीडाद्याः स्मरादीन्द्रियविद्विषः ॥१३५॥
जायन्ते चोत्कटाः पुंसां जातु वाच्यं न तद्वचः।
रागद्वेषमदोन्मादैः प्राणनाशेऽपि संयतैः ॥१३६॥

अर्थ—जिन वचनों से लोगों को संताप हो, क्रोध, लोभादि विकार उत्पन्न हो, वध, बंध या दूसरों को पीड़ा हो, काम आदि इन्द्रियों के विकार उत्पन्न हो, तीव्रता बढ़ जाये ऐसे राग, द्वेष, मद और उन्माद से उत्पन्न होने वाले वचन कभी नहीं कहने चाहिए। मुनियों को अपने प्राण नष्ट होने पर भी ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिए।

स्थिरं जायेत वैराग्यं वर्द्धन्ते सद्गुणाः सताम्।
विलीयन्ते च रागाद्याः साम्यन्त्यत्र स्मरादयः ॥१३७॥
दुर्ध्यानानि च येनाशु शुभो भावोऽस्ति धीधनैः।
वक्तव्यं तद्वचो मिष्टं धर्मतत्त्वादिदर्शकम् ॥१३८॥

अर्थ—जिन वचनों से वैराग्य की स्थिरता हो, सज्जनों के गुण वृद्धि को प्राप्त होते रहें, राग, द्वेष आदि नष्ट हो जाये, कामादिक विकार तथा आर्त, रौद्र ध्यान नष्ट हो जाये तथा जिन वचनों से शुभ शीघ्र भाव प्रकट हो जाये, जो वचन मिष्ट हों और धर्म या तत्त्वों का उपदेश देने वाले हों, ऐसे

ही वचन, बुद्धिमानों को बोलने चाहिए।

उक्तेनानेन मेऽन्येषां शुभं किंवाऽशुभं भवेत्।
यशोऽथवाऽयशः स्वास्थ्यं श्रेयोऽश्रेयोऽथ संप्रति ॥१३९॥
पूर्वं चित्ते विचार्येति पश्चाद्वदन्तु योगिनः।
शश्वद्धर्मोपदेशाय स्वागमानिंदितं वचः ॥१४०॥

अर्थ—मुनियों को बोलने के पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि इन वचनों के कहने से मेरा या दूसरे का शुभ होगा या अशुभ होगा, यश होगा या अपयश होगा तथा कल्याण होगा या अकल्याण होगा, यह सब विचार कर, मुनियों को बोलना चाहिए तथा निरन्तर धर्मोपदेश देने के लिए अपने आगम के अनुसार, अनिंदित वचन ही कहने चाहिए।

नो चेन्मौनं प्रकुर्वन्तु सारं सर्वार्थसिद्धिदम्।
धर्मशुक्लाऽऽगमात्मज्ञाः सर्वदोषापहं परम् ॥१४१॥

अर्थ—यदि ऐसे वचन (आगमानुकूल वचन) कहने का समय न हो तो धर्मध्यान, शुक्लध्यान और आगम को जानने वाले मुनियों को समस्त दोषों को दूर करने वाला, समस्त पदार्थों की सिद्धि करने वाला, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत मौन धारण कर लेना चाहिए।

सत्येन वचसा कीर्तिः परमा शशिनिर्मला।
भ्रमेल्लोकत्रये सर्वे वर्द्धन्ते सद्गुणाः सताम् ॥१४२॥

अर्थ—सत्य वचन कहने से सर्वोत्कृष्ट और चंद्रमा के समान निर्मल कीर्ति, तीनों लोकों में भर जाती है तथा सज्जनों के समस्त श्रेष्ठ गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।

सत्यमन्त्रेण योग्यं वा भारती विश्वदीपिका।
सद्बुद्ध्याऽवतरत्येवामा मुखे सत्यवादिनां ॥१४३॥

अर्थ—इस सत्यरूपी मंत्र के प्रभाव से संसार के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली सरस्वती श्रेष्ठ बुद्धि के साथ-साथ सत्यवादियों के मुख में ही आकर अवतार लेती है, सो योग्य ही है।

सम्पद्यते पराबुद्धिर्निकषग्राव-सन्निभा।
विश्वतत्त्वपरीक्षायां सुधियां सत्यवाक्यतः ॥१४४॥

अर्थ—इस सत्यवचन के प्रभाव से बुद्धिमान् पुरुषों की श्रेष्ठ बुद्धि, समस्त तत्त्वों की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान हो जाती है।

वाक्येन मधुरेणाऽत्र तुष्यन्ति प्राणिनो यथा।
न तथा वस्तुदानाद्यैर्वाक्येऽहो का दरिद्रता ॥१४५॥

अर्थ—इस संसार के प्राणी, जिस प्रकार मधुर वचनों से संतुष्ट होते हैं, उस प्रकार अन्य पदार्थों

के देने से सन्तुष्ट नहीं होते, इसलिए वचनों से कभी दरिद्रता नहीं रखनी चाहिए।

मत्वेति मधुरं वाक्यं हितं कर्णसुखावहम्।
कटुकं निष्ठुरं त्यक्त्वा वक्तव्यं धर्मसिद्धये ॥१४६॥

अर्थ—यही समझकर, धर्म की सिद्धि के लिए, कठोर और कड़वे वचनों का त्याग कर, मधुर एवं हित करने वाले और कानों को सुख देने वाले वचन कहने चाहिए।

सत्ये च मधुरे वाक्ये जगत्पूज्ये शुभाकरे।
सत्यसत्यं जगन्निन्द्यं वदेत्कः कटुकं सुधीः ॥१४७॥

अर्थ—सत्य और मधुर वचन जगत्पूज्य हैं और शुभ की खान हैं, फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो ऐसे वचनों को छोड़कर असत्य, जगत् में निंद्य और कड़वे वचनों को कहेगा अर्थात् कोई नहीं।

इन्द्रादयो न प्रत्यूहं कर्त्तुं शक्ताश्च धीमताम्।
खादन्ति क्रूरसर्पाद्याः सत्यसीमावलंबिनाम् ॥१४८॥

अर्थ—सत्य की मर्यादा वाले वचन कहने वाले, बुद्धिमानों के कार्यों में, इन्द्र भी कोई विघ्न नहीं कर सकता तथा क्रूर सर्पादिक भी उसे नहीं काट सकते।

अग्नयो न दहन्त्यत्र, नागाः खादंति जातु न।
सुसत्यवादिनो लोके, प्रत्यक्षेणेति दृश्यते ॥१४९॥

अर्थ—इस संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सत्यवादी लोगों को न तो अग्नि जलाती है और न सर्प ही काटते हैं।

असत्यवादिनस्तेऽपि न सहन्तेऽनलादयः।
मुखरोगादयः सर्वे जायन्तेऽनृतभाषिणाम् ॥१५०॥

अर्थ—वे अग्नि, सर्प आदि असत्यवादियों को कभी सहन नहीं कर सकते, असत्यवादियों को मुखरोग या कुष्ठ आदि समस्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मृषावादोत्थपापेन मूर्खता जायते नृणाम्।
हीयते परमा बुद्धिरकीर्तिः स्याज्जगत्त्रये ॥१५१॥

अर्थ—मिथ्या भाषण से उत्पन्न हुए पाप के द्वारा मनुष्यों में मूर्खता उत्पन्न होती है, श्रेष्ठ बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और तीनों लोकों में अपकीर्ति फैल जाती है।

गूथभक्षणमेवाहो वरं वा विषभक्षणम्।
नासत्यभाषणं धर्मविरोधि वाऽशुभाकरम् ॥१५२॥

अर्थ—यह असत्य भाषण, धर्म का विरोधी है और दुर्गतियों को देने वाला है, इसलिए विष

खा लेना अच्छा अथवा विष्ठा खा लेना अच्छा परन्तु असत्य भाषण करना अच्छा नहीं।

चिरप्रव्रजितो योगी महाश्रुततपोङ्कितः।
यः सोप्यत्र मृषावादान् निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥१५३॥

अर्थ—जो मुनि चिरकाल का दीक्षित है, महाश्रुतज्ञानी है तथा महातपस्वी है, वह भी असत्य भाषण करने से चांडाल से भी निंद्य समझा जाता है।

विज्ञायेति न वक्तव्यं क्वचिच्च वितथं वचः।
परपीडाकरं दक्षैः सत्सु कार्यादिकोटिषु ॥१५४॥

अर्थ—यही समझकर करोड़ों श्रेष्ठ और अच्छे कार्य होने पर भी, चतुर पुरुषों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले, असत्य वचन कभी नहीं कहने चाहिए।

अनिष्टं यद्भवेद्वाक्यं परुषं कर्णदुःखदम्।
न वाच्यं तत्परस्यैतन्मूलं धर्मव्रतात्मनाम् ॥१५५॥

अर्थ—जो वचन दूसरों को अनिष्ट हों, जो कठोर हों और कानों को दुःख देने वाले हों, ऐसे वचन धर्मात्मा और व्रती पुरुषों को कभी नहीं कहने चाहिए।

मौन की उपयोगिता—

मौनमेवोचितं सारं सर्वास्रवनिरोधकम्।
मुनीनामथवा जाते कार्ये धर्मनिबन्धिनि ॥१५६॥
वदन्तु मुनयः सत्यं मितं स्वल्पाक्षरं शुभम्।
बह्वर्थं धर्मसंसिद्ध्यै व्यक्तं चागमसंभवम् ॥१५७॥

अर्थ—प्रायः मुनियों को मौन धारण करना चाहिए, यह मौन ही समस्त आस्रव को रोकने वाला है और सारभूत है। यदि किसी धर्मकार्य के लिए बोलना पड़े तो मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिए सत्य, परिमित, शुभ, थोड़े से अक्षरों में बहुत से अर्थ को सूचित करने वाला, व्यक्त और आगम के अनुकूल बोलना चाहिए।

सत्य महाव्रत की ५ भावना—

क्रोधलोभभयत्यागाः हास्यवर्जनमेव च।
सामस्त्येन विचार्योच्चैरागमोक्तसुभाषणम् ॥१५८॥
इमाः सद्भावनाः पञ्च भावयन्तु तपोधनाः।
सत्यव्रतविशुद्ध्यर्थं प्रत्यहं व्रतकारिणीः ॥१५९॥

अर्थ—(१) क्रोध का त्याग (२) लोभ का त्याग (३) भय का त्याग (४) हास्य का त्याग और

(५) सब बातों का विचार कर आगम के अनुसार भाषण करना; ये पाँच इस सत्य महाव्रत की भावना हैं। ये भावना ही व्रतों को स्थिर रखती हैं, इसलिए मुनियों को अपना सत्यव्रत विशुद्ध रखने के लिए प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतन करते रहना चाहिए।

सत्यव्रत की महिमा उपसंहार रूप में—

श्रुतसकलविधातारं महाधर्मबीजम्,
शिवसुरगतिहेतुं विश्वकीर्त्यादिखानिम्।
दुरिततिमिरभानुं सर्वकल्याणमूलम्,
इदमपगतदोषाः सद्व्रतं पालयन्तु ॥१६०॥

अर्थ—यह सत्य महाव्रत समस्त श्रुतज्ञान को देने वाला है, धर्म का श्रेष्ठ बीज है, मोक्ष तथा स्वर्ग गति का कारण है, संसार भर में कीर्ति को फैलाने वाला है, पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान है, समस्त कल्याणों का मूल है, अतएव समस्त दोषों से रहित मुनियों को इसका पालन करना चाहिए।

अचौर्य महाव्रत का स्वरूप—

ग्रामखेटाटवीशैल - गृहारण्यपथादिषु।
पतितं विस्मृतं नष्टं स्थापितं वान्यवस्तु च ॥१६१॥
सूक्ष्मं स्थूलं महद्वाल्पं गृह्यते यन्न जातुचित्।
कृष्णाहिरिव विज्ञेयं तत् तृतीयं महाव्रतम् ॥१६२॥

अर्थ—किसी गाँव, खेट, वन, पर्वत, घर, जंगल वा मार्ग आदि में पड़ी हुई, भूली हुई, खोई हुई या रखी हुई, छोटी, बड़ी, बहुत वा कम दूसरे की वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना है। उससे काले सर्प के समान समझकर अलग हट जाना है, उसको तीसरा 'अचौर्य महाव्रत' कहते हैं।

अहो! ये मुनयो वन्द्याः निर्लोभाः स्वतनावपि।
दत्तं जातु न गृह्णन्ति श्रामण्यायोग्यमेव यत् ॥१६३॥
कथं गृह्णन्ति ते निन्द्यं परस्वं श्वभ्रकारणम्।
अदत्तं स्वान्ययोर्घोरं-दुःखक्लेशाशुभादिदम् ॥१६४॥

अर्थ—देखो! जो मुनि वंदनीय हैं, जो अपने शरीर में भी लोभ या ममत्व नहीं रखते, जो मुनियों के अयोग्य पदार्थों को देने पर भी ग्रहण नहीं करते, वे भला दूसरे के द्वारा बिना दिए हुए निंदनीय परधन को कैसे ग्रहण कर लेंगे क्योंकि बिना दिया हुआ दूसरे का धन, नरक का कारण है तथा अपने और दूसरों के लिए घोर दुःख, घोर क्लेश और अनेक दुर्गतियों को देने वाला है।

अदत्तादानदोषेण बन्धवधादयो नृपात्।
लभ्यन्तेऽत्रैव चौरैश्च परत्र नरकादयः ॥१६५॥

अर्थ—बिना दिए हुए धन को ग्रहण करने के दोष से चोरों को राजा से इसी लोक में अनेक प्रकार के वध, बंधन आदि के दुःख प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादि दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं।

क्षणमात्रं न चेह्यन्ते संसर्गं तस्करस्य भोः।
यतयः स्वजना वाऽत्र वध-बन्धादिशङ्कया ॥१६६॥

अर्थ—हे मुनिराज! देखो चोर के कुटुम्बी लोग भी वध, बंधन आदि की आशंका से क्षण भर भी चोर का संसर्ग नहीं चाहते।

अदत्तादानमात्रेण कलङ्कं दुस्त्यजं भुवि।
जायते प्राणसन्देहः कुलस्य दुर्धियां क्षणात् ॥१६७॥

अर्थ—बिना दिए हुए धन को ग्रहण करने मात्र से इस संसार में कभी न छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा वह कलंक उन मूर्खों के समस्त कुल में लग जाता है और क्षण भर में ही उनके प्राणों में संदेह हो जाता है।

अर्हतां याष्टधा पूजा केनचिद्धीमता कृता।
तामादत्तेऽत्र यो लुब्धो महाचौरः स कथ्यते ॥१६८॥

अर्थ—किसी भी बुद्धिमान् के द्वारा, जो अष्टद्रव्य से भगवान् अरहंतदेव की पूजा की जाती है, उस चढ़ी हुई पूजा के द्रव्य को जो ग्रहण करता है, उसे भी लोभी और महाचोर समझना चाहिए।

श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्ने शास्त्रे केनापि पूजिते।
तत्पूजावस्तु नादेयं जात्वचौर्यव्रताप्तये ॥१६९॥

अर्थ—जिस किसी भी पुरुष ने भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई सरस्वती की पूजा की है और उसमें जो द्रव्य चढ़ाया है, वह भी अचौर्य व्रत पालन करने के लिए कभी नहीं लेना चाहिए।

रत्नत्रयं समुच्चार्य गुरुपादौ प्रपूजितौ।
अर्चया सा न चादेया सद्द्रव्या जातुचिज्जनैः ॥१७०॥

अर्थ—जिस द्रव्य से रत्नत्रय का उच्चारण करते हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की पूजा की है, वह द्रव्य भी सज्जनों को कभी नहीं लेना चाहिए।

किमत्र बहुनोक्तेन निर्माल्यं दुरिताकरम्।
देवशास्त्रगुरूणां च नादेयं धर्मकांक्षिभिः ॥१७१॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि देव-शास्त्र-गुरुओं पर चढ़ाया हुआ निर्माल्य द्रव्य धर्मात्मा पुरुषों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उसको ग्रहण करने से अनेक प्रकार के पाप उत्पन्न होते हैं।

यदि स्वर्गं व्रजेत् पूजा कर्त्ताऽर्हद्ज्ञानयोगिनाम्।
तन्निर्माल्यात्तचित्तानां श्वभ्रं केन निवार्यते ॥१७२॥

अर्थ—यदि देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करने वाला स्वर्ग को जाता है तो उस निर्माल्य द्रव्य को ग्रहण करने वाले को नरक में जाने से कौन रोक सकता है अर्थात् कोई नहीं।

अदत्तमथवा दत्तं यत्संयमादिहानिकृत्।
तत् सर्वथा न च ग्राह्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१७३॥

अर्थ—जो द्रव्य दिया हो या न दिया हो, यदि वह संयम की हानि करने वाला है तो कंठगत प्राण होने पर भी मुनियों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

इति मत्वा न चादेयं संयतैर्दन्तशुद्धये।
अदत्तं तृणमात्रं भोः का कथा परवस्तुषु ॥१७४॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने दाँत, शुद्ध करने के लिए बिना दिया हुआ तृण भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, फिर भला पर पदार्थों की तो बात ही क्या है।

अचौर्यव्रत की सफलता—

परस्वं येन गृह्णन्ति ग्राहयन्ति न जातुचित्।
गृह्णन्तं नानुमन्यन्तेऽत्राणुमात्रेतरं बुधाः ॥१७५॥
कालाहिमिव कायेन वचसा मनसा भुवि।
संपूर्णं जायते तेषां ज्ञानिनां तन्महाव्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष अणुमात्र या बहुत-सी पर वस्तु को काले सर्प के समान समझकर, मन-वचन-काय से न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न कभी दूसरों से ग्रहण कराते हैं और न कभी ग्रहण करने वाले की अनुमोदना ही करते हैं, उन ज्ञानी पुरुषों के इस संसार में तीसरा अचौर्य महाव्रत पूर्ण प्रकट होता है।

अचौर्यव्रत की ५ भावना—

याञ्चाख्या समनुज्ञापना नात्मभाव एव हि।
तथैव निरवद्यं प्रतिसेवनं सुभावना ॥१७७॥
सधर्म्युपकरणस्यानुवीची सेवनं त्विमाः।
अस्तेयव्रतशुद्ध्यर्थं भावनीयाः सुभावनाः ॥१७८॥

अर्थ—(१) कभी किसी से याचना नहीं करना (२) किसी को कुछ आज्ञा न देना (३) किसी भी पदार्थ से ममत्व नहीं रखना (४) सदा निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (५) और साधर्मी पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल बर्ताव करना ये पाँच अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखने वाली श्रेष्ठ भावनाएँ हैं।

अखिलविभवहेतुं लोभमातङ्गसिंहम्।
शिवशुभगतिमार्गं सारमस्तेयसङ्गम् ॥
व्रतवरमपदोषं मुक्तिकामाः शिवाप्त्यै।
भजत परमयत्नाल्लोभशत्रुं निहत्य ॥१७९॥

अर्थ—यह अचौर्य महाव्रत, समस्त विभूतियों का कारण है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिए सिंह के समान है, मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, समस्त व्रतों में सार है, सब व्रतों में उत्तम है और समस्त दोषों से रहित है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले को लोभरूपी शत्रु को मारकर बड़े प्रयत्न से, केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए, इस महाव्रत का पालन करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप—

स्वात्मजेव सुकन्यां यौवनस्था भगिनीव च।
वृद्धा नारी निजाम्बेव दृश्यते या विरागिभिः ॥१८०॥
सरागपरिणामादींस् त्यक्त्वा शुद्धाशयैः सदा।
निर्मलं तज्जिनैः प्रोक्तं ब्रह्मचर्य-महाव्रतं ॥१८१॥

अर्थ—शुद्ध हृदय को धारण करने वाले, वीतरागी पुरुष अपने रागरूप परिणामों का सर्वथा त्यागकर कन्या को अपनी पुत्री के समान मानते हैं। यौवनवती स्त्री को अपनी भगिनी के समान मानते हैं और वृद्धा स्त्री को अपनी माता के समान मानते हैं, इस प्रकार जो निर्मल ब्रह्मचर्य को धारण करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' कहते हैं।

स्त्री तिरश्ची च देवीमाः कथ्यन्ते त्रिविधाः स्त्रियः।
मनोवचनकायैस्ताः प्रत्येकं गुणिता भुवि ॥१८२॥
नवधेति विकल्पाः स्युरब्रह्महेतवोऽखिलान्।
परिहृत्य त्रिशुद्ध्या तान् नवधा ब्रह्म रक्ष्यते ॥१८३॥

अर्थ—संसार में (१) मनुष्यनी (२) तिर्यंचनी और (३) देवी ये तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं, यदि इन तीनों को मन, वचन, काय इन तीनों से सेवन करने की इच्छा की जाये तो 'अब्रह्मचर्य' के ९ भेद हो जाते हैं, इसलिए मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक इन सबका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।

मनोवाक्कायधोगैः कृतकारितानुमोदनैः।
प्रत्येकं गुणिता रामा नवभेदा भवन्ति वा ॥१८४॥
सर्वथा वाक्मनः कायान् कृतादीनि निरुध्य च।
नवधा ब्रह्मचर्यं हि पालयन्तु जितेन्द्रियाः ॥१८५॥

अर्थ—अथवा मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना को सर्वथा रोककर, जितेन्द्रिय पुरुषों को ९ प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालना चाहिए क्योंकि प्रत्येक स्त्री के संबंध से ९ भेद हो सकते हैं।

स्त्रीशृङ्गारकथालापाः कामोद्रेकनिबन्धनाः।
न श्रोतव्या न कर्त्तव्यास्त्रिशुद्ध्या ब्रह्मचारिभिः ॥१८६॥

अर्थ—स्त्रियों के शृंगार की कथा कहना भी कामोद्रेक का कारण है इसलिए ब्रह्मचारियों को अपने मन-वचन-काय को शुद्ध रखकर स्त्रियों के शृंगार की कथा न कभी सुननी चाहिए और न कभी कहनी चाहिए।

विलासहास - शृङ्गारगीतनृत्यकलादिकान्।
योषितां नैव पश्यन्ति बहून् रागकरान् बुधाः ॥१८७॥

अर्थ—स्त्रियों के विलास, हास, शृंगार, गीत, नृत्य, कला आदि सब बहुत ही राग उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् लोग इनको कभी नहीं देखते हैं।

क्षणमात्रं न कर्त्तव्यं संसर्गं योषितां क्वचित्।
कलङ्ककारणं निन्द्यं ब्रह्मचर्यपरायणैः ॥१८८॥

अर्थ—स्त्रियों का संसर्ग कलंक लगाने वाला, अत्यन्त निंद्य है इसलिए ब्रह्मचारी पुरुषों को, स्त्रियों का संसर्ग क्षणमात्र भी कभी नहीं करना चाहिए।

यतः संसर्गमात्रेण स्त्रीणां संजायते सताम्।
कलङ्कं दुस्त्यजं लोके प्राणसन्देह एव च ॥१८९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्र से सज्जन पुरुषों को कभी भी न छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा उनके प्राणों में भी संदेह हो जाता है।

चित्रादिनिर्मिता नारी मनः क्षोभं करोति भोः।
साक्षात्पुंसां सुरूपा स्त्री किमनर्थं करोति न ॥१९०॥

अर्थ—अरे! देखो चित्र की बनी हुई स्त्री भी पुरुषों के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है फिर भला, अत्यन्त रूपवती साक्षात् स्त्री क्या-क्या अनर्थ नहीं कर सकती? अर्थात् सब कुछ कर सकती है।

नवनीतनिभं चित्तं ह्यग्निज्वालोपमाङ्गनाम्।
किं नाकृत्यं नृणां कुर्यात्तयोः संसर्ग एव च ॥१९१॥

अर्थ—पुरुष का हृदय मक्खन के समान है और स्त्री का हृदय अग्नि की ज्वाला के समान है, फिर भला, इन दोनों का संसर्ग क्या-क्या अनर्थ नहीं कर सकता अर्थात् सब तरह के अनर्थ कर

सकता है।

वरं व्याघ्राहिचौराणां संसर्गः प्राणनाशकृत्।
न च स्त्रीणां जगन्निन्द्यो व्रतघ्नो नरकप्रदः ॥१९२॥

अर्थ—सिंह, सर्प और चोर आदि का संसर्ग यद्यपि प्राणों का नाश करने वाला है तथापि वह तो श्रेष्ठ है, परन्तु संसार भर में निंदनीय, व्रतों को नाश करने वाला और नरक में धकेलने वाला स्त्रियों का संसर्ग कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता।

नारीसंसर्गमात्रेण बहवो योगिनो भुवि।
नष्टाः श्वभ्रं गताः केचिच्छ्रूयन्ते श्रीजिनागमे ॥१९३॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के आगम से जाना जाता है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्र से अनेक योगी नष्ट हो गये हैं और कितने ही योगी नरक में पहुँचे हैं।

मत्वेति सर्वयत्नेन संसर्गोऽनर्थकृद्बुधैः।
त्याज्यः स्त्रीणां च सर्वासां कलङ्कशङ्कया तराम् ॥१९४॥

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को कलंक लगने की शंका से, पूर्ण प्रयत्न के साथ, समस्त स्त्रियों का संसर्ग छोड़ देना चाहिए क्योंकि स्त्रियों का संसर्ग अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाला है।

न केवलं बुधैस्त्याज्यः संसर्गो योषितामिह।
किन्तु निःशीलपुंसां च सङ्गो लोकद्वयान्तकृत् ॥१९५॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों का कार्य, केवल स्त्रियों के संसर्ग के त्याग करने से ही पूर्ण नहीं होता, किन्तु उन्हें शीलरहित पुरुषों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिए क्योंकि शीलरहित पुरुषों का संसर्ग भी दोनों लोकों को नाश करने वाला है।

ब्रह्मचर्यं च सर्वेषां व्रतानां शुद्धिकारणम्।
ब्रह्मचर्यविनाशेन सर्वे नश्यन्ति सद्व्रताः ॥१९६॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य, समस्त व्रतों की शुद्धि का कारण है तथा इस ब्रह्मचर्य का नाश होने से समस्त श्रेष्ठ व्रत नष्ट हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्यच्युतः श्वेव, सर्वत्र चापमान्यते।
मुनिभिः स्वजनैः प्राणीहेहामुत्रातिदुःखभाक् ॥१९७॥

अर्थ—जो प्राणी ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाता है, उसका अपमान, मुनि वा अन्य सज्जन सर्वत्र करते हैं तथा वह प्राणी इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख पाता है।

गौरचर्मावृतं कान्तं वस्त्राभरणमण्डितम्।
स्त्रीरूपं त्वं मुने वीक्ष्य तस्यान्तःस्थं विचारय ॥१९८॥

अर्थ—हे मुनिराज! गौरवर्ण के चमड़े से ढके हुए, अत्यन्त मनोहर और वस्त्राभूषणों से सुशोभित ऐसे स्त्री के रूप को देखकर, तू उसके भीतर भरे हुए पदार्थों का चिंतन कर।

अहो! घृणास्पदं निन्द्यं लालाम्बुकर्दमीकृतम्।
श्लेष्मागारं च दुर्गन्धं स्त्रीमुखं क्व प्रशस्यते ॥१९९॥

अर्थ—देखो, स्त्रियों का मुख अत्यन्त घृणित और निंदनीय है, थूक के पानी की बनी हुई कीचड़ से वह भर रहा है, कफ का वह घर है और अत्यन्त दुर्गंधमय है, भला ऐसे स्त्री के मुख की प्रशंसा कहाँ की जा सकती है अर्थात् कहीं नहीं।

मांसपिण्डौ कुचौ स्त्रीणां धातुश्रोणितसंभृतौ।
विष्ठादिनिचितं चास्ति पञ्जरं जठरं परम् ॥२००॥

अर्थ—और देखो, स्त्रियों के कुछ मांस के पिण्ड हैं, धातु और रुधिर से भरे हुए हैं। इसी प्रकार स्त्रियों का उदर विष्ठा से भरा हुआ है और हड्डी पसलियों से परिपूर्ण हैं।

स्त्रवन् मूत्रादिदुर्गन्धं योनिरन्ध्रं घृणास्पदं।
श्वभ्रागारमिवासारं कथं स्याद् रतये सताम् ॥२०१॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि से सदा रुधिर, मूत्र बहता रहता है, इसलिए वह दुर्गंधमय अत्यन्त घृणित और नरक के घर के समान असार समझी जाती है। उसमें भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं।

सूक्ष्मा अलब्धपर्याप्ता जायन्ते मानवाः सदा।
योनौ नाभौ च कक्षायां विश्वस्त्रीणां स्तनान्तरे ॥२०२॥

अर्थ—कर्मभूमि की समस्त स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कांख में और दोनों स्तनों के मध्य भाग में, सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते है।

तेषु सर्वप्रदेशेषु, म्रियन्ते जन्तुराशयः।
लिङ्गहस्तादिसंस्पर्शादित्युक्तं स्वागमे जिनैः ॥२०३॥

अर्थ—उन समस्त प्रदेशों में लिंग अथवा हाथ आदि का स्पर्श होता है। उस स्पर्श से वह जीवों की राशि मर जाती है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में बतलाया है।

अतो मुनीश्वरैर्निंद्यं श्वभ्रदुःखनिबन्धनम्।
सर्वपापाकरी भूतं मैथुनं स्यात्कुमार्गगम् ॥२०४॥

अर्थ—इसलिए कहना चाहिए कि यह मैथुन कर्म मुनीश्वरों के द्वारा निंदनीय है, नरक के

दु:खों का कारण है, समस्त पापों की खान है और कुमार्ग में ले जाने वाला है।

कामदाहादिशान्त्यर्थं सेवन्ते येऽत्र मैथुनम्।
वृषभास्तेऽनलं दीप्तं तैलेन वारयन्ति भो: ॥२०५॥

अर्थ—जो लोग यहाँ केवल काम के संताप को शांत करने के लिए मैथुन सेवन करते हैं, उन्हें 'बैल' समझना चाहिए, वे लोग जलती हुई अग्नि को तेल से बुझाना चाहते हैं।

कार्यं न शयनं जातु कोमले संस्तरे क्वचित्।
आसने चासनं ब्रह्म-घातकं ब्रह्मचारिभि: ॥२०६॥

अर्थ—ब्रह्मचारियों को 'कोमल बिछौने' पर कभी नहीं सोना चाहिए और न कोमल आसन पर बैठना चाहिए क्योंकि ब्रह्मचारियों को कोमल आसन भी ब्रह्मचर्य का घात करने वाला है।

सर्व: शरीरसंस्कार: कामरागादिवर्धक:।
न विधेयो बुधैर्निंद्यो ब्रह्मरक्षात्तमानसै: ॥२०७॥

अर्थ—शरीर का सब तरह का संस्कार, काम और राग को बढ़ाने वाला है तथा निंदनीय है, इसलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में जिनका मन लगा हुआ है ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को किसी भी प्रकार का शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिए।

दुग्धाद्या: सबलाहारा: सुस्वादा मोदकादय:।
कामाग्निदीपिका ग्राह्या न क्वचित् ब्रह्मकांक्षिभि: ॥२०८॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को न तो बल देने वाला दूध आदि का आहार करना चाहिए, न लड्डू आदि स्वादिष्ट पदार्थों का आहार करना चाहिए क्योंकि ये सब पदार्थ कामरूपी अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाले हैं।

यथा तृणादिसंयोगै: प्रादुर्भवेद् गृहेऽनल:।
तथा काये च कामाग्नि: सबलाहारसेवनै: ॥२०९॥

अर्थ—जिस प्रकार घास-फूस के संयोग से घर में अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार 'पौष्टिक आहार' के सेवन करने से शरीर में 'कामाग्नि' उत्पन्न हो जाती है।

अन्नपानासनाद्यैश्च रक्षणीयो न शर्मणा।
कामनागालय: काय: क्वचिद् ब्रह्मविशुद्धये ॥२१०॥

अर्थ—यह शरीर ''कामरूपी सर्प का घर है'' इसलिए अपने ब्रह्मचर्य को विशुद्ध रखने के लिए अन्नपान, आसन आदि से कभी इसकी रक्षा तो करनी चाहिए किन्तु इन्द्रिय भोगों के लिए नहीं करनी चाहिए।

यतः कामप्रकोपेन शरीरसुखकांक्षिणाम्।
सार्धं सर्वैर्व्रतैः शीघ्रं ब्रह्मचर्यं पलायते ॥२११॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि शरीर के सुख की इच्छा करने वालों के शरीर में 'काम का प्रकोप' उत्पन्न हो जाता है और फिर समस्त व्रतों के साथ उसका ब्रह्मचर्य भी शीघ्र ही भाग जाता है।

मत्वेति सर्वथा त्याज्यं वपुः सौख्यं विषान्नवत्।
सबलान्नं मुखाद्यङ्ग-संस्कारं शयनादि च ॥२१२॥

अर्थ-यही समझकर शरीर के सुख को 'विष मिले हुए अन्न के समान' सर्वथा त्याग कर देना चाहिए तथा इसी प्रकार 'पौष्टिक आहार', मुख आदि शरीर के 'अंगों का संस्कार' और 'अधिक शयन' आदि का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

निरीक्षणं न कर्त्तव्यं स्त्रीणां हावाङ्कितं मुखे।
यतस्तल्लोकनादेते जायन्तेऽनर्थकारिणः ॥२१३॥

अर्थ—हाव-भाव से भरे हुए स्त्रियों के मुख को कभी नहीं देखना चाहिए क्योंकि स्त्रियों का मुख देखने से नीचे लिखे अनुसार अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते है।

स्त्रियों का मुख देखने से उत्पन्न अनर्थ—

'दृष्टिपातो' भवेदादौ 'व्यामुह्यति मनस्ततः'
'सरागः' कुरुते पश्चात् तत्कथा गुणकीर्त्तनम् ॥२१४॥
ततः प्रेमानुबन्धः प्रवर्द्धते ह्युभयोस्ततः।
उत्कण्ठतेऽशुभं चेतः कामभोगादिकेवलम् ॥२१५॥
दानदाक्षिण्यवार्त्ताद्यै-रुभयोः वर्द्धते स्मरः।
ततः कामाभिलाषेण पराप्रीतिश्च जायते ॥२१६॥

अर्थ—देखो, (१) सबसे पहले तो 'दृष्टिपात' होता है तदनन्तर (२) मन मोहित होता है (३) फिर वह मनुष्य उससे प्रेम करने लगता है (४) फिर वह उसकी कथा कहता है (५) फिर उसके गुणों का वर्णन करता है (६) तदनन्तर उन दोनों के प्रेम का सम्बन्ध बढ़ता है (७) फिर उन दोनों का मन उत्कंठित होता है अथवा काम सेवन आदि की उत्कंठा करता है (८) तदनन्तर परस्पर देने-लेने व चतुरता की बातचीत से अथवा और भी ऐसी ही बातों से दोनों का कामदेव बढ़ता जाता है। (९) तदनन्तर काम सेवन की इच्छा से दोनों में प्रेम की मात्रा खूब बढ़ जाती है।

तया मिलति चान्योन्यं मानसं कामलालसम्।
प्रणश्यति ततो लज्जा कन्दर्पशरताडिता ॥२१७॥

अर्थ—फलस्वरूप 'काम सेवन' की लालसा करने वाला उन दोनों का मन परस्पर मिल जाता

है और (१०) फिर कामदेव के बाणों से ताडित हुई लज्जा शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

निर्लज्जः कुरुते कर्म-रहो जल्पनमन्वहम्।
तयोस्ततश्च कामाग्निर्दुर्निवारो विजृम्भते ॥२१८॥

अर्थ—तदनंतर निर्लज्ज होकर वे दोनों एक दिन एकांत में बैठकर बातचीत करने का कार्य करते रहते हैं और फिर उन दोनों की कामरूपी अग्नि ऐसी बढ़ जाती है जो किसी से रोकी नहीं जा सकती।

दह्यमानस्ततस्तेन बहिरन्तः स्मराग्निना।
अविचार्य तया वाशु वर्त्तते निन्द्यकर्मणि ॥२१९॥

अर्थ—उस कामदेवरूपी अग्नि से वे बाहर और भीतर जलते रहते हैं, जिससे उनका विचार सब नष्ट हो जाता है और विचार तथा बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण वे दोनों शीघ्र ही निंद्य कर्म में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं।

फलतः सर्वगुणों का नाश—

तेन श्रुतं तपःशीलं कुलं च वृत्तमुत्तमम्।
इंधनीकुरुते मूढः प्रविश्य स्त्रीविलानले ॥२२०॥

अर्थ—उस निंद्य कर्म के करने से वह मूर्ख स्त्रीरूपी अग्निकुंड में पड़कर अपने उत्तम श्रुतज्ञान को, तपश्चरण को, शील को, कुल को और चारित्र को जला डालता है।

ततोऽपमानमत्रैव वधबन्धकदर्थनम्।
लभते स परत्राहो नरकं सप्तमं कुधीः ॥२२१॥
विदित्वेति न पश्यन्ति कामिनीं ब्रह्मचारिणः।
क्वचिद् दृष्टिविषाही मिवाखिलानर्थकारिणीम् ॥२२२॥

अर्थ—श्रुत, शील, तप आदि के नष्ट हो जाने से इस लोक में ही उसका भारी अपमान होता है और वध-बंधन के द्वारा वह भारी तिरस्कृत होता है तथा परलोक में उस मूर्ख को सातवाँ नरक प्राप्त होता है।

यही समझकर ब्रह्मचारी पुरुषों को दृष्टिविष (जिसको देखने मात्र से विष चढ़ जाये) ऐसे सर्प के समान समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली स्त्रियाँ कभी नहीं देखनी चाहिए।

वे पुरुष ही धन्य हैं—

धन्यास्ते एव लोकेऽस्मिन् यैर्ब्रह्मनिर्मलं क्वचित्।
स्वप्नेऽप्युपद्रितैः स्त्रीभिः न नीतं मलसन्निधौ ॥२२३॥

अर्थ—संसार में वे ही लोग धन्य हैं, जो स्त्रियों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी, स्वप्न में भी अपने निर्मल ब्रह्मचर्य को कभी मलिन नहीं होने देते हैं।

शीलालङ्कारिणां पादान्नमन्त्याज्ञाविधायिनः।
देवेशाः सामराश्चाहो का कथा परभूभुजाम् ॥२२४॥

अर्थ—समस्त पृथ्वी पर आज्ञा करने वाले, इन्द्र भी अपने अनुचर देवों के साथ शील पालन करने वाले मनुष्यों के चरणों को नमस्कार करते हैं, फिर भला राजाओं की तो बात ही क्या है वे तो नमस्कार करते ही हैं।

विज्ञायेति जगत्सारं शीलरत्नं सुदुर्लभम्।
स्त्रीकटाक्षादिचौरेभ्यो रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥२२५॥

अर्थ—यही समझकर, तीनों लोकों में सारभूत और अत्यन्त दुर्लभ ऐसे इस शीलरत्न को प्रयत्नपूर्वक स्त्रियों के कटाक्ष आदि चोरों से रक्षा करनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की ५ भावनाएँ—

स्त्रीरूपमुखशृंगार - विलासाद्यनिरीक्षणम्।
पूर्वानुभूतसद्भोग - रत्यादि - स्मरणोज्झनम् ॥२२६॥
स्त्रीशृङ्गारकथात्यागः सरसान्नाद्यसेवनम्।
कामिनीजनसंसक्त - वसति - त्यजनं सदा ॥२२७॥
पञ्चेमा भावनाः शुद्धाः ब्रह्मव्रतविशुद्धिदाः।
न मोक्तव्या हृदो जातु मुनिभिर्ब्रह्मशुद्धये ॥२२८॥

अर्थ—(१) स्त्रियों के रूप, मुख, शृंगार, विलास आदि को नहीं देखना (२) पहले भोगे हुए भोग और रति क्रीड़ा आदि के स्मरण करने का भी त्याग कर देना, (३) स्त्रियों के शृंगार की कथा का भी त्याग कर देना (४) रसीले पौष्टिक आहार के सेवन का त्याग कर देना चाहिए (५) और स्त्रियों के रहने, सोने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिए त्याग कर देना। ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत को विशुद्ध करने वाली शुद्ध भावनाएँ हैं। मुनियों को अपना 'ब्रह्मचर्य' शुद्ध रखने के लिए अपने हृदय से इन भावनाओं को कभी अलग नहीं करना चाहिए अर्थात् इनका चिंतन सदा करते रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा—

नरसुरपतिवन्द्यं स्वर्गसोपानभूतम्,
सकलगुणसमुद्रं धीरवीरैर्निषेव्यम्।
शिवसुखशुभखानिं सर्वयत्नेन पूतम्,
भजत गतविकारं ब्रह्मचर्यं सदार्याः ॥२२९॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य महाव्रत, इन्द्र, नरेन्द्र आदि सबके द्वारा वंदनीय है, स्वर्ग के लिए सीढ़ी के समान है, समस्त सद्गुणों का समुद्र है, धीर वीर पुरुष ही इसका सेवन कर सकते हैं, अत्यन्त शुभ

ऐसे मोक्ष सुख की यह खान है, अत्यन्त पवित्र है और विकार रहित है, इसलिए पूज्य पुरुषों को बड़े प्रयत्न से सदा इसका पालन करते रहना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप—

त्यजन्ते निखिला यत्र बाह्यान्तःस्थाःपरिग्रहाः।
जीवा बद्धनिबद्धाश्च समन्तान् मूर्च्छया बुधैः ॥२३०॥
कृत - कारित - सङ्कल्पैर्मनोवाक्कायकर्मभिः।
तत्प्रणीतं जिनैः पूज्य - माकिंचन्यमहाव्रतम् ॥२३१॥

अर्थ—जहाँ पर बुद्धिमान् लोग शरीर, कषायादि संसारी जीवों के साथ रहने वाले और वस्त्रालंकार आदि जीव के साथ न रहने वाले समस्त परिग्रहों का त्याग कर देते हैं तथा मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से उन परिग्रहों में होने वाली मूर्च्छा वा ममत्व का भी त्याग कर देते हैं, उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पूज्य 'आकिंचन्य' महाव्रत कहा है।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं पशुसंचयम्।
आसनं शयनं वस्त्रं भांडं बाह्याः परिग्रहाः ॥२३२॥
दशामी सर्वथा त्याज्याः पृथग्भूता निजात्मनः।
जीवाऽबद्धास्त्रिशुद्ध्याऽत्र यतिभिः सह मूर्च्छया ॥२३३॥

अर्थ—(१) खेत (२) घर (३) धन (४) धान्य (५) दास (६) पशु (७) आसन (८) शयन (९) वस्त्र और (१०) बर्तन ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। परिग्रह 'जीवाबद्ध' या जीव से भिन्न कहलाते हैं क्योंकि ये सब आत्मा से भिन्न हैं। मुनियों को इनमें रहने वाली मूर्च्छा के साथ-साथ मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक इन सबका त्याग कर देना चाहिए।

मिथ्यात्वं च त्रयो वेदा रागा हास्यादयोऽत्र षट्।
चत्वारोऽपि कषाया हि चतुर्दश परिग्रहाः ॥२३४॥
अभ्यंतरा इमे जीव-निबद्धा दुस्त्यजा बुधैः।
विश्वदोषाकरा हेयाः सर्वथा जीवतन्मयाः ॥२३५॥

अर्थ—(१) मिथ्यात्व (२) स्त्रीवेद (३) पुंवेद (४) नपुंसकवेद (५) राग (६) हास्य (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। ये १४ परिग्रह 'जीव-निबद्ध' हैं अर्थात् जीव के साथ लगे हुए हैं और इसीलिए कठिनता से त्याग किये जाते हैं। ये जीव से तन्मय होकर रहते हैं और समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमानों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

चेतनास्तेऽथवा दासीदासगोऽश्वादयो भुवि।
मणिमुक्तासुवर्णांशुक - गेहाद्या अचेतनाः ॥२३६॥

अर्थ—अथवा दासी, दास, गाय, घोड़ा आदि इस संसार में 'चेतन परिग्रह' कहलाते हैं तथा मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, घर आदि 'अचेतन परिग्रह' कहलाते हैं।

चेतनाचेतनाः सर्व-बाह्याः सङ्गा अघार्णवाः।
ज्ञानसंयमशौचोप-करणेन विना बुधैः ॥२३७॥
न ग्राह्याश्च स्वयं श्रामण्यायोग्या हि परस्य भोः।
न दातव्या न कार्योऽनुमोदस्तद्ग्रहणे परैः ॥२३८॥

अर्थ—चेतन, अचेतन, समस्त बाह्य परिग्रह पापों के समुद्र हैं और मुनिधर्म के अयोग्य हैं, इसलिए ज्ञान, संयम और शौच के उपकरणों को छोड़कर बुद्धिमानों को बाकी के सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए, न तो उन्हें स्वयं ग्रहण करना चाहिए, न दूसरों को देना चाहिए और अन्य कोई ग्रहण करता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिए।

मूर्च्छा तेषु न कर्त्तव्या खनिः सर्वैर्न सा बुधैः।
यतो मूर्च्छैव सिद्धान्ते सङ्गः प्रोक्तो गणाधिपैः ॥२३९॥

अर्थ—बुद्धिमानों को इन परिग्रहों में कभी ममत्व भी नहीं रखना चाहिए क्योंकि इनमें ममत्व रखना भी समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है, इसका भी कारण यह है कि भगवान् गणधरदेव ने सिद्धान्त शास्त्रों में मूर्च्छा या ममत्व को ही 'परिग्रह' बतलाया है।

असंयतजनःछात्रो वा सुश्रूषादिहेतवे।
असंयमकरः स्वान्ते रक्षणीयो न संयतैः ॥२४०॥

अर्थ—मुनियों को अपनी सेवा-सुश्रूषा करने के लिए भी, असंयम को बढ़ाने वाला असंयमी मनुष्य या विद्यार्थी अपने समीप नहीं रखना चाहिए।

वसत्यादौ विधेयं न स्वामित्वं सङ्गकारणम्।
पूजाद्रव्याङ्गचेलेषु चान्यत्र परवस्तुनि ॥२४१॥

अर्थ—इसी प्रकार 'वसतिका' आदि में भी अपना स्वामित्व नहीं रखना चाहिए क्योंकि उसमें 'स्वामित्व' रखना भी परिग्रह का कारण है तथा पूजा द्रव्य के अंगभूत वस्त्र आदि, पर वस्तुओं में भी अपना 'स्वामित्व' कभी नहीं रखना चाहिए।

बहुनोक्तेन किं साध्य - मत्रादेयो न योगिभिः।
बालाग्रकोटिमात्रः श्रामण्यायोग्यः स जातुचित् ॥२४२॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है? इतने में ही समझ लेना चाहिए कि मुनियों को मुनिधर्म

के अयोग्य पदार्थ का 'एक बाल के अग्रभाग का करोड़वाँ भाग' भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परिग्रहार्जनेनाऽत्र परा चिन्ता च जायते।
तस्याप्ते परमो रागो रौद्रध्यानं च रक्षणे ॥२४३॥
तन्नाशे शोककोपाद्याः सर्वे प्रादुर्भवन्ति भोः।
तैश्च पापानि घोराणि पापैर्दुर्गतयोऽखिलाः ॥२४४॥
तासु दुःखानि तीव्राणि लभन्ते सङ्गिनः शठाः।
इति मत्वा बुधैर्हेयः सङ्गः सर्वोऽपि सर्वथा ॥२४५॥

अर्थ—इस संसार में परिग्रह को इकट्ठा करने में बड़ी चिंता करनी पड़ती है, उसके प्राप्त होने पर 'परम राग' उत्पन्न हो जाता है, उसकी रक्षा करने में 'रौद्रध्यान' प्रकट हो जाता है तथा उसके नाश होने पर 'क्रोध-शोक' आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं, उन क्रोधादिक विकारों से महापाप उत्पन्न होते हैं, उन पापों से नरकादिक समस्त दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं और उन दुर्गतियों में परिग्रह रखने वाले वे मूर्ख तीव्र दुःखों को प्राप्त होते हैं, यही समझकर, बुद्धिमानों को सब तरह के परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

ग्रन्था येऽभ्यन्तरा विश्वे दुस्त्याज्याः कातराङ्गिनां।
महायत्नेन ते त्याज्याः कृत्स्नदोषविधायिनः ॥२४६॥

अर्थ—अंतरंग परिग्रह कातर पुरुषों से कभी नहीं छोड़े जाते तथा वे अंतरंग परिग्रह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए महान् प्रयत्न करके उन सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए।

यतोऽन्तःसङ्गपाकेन मज्जन्ति प्राणिनोऽखिलाः।
बाह्येषु सङ्गपङ्केषु पापदुर्ध्यानखानिषु ॥२४७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस अंतरंग परिग्रहरूपी कीचड़ से संसार के प्राणी पाप और अशुभ ध्यान की खानि ऐसे बाह्य परिग्रहरूपी कीचड़ में अवश्य डूब जाते हैं।

अतस्तपोव्रतैः सार्धं प्रव्रज्या निष्फला सतां।
वृथा वस्त्रपरित्यागोऽत्रान्तर्ग्रन्थाच्युतात्मनाम् ॥२४८॥

अर्थ—बाह्य परिग्रहों में डूब जाने से सज्जन पुरुषों के व्रत, तपश्चरण आदि भी सब निष्फल हो जाते हैं, और उनके साथ-साथ दीक्षा भी निष्फल हो जाती है, इसलिए जिन लोगों ने अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं किया है उनका वस्त्रों का त्याग करना भी व्यर्थ है।

यथा मुञ्चति कृष्णाहिनिर्मोकं च विषं न भोः।
तथा कश्चित्कुधीर्वस्त्रादीनि नान्तःपरिग्रहान् ॥२४९॥

अर्थ—जिस प्रकार काला सर्प अपनी काँचली तो छोड़ देता है परन्तु विष को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार कोई-कोई मूर्ख वस्त्रों का तो त्याग कर देते हैं परन्तु अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं करते।

अतो मिथ्यात्ववेदांश्च कषायान् सकलेतरान्।
त्यक्तुं येऽत्राक्षमास्तेषां वस्त्रत्यागोऽहिवद्भवेत् ॥२५०॥

अर्थ—इसलिए जो पुरुष मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नोकषायों के त्याग करने में असमर्थ हैं, उनका वस्त्रों का त्याग भी सर्प के समान समझना चाहिए।

महायत्नेन मत्वेति मिथ्यावेदोदयान् बुधाः।
हास्यादींश्च कषायारीन् घ्नन्तु शत्रूनिवाखिलान् ॥२५१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नोकषायरूप समस्त शत्रुओं को अच्छी तरह नाश कर देना चाहिए।

बाह्यान्तर्ग्रन्थसंत्यागाच्चित्तशुद्धिः परा सताम्।
जायते च तया ध्यानं कर्मारण्यदवानलम् ॥२५२॥

अर्थ—अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर देने से सज्जनों का हृदय परम शुद्ध हो जाता है तथा कर्मरूपी वन को जलाने के लिए, दावानल अग्नि के समान, उत्तम ध्यान प्रकट हो जाता है।

ध्यानाच्च कर्मणां नाशस्ततो मोक्षोऽसुखातिगः।
वाचामगोचरं सौख्यं नित्यं तत्र भजन्ति ते ॥२५३॥

अर्थ—ध्यान से कर्मों का नाश हो जाता है, कर्मों के नाश होने से समस्त दुःखों से रहित मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और मोक्ष में उनकी वाणी के अगोचर ऐसा नित्य सुख प्राप्त हो जाता है।

सोऽन्तःस्थांश्च कषायादिरिपून् हन्ति कथं बहून् ।
द्रव्यादीनुपधीन् बाह्यान् यः क्लीबस्त्यक्तुमक्षमः॥२५४॥

अर्थ—जो नपुंसक मनुष्य (कुछ न करने वाला) धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रहों का ही त्याग नहीं कर सकता, वह भला अंतरंग कषायरूपी अनेक शत्रुओं को कैसे मार सकता है? अर्थात् कभी नहीं।

इष्टवस्तूनि गृह्णाति यः सोऽहो किं न लज्जते ।
पूर्वं त्यक्त्वाऽखिलान् सङ्गान् कटिसूत्रादिकान् ततः ॥॥२५५॥

अर्थ—जो मुनि पहले तो करधनी आदि समस्त परिग्रहों का त्याग कर देता है और फिर वह इष्ट पदार्थों को ग्रहण करता है, आश्चर्य है कि वह फिर भी लज्जित नहीं होता।

धन्या पूज्यास्त एवात्र विरक्ता ये मुमुक्षवः।
शरीरादिषु नेहन्ते सङ्गं स्वल्पं सुखादि वा ॥२५६॥

अर्थ—इस संसार में मोक्ष की इच्छा करने वाले जो वीतरागी पुरुष हैं वे ही धन्य और पूज्य हैं क्योंकि वे शरीरादिक के लिए भी कुछ परिग्रह नहीं चाहते और न कभी सुख की इच्छा करते हैं।

विज्ञायेति द्विधा सङ्गांस्त्यजन्तु मुक्तिकांक्षिणः।
सौख्यैर्वैषयिकैः सार्धं हत्वा लोभाक्षविद्विषः ॥२५७॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को लोभ और इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नाशकर, विषय जन्य सुखों के साथ-साथ दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए।

शब्दरूपरसस्पर्श-गन्धेषु विषयेषु च।
सुमनोज्ञामनोज्ञेषु पञ्चाक्षाणामिहाखिलाः ॥२५८॥
रागद्वेषादयो दक्षैस्त्यज्यन्ते ये सुभावनाः।
ताः पञ्च सर्वदा ध्येयाः पञ्चमव्रतशुद्धये ॥२५९॥

अर्थ—इन्द्रियाँ पाँच हैं तथा उनके विषय भी शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध ये पाँच हैं, ये पाँचों विषय मनोज्ञ भी होते हैं और अमनोज्ञ भी अथवा अनिष्ट भी होते हैं। इन सबमें चतुर पुरुषों को राग-द्वेष छोड़ देना चाहिए, मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष छोड़ देना चाहिए। इन्हीं को परिग्रह त्याग महाव्रत की पाँच भावनाएँ कहते हैं। अपरिग्रह महाव्रत को शुद्ध रखने के लिए इन पाँचों भावनाओं का सदा चिंतन करते रहना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

पाँचवें आकिंचन्य महाव्रत की सफलता—

त्रिभुवनपतिपूज्यं लोभतृष्णाद्रिवज्रं दुरिततिमिरसूर्यं श्रीजिनेशादिसेव्यम्।
शिवशुभगतिमार्गं सौख्यखानिं गुणाब्धिं श्रयत विद इहाकिञ्चन्यसारं प्रयत्नात् ॥२६०॥

अर्थ—यह आकिंचन्य महाव्रत, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर देवों के द्वारा भी पूज्य है, लोभ, तृष्णारूपी पर्वत को चूर करने के लिए वज्र के समान है, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान है। भगवान् जिनेन्द्रदेव भी इसका सेवन करते हैं। यह मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, सुख की खान है, गुणों का समुद्र है, इसलिए बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से इस परिग्रह त्याग महाव्रत को धारण करना चाहिए।

महार्थं मोक्षमेवाहो वा त्रिलोकीपतेः पदम्।
साधयन्ति महद्भिर्वा चरितानि जिनादिभिः ॥२६१॥
महान्ति वा स्वयं यानि महाव्रतान्यतो बुधैः।
सार्थनामानि तान्यत्र कीर्तितानि शिवाप्तये ॥२६२॥

अर्थ—ये महाव्रत सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं अथवा तीनों लोकों के स्वामी

तीर्थंकर के पद को सिद्ध करते हैं, इसलिए इनको 'महाव्रत' कहते हैं अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुष इनका पालन करते हैं इसलिए भी ये 'महाव्रत' कहलाते हैं अथवा ये स्वयं ही महान् हैं इसलिए भी इनको 'महाव्रत' कहते हैं। इस प्रकार विद्वानों के द्वारा सार्थक नाम को धारण करने वाले महाव्रत मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मैंने यहाँ पर निरूपण किए हैं।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

प्रथम अध्याय का उपसंहार—

एतान्यत्र महाव्रतानि महतां योग्यानि साराणि च
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनानि विदुषैः ये पालयन्त्यन्वहम्।
ते संप्राप्य महत्सुखं त्रिभुवने सर्वार्थसिद्ध्यादिजं
हत्वा कर्मरिपून् व्रजन्त्यचिरतो मोक्षं सुशर्माकरम् ॥२६३॥

अर्थ—ये महाव्रत महापुरुषों के ही योग्य हैं, सारभूत हैं, और स्वर्ग, मोक्ष के कारण हैं, जो विद्वान् इनको प्रतिदिन पालन करते हैं, वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले सर्वार्थसिद्धि आदि के महासुखों को पाकर, फिर मनुष्य पर्याय में कर्मरूपी समस्त शत्रुओं को नाशकर, अनंत सुख देने वाले मोक्ष में शीघ्र ही जा विराजमान होते हैं।

(छन्द–इन्द्रवज्रा)

महाव्रतधारियों का शुभाशीर्वाद—

ये पालयन्ति यमिनोऽत्र महाव्रतानि यैः पालितानि जिनदेवगणाधिपाद्यैः।
ते मे स्तुताश्च महिता गणिनो जिनेशाः सर्वार्थसिद्धिमखिलां स्वयमादिशन्तु ॥२६४॥

अर्थ—जो मुनिराज इन महाव्रतों का पालन करते हैं अथवा जिन तीर्थंकर या गणधर देवों ने इनका पालन किया है, वे पूज्य तीर्थंकर वा गणधरदेव मेरे हृदय में विराजमान हों तथा मेरे लिए समस्त मोक्ष आदि सर्वोत्कृष्ट पदार्थों की सिद्धि प्रदान करें।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचितेऽष्टाविंशति-मूलगुणव्याख्याने पञ्चमहाव्रतवर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

इस प्रकार श्री मूलाचार प्रदीप नामक महाग्रन्थ में भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री मूलाचार प्रदीप नामक महाग्रन्थ में अट्ठाईस मूलगुणों के वर्णन वाले व्याख्यान में पाँच महाव्रतों का वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

अथ द्वितीयोऽधिकारः

मंगलाचरण पूर्वक समिति वर्णन—

श्रीमद्भ्यः परमेष्ठिभ्यो मोक्षगामिभ्य एव च।
महासमिति-युक्तेभ्यो नमः समितिसिद्धये ॥२६५॥

अर्थ—जो परमेष्ठी अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, जो मोक्षगामी हैं और महासमितियों से सुशोभित हैं, उनको मैं समितियों की सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ।

५ समितियों के नाम—

ईर्याभाषैषणादान - निक्षेपणसमाह्वयाः।
प्रतिष्ठापनसंज्ञा समितयः पञ्च चेति वै ॥२६६॥

अर्थ—(१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदाननिक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति ये पाँच समितियाँ कहलाती हैं।

ईर्यासमिति का लक्षण—

दिवसे प्रासुके मार्गे गोखरोष्ट्ररथादिभिः।
प्राणिभूतातिगे शुद्धे जनाद्यैरुपमर्दिते ॥२६७॥
कार्यार्थं गमनं यच्च क्रियते संयतैः शनैः।
यत्नाद् युगान्तरं प्रेक्षिभिः सेर्यासमितिर्मता ॥२६८॥

अर्थ—जो यत्नपूर्वक चार हाथ भूमि को देखकर, गमन करने वाले मुनि अपने किसी काम के लिए गाय, गधा, ऊँट, रथ आदि से मर्दित या मनुष्यों से उपमर्दित शुद्ध, प्रासुक मार्ग में, दिन में ही धीरे-धीरे गमन करते हैं, उसको 'ईर्यासमिति' कहते हैं।

ईर्यासमिति का विशेष विवरण—

कार्यादृते न गन्तव्यं जातु ग्रामगृहादिषु।
वृथा पर्यटनं भूमौ न कार्यं वाऽशुभप्रदम् ॥२६९॥

अर्थ—मुनियों को बिना काम के किसी गाँव या घर में कभी नहीं जाना चाहिए, और न पृथ्वी पर व्यर्थ घूमना चाहिए क्योंकि इससे अशुभ पाप ही उत्पन्न होता हैं।

कब गमन नहीं करना चाहिए—

अस्तंगते दिवानाथेऽथवा भानूदयादृते।
विधेयं गमनं जातु न सत्सु कार्यराशिषु ॥२७०॥

अर्थ—यदि कैसा ही और कितना ही श्रेष्ठ कार्य आ जाये तथापि सूर्य अस्त होने पर अथवा

सूर्य उदय होने के पहले कभी गमन नहीं करना चाहिए।

मुनिराज रात्रि में गमन क्यों नहीं करते?

यतो रात्रौ म्रियन्ते व्रजनेनादृष्टिगोचरे।
पञ्चाक्षा बहवस्तस्मान्नश्येदाद्यं महाव्रतम् ॥२७१॥

अर्थ—क्योंकि रात्रि में गमन करने से दृष्टि के अगोचर, ऐसे अनेक पंचेन्द्रिय जीव मर जाते हैं, जिससे अहिंसा महाव्रत सर्वथा नष्ट हो जाता है।

महाव्रत के नाश होने से दुर्गति गमन—

व्रतनाशेन जायेत महत्पापं प्रमादिनाम्।
पापाद् घोरतरं दुःखं दुर्गतौ च न संशयः ॥२७२॥

अर्थ—अहिंसा महाव्रत के नाश होने से प्रमादी पुरुषों को महापाप उत्पन्न होता है और पाप से अनेक दुर्गतियों में अत्यन्त घोर दुःख प्राप्त होता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

चातुर्मास में गमन का निषेध क्यों?

मही सत्त्वाकुले जाते चतुर्मासे सुसंयतैः।
पापभीतैर्न गन्तव्यं प्रयोजनशतैः क्वचित् ॥२७३॥

अर्थ—चातुर्मास में जब पृथ्वी अनेक जीवों से भर जाती है, तब पापों से डरने वाले मुनियों को सैकड़ों आवश्यक कार्य होने पर भी कहीं गमन नहीं करना चाहिए।

प्रेषणं नाऽत्र दातव्यं सति कार्ये व्रतात्मनाम्।
गमने प्रेरणं वाऽहो बुधैर्जीवक्षयङ्करम् ॥२७४॥

अर्थ—विद्वानों को चातुर्मास में आवश्यक कार्य होने पर भी किसी व्रती को बाहर नहीं भेजना चाहिए क्योंकि जाने के लिए प्रेरणा करना, अनेक जीवों का घात करने वाला है।

विधेयानुमतिर्जातु गमनादौ न पापदा।
प्रयोजनवशात्पुंसां मुनिभिर्यत्नचारिभिः ॥२७५॥

अर्थ—यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को किसी प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति कभी नहीं देनी चाहिए।

आगच्छ गच्छ तिष्ठेह कुरु कार्यं च भोजनम्।
इति जातु न वक्तव्यं व्रतिभिः पापकारणम् ॥२७६॥

अर्थ—यहाँ आ, वहाँ जा, यहाँ बैठ, इस कार्य को कर या भोजन कर; इस प्रकार कहना भी पाप का कारण है। इसीलिए व्रती पुरुषों को इस प्रकार भी कभी नहीं कहना चाहिए।

चतुर्हस्तान्तरालस्थां, महीं वीक्ष्यातियत्नतः।
शनैः पादोऽत्र दातव्यः, पथीर्यागमनोद्यतैः ॥२७७॥

अर्थ—ईर्यासमिति से गमन करने की इच्छा करने वाले मुनियों को बड़े प्रयत्न से, चार हाथ पृथ्वी देखकर धीरे-धीरे पैर रखना चाहिए।

पूर्वं स्थित्वा धरां वीक्ष्य दूरस्थां प्रासुकां बुधाः।
कुर्वन्तु गमनं पश्चात् संकोच्यावयवान् सदा ॥२७८॥

अर्थ—पहले खड़े होकर दूर तक की प्रासुक भूमि देख लेनी चाहिए और फिर विद्वानों को अपने शरीर के अवयवों को संकोच कर गमन करना चाहिए।

काष्ठं पाषाणमन्यद्वा ज्ञात्वा चलाचलं बुधैः।
तेषु पादं विधायाशु न गन्तव्यं दयोद्यतैः ॥२७९॥

अर्थ—दया धारण करने वाले विद्वानों को काठ या पाषाण को हिलता हुआ समझकर, उन पर पैर रखकर गमन नहीं करना चाहिए।

न शीघ्रं गमनं कार्यं नातिमन्दं च संयतैः।
सहसांघ्रिर्न दातव्यः स्थित्वा मार्गे च जल्पनम् ॥२८०॥

अर्थ—मुनियों को न तो शीघ्र ही गमन करना चाहिए, न धीरे ही गमन करना चाहिए, न अकस्मात् किसी पर पैर रखना चाहिए और न मार्ग में खड़े होकर बातचीत करनी चाहिए।

इतीर्यागमनस्याहो विधिं ज्ञात्वा व्रजन्ति ये।
स्वकार्येऽत्र भवेत्तेषां परेर्यासमितिः सताम् ॥२८१॥

अर्थ—इस प्रकार ईर्यागमन की विधि समझकर जो अपने कार्य के लिए गमन करते हैं, उन सज्जनों के उत्कृष्ट ईर्यासमिति होती है।

तां विना स्वेच्छया येऽत्र गमनं कुर्वते बुधाः।
तेषां षडंगघातेन नश्येदाद्यं व्रतोत्तमम् ॥२८२॥

अर्थ—जो विद्वान् इस ईर्या समिति के बिना स्वच्छंद गमन करते हैं, वे छहों काय के जीवों का घात करते हैं और इसीलिए उनका अहिंसा महाव्रत नष्ट हो जाता है।

मुख्यव्रत स्वरूप ईर्या समिति—

मत्वेति धीधना जातु मा व्रजन्तु महीतले।
त्यक्त्वेर्यासमितिं चाद्य व्रताम्वां व्रतशुद्धये ॥२८३॥

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिए व्रतों की माता स्वरूप इस 'ईर्या समिति' को छोड़कर इस पृथ्वी पर कभी गमन नहीं करना चाहिए।

उपसंहार रूप में 'ईर्या समिति'—

गुणसमुदयखानिं स्वर्गसोपानमालां
शिवसुखजननीं हिंसादिदूरां पवित्राम्।
जिनगणधरसेव्यां दोषदूरां भजध्वम्।
समितिमिह सुयत्नादादिमां मुक्तिकामाः ॥२८४॥

अर्थ—यह 'ईर्या समिति' समस्त गुणों की खान है, स्वर्ग की सीढ़ी है, मोक्षसुख को उत्पन्न करने वाली माता है, हिंसादि पापों से सर्वथा दूर है, अत्यन्त पवित्र है, तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवन करने योग्य है और समस्त दोषों से रहित है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को बड़े प्रयत्न से इस प्रथम 'ईर्या समिति' का पालन करना चाहिए।

द्वितीय भाषा समिति का स्वरूप—

हास्यकर्कशपैशून्य - परनिन्दात्मशंसनात्।
विकथादींश्च संत्यज्य धर्ममार्गप्रवृत्तये ॥२८५॥
स्वस्यान्येषां हितं सारं मितं धर्माविरोधि यत्।
वचनं ब्रूयते दक्षैः सा भाषासमितिर्मता ॥२८६॥

अर्थ—चतुर पुरुष (१) हँसी के वचन (२) कठोर वचन (३) चुगली के वचन (४) दूसरे की निंदा के वचन (५) और अपनी प्रशंसा के वचनों को तथा (६) विकथाओं को छोड़कर, केवल धर्ममार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अपना और दूसरों का हित करने के लिए सारभूत, परिमित और धर्म से अविरोधी जो वचन कहते हैं, उसको 'भाषा समिति' कहते हैं।

सत्य वचन के दश भेद—

सत्यं जनपदाख्याद्यं संमतं स्थापनाह्वयम्।
नाम रूपं प्रतीतं संभावनासत्यसंज्ञकम् ॥२८७॥
व्यवहाराभिधं भाव - मुपमासत्यमेव च।
दशधेति वचो वाच्यं सत्यं सत्यागमोद्भवम् ॥२८८॥

अर्थ—(१) आगम में निम्नलिखित सत्य वचनों के दश भेद बतलाये हैं यथा (१) जनपद सत्य (२) सम्मत सत्य (३) स्थापना सत्य (४) नाम सत्य (५) रूप सत्य (६) प्रतीत सत्य (७) संभावना सत्य (८) व्यवहार सत्य (९) भाव सत्य और (१०) उपमा सत्य।

सत्य के दश भेदों के लक्षण—

नानादेशादिभाषाभिः कथ्यते यच्छुभाशुभम्।
वस्तु तच्च विरुद्धं न सत्यं 'जनपदाभिधम्' ॥२८९॥

यथा च प्रोच्यते लोकैः सर्वभाषाभिरोदनं।
चौरो द्रविडभाषाभि-र्न विवादोऽत्र विद्यते ॥२९०॥

अर्थ—अनेक देशों की भाषा में जो शुभाशुभ कहा जाता है और जो किसी के विरुद्ध नहीं होता, उसको (१) जनपद सत्य कहते हैं, जैसे लोग सब भाषाओं में 'ओदन' या 'भात' कहते हैं अथवा चोर भी सब भाषाओं में कहते हैं तथा द्राविड़ आदि किसी भाषा में उसके लिए विवाद उपस्थित नहीं होता इसको 'जनपद सत्य' कहते हैं।

बहुभिः संमतं यत्तत् सत्यं सम्मतमुच्यते।
मानुष्येऽपि यथा लोके महादेवी निगद्यते ॥२९१॥

अर्थ—जिसको बहुत से लोग मानें उसको 'सम्मत सत्य' कहते हैं। जैसे—रानी मनुष्य है तो भी उसे 'महादेवी' कहते हैं।

स्थाप्यते प्रतिबिंबं यत् स्थापनासत्यमेव तत्।
यथार्हन्मुनिसिद्धानां प्रतिमार्चाप्रवृत्तये ॥२९२॥

अर्थ—किसी के प्रतिबिंब को स्थापन करना 'स्थापना सत्य' है, जैसे—पूजा करने के लिए अरहंत, सिद्ध या मुनियों की प्रतिमा स्थापन की जाती है।

गुणैस्तथ्यमतथ्यं वा नाम यत्क्रियते नृणाम्।
नामसत्यं तदेवात्र देवदत्तो यथा पुमान् ॥२९३॥

अर्थ—जो मनुष्यों का नाम रखा जाता है, वह गुणों से सत्य भी होता है और असत्य भी होता है तथापि उसको 'नाम सत्य' कहते हैं। जैसे—किसी पुरुष का नाम 'देवदत्त' रख लिया जाता है।

मुख्यवर्णेन यद्रूपं 'रूपसत्यं' तदुच्यते।
यथा श्वेता बलाकाख्या सति वर्णान्तरे परे ॥२९४॥

अर्थ—जो रूप किसी मुख्य वर्ण से कहा जाता है उसको 'रूप सत्य' कहते हैं। जैसे 'बगुले' सफेद होते हैं। यद्यपि बगुलों में और भी वर्ण होता है तथापि वे सफेद ही कहलाते हैं।

अन्यं ह्यपेक्ष्य सिद्धं यत्प्रतीतसत्यमेव तत्।
यथा दीर्घोऽयमन्यत् ह्रस्वमपेक्ष्याऽत्र कथ्यते ॥२९५॥

अर्थ—जो अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा से सिद्ध होता है उसको 'प्रतीत सत्य' कहते हैं, जैसे यह लंबा है, यह लंबाई किसी की कम लंबाई की अपेक्षा से कही जाती है।

शक्याशक्यद्विभेदाभ्यां कार्यं कर्त्तुं यदीहते।
संभावनाऽभिधं तद्बाहुभ्यां तर्त्तुं यथाम्बुधिम् ॥२९६॥

अर्थ—यह काम हो सकता है या नहीं, इस प्रकार दोनों ओर के विकल्प से जो काम करने की

इच्छा की जाती है उसको 'सम्भावना सत्य' कहते हैं। जैसे–यह समुद्र भुजाओं से पार किया जा सकता है या नहीं।

व्यवहारेण कार्यादौ प्रोच्यते यद्वचो जनैः।
व्यवहाराख्यसत्यं तद् यथा क्रूरोऽत्र पच्यते ॥२९७॥

अर्थ–किसी भी कार्य में, व्यवहार से जो लोग वचन कहते हैं उसको 'व्यवहार सत्य' कहते हैं। जैसे यह भात पकाया जाता है, पके चावलों को 'भात' कहते हैं तथापि व्यवहार में भात पकाना कहते हैं।

हिंसादिदोषदूरं यत् सत्यं वा सत्यमुच्यते।
भावसत्यं च तल्लोके दृष्टश्चौरो यथात्र न ॥२९८॥

अर्थ–जो हिंसादिक पापों से रहित वचन हैं, उनको 'भाव सत्य' कहते हैं, जैसे–घर में 'चोर' रहते हुए भी कहना कि यहाँ नहीं है।

औपम्येनात्र संयुक्तं ब्रूयते वचनं च यत्।
उपमासत्यमेवैतद् यथा पल्योपमादयः ॥२९९॥

अर्थ–जो वचन किसी 'उपमा' के साथ कहे जाते हैं उन्हें 'उपमा सत्य' कहते हैं, जैसे–पल्य, सागर आदि।

अमीभि - र्दशभिर्भाषा - भेदैर्धर्मप्रवृत्तये।
आगमोक्तैः स्वतत्त्वज्ञा वदन्तु सूनृतं वचः ॥३००॥

अर्थ–आत्मतत्त्व को जानने वाले, पुरुषों को धर्म की प्रवृत्ति करने के लिए आगम में कहे अनुसार, भाषा भेद से जो दश प्रकार के सत्य के भेद हैं उन्हें ही बोलना चाहिए।

असत्य वचन का स्वरूप–

भाषाभेदेभ्य एतेभ्यो दशभिः प्रोच्यतेऽत्र या।
विपरीताऽशुभाभाषा तदसत्यं वचोमतम् ॥३०१॥

अर्थ–भाषा के भेद से जो सत्य के दश भेद बतलाये हैं उससे विपरीत जो अशुभ भाषा है, उसको 'असत्य वचन' कहते हैं।

सत्यासत्यद्वयोपेता भाषा या ब्रूयते नरैः।
साऽत्र सत्यमृषा भाषा भाषिता श्रीजिनागमे ॥३०२॥
तस्मात् सत्यमृषावादात् विपरीतं च भाषणम्।
यत् साऽसत्यमृषा भाषा नवधा कथिता श्रुते ॥३०३॥

अर्थ–मनुष्यों के द्वारा जो सत्य और असत्य उभयरूप भाषा बोली जाती है उसको जिनागम

में 'सत्यासत्य' भाषा कहते हैं। उस 'सत्यासत्य' भाषा से जो विपरीत भाषण है उसको 'अनुभय भाषा' कहते हैं अथवा 'असत्यासत्य' कहते हैं, वह अनुभय भाषा शास्त्रों में नव प्रकार की बतलाई है।

नव प्रकार की अनुभय भाषा के भेद—

प्रथमाऽऽमन्त्रिणी भाषाऽऽज्ञापना याचनाभिधा।
संपृच्छना तथा प्रज्ञापना भाषा च पञ्चमी ॥३०४॥
प्रत्याख्यानाह्वयेच्छाऽनुलोमाख्या सप्तमी ततः।
संशयादि वचनांत-भाषाष्टमी ततोऽपरा ॥३०५॥
अनक्षराभिधा भाषा सारासत्यमृषाह्वया।
असत्यासत्यभाषा या नवभेदा भवन्त्यमी ॥३०६॥

अर्थ—(१) आमंत्रणी (२) आज्ञापना (३) याचना (४) संपृच्छना (५) प्रज्ञापना (६) प्रत्याख्याना (७) इच्छानुलोमा (८) संशयवचनी (९) अनक्षरा ये नव अनुभय भाषा के भेद हैं।

आमंत्र्यते यया लोकोऽभिमुखी क्रियते प्रति।
व्यापारान्तरमेवान्यै-र्भाषा साऽऽमन्त्रणी स्मृता ॥३०७॥

अर्थ—किसी को अपने सामने करने के लिए, बुलाने के लिए अथवा व्यापारान्तर करने के लिए दूसरों के द्वारा जो भाषा बोली जाती है, उसको (१) आमंत्रणी भाषा कहते हैं।

आज्ञाप्यते यथा लोके आज्ञां तेऽहं ददामि भोः।
इत्यादिवचनं यत्सा-ऽऽज्ञापना गीर्निरूपिता ॥३०८॥

अर्थ—''मैं तुमको यह आज्ञा देता हूँ'' इस प्रकार जो आज्ञारूप वचन कहना है, उसको (२) 'आज्ञापनी' भाषा कहते हैं।

याचना क्रियते लोके यया सा याचनाख्यगीः।
यथाहं याचयामि त्वां किञ्चिद्वस्तु शुभाशुभम् ॥३०९॥

अर्थ—मैं तुमसे यह शुभ या अशुभ वस्तु माँगता हूँ, इस प्रकार माँगने के लिए जो भाषा बोली जाती है, उसको 'याचना' नाम की भाषा कहते हैं।

संपृच्छ्यते ययान्यैः सा भाषा संपृच्छनाह्वया।
यथा पृच्छाम्यहं त्वां च किञ्चित्कार्यं हिताहितं ॥३१०॥

अर्थ—मैं तुमसे कुछ ''हित या अहित की बात पूछना चाहता हूँ'' इस प्रकार दूसरों के द्वारा पूछने के लिए जो भाषा बोली जाती है, उसको संपृच्छना भाषा कहते हैं।

यया प्रज्ञाप्यते लोको भाषा प्रज्ञापनाऽत्र सा।
यथा प्रज्ञापयामि त्वा-महं किंचिन्मनोगतम् ॥३११॥

अर्थ—मैं तुमको अपने मन की कुछ बात बताना चाहता हूँ इस प्रकार लोगों को कुछ सूचना देने की बात कही जाती है, उसको 'प्रज्ञापना' भाषा कहते हैं।

यत्प्रत्याख्यायते भाषया सा भाषाऽत्र कथ्यते।
प्रत्याख्याना यथा प्रत्याख्यानं मे दीयतामिदम् ॥३१२॥

अर्थ—''मुझे यह प्रत्याख्यान दीजिए'' इस प्रकार भाषा के द्वारा जो प्रत्याख्यान किया जाता है, उसको 'प्रत्याख्याना' भाषा कहते हैं।

सर्वत्राऽत्राऽनुकूलाया स्वेच्छया प्रोच्यते जनैः।
भाषा सेच्छानुलोमाख्या यथैवं च करोम्यहम् ॥३१३॥

अर्थ—''मैं ऐसा करता हूँ'' इस प्रकार सर्वत्र अपने अनुकूल अपनी इच्छानुसार बोलने को 'इच्छानुलोमा' नाम की भाषा कहते हैं।

बालवृद्धपशूनां च यथा नार्थः प्रतीयते।
भाषया संशयाद्यन्तवचनी सा निगद्यते ॥३१४॥

अर्थ—बालक, वृद्ध और पशुओं की भाषा से अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसलिए उसको 'संशय वचनी' भाषा कहते हैं।

अनक्षरगता भाषा, या द्वीन्द्रियादि-देहिनाम्।
साऽत्रा सत्यमृषानाम्नी कथ्यते नवमी बुधैः ॥३१५॥

अर्थ—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवों की जो अक्षररहित भाषा है, उसको 'अनक्षरा' नाम की 'अनुभय भाषा' कहते हैं।

विशेषाप्रतिपत्तेर्न सत्या एता गिरो भुवि।
सामान्य-प्रतिपत्तेर्न मृषाभेदा नवान्विताः ॥३१६॥

अर्थ—इन नव प्रकार की भाषाओं में पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, इसलिए ये वचन सत्य नहीं कहलाते तथा इनसे सामान्य का ज्ञान होता है इसलिए इनको असत्य भी नहीं कहते। अतएव इन नव प्रकार की भाषा को 'अनुभय वचन' कहते हैं।

शश्वन्मौनं विधातुं ये-ऽसमर्था योगिनो भुवि।
सत्यानुभयभाषाभ्यां ते ब्रुवन्तु वचः शुभम् ॥३१७॥

अर्थ—इस संसार में जो मुनि सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हैं, उनको सत्य और अनुभय भाषा के द्वारा शुभ वचन कहने चाहिए।

कर्कशा कटुका भाषा परुषा निष्ठुराऽघदा।
परप्रकोपिनी मध्यकृशाऽभिमानिनी च गीः ॥३१८॥
तथाऽनयङ्करा छेदंकरी भूतवधंकरी।
निन्द्येमा दशधा भाषा त्याज्या निन्द्याऽघकारिणी ॥३१९॥

अर्थ—(१) कर्कश (२) कटुक (३) परुष (४) निष्ठुर (५) परप्रकोपिनी (६) मध्यकृशा (७) अभिमानिनी (८) अनयंकरी (९) छेदंकरी (१०) और भूतवधंकरी ये दश प्रकार की भाषाएँ 'निंद्य' कहलाती हैं, निंद्य जीव ही इसके बोलने के अधिकारी होते हैं, इसलिए इन निंद्य भाषाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

त्वं मूर्खस्त्वं बलीवर्दो न किञ्चिद्वेत्सि रे शठ।
संतापजननी-त्याद्या या गीः सा कर्कशोच्यते ॥३२०॥

अर्थ—तू मूर्ख है, तू बैल है, अरे शठ! ''तू कुछ नहीं जानता'' इस प्रकार की संताप को उत्पन्न करने वाली जो भाषा है, उसको 'कर्कश भाषा' कहते हैं।

कुजातिस्त्वं च निर्धर्म इत्यादिवचनं हि यत्।
उद्वेगजननी भाषा कटुका सा मतागमे ॥३२१॥

अर्थ—तू कुजाति है, तू अधर्मी है, इस प्रकार के जो वचन हैं या उद्वेग करने वाली भाषा है, उसको आगम में 'कटुक भाषा' कहते हैं।

परुष भाषा—

अनेकदेशदुष्टोऽसि त्वमाचारपराङ्गमुखः।
इत्यादि यद्वचो मर्म-चालनी परुषाऽत्र सा ॥३२२॥

अर्थ—''तू बहुत अंशों में दुष्ट है, तू आचार पालन करने से पराङ्मुख हैं'' इस प्रकार के मर्म छेदने वाले वचनों को 'परुष भाषा' कहते हैं।

निष्ठुर भाषा—

त्वामहं मारयिष्यामि कर्त्तयिष्यामि ते शिरः।
इत्यादि ब्रूयते वाक्यं यत्सा भाषाऽत्र निष्ठुरा ॥३२३॥

अर्थ—''मैं तुझे मार डालूँगा, तेरा मस्तक काट डालूँगा'' इस प्रकार के वचन कहना 'निष्ठुर भाषा' है।

परप्रकोपिनी भाषा—

किं ते तपोऽत्र निर्लज्जस्त्वं रागी हसनोद्यतः।
इत्यादिकोपकृद्वाक्यं यत्सा गीः परकोपिनी ॥३२४॥

अर्थ—हे निर्लज्ज! तू यह क्या तपश्चरण करता है क्योंकि तू रागी है, सदा हँसता ही रहता है। इस प्रकार के क्रोध उत्पन्न करने वाले वचनों को 'परप्रकोपिनी' भाषा कहते हैं।

मध्यकृश भाषा—

हड्डानां मध्यभागं च यया निष्ठुरया गिरा।
कृत्यते सुमतां मध्यकृशा सा निर्दयाऽत्र गीः ॥३२५॥

अर्थ—जिस निष्ठुर भाषा से, हड्डी के मध्य भाग भी कट जाये, ऐसी निर्दय भाषा को 'मध्यकृश भाषा' कहते हैं।

अभिमानिनी भाषा—

स्वगुणख्यापनं लोके परेषां दोषभाषणम्।
यया च क्रियते निन्द्यैर्निन्द्या गीः साऽभिमानिनी ॥३२६॥

अर्थ—निंद्य लोग जिस भाषा से अपने गुणों का वर्णन करते हैं और दूसरे के दोषों का वर्णन करते हैं, उस भाषा को 'अभिमानिनी भाषा' कहते हैं।

अनयङ्करी भाषा—

या खंडनकरी शीलानां चान्योन्यगतात्मनाम्।
'विद्वेषकारिणी' भाषा स्मृता साऽत्राऽनयङ्करा ॥३२७॥

अर्थ—जो भाषा परस्पर एक-दूसरे के शील खण्डन करने वाली है या परस्पर विद्वेष उत्पन्न करने वाली है, उसको 'अनयङ्करी भाषा' कहते हैं।

छेदंकरी भाषा—

वीर्यशीलगुणादीनां या निर्मूलविधायिनी।
असद्भूतान्यदोषोद्भाविनी छेदङ्कराऽत्र सा ॥३२८॥

अर्थ—जो भाषा वीर्य, शील और गुणों को निर्मूल नाश करने वाली है, जो असत्य है और दूसरों के दोषों को कहने वाली है, वह 'छेदंकरी भाषा' है।

भूतवधंकरी भाषा—

प्राणनाशोऽशुभं पीडा भूतानां जायते यया।
सर्वाऽनिष्टाकरी भूता सा गीर्भूतवधङ्करी ॥३२९॥

अर्थ—जिस भाषा से जीवों का प्राण नाश होता हो, अशुभ और पीड़ा उत्पन्न होती हो, जो सब तरह का अनिष्ट करने वाली हो, उसको 'भूतवधंकारी भाषा' कहते हैं।

इमा दशविधा भाषाः खन्यः सर्वैनसां भुवि।
प्राणान्तेऽपि न वक्तव्या मुनिभिः परदुःखदाः ॥३३०॥

अर्थ—यह दश प्रकार की भाषा, समस्त पापों की खान है और दूसरों को दुःख देने वाली है,

इसलिए मुनियों को अपने प्राण नाश होने पर भी, ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिए।

विधेया न कथा स्त्रीणां शृङ्गाररसवर्णनैः।
कामादिदीपिका जातु व्रतिभिर्ब्रह्मनाशिनी ॥३३१॥

अर्थ—व्रती पुरुषों को ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिए, जो काम के विकार को बढ़ाने वाली हो और ब्रह्मचर्य को नाश करने वाली हो तथा ऐसी कथा भी नहीं कहनी चाहिए, जिसमें स्त्रियों के शृंगार रस का वर्णन हो।

भक्तपानरसादीनामिष्टानां सुखकारिणाम्।
क्वचिन्न कुकथा कार्याऽऽहारसंज्ञाप्रवर्द्धिनी ॥३३२॥

अर्थ—आहार संज्ञा को बढ़ाने वाली तथा मीठे और सुख देने वाले भोजन, पान या रस आदि का वर्णन करने वाली कुकथा या भोजनकथा भी नहीं कहनी चाहिए।

रौद्रकर्मोद्भवा निन्द्या रौद्रसङ्ग्रामपोषणैः।
भूभुजां कुकथा त्याज्या रौद्रध्यानविधायिनी ॥३३३॥

अर्थ—रौद्र संग्राम का वर्णन करने से रौद्र कर्म को उत्पन्न करने वाली और रौद्रध्यान को बढ़ाने वाली निंदनीय राजकथा भी कभी नहीं कहनी चाहिए।

विकथाओं का निषेध—

चौराणां बहुदेशानां मिथ्यादृष्टिकुलिङ्गिनां।
अर्थार्जनविधीनां च भाषणं वैरिणां भुवि ॥३३४॥
मृषास्मृतिकुशास्त्रादिपुराणानां च याः कथाः।
विकथास्ता न कर्त्तव्या न श्रोतव्या अघाकराः ॥३३५-१॥

अर्थ—(१) चोरों की कथा (२) अनेक देशों की कथा (३) मिथ्यादृष्टि कुलिंगियों की कथा (४) धन उपार्जन के कारणों की कथा (५) शत्रुओं की कथा (६) मिथ्या स्मृति शास्त्र, कुशास्त्र, मिथ्या पुराणों की कथाएँ या पाप उत्पन्न करने वाली विकथाएँ कभी नहीं कहनी चाहिए, न कभी सुननी चाहिए।

किमत्र बहुनोक्तेन जिनकेवलियोगिनाम्।
मुक्त्वा धर्मकथा अन्याः कार्या जातु न संयतैः ॥३३५-२॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या? थोड़े में इतना समझ लेना चाहिए कि मुनियों को भगवान् अरहंत देव, केवली भगवान् और मुनियों की धर्म कथाओं को छोड़कर बाकी की कोई कथा नहीं कहनी चाहिए।

विकथाचारिणामत्र, यतो नश्येच्छ्रुतं मतिः।
महान् पापास्त्रवो नित्यं मूर्खता च प्रजायते ॥३३६॥

अर्थ—इसका भी कारण है कि विकथा कहने वालों की बुद्धि और श्रुतज्ञान सब नष्ट हो जाता है तथा प्रतिसमय तीव्र पाप कर्मों का आस्त्रव होता रहता है और मूर्खता भी प्रकट होती है।

परनिन्दा न कर्तव्या स्वान्यदुःखविधायिनी।
पृष्ठमांसोपमा जातु वृथाऽघास्त्रवकारिणी ॥३३८॥

अर्थ—मुनियों को परनिंदा भी कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परनिंदा अपने को तथा दूसरों को सबको दुःख देने वाली है, व्यर्थ ही पापास्त्रव उत्पन्न करने वाली है और पीठ के मांस के समान (कुबड़े के कुब्ज के समान) दुःख देने वाली हैं।

कैसी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिए—

जायेतात्र ययान्येषां पीडावधश्च देहिनां।
क्लेशाद्यब्धौ पतेत्स्वात्मा सा गीर्वाच्या न योगिभिः ॥३३९॥

अर्थ—मुनियों को कोई भी ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिए, जिससे कि अन्य प्राणियों को पीड़ा या वध होता हो अथवा क्लेश होता हो अथवा अपनी आत्मा क्लेश आदि के महासागर में पड़ती हो, ऐसी वाणी कभी नहीं कहनी चाहिए।

चतुर्विधसुसङ्घानां निर्दोषाणां निसर्गतः।
जातु दोषो न वक्तव्यः प्राणान्तेऽप्यघसागरः ॥३४०॥

अर्थ—चारों प्रकार का संघ स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिए प्राणों का अन्त समय आने पर भी संघ का दोष नहीं कहना चाहिए, क्योंकि संघ का दोष कहना महापाप का कारण है।

मैत्री आदि चारों भावनाओं की उपयोगिता—

सर्वसत्त्वेषु कर्त्तव्या मैत्री धर्मखनी परा।
प्रमोदः परमः कार्यो गुणाधिकतपस्विषु ॥३४१॥
करुणा क्लिष्टजीवेषु विधेयाऽनुग्रहादिभिः।
माध्यस्थं मुनिभिः कार्यं विपरीतजडात्मसु ॥३४२॥

अर्थ—मुनियों को समस्त प्राणियों में धर्म की खान ऐसा मैत्री भाव धारण करना चाहिए तथा जो तपस्वी अधिक गुणी हैं, उनको देखकर परम प्रमोद धारण करना चाहिए। दुःखी जीवों को देखकर अनुग्रहपूर्वक करुणा धारण करनी चाहिए और मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी मनुष्यों में मध्यस्थता धारण करनी चाहिए।

शुभ भावनाओं का फल—

आभिः सुभावनाभिर्ये प्रवर्त्तन्तेऽन्वहं बुधाः।
लोके मुक्ता इवाहो ते रागाद्यंशं स्पृशन्ति न ॥३४३॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् रात-दिन इन भावनाओं का चिंतन करते हैं, वे इस संसार में मोती के समान रागद्वेष के अंशों को कभी स्पर्श नहीं करते।

उपसंहारात्मक भाषा का प्रयोग—

विश्वदेहाक्षसौख्यादौ विरक्तिर्जायते यया।
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रशमादिगुणराशयः ॥३४४॥
स्वान्येषां च प्रवर्धन्ते धैर्यं सम्पद्यते तराम्।
तपोयोगादिसिद्ध्यै सा भाषा वाच्या मुमुक्षुभिः ॥३४५॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को तप और ध्यान की सिद्धि के लिए ऐसी भाषा बोलनी चाहिए जिससे कि संसार, शरीर और इन्द्रियों के सुख से वैराग्य उत्पन्न हो जाये, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और कषाय शमन आदि अपने या अन्य लोगों के गुणों की वृद्धि हो जाये तथा सर्वोत्तम धीरता की प्राप्ति हो जाए।

भाषा समिति की उपयोगिता—

मूलभूतां न जानाति भाषासमितिमूर्जिताम्।
जिनधर्मस्य यः सोऽत्र कथं कर्मास्रवांस्त्यजेत् ॥३४६॥

अर्थ—जो मुनि जिनधर्म की मूलभूत और सर्वोत्कृष्ट ऐसी इस भाषा समिति को नहीं जानता है वह अपने कर्मों के आस्रव को कैसे रोक सकता है? अर्थात् कभी नहीं रोक सकता है।

भाषा समिति का उपसंहारात्मक विवरण—

मत्वेति यत्नतो नित्यं पालयन्तु शिवार्थिनः।
भाषासमितिमत्यर्थं जिनोक्तां शिवसिद्धये ॥३४७॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव की कही हुई भाषा समिति को यत्नपूर्वक प्रतिदिन अच्छी तरह पालन करना चाहिए।

(छन्द मालिनी)

श्रुतसकलगुणाम्बां विश्वविज्ञानखानिम्
जिनपतिमुनिसेव्यां पाविनीं धर्ममूलाम्।
शिवशुभगतिवीथीं मोक्षकामाः स्वसिद्ध्यै
प्रभजत समितिं भाषाभिधां सर्वयत्नात् ॥३४८॥

अर्थ—यह भाषा समिति समस्त श्रुतज्ञान को देने वाली है, समस्त विज्ञान की खान है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव और मुनियों के द्वारा सेवन करने योग्य है, अत्यन्त पवित्र है, धर्म की मूल है तथा मोक्ष और स्वर्गगति का मार्ग है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ भाषा समिति का पालन करना चाहिए।

(३) एषणा समिति का स्वरूप—

शीतोष्णादियथालब्धं भुज्यते यन्मुमुक्षुभिः।
परगृहेऽशनं शुद्धं सैषणासमितिर्मता ॥३४९॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनिराज, दूसरे के घर में जाकर शीत या उष्ण जैसा मिल जाता है, वैसा शुद्ध भोजन करते हैं, इसी को 'एषणा समिति' कहते हैं।

मुक्ता यैरष्टभिर्दोषै-रेषणाशुद्धिरद्भुता।
निर्मला स्यात्प्रवक्ष्ये तान् पिण्डशुद्धिमलप्रदान् ॥३५०॥

अर्थ—आठ प्रकार के दोषों से रहित हो, वही 'एषणा शुद्धि' निर्मल कही जाती है। इसलिए पिंड शुद्धियों से मल उत्पन्न करने वाले उन दोषों को अब कहते हैं।

एषणा के आठ प्रकार के दोष—

षोडशैवोद्गमा दोषाः षोडशोत्पादनाभिधाः।
दशैवाशनदोषा हि दोषः संयोजनाह्वयः ॥३५१॥
अप्रमाणस्तथाङ्गारो धूमः कारणसंज्ञकः।
अमीभिरष्टभिर्दोषैः समासेन विवर्जितः ॥३५२॥

अर्थ—सोलह तो 'उद्गम दोष' कहलाते हैं, १६ 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं, १० भोजन के दोष कहे जाते हैं, १ संयोजन, १ अप्रमाण, १ अंगार, १ धूम और एक कारण। संक्षेप से इन ८ दोषों से रहित ही भोजन होना चाहिए।

अधःकर्मातिगा पिण्डशुद्धिः स्यादष्टधा परा।
निर्मला च मुमुक्षूणां कर्मास्त्रवनिरोधिनी ॥३५३॥

अर्थ—इस प्रकार अधःकर्म से रहित पिंडशुद्धि आठ प्रकार से मानी है। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को ऐसी पिंडशुद्धि ही निर्मल और कर्मों के आस्त्रव को रोकने वाली कही जाती है।

एतैर्दोषैर्बहिर्भूतो गृहिपाखंडिसंश्रितः।
योऽधः कर्मबृहद्दोषः षट्प्राणिवधकारकः ॥३५४॥

अर्थ—गृहस्थ और पाखंडियों के आश्रित रहने वाला तथा इन सब दोषों से भिन्न यह अधःकर्म नाम का सबसे बड़ा दोष है तथा यह दोष छहों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने वाला है।

नीचकर्मोद्भवस्त्याज्यो दूरतः सोऽत्र संयतैः।
पापभीतैर्महापापाकरोऽकीर्त्तिर्निबन्धनः ॥३५५॥

अर्थ—पापों से डरने वाले मुनियों को, नीच कर्मों से उत्पन्न हुआ आहार दूर से ही छोड़ देना चाहिए क्योंकि ऐसा आहार, महापाप उत्पन्न करने वाला है और अपकीर्ति का कारण है।

षड्विधाङ्गिनिकायानां मारणं च विराधनम्।
कृत्वा निष्पन्नमन्नं स्वयं कायेनाऽत्र यत्कृतम् ॥३५६॥
कारितं वचसा वानुमतेन सकलं च तत्।
नीचकर्मकरं निन्द्यमधःकर्म निगद्यते ॥३५७॥

अर्थ—छहों प्रकार के जीवों को स्वयं अपने हाथ से मारने अथवा उनकी विराधना करने से या वचन के द्वारा दूसरों से मरवाने या विराधना कराने से अथवा अनुमोदना करने से जो अन्न उत्पन्न होता है, ऐसे निंदनीय और नीच कर्म से उत्पन्न होने वाले अन्न को 'अधःकर्म' कहते हैं।

यह अधःकर्म महादोष है—

ज्ञात्वेत्ययं महादोषोऽत्रासंयतजनाश्रितः।
सर्वयत्नेन संत्याज्यः सदाऽधःकर्मसंज्ञकः ॥३५८॥

अर्थ—यह 'अधःकर्म' नाम का महादोष असंयमी लोगों से उत्पन्न होता है, इसलिए इस 'अधःकर्म' नाम के दोष को अपने पूर्ण प्रयत्नों से सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

सोलह उद्गम दोषों का वर्णन—

आद्य उद्देशको दोषो द्वितीयोऽध्यधिनामकः।
पूति-र्मिश्राभिधो दोषः स्थापितो बलिसंज्ञकः ॥३५९॥
प्रावर्तिताह्वयः प्राविष्करणः क्रीत एव च।
ततः प्रामिच्छदोषोऽथ परिवर्त्तकसंज्ञकः ॥३६०॥
दोषोऽभिघट उद्भिन्नो मालारोहसमाह्वयः।
आच्छेद्याख्योऽप्यनीशार्थो ऽमी दोषाः षोडशोद्गमाः ॥३६१॥

अर्थ—अब सोलह उद्गम दोषों को कहते हैं–(१) उद्देशिक (२) अध्यधि (३) पूति (४) मिश्र (५) स्थापित (६) बलि (७) प्रावर्तित (८) प्राविष्करण (९) क्रीत (१०) प्रामिच्छ (११) परिवर्त्तक (१२) अभिघट (१३) उद्भिन्न (१४) मालारोहण (१५) आच्छेद्य और (१६) अनीशार्थ ये सोलह 'उद्गम दोष' कहलाते हैं।

(१) उद्देशक दोष—

नागादिदेव-पाखंडिदीनाद्यर्थं च यत्कृतं।
उद्दिश्यान्नं गृहस्थैस्त-दुद्देशिकमिहोच्यते ॥३६२॥

अर्थ—गृहस्थों के द्वारा जो नागादि देवों के उद्देश्य से अथवा पाखंडियों के या दीन-हीन मनुष्यों के उद्देश्य से जो आहार तैयार किया जाता है, ऐसे आहार को लेना (१) 'उद्देशक दोष' कहलाता है।

सामान्यांश्च जनान् कांश्चित् तथा पाखण्डिनोऽखिलान्।
श्रमणांश्च परिव्राजकादीन्निर्ग्रन्थसंयतान् ॥३६३॥
उद्दिश्य यत्कृतं चान्नमुद्देशिकं चतुर्विधम्।
तत्सर्वं मुनिभिस्त्याज्यं पूर्वसावद्यदर्शनात् ॥३६४॥

अर्थ—एक तो अन्य सामान्य लोगों के लिए भोजन बनाया जाता है, दूसरे बहुत से पाखंडियों के लिए बनाया जाता है, तीसरे परिव्राजक साधुओं के लिए बनाया जाता है और चौथे निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए बनाया जाता है, जो चारों के उद्देश्य से आहार बनाया जाता है, वह चार प्रकार का 'उद्देशिक' कहलाता है। मुनियों को उस आहार के बनने के सब पापों को देखकर सबका त्याग कर देना चाहिए।

(२) अध्यधि दोष—

दानार्थं संयतान् दृष्ट्वा निक्षेपो यः स्वतण्डुले।
अन्येषां तण्डुलानां स दोषोऽध्यधिसमाह्वयः ॥३६५॥

अर्थ—आहार के लिए आते हुए संयमियों को देखकर पकते हुए अपने चावलों में किसी दूसरे के चावल और मिला देना 'अध्यधि' नाम का दोष कहलाता है।

अन्नपानादिकं मिश्रं यदप्रासुकवस्तुना।
पूतिदोषः स एव स्यात् पञ्च भेदोऽघकारकः॥३६६॥

अर्थ—जो अन्नपानादिक अप्रासुक वस्तु से मिला हो उसको 'पूति दोष' कहते हैं। यह 'पूति दोष' पाप उत्पन्न करने वाला है और उसके पाँच भेद हैं।

(३) पूति दोष—

रन्धन्युदूखलो दर्वीभाजनं गन्ध एव हि।
पूतिदोषा इमे ज्ञेया पञ्चसावद्यकारिणः ॥३६७॥

अर्थ—रंधनी (चूल्हा), उदूखल (ओखली), दर्वी (करछली), भाजन और गंध; ये पाँच प्रकार के 'पूति दोष' कहलाते हैं। ये सब पाप उत्पन्न करने वाले हैं।

रन्धन्या प्रवराहारं निष्पाद्य साधवे च यम्।
दास्याम्यादौ ततोऽन्येषां पूतिदोषः स उच्यते ॥३६८॥

अर्थ—इस चूल्हे पर सबसे उत्तम आहार बनाया है, इसे सबसे पहले किसी साधु के लिए दूँगा तदनंतर किसी दूसरे को दूँगा ऐसे आहार में 'पूति दोष' उत्पन्न होता है।

चूर्णयित्वा शुभं वस्तूदूखले योगिने न यत्।
यावद्दास्यामि नान्येभ्यस्तावत् पूतिः स कथ्यते ॥३६९॥

अर्थ—किसी ओखली में अच्छी वस्तु कूटकर विचार करना कि जब तक इसमें से मुनि को नहीं दे दूँगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूँगा, ऐसे आहार में भी 'पूति दोष' उत्पन्न होता है।

दर्व्यानयाकृतं द्रव्यं यावद्दास्यामि नोऽर्जितम्।
ऋषिभ्योऽन्यस्य तावन्न पूतिदोषः स पापकृत् ॥३७०॥

अर्थ—इस करछली से यह श्रेष्ठ द्रव्य बनाया है, जब तक इस करछली से ऋषियों को नहीं दे लूँगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूँगा, इस प्रकार के अन्न में पाप उत्पन्न करने वाला 'पूति दोष' होता है।

ददामि भाजनं यावत् साधुभ्यो न शुभावहम्।
इदं तावन्न चान्येषां योग्यं पूतिः स एव हि ॥३७१॥

अर्थ—इस भाजन में से जब तक साधुओं को नहीं दूँगा तब तक दूसरों को नहीं दूँगा ऐसे भाजन में भी 'पूति दोष' प्रकट होता है।

यतिभ्यो दीयते नायं गन्धो भोजनपूर्वकः।
यावत्तावन्न योग्योऽत्र स्वान्येषां पूतिरेव सः ॥३७२॥

अर्थ—इस गंध में से जब तक आहार देकर मुनियों को न चढ़ा लूँगा तब तक यह गंध दूसरों को नहीं दूँगा, इस प्रकार के अन्न में भी 'पूति दोष' होता है।

प्रथमारम्भसंजातमिदमाहारमञ्जसा ।
यतिभिः परिहर्त्तव्यं दातृसङ्कल्पदोषजं ॥३७३॥

अर्थ—अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ से प्रथम आरंभ हुआ, प्रथम ही बनाया हुआ भोजन मुनियों को ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें दाता के संकल्प का दोष उत्पन्न हो जाता है।

(४) मिश्र दोष—

मुनिभ्यो दातुमुद्दिष्टं निष्पन्नमशनं च यत्।
सार्द्धं पाखण्डिसागारैः मिश्रदोषोऽत्र सोऽघदः ॥३७४॥

अर्थ—मुनियों को देने के उद्देश्य से पाखंडी, गृहस्थों के साथ-साथ जो अन्न तैयार किया गया है, उसमें 'मिश्र' नाम का दोष उत्पन्न होता है।

(५) स्थापित दोष—

पाकभाजनतोऽन्यस्मिन् भाजने स्थापितं च यत्।
अन्नं स्वान्यस्य गेहे वा सदोषः स्थापिताह्वयः ॥३७५॥

अर्थ—जिस बर्तन में भोजन बनाया गया हो, उसमें से लेकर यदि किसी दूसरे बर्तन में रख दिया गया हो, चाहे वह अपने घर में रखा हो, और चाहे दूसरों के घर में रख दिया हो, ऐसे अन्न के लेने में 'स्थापित' नाम का दोष होता है।

(६) बलि दोष—

यक्षनागादिदेवानां निमित्तं यः कृतो बलिः।
तस्य शेषः स प्रज्ञप्त उपचारेण भो बलिः ॥३७६॥

अर्थ—किसी यक्ष, नाग आदि देवों के लिए जो अन्न तैयार किया जाता है उसमें से उनको देकर जो बचा रहता है, उसको उपचार से 'बलि' कहते हैं।

संयतागमनार्थं यद् बलिकर्म विधीयते।
अर्घांबुक्षेपणाद्यैर्वा बलिदोषः स उच्यते ॥३७७॥

अर्थ—अथवा संयमियों के आने के लिए अर्घ, जल क्षेपणादि के द्वारा जो बलिकर्म किया जाता है, वह भी 'बलि' नाम का दोष कहा जाता है।

(७) प्रावर्तित दोष—

द्विधा प्राभृतकं बादरसूक्ष्माभ्यां प्रकीर्त्तितम्।
बादरं द्विविधं कालहानिवृद्धिद्विभेदतः ॥३७८॥
सूक्ष्मं प्राभृतकं द्वेधोक्तं कालहानिवृद्धितः।
अमीषां विस्तरेणैतान् भेदान् श‍ृणु ब्रुवेऽधुना ॥३७९॥

अर्थ—प्राभृत दोष के दो भेद होते हैं एक बादर और दूसरा सूक्ष्म। काल की हानि और वृद्धि के भेद से बादर प्राभृत के साथ सूक्ष्म प्राभृत के भी दो भेद हैं। अब आगे इन्हीं सब भेदों का स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं तुम सुनो।

परावृत्य दिनं पक्षं मासं वर्षं च दीयते।
वारं यद्दिवसाद्यैस्तत् स्थूलं प्राभृतकं द्विधा ॥३८०॥
वेलां पूर्वाह्णमध्याह्नाऽपराह्णानां विहाय यत्।
ददाति हानिवृद्धिभ्यां सूक्ष्मं प्राभृतकं च तत् ॥३८१॥

अर्थ—जो दान आज देना हो, उसे कल वा परसों देना अथवा जो दान कल परसों देना हो उसको किसी मुनि के आने पर आज ही देना 'दिवस परावृत्य' नाम का 'स्थूल प्राभृत' दोष है। जो दान शुक्लपक्ष में देना हो, उसे कृष्णपक्ष में देना अथवा जो कृष्णपक्ष में देना हो, उसको शुक्लपक्ष में देना 'पक्ष परावृत्य' नाम का स्थूल प्राभृत दोष है। इसी प्रकार जो दान चैत्र में देना हो उसे वैशाख में देना अथवा वैशाख में देना हो उसे चैत्र में ही देना 'मास परावृत्य' नाम का स्थूल प्राभृत दोष है। जो दान अगले वर्ष में देना हो, उसे इसी वर्ष में देना तथा इसी वर्ष में देना हो उसे आगे के वर्ष में

देना 'वर्ष परावृत्य प्राभृत' नाम का स्थूल दोष है। जो दान शाम को देना चाहिए उसको किसी संयमी के आ जाने पर सवेरे ही देना अथवा सवेरे देना चाहिए उसको शाम को देना या दोपहर को देना, दोपहर के देने योग्य दान को सवेरे या शाम को देना, इस प्रकार किसी संयमी के आने पर सवेरे, दोपहर, शाम को देने योग्य दान को बदल कर देना, 'सूक्ष्म प्राभृत' नाम का दोष है।

इमं प्रावर्तितं दोषं हिंसासंक्लेशकारणम्।
त्यजन्तु सर्वथा सर्वं बहुभेदं शिवार्थिनः ॥३८२॥

अर्थ—इस प्रकार काल की मर्यादा के बदलने में हिंसा अधिक होती है और परिणामों में संक्लेशता बढ़ती है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अनेक प्रकार का यह 'प्राभृत' नाम का दोष सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(८) प्राविष्कार दोष—

प्राविष्कारो द्विधा संक्रमणप्रकाशनाद्भुवि।
भाजनानां तथा भोजनादीनां चाघकारकः ॥३८३॥

अर्थ—'प्राविष्कार' नाम के दोष के दो भेद हैं जो कि 'संक्रमण' करने और 'प्रकाश' करने से उत्पन्न होते हैं। आहार और बर्तनों को बदलने, स्थानांतर करने अथवा प्रकाशित करने में पाप उत्पन्न होता है, इसलिए इसको दोष माना है।

आहारभाजनादीना - मन्यस्माच्च प्रदेशतः।
अन्यत्र नयनं भस्मादिनिमार्जनं च यत् ॥३८४॥
प्रदीपज्वालनं मण्डपादेः प्रद्योतनं हि सः।
प्राविष्कारोऽखिलो दोषः पापारम्भादिवर्धकः ॥३८५॥

अर्थ—आहार और बर्तनों को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में ले जाना अथवा बर्तनों को भस्म से मांजना अथवा दीपक जलाकर मंडप को प्रकाशित करना या घर में प्रकाश करना 'प्राविष्कार' नाम का दोष है। यह दोष पाप और आरम्भ को बढ़ाने वाला है, इसलिए इसका त्याग कर देना चाहिए।

(९) क्रीत दोष—

स्वकीयं परकीयं वा द्रव्यं यच्चेतनेतरम्।
दत्त्वा प्रगृह्य चाहारं पात्रेभ्यो दीयते तथा ॥३८६॥
स्वमन्त्रं परमन्त्रं वा दत्त्वाऽऽदायाशनं च यत्।
तत् सर्वं क्रीत-दोषं च जानीहि क्लेशपापदम् ॥३८७॥

अर्थ—अपने वा दूसरों के गाय, भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रुपया-पैसा आदि अचेतन पदार्थों को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीतदोष' है अथवा अपने या पर के

मंत्र को देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीत दोष' है। यह दोष भी क्लेश और पाप को उत्पन्न करने वाला है।

(१०) प्रामिच्छ दोष—

ऋणेनानीय दाता यत्परान्नं परगेहतः।
भक्त्या ददाति पात्राय दोषः प्रामिच्छ एव सः ॥३८८॥

अर्थ—जो दाता दूसरे के घर से कर्ज के रूप में दाल, चावल, रोटी आदि लाता है और उसे भक्तिपूर्वक मुनियों को देता है उसके 'प्रामिच्छ' नाम का दोष लगता है।

(११) परिवर्तक दोष—

स्वान्नं दत्त्वाऽन्यगेहादानीयान्नं प्रवरं च यत्।
यतिभ्यो दीयते भक्त्या स दोषः परिवर्तकः ॥३८९॥

अर्थ—जो दाता अपने भात या रोटी को देकर दूसरे के घर से मुनियों को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात, रोटी लेकर भक्तिपूर्वक मुनियों को देता है, उसको 'परिवर्तक' नाम का दोष लगता है।

(१२) अभिघट दोष—

द्विधाऽभिघटमत्रोक्तं देशसर्वप्रभेदतः।
तद्देशाभिघटं द्वेधा योग्यायोग्यप्रकारतः ॥३९०॥

अर्थ—'अभिघट' दोष के दो भेद हैं—एक 'देशाभिघट' और दूसरा 'सर्वाभिघट' उसमें जो देशाभिघट के दो भेद हैं—एक योग्य और दूसरा अयोग्य।

द्वित्र्यादिसप्तगेहेभ्यः पङ्क्तिरूपेण वस्तु यत्।
आगतं चान्नपानादि तद्योग्यं योगिनां मतम् ॥३९१॥

अर्थ—जो अन्न, पान पंक्ति रूप में रहने वाले दो, तीन आदि सात घरों से आया है, वह मुनियों के लिए 'योग्य' माना जाता है।

यस्मात् कस्माद् गृहात् पङ्क्त्या विना वाष्टमगेहतः।
आहारादि यदानीतं ग्रहणायोग्यमेव तत् ॥३९२॥

अर्थ—जो अन्न-पान बिना पंक्ति रूप से बने हुए जिस किसी घर से लाया गया है अथवा आठवें, नौवें घर से लाया गया है, वह मुनियों के ग्रहण करने के 'अयोग्य' समझा जाता है।

स्वग्रामाच्च परग्रामात् स्वदेशात्परदेशतः।
आगतं चान्नवस्त्वादि सर्वाभिघटमेव तत्॥३९३॥

अर्थ—जो अन्न-पान अपने गाँव से आया है अथवा दूसरे गाँव से आया है या अपने देश से आया है या दूसरे देश से आया है, ऐसे अन्न-पान को देना 'सर्वाभिघट' नाम का दोष कहलाता है।

चतुर्विधं परिज्ञेयं स्वपाटकान्यपाटकात्।
ओदनादियदानीतं स्वग्रामाभिघटं हि तत् ॥३९४॥

अर्थ—इस प्रकार 'सर्वाभिघट' दोष के चार भेद हैं–(१) स्वग्रामाभिघट (२) परग्रामाभिघट (३) स्वदेशाभिघट (४) परदेशाभिघट। एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में लाना (१) 'स्वग्रामाभिघट' है और पर ग्राम से अपने ग्राम में लाना (२) 'परग्रामाभिघट' है। अपने देश से गाँव में लाना (३) 'स्वदेशाभिघट' है और परदेश से गाँव में लाना 'परदेशाभिघट' है।

एष सर्वोऽपि संत्याज्यो दोषोऽभिघटसंज्ञकः।
संयतैः संयमार्थं हि यातायाताङ्गिबाधनात् ॥३९५॥

अर्थ—इन सब दोषों में आने-जाने में जीवों को बाधा होती है इसलिए संयमियों को अपना संयम पालन करने के लिए सब तरह के 'अभिघट' दोषों का त्याग कर देना चाहिए।

(१३) उद्भिन्न दोष—

घृतादिभाजनं कर्दमादिना मुद्रितं वृतम्।
उद्भिद्य यच्च देयं स उद्भिन्नदोषनामकः ॥३९६॥

अर्थ—जौ, घी, गुड़, शक्कर का पात्र किसी से ढका हो या कीचड़ आदि से आच्छादित हो रहा हो, उसको उघाड़ कर मुनियों को देना 'उद्भिन्न' नाम का दोष कहलाता है। ढके हुए में भी चींटी आदि चढ़ सकती है, इसलिए यह दोष माना है।

(१४) मालारोहण दोष—

निःश्रेण्यादिकमारुह्य द्वितीयगृहभूमितः।
आनीतं वस्तु यद्देयं स मालारोहणो मलः ॥३९७॥

अर्थ—जो अन्न, पान नसैनी पर चढ़कर या उतरकर ऊँची या नीची दूसरे की भूमि पर से लाकर, मुनियों को दिया जाता है, उसमें 'मालारोहण' दोष लगता है। इसमें दाता का अपाय होता है।

(१५) आच्छेद्य दोष—

संयतागमनं दृष्ट्वा राजचौरादिजाद्भयात्।
जनैर्यद्दीयते दानमाच्छेद्य दोष एव सः ॥३९८॥

अर्थ—मुनियों के आगमन को देखकर राजा या चोरों के भय से जो लोगों के द्वारा मुनियों को दान दिया जाता है उसको 'आच्छेद्य' दोष कहते हैं (यदि दान न दोगे तो हम तुम्हारा धन लूट लेंगे या तुम्हें निकाल देंगे) इस प्रकार के डर से, डर कर दान देना 'आच्छेद्य' दोष है।

(१६) अनीशार्थ नामक दोष—

सारक्ष्येणेश्वरेणैवा नीश्वरेण च दीयते।
व्यक्ताव्यक्तेन दानं यद्दोषोऽनीशार्थ एव सः ॥३९९॥

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त के भेद से ईश्वर के अर्थात् स्वामी वा प्रभु के दो भेद हैं व्यक्त या अव्यक्त के भेद से 'अनीश्वर' के दो भेद हैं। यदि किसी के निषेध करने पर भी दान दे तो उसके 'अनीशार्थ' नाम का दोष लगता है।

ऐसा क्यों इसका कारण—

एको दानं ददात्यन्यो निषेधयति यद्भुवि।
इत्यादि सोऽखिलो ज्ञेयो दोषोऽनीशार्थ संज्ञकः ॥४००॥

अर्थ—इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है। इस प्रकार के दान में 'अनीशार्थ' नाम का दोष लगता है।

सभी सोलह उद्गम दोषों के त्याग की आवश्यकता—

उद्गमाख्या अभी दोषा दातृपात्रजनाश्रिताः।
षोडशैव परित्याज्याः सद्भिः क्लेशाघकारिणः॥४०१॥

अर्थ—इस प्रकार ये 'उद्गम' नाम के सोलह दोष हैं। ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित हैं और क्लेश तथा पाप उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिए सज्जनों को इन सब दोषों का त्याग कर देना चाहिए।

सोलह उत्पादन दोष—

धात्री दूतो निमित्ताख्यो दोष आजीवनाह्वयः।
वनीपकवचो दोषश्चिकित्सादोष एव च ॥४०२॥
क्रोधो मानं तथा माया लोभश्च पूर्वसंस्तुतिः।
पश्चात्संस्तुतिदोषोऽथ विद्यामन्त्रसमाह्वयः ॥४०३॥
चूर्णयोगाभिधो मूल-कर्मैते षोडशाऽशुभाः।
ज्ञेयाः पात्राश्रिता दोषा उत्पादनसमाह्वयाः ॥४०४॥

अर्थ—आगे सोलह उत्पादन दोषों को कहते हैं—ये पात्र के आश्रित होते हैं। उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—(१) धात्री (२) दूत (३) निमित्त (४) आजीवन (५) वनीपक वचन (६) चिकित्सा (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) पूर्वसंस्तुति (१२) पश्चात्संस्तुति (१३) विद्या (१४) मंत्र (१५) चूर्ण योग और (१६) मूलकर्म।

(१) धात्री दोष—

मज्जनं मण्डनं क्रीडनं क्षीरपानकारणम्।
तथा स्वापविधिं बालकानां युक्तोपदेशनैः ॥४०५॥
गृहिणामुपदिश्योत्पाद्यान्नं धात्रीव यद्भुवि।
संयतैर्गृह्यते निन्द्यं धात्रीदोषः स चोच्यते ॥४०६॥

अर्थ—जो मुनि गृहस्थों को युक्तिपूर्वक धाय के समान बच्चों को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, क्रीड़ा कराने, दूध पिलाने और सुलाने आदि की विधि का उपदेश देकर निंद्य रीति से अन्न उत्पन्न कर ग्रहण करते हैं उनके निंदनीय 'धात्री' नाम का दोष उत्पन्न होता है।

(२) दूतकर्म दोष—

स्वापरग्रामदेशादिभ्योऽत्र सागारिणां क्वचित्।
आनीय शुभसन्देशं निवेद्य तेन गेहिभिः ॥४०७॥
जातहर्षैः प्रदत्तं यदन्नदानमयुक्तिजम्।
भुज्यते साधुभिर्दूतदोषः स दूतकर्मकृत् ॥४०८॥

अर्थ—जो मुनि अपने देश से या दूसरे देश से तथा अपने या दूसरे के ग्राम से गृहस्थों के शुभ समाचार लाता है तथा जहाँ जाता है वहाँ के गृहस्थों से उन समाचारों को कहता है, उन समाचारों को सुनकर हर्षित हुए उन गृहस्थों के द्वारा दिए हुए दान को स्वीकार करता है, उस साधु के दूतकर्म करने वाला 'दूत' नाम का दोष लगता है।

(३) निमित्त नाम का दोष—

व्यंजनाङ्गे स्वरः छिन्नो भौमान्तरीक्षसंज्ञकौ।
लक्षणं च ततः स्वप्नं निमित्तमष्टधेति वै ॥४०९॥
एतैरष्टनिमित्तोपदेशैरुत्पाद्य साधुभिः।
भिक्षाया गृह्यते लोके निमित्तदोष एव सः ॥४१०॥

अर्थ—(१) मसा, तिल व्यंजन (२) मस्तकादि अंग (३) शब्दरूप स्वर (४) वस्त्रादि का छेद वा तलवारादि का प्रहार छिन्न (५) भौम (६) अंतरीक्ष (७) पद्मादि लक्षण और (८) स्वप्न ये आठ प्रकार के निमित्त माने हैं। इन आठ प्रकार के निमित्तों का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है, उसके निमित्त नाम का दोष लगता है। (इस दोष से रसास्वादन की लोलुपता और दीनता का दोष लगता है)।

(४) आजीवन दोष—

जातिं कुलं तपः शिल्पकर्म निर्दिश्य चात्मनः।
करोत्याजीवनं योऽत्र स आजीवनदोषभाक् ॥४११॥

अर्थ—जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप और शिल्पकर्म या हाथ की कलाओं का उपदेश देकर या जाति-कुल को बतलाकर अपनी आजीविका करता है, उसको आजीवन नाम का दोष लगता है।

(५) वनीपक वचन दोष—

पाषण्डिकृपणादीनामतिथीनां च दानतः।
पुण्यं भवेन्न चात्रेति पृष्टो दात्रा मुनिः क्वचित् ॥४१२॥

पुण्यं भवेदिदं चोक्त्वा ह्यनुकूलं वचोऽशुभम्।
दातुर्गृह्णाति दानं यो दोषो वनीपकोऽपि सः ॥४१३॥

अर्थ—यदि कोई गृहस्थ किसी मुनि से यह पूछे कि पाखंडियों को, कृपण या कोढ़ी आदि को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणों को दान देने में पुण्य होता है या नहीं? इसके उत्तर में वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह कह दे कि हाँ, पुण्य होता है। इस प्रकार अशुभ वचन कहकर उसी दाता के द्वारा दिए हुए दान को ग्रहण करता है उसके वनीपक नाम का दोष लगता है।

(६) चिकित्सा दोष—

अष्टभेदैश्चिकित्साशास्त्रैः कृत्वोपकृतिः नृणाम्।
भिक्षुभिर्गृह्यतेऽन्नं यच्चिकित्सादोष एव सः॥४१४॥

अर्थ—चिकित्सा शास्त्रों में बाल, शरीर, रसायन, विष, भूत, क्षार, शलाका, शल्य चिकित्सा आठ प्रकार की चिकित्सा बतलाई है, उनके द्वारा मनुष्यों का उपकार कर जो मुनि उन्हीं के द्वारा दिए हुए अन्न को ग्रहण करता है, उसके चिकित्सा नाम का दोष लगता है।

(७) क्रोध और (८) मान दोष—

क्रोधेनोत्पाद्यते भिक्षा या क्रोधदोष एव सः।
मानेनोत्पाद्यतेऽन्नं यन्मानदोषः स एव हि ॥४१५॥

अर्थ—क्रोध दिखलाकर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है, उसमें 'क्रोध' नाम का दोष उत्पन्न होता है। अपना अभिमान दिखलाकर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है उसमें मान नाम का दोष लगता है।

(९) माया नामक दोष—

माया कौटिल्यभावं च कृत्वाहारादिकं भुवि।
उत्पाद्य भुज्यते यैस्तेषां मायादोष एव हि ॥४१६॥

अर्थ—मायाचारी या कुटिल परिणामों को धारण कर जो आहार उत्पन्न कर ग्रहण किया जाता है उसमें माया नाम का दोष लगता है।

(१०) लोभ दोष—

लोभं प्रदर्श्य भिक्षां यः उत्पादयति भूतले।
स्वात्मनो लोभिनस्तस्य लोभदोषोऽशुभप्रदः ॥४१७॥

अर्थ—जो मुनि अपना कोई लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न कर ग्रहण करता है उस लोभी मुनि के पाप उत्पन्न करने वाला 'लोभ' नाम का दोष लगता है।

प्रत्येक के उदाहरण (७) क्रोध दोष—

पत्तने हस्तिकल्पाख्ये कश्चित्साधुः कुमार्गगः।
भिक्षामुत्पादयामास क्रोधेन गृहनायकात् ॥४१८॥

अर्थ—हस्तिकल्प नाम के नगर में किसी कुमार्गगामी साधु ने किसी गृहस्थ से अपना 'क्रोध' दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी।

(८) अभिमान दोष का उदाहरण—

वेणातटपुरेऽन्यो भिक्षामुत्पादितवान् मुनिः।
मानेन स्वस्य दुर्मार्गगतो मानी गृहस्थतः ॥४१९॥

अर्थ—वेणातट नाम के नगर में कुमार्ग में चलने वाले किसी अभिमानी मुनि ने अपना अभिमान दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी।

(९) माया दोष का उदाहरण—

वाराणस्यां तथा कश्चित् सलोभः संयतो बुधः।
मायया स्वस्य चाहारमाविश्चक्रेऽतिनिन्दतम् ॥४२०॥

अर्थ—वाराणसी नगरी में किसी बुद्धिमान् लोभी मुनि ने अपनी मायाचारी प्रकट कर निंदनीय आहार उत्पन्न किया था।

(१०) लोभ दोष का उदाहरण—

तथान्यः संयतः कश्चिद्राशियानाभिधे पुरे।
लोभं प्रदर्श्य पुंसां भिक्षामुत्पादितवान् क्वचित् ॥४२१॥

अर्थ—इसी प्रकार राशियाना नाम के नगर में किसी अन्य साधु ने लोगों को अपना लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी।

चारों द्रव्यलिंगी मुनियों की कथा का सार—

क्रोधादि-कारिणामेषां चतुर्णां द्रव्यलिङ्गिनाम्।
चतस्रो हि कथा ज्ञेयाः प्रसिद्धाः श्रीजिनागमे ॥४२२॥

अर्थ—क्रोधादि चारों कषायों को प्रकट करने वाले इन चारों द्रव्यलिंगी मुनियों की चारों प्रसिद्ध कथाएँ श्रीजिनागम से जान लेनी चाहिए।

(११) पूर्वसंस्तुति दोष—

ब्रूयते यद्यशोदानग्रहणात् पूर्वमूर्जितम्।
दातुरग्रे सुदानाय स दोषः पूर्वसंस्तुतिः ॥४२३॥

अर्थ—जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से उसी दाता के सामने उसका श्रेष्ठ यश वर्णन करता है, उसके पूर्वसंस्तुति नाम का दोष प्रकट होता है।

(१२) पश्चात्संस्तुति दोष—

दातुः स्तौति गिरा यः स पश्चात् संस्तुतिदोषभाक्।
गृहीत्वा पुरतो दानं पश्चाद्दानादिजान् गुणान् ॥४२४॥

अर्थ—जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा, दाता के दिए हुए उस दान के गुणों की प्रशंसा करता है, उसके 'पश्चात् संस्तुति' नाम का दोष लगता है।

(१३) विद्या नाम का दोष—

विद्यां साधयितुं सारं ते दास्यामीति यो मुनिः।
आशयोत्पादयेद् भिक्षां विद्यादोषोऽत्र तस्य च ॥४२५॥

अर्थ—जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि "मैं तुझे सिद्ध करने के लिए एक अच्छी विद्या दूँगा" इस प्रकार आशा दिलाकर जो भिक्षा उत्पन्न करता है, उसके 'विद्या' नाम का दोष लगता है।

(१४) मंत्र नाम का दोष—

गृहिणां सिद्धसन्मन्त्रदानाशाकरणादिना।
उत्पाद्य गृह्यतेऽन्नं यन्मन्त्रदोषः स दोषदः ॥४२६॥

अर्थ—जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्ध किये हुए मंत्र को देने की आशा दिलाकर आहार ग्रहण करता है, उसके 'मंत्र' नाम का दोष लगता है।

(१५) चूर्ण नाम का दोष—

नेत्राञ्जनवपुः संस्कारहेतुचूर्णदानतः ।
या भिक्षोत्पाद्यते लोके चूर्णदोषो हि सोऽघदः ॥४२७॥

अर्थ—जो मुनि नेत्रों का अंजन अथवा शरीर का संस्कार करने वाला कोई चूर्ण देकर, लोक में भिक्षा उत्पन्न करता है, उसके 'चूर्ण' नाम का दोष लगता है। यह दोष महापाप को उत्पन्न करने वाला है।

(१६) मूल नाम का दोष—

दानाय क्रियते यद्धि वशीकरणमञ्जसा।
अवशानां जनानां च माया वाक्यादिजल्पनैः ॥४२८॥
योजनं विप्रयुक्तानां तथाऽनुष्ठीयते भुवि।
यत्तत्सर्वं भवेन्मूलकर्मदोषोऽशुभप्रदम् ॥४२९॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने वश नहीं है, उनको मायाचारी के वचन कहकर अथवा और किसी तरह से दान देने के लिए वश कर लेना अथवा मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते हैं और दान नहीं देते, दान से अलग रहते हैं, उनको अपने दान के लिए लगा देना पाप उत्पन्न करने वाला 'मूल कर्म' नाम का दोष कहलाता है।

उपसंहार—

एते पात्राश्रिता दोषाः षोडशोत्पादनाह्वयाः।
यतिभिर्यत्नतो हेया अधःकर्मांशदोषदाः ॥४३०॥

अर्थ—ये सोलह 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं और पात्रों के आश्रित रहते हैं तथा इन दोषों में 'अधःकर्म' नाम के दोष का भाव अवश्य रहता है। इसलिए मुनि को यत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिए।

दस अशन दोषों के नाम—

शंकितो मृषितो दोषो निक्षिप्तः पिहिताभिधः।
दोषोऽथ व्यवहाराख्यो दायकोन्मिश्रसंज्ञकौ ॥४३१॥
तथा परिणतो लिप्तः परित्यजननामकः।
दशैतेऽशनदोषा हि यत्नात्त्याज्या मुमुक्षुभिः ॥४३२॥

अर्थ—आगे दश अशन दोषों को कहते हैं। (१) शंकित (२) मृषित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) व्यवहार (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) परिणत (९) लिप्त और (१०) परित्यजन ये दस अशन के दोष हैं। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को यत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिए।

(१) शंकित नामक दोष—

एतच्चतुर्विधाहारंकिमधःकर्मणोद्भवम् ।
न वेति शङ्कया भुंक्ते यः स शंकितदोषवान् ॥४३३॥

अर्थ—यह चार प्रकार का आहार अधःकर्म से उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं इस प्रकार की शंका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है उसके (१) 'शंकित' नाम का दोष लगता है।

(२) मृषित नाम का दोष—

कडच्छुकेन हस्तेन स्निग्धेन भाजनेन च।
यद्देयं गृह्यते लोके दोषो मृषित एव सः ॥४३४॥

अर्थ—जो साधु चिकने बर्तन से या चिकने हाथ से अथवा चिकनी करछली से दिए हुए आहार को ग्रहण कर लेता है, उसके (२) 'मृषित' नाम का दोष लगता है। चिकनी करछली आदि में सम्मूर्च्छन जीवों की संभावना रहती है इसीलिए यह दोष है।

(३) निक्षिप्त नामक दोष

पृथ्व्यादिषु सचित्तेषु तेजोऽन्तेषु त्रसेषु च।
हरितेषु च बीजेषु चेतना लक्षणात्मसु ॥४३५॥
यद्देयं वस्तु निक्षिप्तं साधुभ्यो दीयते जनैः।
सचित्तदोषदो निन्द्यो दोषो निक्षिप्त एव सः ॥४३६॥

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, सचित्त हरित, सचित्त बीज अथवा त्रस जीवों पर रखे हों, ऐसे पदार्थों को जो लोग दान देते हैं उनके 'सचित्त' दोष को उत्पन्न करने वाला निंद्य (३) 'निक्षिप्त' नाम का दोष लगता है।

(४) पिहित नामक दोष—

सचित्तेनाप्यचित्तेन गुरुकेण च वावृतम्।
दीयते मुनये दानं यद्दोषः पिहितोऽत्र सः ॥४३७॥

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ किसी सचित्त पदार्थ से ढके हों अर्थात् भारी अचित्त पदार्थ से ढके हों ऐसे पदार्थों को मुनियों के लिए देना (४) 'पिहित' नाम का दोष कहलाता है।

(५) व्यवहार नामक दोष—

दानाय व्यवसायं चेल-भाजनादिकात्मनाम्।
कृत्वा विधीयते दानं यत्स्यात् सः व्यवहारजः ॥४३८॥

अर्थ—दान देने के लिए जो वस्त्र, बर्तन आदि को झटपट बेचकर आहार तैयार करता है, उसके (५) 'व्यवहार' नाम का दोष लगता है।

(६) दायक दूषण—

सूती शौंडी तथा रोगी मृतकश्च नपुंसकः।
पिशाचो नग्न एवाज्ञ उच्चारः पतितस्ततः ॥४३९॥
वांतोङ्गी रुधिराक्तांगः वेश्या दासी तथार्यिका।
अतिबालातिवृद्धा रामांगाभ्यंगणकारिणी ॥४४०॥
उच्छिष्टा गर्भिणी चान्धलिका ह्यन्तरिताङ्गना।
उपविष्टा तथोच्चस्था नीचप्रदेशसंस्थिता ॥४४१॥
एवंविधो नरः स्त्री वा यदि दानं ददाति च।
तदा दायकदोषः स्यान्मुनेस्तत्सेविनोऽशुभः ॥४४२॥

अर्थ—जो बच्चों को खिलाने वाला हो, जो मद्यपान का लंपटी हो, रोगी हो, जो किसी मृतक के साथ श्मशान में जाकर आया हो, अथवा जिसके घर कोई मर गया हो, जो नपुंसक हो, जिसे भूतप्रेत की बाधा हो, जो वस्त्र न पहने हो नग्न हो (अज्ञानी हो) जो मलमूत्र करके आया हो, जो मूर्च्छित हो, पतित हो, जो वमन करके आया हो, जिसके शरीर पर रुधिर लगा हो, जो वेश्या हो, दासी हो, आर्यिका हो या लाल वस्त्र पहनने वाली हो, जो स्नान, उबटन करने वाली हो, जो अत्यन्त बालक, स्त्री या मुग्धा हो, जो अत्यन्त वृद्धा हो, जो खाकर आई हो, जो ५ महीने से अधिक गर्भिणी हो, अंधी हो, दीवार के बाहर रहने वाली हो, जो बैठी हो, किसी ऊँची जगह या नीची जगह पर

बैठी हो, ऐसी चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष हो, ऐसा पुरुष या स्त्री दान दे और मुनि लें तो उनके (६) 'दायक' नाम का पाप उत्पन्न करने वाला दोष उत्पन्न होता है।

पुनः दायक दोष—

वह्नौ संधुक्षणं प्रज्वालनमुत्कर्षणं तथा।
प्रच्छादनं च विध्यापनं निर्वातं च घट्टनम् ॥४४३॥
इत्याद्यग्निकार्यं च कृत्वारम्भं हि याऽऽगता।
तस्या हस्तेन न ग्राह्यं दानं दायकदोषदम् ॥४४४॥

अर्थ—जो स्त्री या पुरुष अग्नि को जलाकर आया हो, अग्नि फूँककर आया हो, अग्नि में अधिक लकड़ी डालकर आया हो, अग्नि को भस्म से दबाकर आया हो या बुझाकर आया हो या अग्नि से लकड़ियों को अलग करके आया हो अथवा अग्नि को मिट्टी आदि से रगड़कर आया हो, इस प्रकार जो अग्नि के कार्य को करके आया हो और दान देने के प्रारम्भ में ही आ गया हो उसके हाथ से दान नहीं लेना चाहिए क्योंकि उसमें भी 'दायक' दोष उत्पन्न होता है।

पुनः दायक दोष—

लेपनं मार्जनं स्नानादिकं कर्म विधाय च।
स्तनपानं पिबन्तं बालकं निक्षिप्य याऽऽगता ॥४४५॥
इत्याद्य परसावद्यकर्म कृत्वाऽत्र दातृभिः।
दानं यद्दीयते सर्वो दोषः स दायकाभिधः ॥४४६॥

अर्थ—जो स्त्री लीप कर आई हो, दीवाल आदि झाड़कर आई हो, किसी को स्नान करा कर आई हो, स्तनपान करते हुए बालक को छोड़कर आई हो तथा इसी प्रकार के पापरूप कार्यों को करके जो स्त्री वा पुरुष आया हो, ऐसे दाता के द्वारा जो दान दिया जाता है, उस सब में 'दायक' नाम का दोष प्रकट होता है। ऐसे दाता के हाथ से मुनियों को दान कभी नहीं लेना चाहिए।

(७) उन्मिश्र दोष—

पृथ्व्याम्बुना च बीजेन हरितेन त्रसाङ्गिभिः।
यो देयो मिश्र आहारो दोषश्चोन्मिश्र एव सः ॥४४७॥

अर्थ—जिस आहार में सचित्त पृथ्वी, जल, बीज, हरित वनस्पति और त्रसजीव मिले हों, ऐसे आहार को लेना (७) 'उन्मिश्र' दोष है।

(८) परिणत दोष—

तिलोदकं तथा तण्डुलोदकं चणकोदकम्।
तुषोदकं चिरान्नीरं तप्तं शीतत्वमागतम् ॥४४८॥

विभीतकहरीतक्यादिकचूर्णैस्तथाविधम् ।
स्वात्मीयरसवर्णादिभिश्चापरिणतं जलम् ॥४४९॥
न ग्राह्यं संयतैर्जातु सदा ग्राह्याणि तानि च।
परीक्ष्य चक्षुषा सर्वाण्यहो परिणतानि च ॥४५०॥

अर्थ—तिलों के धोने का पानी, चावलों के धोने का पानी, चनों के धोने का पानी, चावलों की भूसी के धोने का पानी तथा जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठंडा हो गया हो तथा हरड़, बहेड़ा के चूर्ण से अपने रस वर्ण को बदल न सका हो, ये सब प्रकार के जल संयमियों को कभी ग्रहण नहीं करने चाहिए। जिस जल का वर्ण या रस किसी चूर्ण आदि से बदल गया हो, ऐसा जल आँख से अच्छी तरह देखकर परीक्षा कर संयमियों को ग्रहण करना चाहिए।

किस तरह का जल ग्राह्य है—

संतप्तं वा जलं ग्राह्यं कृतादिदोषदूरगम्।
तथा परिणतं द्रव्यै-र्नानावर्णैर्मुमुक्षुभिः ॥४५१॥

अर्थ—अथवा मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमियों को कृत, कारित, अनुमोदना आदि के दोषों से रहित गरम जल ग्रहण करना चाहिए अथवा अनेक वर्ण के द्रव्यों से (हरड़, इलायची आदि के चूर्ण से) जिसका रूप, रस बदल गया हो, ऐसा जल ग्रहण करना चाहिए।

अपरिणत दोष—

योऽत्रापरिणतान्येव तानि गृह्णाति मूढधीः।
तस्याऽपरिणतो दोषो जायते सत्त्वघातकः ॥४५२॥

अर्थ— जिस जल का रूप रस नहीं बदला है, किसी चूर्ण के मिलाने पर भी रूप, रस नहीं बदला है या गर्म करने से स्पर्श नहीं बदला है, ऐसा जल जो अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है, उसके अनेक जीवों की हिंसा करने वाला 'अपरिणत' नाम का दोष उत्पन्न होता है।

यही बात मूलाचार ग्रन्थ में लिखी है यथा—तथा चोक्तं मूलाचार ग्रन्थे—

तिल तण्डुल उसिणोदय चणोदयं तुसोदयं अविदुत्थं।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो॥

तिल वा चावलों का धोया जल, ठंडा हुआ गरम जल, चना, तुष आदि का धोया जल, जिसका वर्ण, रस, गंध न बदला हो तथा हरड़, बहेड़ा आदि के चूर्ण से जिसका वर्ण, रस न बदला हो, ऐसा जल कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(९) लिप्त नाम का दोष—

आमपिष्ठेन चूर्णेनापक्वशाकेन चाम्बुना।
खडिकाहारितालादिद्रव्यैरार्द्रकरेण च ॥४५३॥

भाजनेनात्र देयं यदन्नादि यतये जनैः।
लिप्तदोषः स एव स्यात् सूक्ष्मजन्त्वादिघातकः ॥४५४॥

अर्थ—(१) कच्चे चावलों के चूर्ण से (२) बिना पके शाक से (३) अप्रासुक जल से (४) खड़ी, सेलखड़ी, हरताल आदि द्रव्यों से, स्पर्श किये हुए, लगे हुए, द्रव्य को दान में देना अथवा गीले हाथ या गीले बर्तन से आहार देना 'लिप्त' नाम का दोष कहलाता है। ऐसे आहार में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है।

(१०) परित्यजन दोष—

दीयमानं यमाहारं घृततक्रोदकादिभिः।
वरं परिगलन्तं सच्छिद्रपाणिपुटेन च ॥४५५॥
स्रवन्तं यदि गृह्णाति संयतोऽसंयमप्रदः।
तदा स कथ्यते दोषः 'परित्यजन' संज्ञकः ॥४५६॥

अर्थ—जो दाता घी, दूध, छाछ या जल का आहार देता हो और वह अपने हाथों से अधिक रूप में टपकता हो, ऐसे असंयम उत्पन्न करने वाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है, उसके 'परित्यजन' नाम का दोष लगता है।

१० अशन दोषों का परिणाम—

एतेऽशनाह्वया दोषा हिंसारम्भाघकारिणः।
सर्वथा मुनिभिर्हेया दशैव यत्नतोऽनिशम् ॥४५७॥

अर्थ—ये दस अशन नाम के दोष कहलाते हैं तथा हिंसा, आरंभ और पाप के कारण कहलाते हैं, इसलिए मुनियों को यत्नपूर्वक इनका सर्वथा सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

संयोजन नामक दोष—

संयोजयति यो भक्तं शीतमुष्णेन वारिणा।
शीतोदकेन वोष्णान्नं तस्य संयोजनो मलः ॥४५८॥

अर्थ—जो मुनि ठंडे भोजन को, गरम जल में मिलाकर खाता है अथवा गरम भोजन को, ठंडे जल में मिलाकर खाता है, उसके 'संयोजन' नाम का दोष लगता है।

परिमित भोजन के लाभ—

उदरस्यार्धमन्नेन तृतीयांशं जलादिभिः।
पूरयेद्यश्चतुर्थांशं धत्ते रिक्तं सदा शमी ॥४५९॥
प्रमाणभूतमाहारस्तस्य निद्राजयो भवेत्।
शुभध्यानं च सिद्धान्त-पठनं कर्मनिर्जरा ॥४६०॥

अर्थ—मुनियों को अपना आधा पेट अन्न से भरना चाहिए, एक भाग जल से भरना चाहिए

और एक भाग खाली रखना चाहिए। इस प्रकार प्रमाण के अनुसार जो मुनि आहार लेता है, उसको (१) निद्रा का विजय होता है, (२) शुभध्यान होता है, (३) सिद्धान्त शास्त्रों का पठन-पाठन होता है और (४) कर्मों की निर्जरा होती है।

'अप्रमाण' नामक दोष—

अस्मात् प्रमाणतोऽन्नादिमतिमात्रं भजेन्मुनिः।
यस्तस्यात्रा-प्रमाणाख्य-दोषो रोगोऽसमाधिता ॥४६१॥

अर्थ—जो मुनि इस प्रमाण से अधिक आहार ग्रहण करता है, उसके 'अप्रमाण' नाम का दोष लगता है। अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और ध्यान का नाश हो जाता है।

सगृद्ध्या मूर्च्छितो यः प्रभुंक्तेऽत्राहारमञ्जसा।
मन्दबुद्धिर्भवेत्तस्याङ्गार-दोषोऽशुभार्णवः ॥४६२॥

अर्थ—जो मंदबुद्धि मुनि अपनी लंपटता से मूर्च्छित होकर आहार को ग्रहण करता है उसके पापों का सागर ऐसा 'अंगार' नाम का दोष प्रकट होता है।

'धूम' नामक दोष—

सरसान्नाद्यलाभेन निन्दन् दातॄन्, गिराशनम्।
भुनक्ति योऽधमो निन्द्यं 'धूमदोषं' लभेत सः ॥४६३॥

अर्थ—जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से, अपने वचनों से दाता की निंदा करता हुआ आहार ग्रहण करता है, उसके निंदनीय 'धूम' नाम का दोष प्रकट होता है।

सब कुल ४६ दोष हैं—

पिण्डीकृता अमी सर्वे षट्चत्वारिंशदेव हि।
यत्नेन परिहर्त्तव्या दोषा दोषाकरा बुधैः ॥४६४॥

अर्थ—ये सब दोष मिलकर ४६ होते हैं तथा सब अन्य अनेक दोष उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमानों को यत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिए।

६ कारण से भोजन का त्याग व ग्रहण—

कारणैर्षड्भिराहारं गृह्णन् धर्मं चरेद्यतिः।
त्यजन् षट्कारणैश्चान्नं तरां संयममाचरेत् ॥४६५॥

अर्थ—मुनियों को उचित है कि ये ६ कारणों से आहार को ग्रहण करते हुए धर्म का पालन करें तथा ६ कारणों से आहार को छोड़कर संयम का पालन करें।

आहार ग्रहण करने के ६ कारण—

क्षुद्वेदनोपशान्त्यर्थं वैयावृत्याय योगिनाम्।
षडावश्यकपूर्णाय सर्वसंयमसिद्धये ॥४६६॥

प्राणार्थं च क्षमा मुख्या दशसद्धर्महेतवे।
एतैः षट्कारणैर्योगी गृह्णीयादशनं भुवि ॥४६७॥

अर्थ—(१) क्षुधा वेदनीय को शांत करने के लिए (२) मुनियों की वैयावृत्य करने के लिए (३) छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करने के लिए (४) सब तरह के संयमों का पालन करने के लिए (५) प्राणों की रक्षा करने के लिए (६) उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों को पालन करने के लिए मुनियों को आहार ग्रहण करना चाहिए। मुनियों को आहार ग्रहण करने के ये ६ कारण हैं।

आहार ग्रहण करने का मुख्य लक्ष्य—

तीव्रक्षुद्वेदनाक्रान्तो व्रतं पालयितुं क्षमः।
नाहं मत्त्वेति वृत्ताय भुञ्जे भक्तं न शर्मणे ॥४६८॥

अर्थ—तीव्र क्षुधा की वेदना से पीड़ित हुआ मैं चारित्र का पालन नहीं कर सकता, अतएव चारित्रपालन करने के लिए मैं आहार लेता हूँ, मैं सुख के लिए आहार नहीं लेता।

वैयावृत्य करने में प्रधान कारण—

आहारेण विना नाहं कर्त्तुं शक्नोमि योगिनाम्।
वैयावृत्यमिहातोऽन्नं भुञ्जे तत्सिद्धये क्वचित् ॥४६९॥

अर्थ—मैं बिना आहार के मुनियों की वैयावृत्य नहीं कर सकता, अतएव वैयावृत्य करने के लिए ही मैं आहार लेता हूँ।

निर्बलता की पूर्ति हेतु—

विनाहारं षडावश्यकव्युत्सर्गान् बलातिगः।
नाहं धर्त्तुं समर्थोऽस्माद् भिक्षां तद्धेतवे श्रये ॥४७०॥

अर्थ—मैं निर्बल हूँ और बिना आहार के छहों आवश्यकों को तथा 'व्युत्सर्ग' को पालन नहीं कर सकता, अतएव आवश्यक पालन करने के लिए मैं आहार लेता हूँ।

दया पालन करने के लिए—

दयां कर्त्तुं न शक्तोऽहं क्षुधाक्रान्तोऽङ्गिराशिषु।
अतः संयमसिद्ध्यर्थं गृह्णाम्यन्नं न चान्यथा ॥४७१॥

अर्थ—भूख से पीड़ित हुआ मैं जीवों की दया पालन नहीं कर सकता अतएव संयम पालन करने के लिए ही मैं अन्न ग्रहण करता हूँ अन्यथा नहीं।

प्राणों की रक्षा के लिए—

न तिष्ठन्ति दश प्राणा अन्नादृते ये हेतवे।
तस्मान्मे प्राणरक्षायै सेवेऽन्नं पारणे क्वचित् ॥४७२॥

अर्थ—बिना अन्न के मेरे प्राण ठहर नहीं सकते अतएव प्राणों की रक्षा करने के लिए मैं कभी-

कभी पारणा के दिन आहार ग्रहण करता हूँ।

दशलक्षणधर्म पालन हेतु—

दशलाक्षणिकं धर्मं नाहमाचरितुं क्षमः।
अतो धर्माय गृह्णामि शुद्धान्नं नान्यहेतुना ॥४७३॥

अर्थ—बिना आहार के दश लाक्षणिक धर्म को पालन नहीं कर सकता अतएव धर्म पालन करने के लिए मैं शुद्ध अन्न ग्रहण करता हूँ। मैं किसी अन्य हेतु से आहार नहीं लेता।

आत्मा को जानने वाला अन्य निमित्त आहार नहीं लेता—

मत्वेति कारणैः षड्भिरेतैर्गृह्णन् शुभाशनम्।
कर्म बध्नाति नात्मज्ञः क्षिपेन्नित्यं पुरातनम् ॥४७४॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि इन ६ कारणों को समझकर शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह कर्मों का बंध नहीं कर सकता, किन्तु प्राचीन अनेक कर्मों की निर्जरा करता है।

क्षुधावेदना के होने पर भी आहार त्याग करना—

दुर्व्याधौ च समुत्पन्ने ह्युपसर्गे चतुर्विधे।
ब्रह्मचर्याक्षशान्त्यर्थं सर्वजीवदयाप्तये ॥४७५॥
तपसे किल संन्याससिद्धयेऽशनमात्मवान्।
त्यजेन्मनोवचःकायैः सत्सु क्षुद्वेदनादिषु ॥४७६॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को किसी (१) दुष्ट व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर, (२) चारों प्रकार के उपसर्ग आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा और (४) इन्द्रियों को शांत करने के लिए, (५) समस्त जीवों की दया पालन करने के लिए, (६) तपश्चरण पालन करने के लिए और समाधि मरण धारण करने के लिए, क्षुधा वेदना के होने पर भी मन-वचन-काय से आहार का त्याग कर देना चाहिए।

कर्म नष्ट करने के लिए आहार का त्याग—

दुर्व्याधौ सति मे हानि-र्दृश्यते संयमादिषु।
अतो रुक्कर्मनाशाय करोमि प्रवरं तपः ॥४७७॥

अर्थ—आहार त्याग करते समय मुनियों को विचार करना चाहिए कि इस दुष्ट व्याधि के होने से मेरे संयम में हानि दिखाई देती है, अतएव रोग उत्पन्न करने वाले कर्म को नाश करने के लिए मैं आहार का त्यागकर श्रेष्ठ तपश्चरण करता हूँ।

मुक्ति के लिए भी आहार का त्याग—

जाते सत्युपसर्गेऽस्मिन् प्राणनाशकरे कर्म।
जीवितव्यमतोऽत्राहं त्यजाम्यन्नं शिवाप्तये ॥४७८॥

अर्थ—यह उपसर्ग प्राणों का नाश करने वाला है, इसके होने पर मेरा जीवन कभी नहीं टिक सकता, अतएव मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस अन्न का ही त्याग करता हूँ।

अन्न के ग्रहण करने से मोक्ष में बाधा—

प्रयान्त्युत्कटतामन्नात् स्मरादीन्द्रिय-शत्रवः।
तस्मात्तेषां वशार्थं चाहारं जहामि मुक्तये ॥४७९॥

अर्थ—अन्न के सेवन करने से कामदेव और इन्द्रियरूपी शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, अतएव उनको वश करने के लिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए मैं इस अन्न का ही त्याग करता हूँ।

अनेक जीवों की रक्षा के लिए आहार त्याग—

अद्याहार-प्रभुक्तेन म्रियन्ते जन्तुराशयः।
ततस्तेषां च रक्षायै भक्तं त्यजामि सिद्धये ॥४८०॥

अर्थ—आज आहार के सेवन करने से अनेक जीवों का समूह मृत्यु को प्राप्त होता है, अतएव उन जीवों की रक्षा करने के लिए और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए मैं इस आहार का ही त्याग करता हूँ।

तपश्चरण की शुद्धि के लिए आहार का त्याग—

विनाऽत्र तपसा जातु न च कर्मक्षयः शिवम्।
तस्मात्तपो विशुद्ध्यर्थमाहारं वर्जयाम्यहम् ॥४८१॥

अर्थ—इस संसार में बिना तपश्चरण के कर्मों का नाश कभी नहीं होता और न कल्याण ही होता है। अतएव अपने तपश्चरण को विशुद्ध रखने के लिए मैं इस आहार का ही त्याग कर देता हूँ।

समाधिमरण में आहार त्याग की उपयोगिता—

संजातं विकलत्वं च मेऽक्षाणां रुक् ज्वरादिभिः।
अतः संन्याससंसिद्ध्यै त्यजाम्यशनमञ्जसा ॥४८२॥

अर्थ—ज्वर आदि अनेक रोगों के उत्पन्न होने से, मेरी इन्द्रियाँ सब विकल हो गई हैं, अतएव समाधिमरण धारण करने के लिए मैं निश्छल मन से इस आहार का ही त्याग कर देता हूँ।

आहार सम्बन्धी विषय का उपसंहार—

विज्ञायेति त्यजेदेतैः कारणैः षड्विधैर्मुनिः।
आहारं सकलं मुक्त्यै यत्नाद्रत्नत्रयं भजेत् ॥४८३॥

अर्थ—इन छह प्रकार के कारणों को समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए सब तरह के आहार का त्याग कर देना चाहिए और यत्नपूर्वक रत्नत्रय का सेवन करना चाहिए।

मुनि निम्न कार्यों के लिए कभी आहार ग्रहण नहीं करें—

बलायुर्वृद्धि-सुस्वादु-शरीरोपचयाय च।
तेजः कांति सुखाद्यर्थं जातु भुंक्ते न संयमी ॥४८४॥

अर्थ—संयमी मुनि बल और आयु की वृद्धि के लिए, स्वाद चखने या शरीर की वृद्धि के लिए अथवा तेज, कांति और सुख बढ़ाने के लिए कभी आहार ग्रहण नहीं करें।

वेला, तेला करने के बाद आहार क्यों ? —

सिद्धान्तपाठसंसिद्ध्यै प्रशस्तध्यान - हेतवे।
पञ्चानां संयमानां च पालनाय सुवृद्धये ॥४८५॥
आतापनादि - योगाय धर्मोपदेशनाय च।
भुंक्तेऽशनं क्वचिद् योगी षष्ठाष्टमादिपारणे ॥४८६॥

अर्थ—वे मुनिराज, सिद्धान्त ग्रन्थों के पठन-पाठन करने के लिए, प्रशस्त ध्यान धारण करने के लिए, पाँचों प्रकार के संयमों का पालन करने के लिए अथवा संयमों की वृद्धि के लिए अथवा आतापन आदि योग धारण करने के लिए अथवा धर्मोपदेश देने के लिए कभी-कभी वेला, तेला करने के बाद पारणा के दिन आहार ग्रहण करते हैं।

मुनिराज कैसे शुद्ध भोजन को करते हैं?

नवकोटिविशुद्धं चाशनं संयोजनातिगम्।
दोषैस्त्यक्तं द्विचत्वारिंशत् प्रमैः प्रासुकं शुभम् ॥४८७॥
प्रमाणसहितं दत्तं विधिना गृहनायकैः।
विगताङ्गारधूमं च सुषट्कारणसंयुतम् ॥४८८॥

अर्थ—ये मुनिराज तपश्चरण पालन करने के लिए, प्राणियों की रक्षा करने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने और कर्मों का नाश करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं तथा वह आहार भी (१) मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना की विशुद्धतापूर्वक होना चाहिए (२) संयोजन दोष से रहित होना चाहिए (३) ४२ दोषों से रहित होना चाहिए (४) प्रासुक और शुभ होना चाहिए (५) प्रमाण सहित होना चाहिए (६) प्रमाण से अधिक नहीं होना चाहिए (७) घर के स्वामी के द्वारा विधिपूर्वक देना चाहिए (८) अंगार और धूम दोषों से रहित होना चाहिए (९) श्रेष्ठ छहों कारणों से सहित होना चाहिए और दश अशन दोष से रहित होना चाहिए। ऐसे आहार को वे मुनिराज पारणा के दिन ग्रहण करते हैं।

ये १४ मल आहार में वर्जनीय हैं—

तपसे प्राणरक्षायै मोक्षाय पारणाहनि।
पूयं च रुधिरं चर्म मांसं बीजं फलं तथा ॥४८९॥
नखरोममलो जन्तुरस्थिकुंडः कणस्ततः।
क्वचिद् गृह्णातिमुक्त्यर्थी चतुर्दशमलोज्झितं ॥४९०॥

कंदो मूलममी ज्ञेया मलाश्चतुर्दशाशुभाः।
आहारेऽत्र मुमुक्षूणां परीषहविधायिनः ॥४९१॥

अर्थ—नख, रोम अर्थात् बाल, मल, जंतु अर्थात् जीव रहित शरीर, हड्डी, कुंड अर्थात् चावल आदि के भीतर के सूक्ष्म अवयव, कण अर्थात् जो गेहूँ आदि के बाहरी अवयव, पीव, रुधिर, चर्म, मांस, बीज, फल, कंद, मूल ये १४ अशुभ मल कहलाते हैं। ये १४ प्रकार के मल, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों के आहार में परीषह उत्पन्न करने वाले हैं।

मलों के विशेष भेद—

एषां मध्येऽत्र केचित्स्यु-र्मला महान्त एव च।
केचित्स्वल्पमला केचित् मध्यमा दोषभेदतः ॥४९२॥

अर्थ—इनमें से कितने ही मल बहुत बड़े हैं, कितने ही छोटे मल कहलाते हैं और कितने ही मध्यम कहलाते हैं। दोष के भेद से इनके अनेक भेद हो जाते हैं।

महामल के भेद—

चर्मास्थिरुधिरं मांसं नखः पूयमिमे मलाः।
महान्तोऽशनत्यागेऽपि प्रायश्चित्तविधायिनः ॥४९३॥

अर्थ—(१) चमड़ा (२) हड्डी (३) रुधिर (४) मांस (५) नख और (६) पीव ये 'महामल' कहलाते हैं, आहार में इनके निकल आने पर आहार का भी त्याग करना पड़ता है और प्रायश्चित्त भी लेना पड़ता है।

किस दोष में आहार का सर्वथा त्याग—

द्वीन्द्रियादिवपुर्बाला - वाहारत्यागकारिणौ।
कणः कुंडः फलं बीजं कंदो मूलं दला अमी ॥४९४॥
अल्पास्त्यजनयोग्याश्च तुच्छदोष-विधायिनः।
यदि त्यक्तुं न शक्यन्ते त्याज्यं तर्ह्यशनं बुधैः ॥४९५॥

अर्थ—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि विकलत्रयों का शरीर और बाल के निकल आने पर आहार का त्याग कर देना चाहिए तथा कण, कुंड, फल, बीज, कंद, मूल, दल ये 'अल्पमल' कहलाते हैं। इनको आहार में से निकालकर अलग कर देना चाहिए क्योंकि ये बहुत थोड़ा दोष उत्पन्न करने वाले हैं। यदि आहार में से ये अलग न हो सकें तो फिर बुद्धिमानों को आहार का ही त्याग कर देना चाहिए।

मुनि के लेने योग्य द्रव्य—

प्राणिनः प्रगता यस्माद् द्रव्यात्तद्द्रव्यमुत्तमम्।
शुद्धं च प्रासुकं योग्यं मुनीनां कथितं जिनैः ॥४९६॥

अर्थ—जिस द्रव्य में कोई प्राणी न हो उसको उत्तम द्रव्य कहते हैं ऐसा उत्तम, शुद्ध और प्रासुक द्रव्य ही भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए योग्य द्रव्य कहा है।

मुनि के न लेने योग्य द्रव्य—

तद् द्रव्यं यदि चात्मार्थं कृतं वा कारितं क्वचित्।
योगैरनुमतं निन्द्यमशुद्धं नोचितं सताम् ॥४९७॥

अर्थ—यदि ऐसा द्रव्य अपने लिए बनाया गया हो वा बनवाया गया हो अथवा मन-वचन-काय से उसकी अनुमोदना की गई हो तो वह द्रव्य निंद्य और अशुद्ध कहलाता है। सज्जनों को ऐसा द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिए।

सत्यपि प्रासुके द्रव्ये योऽत्राधःकर्मणा यतिः।
योगैः परिणतः प्रोक्तः स कर्मबन्धकोऽनिशम् ॥४९८॥

अर्थ—यदि वह द्रव्य प्रासुक हो और वह मुनि अपने मन-वचन-काय से अधःकर्मरूप परिणत हो जाये अर्थात् उसे अपने लिए बनाया हुआ समझ ले तो फिर वह मुनि सदा कर्मबंध ही करता रहता है।

मुनिर्गवेषमाणो यः शुद्धाहारमतन्द्रितः।
शुद्ध एव स योग्याद्यैः सत्यधःकर्मणि क्वचित् ॥४९९॥

अर्थ—यदि वह मुनि मन-वचन-काय से शुद्ध होकर तथा आलस को छोड़कर शुद्ध आहार को ढूँढ़ता है, तो फिर कहीं पर अधःकर्म होने पर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूँढ़ने से अधःकर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु को कर्मबंध करने वाला नहीं हो सकता।

भोजन वेला का काल—

विज्ञेयोऽशनकालोऽत्र संत्यज्य घटिकात्रयम्।
मध्ये च योगिनां भानूदयास्तमानकालयोः ॥५००॥

अर्थ—आगे भोजन का समय बतलाते हैं—सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्य के अस्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है। इसमें भी मध्य (दोपहर) के समय की सामायिक काल की कम से कम तीन घड़ी छोड़ देनी चाहिए।

तस्यैवाशनकालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनैः।
भिक्षा-कालो मतो योग्यो मुहूर्तैकप्रमाणकः ॥५०१॥

अर्थ—बाकी का जो आहार का समय है, उसमें आहार का समय भगवान् जिनेन्द्रदेव ने एक मुहूर्त उत्कृष्ट काल बतलाया है।

योगीनां द्विमुहूर्तप्रमाणो मध्यम एव च।
जघन्यं त्रिमुहूर्तप्रमो भिक्षा-काल एव हि ॥५०२॥

अर्थ—दो मुहूर्त मध्यम काल बतलाया है और तीन मुहूर्त जघन्य काल बतलाया है। [यह काल की मर्यादा सिद्धभक्ति से लेकर भोजन के अन्त तक समझनी चाहिए।]

घटिकाद्वयहीने मध्याह्नकाले प्रयत्नतः।
स्वाध्यायमपि संहृत्य कृत्वा श्रीदेववन्दनाम् ॥५०३॥

अर्थ—जब मध्याह्नकाल में (सामायिक के समय में) दो घड़ी बाकी रह जाये, तब प्रयत्नपूर्वक स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिए और फिर देव वन्दना करना चाहिए।

भिक्षा को निकलने की विधि—

भिक्षावेलां परिज्ञाय कुंडिकापिच्छिके यतिः।
गृहीत्वा काय-संस्थित्यै निर्याति स्वाश्रमाच्छनैः ॥५०४॥

अर्थ—तदनंतर भिक्षा का समय जानकर मुनियों को पिच्छिका-कमंडलु लेकर शरीर को स्थिर रखने के लिए अर्थात् आहार के लिए अपने आश्रम से धीरे-धीरे निकलना चाहिए।

गुप्तिश्च समितिः सर्वान् व्रतमूलगुणान् परान्।
रक्षंश्चरति मार्गे स मनो-वाक्काय कर्मभिः ॥५०५॥

अर्थ—समस्त गुप्ति, समिति, व्रत और मूलगुणों की मन-वचन-काय के द्वारा अच्छी तरह रक्षा करते हुए उन मुनियों को मार्ग में चलना चाहिए।

भावयंस्त्रिकसंवेगं देहभोगभवादिषु।
जिनाज्ञां पालयन् सम्यगनवस्थां निजेच्छया ॥५०६॥
मिथ्यात्वाराधनामात्मनाशं दूरात्परित्यजन्।
न कुर्वंश्च मनाक् यत्नात्सुसंयमविराधनाम् ॥५०७॥
नाति-द्रुतं न मन्दं न, विलम्बितं पथि व्रजेत्।
न तिष्ठेत्केनचित्सार्द्धं न कुर्याज्जल्पनं यमी ॥५०८॥

अर्थ—उस समय उन मुनियों को संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर तीनों प्रकार का संवेग धारण करना चाहिए। भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को अच्छी तरह पालन करना चाहिए। अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति का, मिथ्यात्व की आराधना का और आत्मा के नाश होने का, अकल्याण होने का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए तथा यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए संयम की विराधना किंचित्मात्र भी नहीं करनी चाहिए। मार्ग में न धीरे चलना चाहिए, न जल्दी चलना चाहिए, न ठहरना चाहिए, न खड़े होना चाहिए और न किसी के साथ बातचीत करनी चाहिए।

इदं च धनिनोगेहमिदं हि निर्धनस्य भोः।

इति जातु न सङ्कल्पं हृदि धत्ते जितेन्द्रियः ॥५०९॥

अर्थ—उन जितेन्द्रिय मुनियों को "यह किसी धनी का घर हैं अथवा यह किसी निर्धन का घर है" ऐसा संकल्प अपने हृदय में कभी नहीं करना चाहिए।

पंक्ति भेद नहीं—

गृहपंक्त्या क्रमेणासौ प्रविशेच्छ्रावकालयम्।

अन्ये भिक्षाचरा यावदायान्ति तावदेव हि ॥५१०॥

अर्थ—उन मुनियों को घरों की पंक्ति के अनुकूल क्रम से ही श्रावकों के घर प्रवेश करना चाहिए और वहीं तक जाना चाहिए जहाँ तक अन्य साधारण भिक्षुक जाते हों।

प्रतिग्रहण सम्बन्धी व्यवस्था—

अप्रतिग्राहितस्तस्मान्निर्गच्छेद् द्रुतमात्मवान् ।

विधिना वा प्रतिग्राहितस्तिष्ठेद् योग्यभूतले ॥५११॥

अर्थ—यदि वहाँ पर किसी ने प्रतिग्रहण न किया हो तो आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को वहाँ से शीघ्र ही निकल जाना चाहिए। यदि किसी ने विधिपूर्वक प्रतिग्रहण कर लिया हो तो उनको अपने योग्य पृथ्वी पर खड़े हो जाना चाहिए।

पृथ्वी निर्जीव है इसे सर्वप्रथम निरीक्षण करना चाहिए—

स्वांघ्रिभोजनदातॄणां स्थित्यै निरीक्ष्य सद्धराम्।

त्रसजीवादिसंत्यक्तां कायस्थित्यर्थमात्मवान् ॥५१२॥

अर्थ—तदनंतर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को आहार करने के लिए उस पृथ्वी को देखना चाहिए कि वहाँ पर अपने खड़े होने को और दाताओं के खड़े होने को स्थान है या नहीं और वह पृथ्वी त्रस जीवों से रहित है या नहीं।

पैरों में चार अंगुल का अन्तर—

पादयोरन्तरं कृत्वा चतुरङ्गुलसंमितम्।

निश्छिद्रं पाणिपात्रं विधाय तिष्ठेत्सुसंयतः ॥५१३॥

अर्थ—फिर उन मुनियों को अपने दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना चाहिए और अपने दोनों करपात्रों को छिद्र रहित बना लेना चाहिए।

सिद्धभक्ति पूर्वक आहार ग्रहण—

सिद्धभक्तिं ततः कुर्यान् निष्पापं प्रासुकाशनम्।

विधिना दीयमानं स प्रतीच्छेत् क्षुद्विहानये ॥५१४॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को सिद्धभक्ति करनी चाहिए और फिर क्षुधा वेदना को दूर करने

के लिए विधिपूर्वक दिए हुए पाप रहित प्रासुक आहार को ग्रहण करना चाहिए।

खड़े होकर पञ्च प्रकार की वृत्ति सहित भोजन लेना चाहिए—

यथागतं तदन्नं स सरसं वा रसातिगम्।
स्वादं त्यक्त्वा भजेद् गोचारादिपञ्चविधं स्थितः ॥५१५॥

अर्थ—दाता के द्वारा दिया हुआ जो अन्न सरस हो या नीरस हो उन मुनियों को अपना स्वाद छोड़कर ग्रहण कर लेना चाहिए। उन मुनियों को खड़े होकर आहार लेना चाहिए और गोचार आदि पाँच प्रकार की वृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिए।

पाँच प्रकार की वृत्तियों के नाम—

गोचारः प्रथमो भेदो परोऽक्षमृक्षणाह्वयः।
तृतीय उदराग्निप्रशमनाख्यश्चतुर्थकः ॥५१६॥
भ्रमराहारनामाथ श्वभ्रपूरणसंज्ञकः।
एतैः पञ्चविधैरत्र भेदैर्भुक्तेऽशनं यतिः ॥५१७॥

अर्थ—(१) गोचार (२) अक्षमृक्षण (३) उदराग्निप्रशमन (४) भ्रमराहार और (५) श्वभ्रपूरण इस प्रकार पाँच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं।

(१) गोचारवृत्ति का स्पष्टीकरण—

यथोपनीयमानं तृणादिकं दिव्ययोषिता।
गौश्चाभ्यवहरत्यत्र न तदङ्गं निरीक्ष्यते ॥५१८॥
तथालङ्कारधारिण्या दिव्यनार्योपढौकितम्।
पिण्डं गृह्णाति सद्योगीः तस्या रूपं न पश्यति ॥५१९॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गाय को घास (भूसा) डालने आती है तो वह गाय उस घास (भूसा) को ही खाने लगती है, वह गाय उस सुन्दर स्त्री के शरीर को नहीं देखती इसी प्रकार वस्त्राभूषणों को धारण करने वाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिए हुए आहार को श्रेष्ठ मुनिराज ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उसके रूप को नहीं देखते।

गोचारवृत्ति का स्वरूप पुनः—

अथवा गौर्यथा नानातृणनीरादि-संचयम्।
न सर्वमीहते किन्तु यथालब्धं भजेत्सदा ॥५२०॥
तथान्नरससुस्वाद व्यञ्जनादिसमीहते।
नैकीकृतं मुनिः किन्तु यथालब्धं भुनक्ति तत् ॥५२१॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार गाय अनेक प्रकार के घास-फूस को वा पानी को चाहती नहीं है किन्तु जो सामने आ जाता है उसी को खा लेती है, उसी प्रकार मुनिराज भी अन्न, रस, स्वादिष्ट

व्यंजन आदि किसी की इच्छा नहीं करते, किन्तु जो कुछ दाता देता है उसे इकट्ठा कर खा लेते हैं। इसको 'गोचारवृत्ति' कहते हैं।

(२) 'अक्षमृक्षण' वृत्ति का स्वरूप—

स्निग्धेन केनचिद् यद्वदक्षलेपं विधाय भोः।
नयेद् देशान्तरं वैश्यः शकटीं रत्नपूरिताम् ॥५२२॥
गुणरत्नभृतां तद्वच्छरीरं शकटीं मुनिः।
स्वल्पाक्षमृक्षणेनास्मात् प्रापयेच्छिवपत्तनम् ॥५२३॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी को, पहियों की धुरी में, थोड़ी सी चिकनाई लगाकर देशांतर में ले जाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी गुण रत्नों से भरी हुई इस शरीररूपी गाड़ी को, चिकनाई के समान, थोड़ा सा आहार देकर इस आत्मा को मोक्ष नगर तक पहुँचा देते हैं। इसको 'अक्षमृक्षण' वृत्ति कहते हैं।

(३) 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति का स्वरूप—

समुत्थितं यथा वह्निं भांडागारे भृते वणिक्।
रत्नाद्यैः शमयेच्छीघ्रं शुच्यशुच्यादिवारिणा ॥५२४॥
तथोत्थितं क्षुधावह्निमुदरे शमयेद्यमी।
सरसेतर - भक्तेन दृगादि - रत्न - हेतवे ॥५२५॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई वैश्य, रत्नादिक से भरे हुए भंडागार में (भंडारे में) अग्नि के लग जाने पर तथा उसकी ज्वाला बढ़ जाने पर शीघ्र शुद्ध वा अशुद्ध पानी से उसे बुझा देता है, उसी प्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा करने के लिए अपने पेट में बढ़ी हुई क्षुधारूपी वह्नि को सरस वा नीरस आहार लेकर, शीघ्र ही बुझा देते हैं इसको 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति कहते हैं।

(४) 'श्वभ्रपूरण' वृत्ति का स्वरूप—

यथा स्वगेहमध्यस्थं गृही गर्त्तं प्रपूरयेत्।
येन केनोपनीतेन कतवारेण नान्यथा ॥५२६॥
तथोदरगतं श्वभ्रं पूरयेत्संयमी क्वचित्।
यादृक् तादृक् विधान्नेन न च मिष्टाशनादिना ॥५२७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई गृहस्थ, अपने घर के मध्य के गड्ढे को किसी भी कूड़े-कर्कट से भर देता है, उसके लिए अच्छी मिट्टी की तजबीज नहीं करता, उसी प्रकार मुनिराज भी अपने पेट के गड्ढे को जैसा कुछ मिल गया उसी अन्न से भर लेते हैं, उसको भरने के लिए मिष्ट भोजन की तलाश नहीं करते इसको 'श्वभ्रपूरण वृत्ति' कहते हैं।

(५) भ्रामरी वृत्ति का स्वरूप—

भ्रमरोऽत्र यथा पद्माद् गन्धं गृह्णाति तद्भवम्।
घ्राणेन न मनाक् तस्य बाधां जनयति स्फुटं ॥५२८॥
तथाहरति चाहारं दत्तं दातृजनैर्यतिः।
न मनाक् पीडयेद् दातॄन् जात्वलाभाल्पलाभतः ॥५२९॥

अर्थ—जिस प्रकार भ्रमर, अपनी नासिका के द्वारा कमल से गंध को ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचित् मात्र भी बाधा नहीं देता, उसी प्रकार मुनिराज भी दाता के द्वारा दिए हुए आहार को ग्रहण कर लेते हैं परंतु चाहे उन्हें आहार मिले वा न मिले अथवा थोड़ा ही मिले तो भी वे मुनिराज किसी भी दाता को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं देते हैं। इसको 'भ्रामरी वृत्ति' कहते हैं।

पाँच प्रकार पूर्वक आहार को ग्रहण करना तथा बत्तीस अन्तरायों को छोड़ना—

इति पञ्चविधाहारं भजन् योगी क्वचित् त्यजेत्।
द्वात्रिंशदन्तरायाणमन्तरायागते सति ॥५३०॥

अर्थ—इस प्रकार वे मुनिराज, पाँच प्रकार के आहार को ग्रहण करते हैं यदि उस समय बत्तीस अंतरायों में से कोई अंतराय आ जाये तो उस आहार को भी छोड़ देते हैं।

बत्तीस अन्तरायों के नाम—

काकोऽमेध्यं तथा छर्दि रोधनं रुधिरं ततः।
अश्रुपाताभिधो जान्वधः परामर्शसंज्ञकः ॥५३१॥
अन्तरायस्ततो जानू - परिव्यतिक्रमाह्वयः।
नाभ्यधो निर्गमनाख्यः स्वप्रत्याख्यानसेवनात् ॥५३२॥
तथा जीववधः काकादि पिण्डहरणाभिधः।
पिण्डस्य पतनं हस्तात् पाणौ जन्तुवधस्ततः ॥५३३॥
मांसादि-दर्शनं चोपसर्गः पादद्वयान्तरे।
व्रजेत् पञ्चेन्द्रियो जीवः संपातो भाजनस्य च ॥५३४॥
उच्चारः प्रस्त्रवणं चा - भोज्यगेहप्रवेशनम्।
मूर्च्छया पतनं चोपवेशनं दंष्टनामकः ॥५३५॥
भूमिसंस्पर्शनामाथ निष्ठीवनं समाह्वयः।
उदरात्संयतस्यैव कृमिनिर्गमनं ततः ॥५३६॥
अदत्तं ग्रहणं शस्त्रैः प्रहारो ग्राम-दाहकः।
पादेन ग्रहणं किञ्चित् वस्तुभूमेः करेण च ॥५३७॥

अन्तराया इमे ज्ञेया द्वात्रिंशत्संख्यका मुनेः।
अलाभहेतवोऽन्नादौ वक्ष्यमाणाः पृथक् पृथक् ॥५३८॥

अर्थ—निम्नलिखित ३२ अंतराय हैं–(१) काक (२) अमेध्य (३) छर्दि (४) रोधन (५) रुधिर (६) अश्रुपात (७) जान्वधः परामर्श (८) जानूपरिव्यतिक्रम (९) नाभ्यधो निर्गमन (१०) प्रत्याख्यात सेवन (११) जीववध (१२) काकादि पिंडहरण (१३) हस्तात् पिंडपतन (१४) पाणिपात्रे जंतुवध (१५) मांसदर्शन (१६) उपसर्ग (१७) पादान्तर पंचेन्द्रिय जीवगमन (१८) भाजनसंपात (१९) उच्चार (२०) प्रस्रवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश (२२) मूर्च्छापतन (२३) उपवेशन (२४) दंष्ट (२५) भूमिस्पर्श (२६) निष्ठीवन (२७) उदर-कृमि-निर्गमन (२८) अदत्तग्रहण (२९) शस्त्रप्रहार (३०) ग्रामदाह (३१) पादेन ग्रहण (३२) हस्तेन ग्रहण। इस प्रकार मुनियों के उपरिलिखित ३२ अंतराय हैं और आहार के लाभ में बाधा डालने वाले हैं। आगे इन सबका स्वरूप अलग-अलग लिखते हैं।

(१) काक नामक अन्तराय—

स्थितस्य गच्छतो वोपरि व्युत्सर्गं प्रकुर्वते।
काकाद्याः पक्षिणोऽयं स काकान्तरायनामकः॥५३९॥

अर्थ—मुनिराज चाहे आहार के लिए चल रहे हों अथवा बैठे हों उस समय यदि कोई कौआ या बाज आदि पक्षी उनके ऊपर बीट कर दे तो उन मुनि के 'काक नाम का' अंतराय होता है।

(२) अमेध्य व (३) छर्दि अन्तराय—

गच्छन् मार्गे स्वपादेनामेध्यं यदि यतिः स्पृशेत्।
जायते वमनं स्वस्य योगिनोऽघविपाकतः ॥५४०॥

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि के पैर में विष्ठा लग जाये या विष्ठा का स्पर्श हो जाये तो उनके 'अमेध्य' नाम का अन्तराय होता है यदि मुनि के पापकर्म के उदय से वमन हो जाये तो 'छर्दि' नाम का अंतराय होता है।

(४) रोधन व (५) रुधिर अन्तराय का स्वरूप—

यदि कश्चित् करोत्येव यमिनो धरणादिकम्।
आत्मनो वा परस्यासौ रुधिरं यदि पश्यति ॥५४१॥

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि को रोक ले तो 'रोधन' नाम का अन्तराय होता है। यदि वे मुनि अपने शरीर से निकले हुए अथवा दूसरे के शरीर से निकले हुए रुधिर को देख लें तो उनके 'रुधिर' नामक अन्तराय होता है।

(६) अश्रुपात नामक अन्तराय—

दुःखशोकादिभिः स्वात्मनोऽश्रुपातो भवेद्यदिः।
अत्याक्रन्दः परेषां वासन्नानां मरणादिभिः ॥५४२॥

अर्थ—यदि दु:ख वा शोकादिक के द्वारा मुनि के आँसू निकल आएँ अथवा किसी आसन्न (नजदीकी) पुरुष के मरण हो जाने से रोने वाले दूसरों के आँसुओं को मुनि देख लें तो उनके 'अश्रुपात' नाम का अन्तराय होता है।

(७) जान्वध: परामर्श तथा (८) जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय—

यदि जानोरधो भागे करोति स्पर्शनं मुनि:।
व्यतिक्रमं विधत्ते च जानोरुपरिकारणात् ॥५४३॥

अर्थ—यदि वे मुनि जंघा के नीचे के भाग को स्पर्श कर लें तो उनके 'जान्वध: परामर्श' नाम का अंतराय होता है। यदि वे मुनि किसी कारण से जंघा के ऊपर व्यतिक्रम कर लें, जंघा से ऊँची सीढ़ी पर इतनी ऊँची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़े तो उनके 'जानूपरिव्यतिक्रम' नाम का अंतराय होता है।

(९) नाभ्यधो निर्गमन तथा (१०) प्रत्याख्यात सेवन अन्तराय—

नाभेरध: शिर: कृत्वा कुर्यान्निर्गमनं यति:।
मुनेर्नियमितस्यैव वस्तुनो भक्षणं भवेत् ॥५४४॥

अर्थ—यदि मुनि नाभि से नीचे अपना सिर करके निकले तो उनके 'नाभ्यधो निर्गमन' अंतराय होता है। यदि वे मुनि त्याग किये हुए पदार्थ को भक्षण कर लें तो उनके 'प्रत्याख्यात सेवन' नाम का अंतराय होता है।

(११) जीववध व (१२) काकादि पिंडहरण अन्तराय—

आत्मन: पुरतोऽन्येन क्रियतेऽङ्गिवधो यदि।
काकाद्या: पाणित: पिण्डं योगिनोऽपहरन्ति च ॥५४५॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य अपने सामने ही किसी जीव को मार डाले तो उन मुनियों को 'जीववध' नाम का अंतराय होता है। यदि काक आदि पक्षी मुनि के हाथ से आहार के पिंड को अपहरण कर लें तो 'पिंडहरण' नाम का अन्तराय होता है।

(१३) हस्तात् पिंडपतन तथा (१४) पाणिपात्रे जंतुवध अन्तराय का लक्षण—

ग्रासमात्रं पतेद्हस्तात् भुञ्जानस्य यतेर्यदि।
म्रियते स्वयमागत्य पाणौ जन्तुश्च पापत: ॥५४६॥

अर्थ—यदि आहार करते हुए, मुनि के हाथ से एक ग्रास के समान आहार गिर जाये तो उनके 'पिंडपतन' नाम का अंतराय होता है। यदि पापकर्म के उदय से कोई जीव स्वयं आकर मुनि के हाथ पर मर जाये तो उनके 'पाणिपात्रे जंतुवध' नाम का अंतराय होता है।

(१५) मांसदर्शन व (१६) उपसर्ग नामक अन्तराय—

पश्येद् यदि प्रमादेन मांसादीन् संयतोऽशुभान्।
योगिनो यदि जायेतोपसर्गो नृसुराहिजः ॥५४७॥

अर्थ—यदि मुनि अपने प्रमाद से मांसादिक अशुभ पदार्थों को देख लें तो 'मांस दर्शन' नाम का अंतराय होता है। यदि उन मुनि के ऊपर कोई मनुष्य, देव या तिर्यंच उपसर्ग करे तो उनके 'उपसर्ग' नाम का अंतराय होता है।

(१७) पादान्तर पञ्चेन्द्रिय जीव गमन तथा (१८) भाजन संपात नामक अन्तराय—

पादयोरन्तरे गच्छे-ज्जीवः पञ्चेन्द्रियो मुनेः।
पारिवेषकहस्तादेर्भाजनं च पतेद्यदि ॥५४८॥

अर्थ—यदि मुनि के दोनों पैरों के मध्य में से कोई चूहा आदि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाये तो उनके 'पादान्तर पंचेन्द्रिय जीव गमन' नामक अंतराय होता है। यदि दान देने वाले के हाथ से कोई बर्तन गिर जाये तो उन मुनि के आहार में 'भाजनसंपात' नाम का अंतराय होता है।

(१९) उच्चार (२०) प्रस्रवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश अन्तरायों का वर्णन—

स्रवेदुच्चार एवोदराच्च मूत्रादिकं यतेः।
प्रवेशो यदि जायेत चाण्डालादिगृहे मुनेः॥५४९॥

अर्थ—यदि मुनि के उदर से मल निकल आए तो 'उच्चार' नाम का अंतराय होता है। यदि मूत्र निकल पड़े तो 'प्रस्रवण' नाम का अंतराय होता है। यदि आहार के लिए फिरते हुए मुनि किसी चांडालादिक के घर में प्रवेश कर जायें तो उनके 'अभोज्य गृह प्रवेश' नामक अंतराय होता है।

(२२) मूर्च्छापतन (२३) उपवेशन (२४) दंष्ट अन्तराय—

मूर्च्छादिना पतेद्योगी कुर्याद्युपवेशनम्।
श्वादिभिर्यदि दंष्टः स्यान् मुनिः स्वपापकर्मणा ॥५५०॥

अर्थ—यदि आहार करते हुए मुनि मूर्च्छा आदि के कारण से गिर जायें तो उनके 'मूर्च्छापतन' नामक अन्तराय होता है। यदि आहार करते हुए मुनि बैठ जायें तो उनके 'उपवेशन' नाम का अन्तराय होता है। यदि पापकर्म के उदय से कुत्ता आदि कोई जानवर काट ले तो उन मुनि के 'दंष्ट' नामक अन्तराय होता है।

(२५) भूमिस्पर्शन तथा (२६) निष्ठीवन नामक अन्तराय—

सिद्धभक्तौ कृतायां स्वहस्तेनासौ धरां स्पृशेत्।
निष्ठीवनं विधत्ते वा क्षिपेत् श्लेष्मादिकं यमी ॥५५१॥

अर्थ—यदि मुनि सिद्धभक्ति करने के बाद अपने हाथ से पृथ्वी का स्पर्श कर लें तो उनके 'भूमि स्पर्शन' नामक अन्तराय होता है। यदि वे मुनि सिद्धभक्ति के बाद थूक दें अथवा कफ थूक

दें तो उनके 'निष्ठीवन' नाम का अन्तराय होता है।

(२७) उदर कृमि निर्गमन तथा (२८) अदत्त ग्रहण अन्तराय—

निर्गच्छति स्वयं चास्योदरादेव कृमिर्बहिः।
किञ्चिल्लोभेन गृह्णाति सोऽदत्तं परवस्तु च ॥५५२॥

अर्थ—यदि मुनि के उदर से अपने आप कोई कीड़ा बाहर निकल आए तो 'उदर कृमि निर्गमन' नाम का अन्तराय होता है। यदि वे मुनि किसी लोभ के कारण बिना दिए हुए किसी पर पदार्थ को ग्रहण कर लें तो उनके 'अदत्तग्रहण' नाम का अन्तराय होता है।

(२९) शस्त्र प्रहार व (३०) ग्रामदाह तथा (३१) पादेन ग्रहण नामक अन्तराय का स्वरूप—

खड्गादिभिः प्रहारः स्यात्स्वात्मनो वाः पराङ्गिनाम्।
जायते ग्रामदाहश्च किञ्चिद् गृह्णाति सोऽङ्घ्रिणा ॥५५३॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य उन मुनि पर तलवार आदि शस्त्र का प्रहार करे वा उनके सामने अन्य किसी मनुष्य पर प्रहार करे तो उन मुनि के 'शस्त्र प्रहार' नाम का अन्तराय होता है। यदि आहार के समय उसी गाँव के किसी घर में अग्नि लग जाये तो 'ग्रामदाह' नाम का अन्तराय होता है। यदि वे मुनि अपने पैर से कोई वस्तु उठाकर ग्रहण कर लें तो उनके 'पादेन ग्रहण' नाम का अन्तराय होता है।

(३२) हस्तेन ग्रहण नामक अन्तराय—

यद्यादत्ते करेणासौ किञ्चिद्वस्तु महीतलात्।
द्वात्रिंशत्संख्यका एते अन्तराया मता मुनेः ॥५५४॥

अर्थ—यदि वे मुनि अपने हाथ से पृथ्वी पर से कोई वस्तु उठा लें तो उनके 'हस्तेन ग्रहण' नाम का अन्तराय होता है। इस प्रकार मुनियों के आहार को निषेध करने वाले ये बत्तीस अन्तराय माने हैं।

अन्य बहुत अन्तरायों का सामान्य उल्लेख—

अन्येपि बहवः सन्ति भोजनालाभकारिणः।
चाण्डालस्पर्शसाधर्मिकमृत्यादय एव भोः ॥५५५॥

अर्थ—इनके सिवाय चांडाल का स्पर्श हो जाना, किसी साधर्मी की मृत्यु हो जाना आदि और भी भोजन में बाधा डालने वाले बहुत से अन्तराय हैं।

अन्तरायों में से किसी भी अन्तराय के आने पर भोजन का त्याग—

एषामन्यतमः कश्चिदन्तरायः स्वकर्मणा।
यद्यायाति तदाहारमर्द्धभुक्तं त्यजेद्यमी ॥५५६॥

अर्थ—अपने कर्म के उदय से इन अन्तरायों में से यदि कोई भी अन्तराय आ जाये तो मुनियों

को उसके बाद आहार का त्यागकर देना चाहिए, आधे खाये हुए आहार का भी त्याग कर देना चाहिए।

भोजन करके अपने स्थान पर आगमन—

ततोऽसौ संयतो ह्येतानन्तरायान् प्रपालयन्।
स्वादुं त्यक्त्वा चरीं कृत्वा प्रयाति स्वाश्रमं द्रुतम्॥५५७॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को इन अन्तरायों का पालन करते हुए स्वाद को छोड़कर चर्या करनी चाहिए और चर्या करके शीघ्र ही अपने आश्रम में आ जाना चाहिए।

ग्लानि आदि का निषेधन—

न तत्रोपविशेद् योगी ग्लान्यादिकारणं विना।
जल्पनं हसनं वा न कुर्याद् योषिज्जनादिभिः ॥५५८॥

अर्थ—मुनियों को वहाँ पर ग्लानि आदि किसी कारण के बिना बैठना नहीं चाहिए तथा स्त्री वा पुरुषों के साथ बातचीत वा हँसी कभी नहीं करनी चाहिए।

गुरु के समीप चारों आहारों का प्रत्याख्यान—

किन्तु स्वगुरुमासाद्य नत्वा भक्त्या चतुर्विधम्।
प्रत्याख्यानं स गृह्णीयात्स्वशक्त्या कर्महानये ॥५५९॥

अर्थ—किन्तु अपने गुरु के पास आकर भक्तिपूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिए और कर्मों को नाश करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।

निंदा और गर्हापूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण की आवश्यकता—

ततोऽतीचारशुद्ध्यर्थं निन्दागर्हादिपूर्वकम्।
मुनिः कुर्याद्धि गोचारी प्रतिक्रमणमञ्जसा ॥५६०॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को उस चर्या में लगे हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए निंदा और गर्हापूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण (आहार में लगे हुए दोषों की क्षमापणा) करना चाहिए।

कर्म नष्ट करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय आवश्यक—

पुनः कर्मक्षयायाऽसौ शास्त्राभ्यासं निरन्तरम्।
ध्यानं वा परमं सारं प्रशस्तं परमेष्ठिनाम् ॥५६१॥

अर्थ—इसके बाद उन मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए और परमेष्ठियों का सारभूत सर्वोत्कृष्ट प्रशस्त ध्यान धारण करना चाहिए।

समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग—

करोति तत्त्वचिन्तां च भावनां स्वपरात्मनः।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा संवेग-धर्मवासितम् ॥५६२॥

अर्थ—उन मुनियों को अपने मन के समस्त संकल्प-विकल्पों का त्याग कर देना चाहिए तथा मन को संवेग और धर्म में स्थिर कर तत्त्वों का चिंतन तथा अपने आत्मा की भावनाओं का और अन्य आत्माओं की भावना का चिंतन करते रहना चाहिए।

दिन में सोने का त्याग तथा विकथाओं का परित्याग—

न दिवाशयनं कुर्याद् विकथां नाघकारिणीम्।
लाभालाभादि-पृष्टोऽपि वदेज्जातु न संयमी ॥५६३॥

अर्थ—मुनियों को न तो दिन में कभी सोना चाहिए, न पाप उत्पन्न करने वाली विकथाएँ कहनी चाहिए तथा पूछने पर भी किसी के लाभ वा अलाभ को नहीं बतलाना चाहिए।

धर्मध्यान के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं व्यतीत करना चाहिए—

बहुनोक्तेन किं साध्यं धर्मध्यानं विना यतिः।
एकां कालकलां जातु गमयेन्नाति-दुर्लभाम् ॥५६४॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि मुनियों को बिना धर्मध्यान के अत्यन्त दुर्लभ ऐसी काल की एक घड़ी भी नहीं बितानी चाहिए।

विकथाओं के कहने से निरन्तर पापों का संचय—

यतो ये न पराहारं गृहीत्वा कुर्वते शठाः।
चतुर्धा विकथां तेषां वृथा दीक्षाघसंचयात् ॥५६५॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी मुनि दूसरे का आहार ग्रहण करके भी चारों प्रकार की विकथा में लगे रहते हैं उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है क्योंकि विकथाओं के कहने से उनके निरंतर पापों का संचय होता रहता है।

रत्नत्रय के बिना केवल भार वहन—

वा ते प्रमादिनो नूनं पराहारादिभक्षणात्।
विना रत्नत्रयं दीना भवन्ति भारवाहकाः ॥५६६॥

अर्थ—अथवा यों कहना चाहिए कि दूसरों का आहार खा-खाकर वे प्रमादी बन गए हैं और रत्नत्रय के बिना वे दीन केवल भार वहन करने वाले वा बोझा ढोने वाले हैं।

प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए—

इति मत्वा न कर्तव्यः प्रमादो विकथादिजः।
किन्तु स्वर्मुक्ति संसिद्ध्यै स्थातव्यं मोक्षकांक्षिभिः॥५६७॥

अर्थ—यही समझकर विकथादिकों से उत्पन्न हुआ प्रमाद मुनियों को कभी नहीं करना चाहिए किन्तु मोक्ष की इच्छा करने वाले उन मुनियों को स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

भोजन शुद्धि सब धर्मों की खानि है—

इत्यैषा-शन-शुद्धिश्चानुष्ठेया यत्नतोऽन्वहम्।
विश्वधर्मखनी सारा वृत्तमूला गुणाकरा ॥५६८॥

अर्थ—इस प्रकार कही हुई यह भोजन शुद्धि मुनियों को प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिए क्योंकि यह भोजन शुद्धि समस्त धर्मों की खानि है, सारभूत है, चारित्र की जड़ है और गुणों की खानि है।

अध:कर्मजन्य आहार को ग्रहण करने का फल—

यतो बहूपवासाश्च योगा आतापनादय:।
अध:कर्मभुजां व्यर्था: स्यु: षडङ्गि-विघातनात्॥५६९॥

अर्थ—जो मुनि अध:कर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं उनके छहों प्रकार के जीवों के घात करने का पाप लगता है अतएव उनके अनेक उपवास और आतापन आदि योग सब व्यर्थ हो जाते हैं।

मुनियों को शुद्ध करने वाली सारभूत भिक्षाशुद्धि—

यथाऽत्र व्यवहाराख्या शुद्धि: सागारिणां परा।
भिक्षा-शुद्धिस्तथा सारा योगिनां शुद्धिकारिणी॥५७०॥

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थों की उत्कृष्ट शुद्धि व्यवहार शुद्धि कहलाती है, उसी प्रकार मुनियों की शुद्धि करने वाली सारभूत भिक्षाशुद्धि समझनी चाहिए।

सदोष आहार का निषेध–

वरं प्रत्यहमाहारं निरवद्यं तपस्विनाम्।
न च पक्षोपवासादौ सदोषं पारणं क्वचित् ॥५७१॥

अर्थ—मुनियों को निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा महीनेभर का उपवास करके पारणा के दिन सदोष आहार करना अच्छा नहीं।

भिक्षा की शुद्धि प्रयत्नपूर्वक आवश्यक—

विज्ञायेति प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धि: शिवङ्करा।
गुणरत्नखनी नित्यं विधेया भवभीरुभि: ॥५७२॥

अर्थ—यही समझकर संसार से भयभीत रहने वाले मुनियों को गुणरूपी रत्नों की खानि और मोक्ष प्रदान करने वाली भिक्षा की शुद्धि प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए।

एषणा शुद्धि को धारण करने का फल—

सकलचरणमूलां दु:खदावाम्बुवृष्टिं जिनमुनिगणसेव्यां स्वाक्ष-कर्मारिशस्त्रीम्।
परमसुगुणखानिं स्वर्गमोक्षद्रुधात्रीं भजत परमयत्नादेषणा-शुद्धिमार्या: ॥५७३॥

अर्थ—इस प्रकार यह एषणा शुद्धि समस्त चारित्र की मूलकारण है, दुःखरूपी दावानल अग्नि के लिए पानी की वर्षा है, भगवान् जिनेन्द्रदेव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते हैं इसको पालन करते हैं, अपनी इन्द्रियाँ और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिए यह भिक्षाशुद्धि एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणों की खानि है और स्वर्ग, मोक्षरूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिए धाय के समान है। अतएव मुनियों को परम प्रयत्नपूर्वक इस एषणा शुद्धि को धारण करना चाहिए।

आदान निक्षेपण समिति का स्वरूप—

ज्ञानसंयमशौचोप-करणानां प्रयत्नतः।
यत्संस्तरादि-वस्तूनां ग्रहणं क्रियते बुधैः ॥५७४॥
निक्षेपणं निरीक्ष्योच्चैश्चक्षुर्भ्यां प्रतिलेख्य वै।
मृदु-पिच्छिकयादान-निक्षेपा समितिश्च सा ॥५७५॥

अर्थ—बुद्धिमान् मुनि ज्ञान के उपकरणों को, संयम के उपकरणों को, शौच के उपकरणों को और सोने-बैठने के साधनों को, नेत्रों से अच्छी तरह देखकर तथा कोमल पिच्छिका से शोध कर प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रयत्नपूर्वक ही रखते हैं, उनकी इस क्रिया को आदान-निक्षेपण समिति कहते हैं।

पुस्तक आदि ज्ञानोपकरण को पिच्छिका से देखकर रखना—

पुस्तकाद्युपधीन् साधुः कार्यार्थं चक्षुषा मुहुः।
विलोक्य प्रतिलेख्यात्र गृह्णीयात्स्थापयेत्तथा ॥५७६॥

अर्थ—साधुओं को पुस्तक आदि ज्ञान के समस्त साधन अपने कार्य के लिए नेत्रों से अच्छी तरह देखकर तथा पिच्छिका से शोध कर ग्रहण करना चाहिए और इसी प्रकार देख-शोध कर रखना चाहिए।

संस्तर आदि को हिलाने का निषेध—

संस्तरं फलकं वान्योपधिं रात्रौ न चालयेत्।
सति कार्येपि योगीन्द्रो जीवबाधादिशङ्कया ॥५७७॥

अर्थ—मुनियों को आवश्यक कार्य होने पर भी, अनेक जीवों की बाधा के डर से, रात्रि में अपने सोने-बैठने के पाट को वा अन्य संस्तर को कभी हिलाना वा चलाना नहीं चाहिए।

नहीं हिलाने का कारण—

यतो रात्रौ न दृश्यन्ते सूक्ष्माः स्थूलाश्च जंतवः।
तस्मात्तच्चालनेनाशु ध्रुवं तेषां विराधना ॥५७८॥

अर्थ—क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म वा स्थूल कोई भी जीव दिखाई नहीं देते, अतएव उस पाट व संस्तर के हिलाने-चलाने में बहुत शीघ्र उन जीवों की विराधना हो जाती है।

दिन में भी अन्धकार युक्त स्थान में उपकरणों को रखने का निषेध—

दिवसे वा प्रदेशे बह्वन्धकारान्विते बुधैः।
अदृष्टिगोचरे कार्यं वस्तूनां स्थापनादि न ॥५७९॥

अर्थ—यदि दिन भी हो और जिस किसी अंधेरे स्थान में बहुत अंधेरा हो, कुछ दिखाई न देता हो, उसमें भी किसी पदार्थ को नहीं रखना चाहिए।

हिलने-डुलने वाले आसनों पर बैठने का निषेध—

पट्टके फलकेऽन्यत्र वा चले शयनासनम्।
जीवबाधाकरं जातु न कर्तव्यं व्रतार्थिभिः ॥५८०॥

अर्थ—व्रती मुनियों को हिलने-डुलने वाले तख्ते पर वा पाट पर न कभी सोना चाहिए और न बैठना चाहिए क्योंकि ऐसे आसन पर सोने-बैठने से अनेक जीवों की बाधा हो जाती है।

निंदनीय अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन एवं सहसा प्रतिलेखन का निषेध—

धर्मोपकरणादीनां निन्द्यमप्रतिलेखनम्।
आदानस्थापनाकाले तथा दुष्प्रतिलेखनम्॥५८१॥
महासंयम-संसिद्ध्यै सहसा प्रतिलेखनम्।
अयत्नमनसा जातु न कार्यं संयतैः क्वचित् ॥५८२॥

अर्थ—मुनियों को धर्मोपकरणों के उठाने वा रखने में निंदनीय अप्रतिलेखन (पिच्छिका से शुद्ध नहीं करना, नहीं देखना आदि) कभी नहीं करना चाहिए तथा दुष्प्रतिलेखन (अच्छी तरह न देखना, न अच्छी तरह पिच्छिका से शोधना, यों ही इधर-उधर पिच्छिका मार देना) भी नहीं करना चाहिए तथा महा संयम की सिद्धि के लिए सहसा प्रतिलेखन (जल्दी-जल्दी देख शोध लेना) भी नहीं करना चाहिए और बिना प्रयत्न तथा बिना मन के भी कभी प्रतिलेखन नहीं करना चाहिए।

धर्मोपकरणों का बार-बार संशोधन—

किन्तु कुर्यात्प्रयत्नेन ग्रहण-स्थापनादिकम्।
शनैः स प्रतिलेख्येऽक्ष्य स्वोपधीनां मुहुर्मुहुः ॥५८३॥

अर्थ—किन्तु धर्मोपकरणों का ग्रहण और स्थापन प्रयत्नपूर्वक बार-बार देखकर और बार-बार पिच्छिका से शोधकर धीरे-धीरे करना चाहिए।

आदान निक्षेपण समिति पालन का फल—

इमां ये समितिं सारां निष्प्रमादा भजन्ति वै।
तेषा-माद्यं व्रतं पूर्णं व्रतानां मूलकारणम् ॥५८४॥

अर्थ—जो मुनिराज प्रमादरहित होकर इस आदान निक्षेपण नाम की सारभूत समिति को पालन करते हैं, उनके समस्त व्रतों का मूल कारण ऐसा पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है।

ऐसा नहीं करने से स्थूल तथा सूक्ष्म जीवों की हिंसा—

विनेमां समितिं योऽत्र शिथिला विहरन्ति भोः।
घ्नन्ति स्थूलाङ्गिराशीस्ते का कथा सूक्ष्मदेहिनाम् ॥५८५॥

अर्थ—इस आदान निक्षेपण समिति को पालन किये बिना जो शिथिलाचारी मुनि विहार करते हैं, वे अवश्य ही अनेक स्थूल जीवों के समूह का नाश करते हैं, फिर भला सूक्ष्म जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् सूक्ष्म जीवों का तो बहुतों का नाश होता है।

आदान निक्षेपण समिति का पालन करने का फल—

मत्वेति मुनयो नित्यं पालयन्तु दयाप्तये।
इमां सुसमितिं यत्नाद्दर्शनप्रतिलेखनैः ॥५८६॥

(छन्द मालिनी)

वृषभमुनिनिषेव्यां स्वर्गसोपानपंक्तिं शिवशुभगतिवीथीं निर्जरा संवरस्य।
भुवि सकलविधीनां हेतुभूतां मुनीन्द्राः प्रभजत समितिं चादाननिक्षेपणाख्याम् ॥५८७॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को जीवों की दया पालन करने के लिए अच्छी तरह देखकर और अच्छी तरह पिच्छिका से शोधकर, प्रयत्नपूर्वक इस आदान निक्षेपण समिति को पालन करना चाहिए। इस आदान निक्षेपण समिति को सर्वोत्कृष्ट मुनि भी पालन करते हैं, यह स्वर्ग के लिए सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष का मार्ग है तथा शुभ गतियों का मार्ग है और कर्मों की निर्जरा की तथा संवर की, समस्त विधियों का कारण है। अतएव हे मुनिराजों! आप लोग भी इस आदाननिक्षेपण समिति का पालन करो।

प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप—

एकान्ते निर्जने दूरे संवृते दृष्ट्यगोचरे।
विलादिरहितेऽचित्तेऽविरोधे जन्तुवर्जिते ॥५८८॥
प्रदेशे क्रियते यत्स्वोच्चार-प्रस्त्रवणादिकम्।
दृष्टिपूर्वं प्रतिष्ठापनिका सा समितिर्मता ॥५८९॥

अर्थ—मुनि लोग जो मल-मूत्र करते हैं, वह ऐसे स्थान में करते हैं जो एकांत हो, निर्जन हो, दूर हो, ढका हो अर्थात् आड़ में हो, दृष्टि के अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हो, जो अचित्त हो,

विरोध रहित हो अर्थात् जहाँ किसी की रोक टोक न हो और जिसमें जीव-जंतु न हों ऐसे स्थान में देख-शोध कर वे मुनिराज मल मूत्रादि करते हैं, इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं।

प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्र का क्षेपण आवश्यक—

मलमूत्रादिकं सर्वं श्लेष्मानिष्ठीवनादि च।
प्रासुकं भूतलं वीक्ष्य प्रतिलेख्य क्षिपेद्यमी ॥५९०॥

अर्थ—मुनियों को प्रासुक भूमि देखकर और पिच्छिका से शुद्ध कर फिर उस पर मलमूत्र, कफ, थूक, नाक का मल आदि डालना चाहिए।

दिन हो चाहे रात्रि, मल-मूत्र का क्षेपण दृष्टि के अगोचर नहीं करना चाहिए—

क्षपायां दिवसे वाऽत्र प्रदेशे दृष्टिगोचरे।
कायोद्भवं मलं सर्वं क्षिपेज्जातु न संयमी ॥५९१॥

अर्थ—चाहे दिन हो और चाहे रात हो जो प्रदेश दृष्टि के गोचर नहीं होता, जो स्थान दिखाई नहीं देता, उस स्थान पर मुनियों को अपने शरीर का कोई भी मल नहीं डालना चाहिए।

कफ आदि मल पर बालू रेत का क्षेपण—

श्लेष्मादिकं परिक्षिप्य धरादौ वालुकादिभिः।
छादयन्तु बुधा यत्नाज्जन्तुपातादिशङ्कया ॥५९२॥

अर्थ—बुद्धिमान् संयमियों को चाहिए कि वे पृथ्वी पर कफ वा नाक का मैल डालकर उसके ऊपर बालू डाल दें, जिससे कि उसमें किसी जीव के पड़कर मर जाने की शंका न रहे।

देख-शोधकर उठाने-रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है—

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वमन्तर्मलोज्झनम्।
अवष्टम्भं च कुड्यादौ वपुःकण्डूयनादिकम् ॥५९३॥
अन्यद्वा त्यजनं किञ्चिल्लोकनप्रतिलेखनैः।
विना जातु न कर्तव्यं संवराय मुमुक्षुभिः ॥५९४॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमियों को जो कुछ करना हो, दूर वा समीप में मलमूत्र कफ आदि का त्याग करना हो, किसी दीवाल से शरीर खुजलाना हो अथवा और कोई पदार्थ रखना हो इत्यादि सब काम बिना देखे और बिना शोधे, बिना पिच्छिका से शुद्ध किये कभी नहीं करने चाहिए क्योंकि देख-शोधकर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है अन्यथा नहीं।

ऐसा नहीं करने से स्थावर जीवों का घात तो होता ही है—

यतो येऽन्तर्मलं मूढाः क्षिपन्ति यत्नतो विना।
त्रसांस्ते मारयन्त्यत्र का वार्ता स्थावराङ्गिनाम् ॥५९५॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी संयमी बिना यत्नाचार के मल-मूत्र का त्याग करते हैं, वे अवश्य ही त्रस जीवों का घात करते हैं फिर भला स्थावर काय के जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् उनका घात तो होता ही है।

सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन—

मत्वेति सर्वयत्नेनात्रेमां समितिमूर्जिताम्।
पालयन्तु विदो योगशुद्ध्या दृक्प्रतिलेखनैः ॥५९६॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् संयमियों को मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक पूर्ण प्रयत्न के साथ नेत्रों से अच्छी तरह देखकर तथा पिच्छिका से शोधकर, इस सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते रहना चाहिए।

(छन्द मालिनी)

इसका फल उपसंहारात्मक—

जिनवर-मुखजातां धर्मरत्नादि-खानिं गणधरमुनि-सेव्यां स्वर्गसोपानमालाम्।
शिवसुखफलवल्ली मुक्तिकामा भजन्तु समितिमपमलां यत्नात्प्रतिष्ठापनाख्याम् ॥५९७॥

अर्थ—यह प्रतिष्ठापन समिति भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई है, धर्मरूपी रत्नों की खानि है, समस्त गणधरदेव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते हैं, इसको पालते हैं, यह स्वर्ग के लिए सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष सुखरूपी फलों की बेल है और समस्त दोषों से रहित है, ऐसी यह प्रतिष्ठापना समिति मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक पालन करनी चाहिए।

(छन्द शार्दूलविक्रीडित)

पाँचों समितियों का महाफल—

एताः पञ्चशुभाकराः सुसमितयःस्वर्मोक्षसौख्यप्रदाः
अन्तातीतगुणाकरा भुवि महा सर्वव्रताऽम्बाःपराः।
ये यत्नेन सुपालयन्ति निपुणास्तेषां च पञ्चैव स्युः
संपूर्णानि महाव्रतानि सुधियां स्वर्मुक्तिशर्मादयः ॥५९८॥

अर्थ—ये ऊपर कही हुई पाँचों समितियाँ कल्याण करने वाली हैं, स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाली हैं, अनंत गुणों की खानि हैं और समस्त महाव्रतों की जननी हैं। जो बुद्धिमान् मुनि प्रयत्नपूर्वक इन उत्कृष्ट समितियों का पालन करते हैं, उन चतुर पुरुषों के पाँचों महाव्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तथा स्वर्ग-मोक्ष के पूर्ण सुख और कल्याण प्राप्त होते हैं।

(छन्द शार्दूलविक्रीडित)

पाँचों समितियों के पालन नहीं करने का फल—

आसां ये शिथिलाः प्रपालनविधौ निन्द्यं प्रमादं सदा कुर्वन्त्यत्र दयादयो व्रतगुणास्तेषां प्रणश्यन्ति भोः।
तन्नाशाच्च महाघमात्महतकं तत्पाकतो दुर्गतौ घोरं स्यादसुखं ह्यमुत्र परमं चान्तातिगा संसृतिः ॥५९९॥

अर्थ—जो मुनि इन पाँचों समितियों के पालन करने में शिथिलता करते हैं तथा निंदनीय प्रमाद करते हैं, उनके दया आदि व्रत और गुण सब नष्ट हो जाते हैं। व्रतों के नष्ट होने से, आत्मा का घात करने वाला महापाप उत्पन्न होता है, उस महापाप के उदय से परलोक में दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं, उन

दुर्गतियों में महा घोर दु:ख उत्पन्न होते हैं और अनंत संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

(छन्द शार्दूलविक्रीडित)

करुणा आदि गुणों को धारण करने के लिए पाँचों समितियों का पालन अत्यन्त आवश्यक—

मत्वेतीह बुधाः प्रयत्नमनसा स्वर्मोक्षसंसिद्धये
कारुण्यादिगुणाय मुक्तिजननीः कृत्स्नव्रताम्बाः शुभाः।
तीर्थेशादिविभूतिदाश्च समितीः पञ्चैव पापातिगाः
दृग्रत्नादिखनीः भवारिमथनीः संपालयन्तूत्तमाः ॥६००॥

अर्थ—ये पाँचों समितियाँ मोक्ष की जननी हैं, समस्त व्रतों की माता है, कल्याण करने वाली है, तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि की उत्तम विभूतियों को देने वाली हैं, समस्त पापों से रहित हैं, सम्यग्दर्शनादिक रत्नों की खानि हैं और संसाररूपी शत्रुओं को नाश करने वाली हैं, यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि करने के लिए और करुणा आदि गुणों को धारण करने के लिए, अपने मन में अत्यन्त प्रयत्न कर के इन पाँचों उत्तम समितियों का पालन करते रहना चाहिए।

(छन्द वसन्ततिलका)

पाँचों समितियों के पालनकर्ता—(१) आचार्य (२) उपाध्याय एवं सर्व साधुओं के प्रति आचार्य द्वारा अन्तिम नमस्कार—

ये पालयन्ति निपुणाः समितीः समस्ताः आचार्यपाठकसुसाधुमुनीन्द्रवर्गाः।
बाह्यान्तरोपवधिरक्तमनोङ्गवाक्यास्तेषां गुणाय चरणान् प्रणमामि नित्यम् ॥६०१॥

इति मूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते अष्टाविंशतिमूलगुण व्याख्याने पंचसमिति-वर्णनो नाम द्वितीयोधिकारः।

अर्थ—जो आचार्य, उपाध्याय, साधु वा मुनीन्द्र वर्ग अपने मन-वचन-काय से, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्यागकर इन समस्त समितियों का पालन करते हैं, उन समस्त चतुर आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के गुण प्राप्त करने के लिए उनके चरण कमलों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में अट्ठाईस मूलगुणों के व्याख्यान में पाँचों समितियों का वर्णन करने वाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

तृतीयोऽधिकारः

मंगलाचरण

निर्जिताक्षफलाप्तांश्च जिनेन्द्रान् सिद्धिमाश्रितान्।
हतपञ्चाक्षमातंगान् साधुसिंहान्स्तुवेऽखिलान् ॥६०२॥

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियों को जीतने का केवलज्ञानरूपी फल प्राप्त कर लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूँ तथा जिन्होंने आत्मसिद्धि प्राप्त कर ली है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति करता हूँ और पाँचों इन्द्रियों रूपी हाथियों को मारने के लिए सिंह के समान समस्त साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ।

मोक्ष सुख के लिए पाँचों इन्द्रियों का निरोध—

अथ पञ्चाक्षरोधादीन् वक्ष्ये मूलगुणान् परान्।
विश्वर्द्धिगुणमूलांश्च स्वान्येषां सिद्धिशर्मणे ॥६०३॥

अर्थ—अब आगे पाँचों इन्द्रियों के निरोध करने रूप श्रेष्ठ मूलगुणों को कहते हैं ये गुण अपने और दूसरों के समस्त ऋद्धियों और गुणों के मूल हैं इसलिए मोक्षसुख के लिए उनका निरूपण करता हूँ।

पाँचों इन्द्रियों के नाम—

चक्षुः श्रोत्रेन्द्रियं घ्राणं जिह्वास्पर्श इमानि वै।
पञ्चेन्द्रियाणि जन्तूनां सर्वानर्थं कराण्यहो ॥६०४॥

अर्थ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और जीवों के समस्त अनर्थों को करने वाली हैं।

पञ्चेन्द्रियों का निर्मल निरोध—

अमीषां गच्छतां स्वस्वविषयेषु निरोधनम्।
विधीयतेऽत्र यत्पञ्चेन्द्रियरोधा हि तेऽमलाः ॥६०५॥

अर्थ—ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय ग्रहण करने के लिए जाती हैं उनको विषयों के प्रति न जाने देना उनका निरोध करना पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध कहलाता है।

चक्षु निरोध नामक गुण कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है—

सचित्ताचित्तमिश्राणां रूपाणां स्त्रीनरात्मनाम्।
गौरादिवर्णभेदानां दिव्यसंस्थानधारिणाम् ॥६०६॥

कलानृत्यादि-युक्तानां रागाद्यैश्चानिरीक्षणम्।
मुनीनां यत्स विज्ञेयश्चक्षुरोधो निरास्रवः ॥६०७॥

अर्थ—कोई रूप सचित्त होता है, कोई अचित्त होता है और कोई मिश्र होता है तथा स्त्री पुरुषों के रूप गौर वर्ण भी होते हैं तथा अन्य वर्ण भी होते हैं। दिव्य संस्थान को धारण करने वाले तथा कला, नृत्य आदि से सुशोभित स्त्री-पुरुषों के रूप को रागपूर्वक न देखना मुनियों का चक्षुनिरोध नाम का गुण कहलाता है। यह गुण भी आस्रव को रोकने वाला है।

किन-किन को नहीं देखना चाहिए—

नाना-स्त्रीरूपसंस्थानसुशृङ्गारमुखादिकान्।
बहून् नाटकभेदाश्च कला-विज्ञान-कौतुकान् ॥६०८॥
अनेक-चित्र-कर्माद्यान् रागोत्पत्ति-करानपि।
क्रीडाविनोदहास्यादीन् पश्येज्जातु न संयमी ॥६०९॥

अर्थ—संयमी मुनियों को अनेक प्रकार की स्त्रियों के रूप, संस्थान, शृंगार वा मुख आदि अंगों को नहीं देखना चाहिए। अनेक प्रकार के नाटक, कला, विज्ञान, कौतुक, राग उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के चित्र कर्म, क्रीड़ा, विनोद, हास्य कर्म आदि कभी नहीं देखने चाहिए।

चित्त को मोहित करने वाले पदार्थों को नहीं देखना चाहिए—

द्रव्यकाञ्चन-रत्नादींश्चित्त-व्यामोहकारिणः ।
नेपथ्य-पट्टकूलाद्यान् न च पश्यन्ति योगिनः ॥६१०॥

अर्थ—चित्त को मोहित करने वाले धन, सुवर्ण, रत्न, परदे के भीतर के पदार्थ, वस्त्र वा वस्त्र के किनारे आदि मुनियों को कभी नहीं देखना चाहिए।

भोगोपभोग के पवित्र और अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिए—

भोगोपभोगवस्तूनि संज्ञावृद्धिकराणि च।
पवित्राण्यपवित्राणि नालोकयेद्यमी क्वचित् ॥६११॥

अर्थ—मुनियों को आहार, भय, मैथुन, परिग्रह बढ़ाने वाले भोगोपभोग के पवित्र वा अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिए।

रौद्रध्यान उत्पन्न करने वाले संग्रामों को नहीं देखना चाहिए—

भूपसामन्तसैन्यादीन् रौद्रध्यान-विधायिनः।
कलि-सङ्ग्राम-सर्वांश्च विलोकयति नात्मवान् ॥६१२॥

अर्थ—आत्मज्ञ पुरुषों को रौद्रध्यान उत्पन्न करने वाले राजा सामंत और उनकी सेना को भी कभी नहीं देखना चाहिए तथा कलियुग के समस्त संग्रामों के देखने का भी त्याग कर देना चाहिए।

मिथ्यात्ववर्धक स्थानों को नहीं देखना चाहिए—

कुदेव-लिङ्गि-पाषण्डि-मठबिम्बानि भूतले।
कुतीर्थाणि कुशास्त्राणि षडनायतनानि च ॥६१३॥
मिथ्यात्ववर्द्धकान्येव स्थानानि प्रचुराण्यपि।
पश्येज्जातु न सद्दृष्टिर्दृग्रत्न-मलशङ्कया ॥६१४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुषों को कुदेव, कुलिंगी, पाखंडी, उनके मठ, उनके प्रतिबिंब, कुतीर्थ, कुशास्त्र, छहों अनायतन आदि कभी नहीं देखने चाहिए क्योंकि ये बहुत से स्थान मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले हैं, इसलिए सम्यग्दर्शनरूपी रत्न में मल उत्पन्न होने की शंका से डरकर ऐसे स्थान कभी नहीं देखने चाहिए।

राग उत्पन्न करने वाले बहुत से स्थानों को नहीं देखना चाहिए—

धामशालप्रतोल्यादीन् स्थानान् रागकरान् बहून्।
अन्यांश्च पत्तनादीन् स पश्येज्जातु न शुद्धये ॥६१५॥

अर्थ—मुनियों को अपने आत्मा की शुद्धि रखने के लिए धाम, कोट, गलियाँ वा राग उत्पन्न करने वाले नगर आदि बहुत से स्थानों को कभी नहीं देखना चाहिए।

यदि बिना इच्छा के ये पदार्थ दृष्टिगत हों तो दृष्टि नीची कर लें—

ताननीहितवृत्यात्र क्वचिद्दृष्ट्वाघशङ्कया।
रागभीत्याथवा योगी सहसाधोमुखी भवेत् ॥६१६॥

अर्थ—यदि अपनी इच्छा के बिना इन पदार्थों में कभी मुनियों की दृष्टि पड़ जाये तो पाप की शंका से अथवा राग के डर से उनको उसी समय अपनी दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए, अपना मुख नीचा कर लेना चाहिए।

राग रहित देखने से कर्म बंधन नहीं—

रागबुद्ध्या न पश्येद् य एतांल्लोके चरन्नपि।
कर्मभिर्बध्यते नाहो किन्तु स्यान्मुक्त एव सः ॥६१७॥

अर्थ—यद्यपि मुनि इस संसार में सब जगह विहार करते हैं तथापि वे रागबुद्धि से इन पदार्थों को कभी नहीं देखते। ऐसे मुनि कर्मों से कभी नहीं बँधते किन्तु मुक्त होते हैं उनके आस्रव नहीं होता किन्तु निर्जरा होती है।

राग सहित देखने से ब्रह्मचर्य का नाश—

रागबुद्ध्यात्र यः पश्येदिमां तस्य प्रतिक्षणम्।
क्वचिद्रागः क्वचिद्द्वेषो जायते मानसेऽन्वहम् ॥६१८॥

ताभ्यां घोरतरं पापं पापाच्चातिगो भवः।
भवेऽनन्तं महादुःखं चतुर्गतिभवं ध्रुवम् ॥६१९॥
तथाऽजितेन्द्रियारीणां दुर्द्धियां चञ्चलात्मनाम्।
कथं ब्रह्मव्रतं तिष्ठेत्तद्विना क्व व्रतं तपः ॥६२०॥

अर्थ—जो मुनि इन पदार्थों को रागबुद्धि से देखता है उसके प्रति क्षण में कहीं राग उत्पन्न होता है और कहीं मन में द्वेष उत्पन्न होता है। उन राग-द्वेष से प्रतिदिन घोर पाप उत्पन्न होते रहते हैं उन पापों से अनंतभवों में जन्म-मरण करना पड़ता है तथा चारों गतियों में उत्पन्न होने वाले महा दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके सिवाय दुर्बुद्धि को धारण करने वाले जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को नहीं जीतते हैं उनका मन सदा चंचल बना रहता है, ऐसी अवस्था में उनका ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं टिक सकता तथा बिना ब्रह्मचर्य के व्रत और तपश्चरण भी नहीं ठहर सकते।

राग घटाने के लिए चक्षु इन्द्रिय का निरोध—

मत्वेति विश्वयत्नेन चक्षुरोधं सुधीधनाः।
रागहान्यै प्रकुर्वन्तु ब्रह्मभङ्गादिशङ्कया ॥६२१॥

अर्थ—सही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को अपना राग घटाने के लिए तथा ब्रह्मचर्य व्रत के भंग होने की आशंका से पूर्ण प्रयत्न के साथ चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिए।

(छन्द शार्दूलविक्रीडित)

मोक्षार्थी के लिए चक्षु इन्द्रिय का निरोध अत्यन्त आवश्यक है—

सर्वानर्थकरं च रागजनकं चक्षुर्भ्रमद्भूतले
रोधित्वाशु बुधा निरोधनगुणैर्मोक्षार्थसंसिद्धये।
स्वर्मुक्तैक-विधं कुकर्महतकं धर्माकरं यत्नतः
कुर्वीध्वं सकलं गुणाम्बुधिमिमं चक्षुर्निरोधं सदा ॥६२२॥

अर्थ—समस्त संसार में परिभ्रमण करते हुए ये चक्षु समस्त अनर्थों को करने वाले हैं और राग को बढ़ाने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए अपनी इन्द्रियों को रोकने रूप गुण से चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिए और चक्षुनिरोध नाम के गुण को सदा के लिए धारण करना चाहिए। यह चक्षुनिरोध नाम का गुण स्वर्ग-मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अशुभ कर्मों का नाश करने वाला है, धर्म का खजाना है और गुणों का समुद्र है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसका पालन करना चाहिए।

सातों प्रकार के शब्दों को रागसहित नहीं सुनना श्रोत्र इन्द्रिय निरोध है—

षड्गर्षभौ च गान्धारो धैवतो मध्यमः स्वरः।
पञ्चमाख्यो निषादः सप्त शब्दा जीवजा इमे ॥६२३॥

एतेषां जीवशब्दानां वीणाद्यचेतनात्मनाम्।
रागेणाश्रवणं यत्सः श्रोत्ररोधोघहानिकृत् ॥६२४॥

अर्थ—षड्ज, ऋषभ, गांधार, धैवत, मध्यम, पंचम और निषाद ये जीवों से उत्पन्न होने वाले सात प्रकार के स्वर हैं। जीवों से उत्पन्न हुए इन शब्दों को तथा वीणा आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए शब्दों को रागपूर्वक सुनना श्रोत्र निरोध नाम के गुण को हानि पहुँचाने वाला है।

रागसहित गीतादि के श्रवण का निषेध—

सरागगीतगानाद्या रागकामाग्निदीपकाः।
वीणामृदंगवाद्याश्च न श्रोतव्या जितेन्द्रियैः ॥६२५॥

अर्थ—रागपूर्वक होने वाले गीत, गान वा वीणा, मृदंग आदि बाजे राग और कामरूपी अग्नि को बढ़ाने वाले हैं, इसलिए जितेन्द्रिय पुरुषों को कभी नहीं सुनने चाहिए।

रागवर्धक शास्त्रों के श्रवण का निषेध—

शृङ्गार-युद्ध-हास्यादि पोषकाणि ह्यनेकशः।
कलि-कौतूहलोत्पाद-कानि शास्त्राणि जातुचित् ॥६२६॥
मिथ्यामताघदृब्धानि महापापकराणि च।
धूर्तैः प्रज्ज्वलितान्यत्र न श्रूयन्ते दृगन्वितैः ॥६२७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष शृंगार, युद्ध, हास्य आदि को पुष्ट करने वाले तथा कलियुग का कौतूहल बढ़ाने वाले (परस्पर युद्ध कराने वाले) अनेक प्रकार के शास्त्रों को कभी नहीं सुनते हैं। जो शास्त्र मिथ्यामतरूपी पाप से भरे हुए हैं, जो महा पाप उत्पन्न करने वाले हैं और धूर्तों के द्वारा बनाये गये हैं ऐसे शास्त्र भी कभी नहीं सुनते हैं।

विकथाओं को सुनने का त्याग—

असत्याः कुकथा मिथ्यामार्गजा विकथादयः।
वृथास्तवान्यनिन्दाद्या न श्रोतव्याः बुधैः क्वचित् ॥६२८॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को असत्य कुकथाएँ, मिथ्यामतों की विकथाएँ, व्यर्थ की स्तुति और दूसरों की निंदा कभी नहीं सुननी चाहिए।

कुकाव्य के श्रवण का निषेध—

कुकाव्यं दुर्मतोपेतं न श्रोतव्यमघाकरम्।
मुक्त्वा जिनोदितं काव्यं दक्षैः प्रज्ञादिवृद्धये ॥६२९॥

अर्थ—इसी प्रकार मिथ्यामत से भरा हुआ और पाप उत्पन्न करने वाला वा कुकाव्य कभी नहीं सुनना चाहिए। बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि बढ़ाने के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य ही पढ़ने चाहिए अन्य नहीं।

अच्छे काव्यों के पढ़ने से बुद्धि श्रेष्ठ होती है—

यतो जिनेन्द्रकाव्येनानघो धर्मोघसंवरः।
ताभ्यां स्याच्च महाप्रज्ञा सतां विश्वार्थदर्शिनी ॥६३०॥

अर्थ—क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य के पढ़ने से पापरहित निर्मल धर्म की वृद्धि होती है और पापों का संवर होता है तथा धर्म और संवर से सज्जन पुरुषों के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है।

मिथ्या काव्यों के सुनने से बुद्धि विपरीत हो जाती है—

कुकाव्यश्रवणेनाघमघान्मति - विपर्ययः।
तेन पातो दृगादिभ्यस्ततोऽशर्मासतां महत् ॥६३१॥

अर्थ—मिथ्या काव्यों के सुनने से पाप होता है, पाप से बुद्धि विपरीत हो जाती है, बुद्धि के विपरीत होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है और सम्यग्दर्शन के छूट जाने से उन दुष्टों को महादुःख उत्पन्न होता है।

जो मुनि रागद्वेष वर्धक शब्दों को नहीं सुनते हैं उनके कर्मबंध नहीं होता—

इत्यादीन् परान् शब्दान् ये शृण्वन्ति न योगिनः।
चरन्तस्ते न बध्यन्ते पापैर्जातु महीतले ॥६३२॥

अर्थ—इस प्रकार जो मुनि सर्वत्र विहार करते हुए भी दूसरे के शब्दों को नहीं सुनते हैं वे इस संसार में कभी पापों से नहीं बँधते हैं।

(मिथ्या) रागद्वेष उत्पन्न करने वाले वचनों के सुनने से वचनातीत महादुःख होता है—

शब्दान् रागादिहेतूंस्तान् ये शृण्वन्त्यत्र रागिणः।
रागद्वेषौ परौ तेषां प्रजायेतेऽन्वहं तराम् ॥६३३॥
ताभ्यां स्युर्दुष्टसङ्कल्पास्तैःस्यात्पापं दुरुत्तरम्।
पापेन संसृतौ दुःखं ते लभन्ते वचोतिगम् ॥६३४॥

अर्थ—जो रागी पुरुष इस संसार में रागद्वेष उत्पन्न करने वाले शब्द सुनते हैं उनके रात-दिन रागद्वेष उत्पन्न होता रहता है तथा रागद्वेष उत्पन्न होने से दुष्ट संकल्प उत्पन्न होते हैं, उन दुष्ट संकल्पों से अत्यन्त घोर पाप उत्पन्न होता है और पापों से इस संसार में वचनातीत महादुःख प्राप्त होते हैं।

अपने पाप शांत करने के लिए श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध आवश्यक है—

विज्ञायेत्येनसां शान्त्यै सर्वयत्नेन धीधनाः।
श्रोत्ररोधं प्रकुर्वन्तु त्यक्त्वा चापल्यमञ्जसा ॥६३५॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को अपने पाप शांत करने के लिए अपनी चंचलता छोड़कर पूर्ण प्रयत्न के साथ शीघ्र ही श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

समस्त सुखों का निधान एवं समस्त सिद्धान्त का कारण श्रोत्रेन्द्रिय का निरोध—

विविधसकलशब्दान् रागहेतून् विमुच्य जिनवरमुखजातान् धर्मशब्दान् गृहीत्वा।
निखिलसुखनिधानं सर्वसिद्धान्तहेतुं कुरुत परमयत्नाच्छ्रोत्ररोधं यतीन्द्राः ॥६३६॥

अर्थ—मुनिराजों को रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले अनेक प्रकार के शब्दों के सुनने का त्याग कर देना चाहिए और भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुए धर्मरूप शब्दों को सुनना चाहिए तथा परम प्रयत्न के साथ समस्त सुखों का निधान और समस्त सिद्धान्त का कारण ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिए।

घ्राणेन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

निसर्गवासितानां च चेतनाचेतनात्मनाम्।
द्रव्यादीनां सुसौरभ्याणां रागादिविधायिनाम्॥६३७॥
गन्धो न घ्रायते योऽत्र रागादिभिर्विरागिभिः।
द्वेषेण वेतराणां स घ्राणरोधो जिनैर्मतः ॥६३८॥

अर्थ—वीतरागी पुरुष स्वभाव से सुगंधित चेतन वा अचेतन सुगंधित और राग बढ़ाने वाले द्रव्यों को रागपूर्वक कभी नहीं सूँघते हैं इसी प्रकार दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को द्वेषपूर्वक नहीं सूँघते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव घ्राण इन्द्रिय का निरोध कहते हैं।

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों का निषेध—

पुष्पकर्पूरकस्तूरी-श्रीखण्डाद्या अनेकशः।
सुगन्धयः शुभद्रव्या घ्रातव्या नाक्ष-निर्जितैः ॥६३९॥

अर्थ—इन्द्रियों को जीतने वाले संयमियों को पुष्प, कर्पूर, कस्तूरी, चंदन आदि अनेक प्रकार के सुगंधित और शुभ द्रव्य कभी नहीं सूँघने चाहिए।

भोजन करते समय भी सुगंधित पदार्थों को नहीं सूँघना चाहिए—

घृतपक्वान्नपानाद्या घ्राणेन्द्रियसुखप्रदाः।
भोजनावसरे जातु न घ्राणीया यतीश्वरैः ॥६४०॥

अर्थ—मुनिराजों को भोजन के समय में भी घ्राण इन्द्रिय को सुख देने वाले घी में पके हुए अन्न-पान आदि पदार्थ भी कभी नहीं सूँघने चाहिए।

दुर्गन्धमय पदार्थों को सूँघकर द्वेष नहीं करना चाहिए—

दुर्गन्धं वा समाघ्राय द्वेषः कार्यो न संयतैः।
पूतिगन्धो यतः कायः स्वस्यैव विद्यतेऽशुभः ॥६४१॥

अर्थ—मुनियों को दुर्गन्धमय पदार्थों को सूँघकर द्वेष भी नहीं करना चाहिए क्योंकि अपना

शरीर ही अत्यन्त अशुभ और अत्यन्त दुर्गन्धमय है।

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों के असेवन से कर्मबंध नहीं होता—

मत्वेति ये न कुर्वन्ति सुगन्धेतर-वस्तुषु।
रागद्वेषौ न तेषां न कर्मबन्धोऽत्र तत्कृतः ॥६४२॥

अर्थ—यही समझकर जो मुनि सुगंधित वा दुर्गंधयुक्त पदार्थों में रागद्वेष नहीं करते। उनके घ्राण इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला कर्मबंध कभी नहीं होता।

सुगंध को रागपूर्वक तथा दुर्गन्ध को द्वेषपूर्वक त्याग का उपदेश—

रागद्वेषेण गृह्णन्ति गन्धौ येऽत्र शुभेतरौ।
भवेत्पापार्जनं तेषां पापाद् दुःखं च दुर्गतौ ॥६४३॥

अर्थ—जो मुनि सुगंध को रागपूर्वक ग्रहण करते हैं और दुर्गन्ध को द्वेषपूर्वक ग्रहण करते हैं उनके पाप का बंध होता है और पाप से दुर्गतियों में महादुःख प्राप्त होते हैं।

प्रयत्नपूर्वक उक्त पदार्थों में रागद्वेष का त्याग—

विदित्वेति पदार्थज्ञाः प्राप्य गन्धौ शुभाशुभौ।
क्वचिदीहां विना यत्नाद्रागद्वेषौ त्यजन्तु भोः ॥६४४॥

अर्थ—यही समझकर पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को बिना इच्छा के प्राप्त हुई सुगंध और दुर्गन्ध को सूँघकर कभी रागद्वेष नहीं करना चाहिए। प्रयत्न पूर्वक रागद्वेष का त्याग कर देना चाहिए।

कर्मरूपी शत्रु का नाश करने के लिए घ्राणेन्द्रिय का निरोध—

रागद्वेषकरं निसर्गचपलं घ्राणेन्द्रियं पापदं वैराग्येण निरुध्य धर्मजनकं रागादिनाशङ्करम्।
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनं शुभतमं कर्मारिविध्वंसकं कुर्वीध्वं शिवशर्मणेप्यनुदिनं स्वघ्राणरोधं बुधाः ॥६४५॥

अर्थ—बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने वैराग्य से रागद्वेष को उत्पन्न करने वाले और स्वभाव से चपल और पाप बढ़ाने वाले ऐसे घ्राणेन्द्रिय का निरोध करना चाहिए तथा धर्म को प्रकट करने वाले रागद्वेष को नाश करने वाले स्वर्ग-मोक्ष का कारण अत्यन्त शुभ और कर्मरूपी शत्रु को नाश करने वाले ऐसा घ्राण इन्द्रिय का निरोध प्रतिदिन करते रहना चाहिए।

जिह्वा इन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

अन्नादिचतुराहारे रसे तिक्तादि षड् विधे।
मनोज्ञे प्रासुके लब्धे सति जिह्वासुखप्रदे ॥६४६॥
या निराक्रियते काङ्क्षा गृद्धिश्च निर्जितेन्द्रियैः।
आत्मध्यानसुधातृप्तै-र्जिह्वारोधः स कथ्यते ॥६४७॥

अर्थ—जो मुनि आत्मध्यानरूपी अमृत से तृप्त हो रहे हैं और इन्द्रियों को जीतने वाले हैं ऐसे

मुनिराज खट्टे-मीठे आदि छहों रसों से परिपूर्ण जिह्वा इन्द्रिय को सुख देने वाले अत्यन्त मनोज्ञ और प्रासुक अन्नादिक चारों प्रकार का आहार प्राप्त होने पर जो अपनी आकांक्षा रोक लेते हैं उसमें गृद्धता धारण नहीं करते उसको जिह्वा इन्द्रिय का निरोध कहते हैं।

चारों प्रकार के आहार में राग का अभाव—

अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं जिह्वा-सुखप्रदम्।
शुद्धं चात्र क्वचित्प्राप्य रागः कार्यो न संयतैः ॥६४८॥

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय को सुख देने वाला अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चारों प्रकार का शुद्ध आहार प्राप्त होने पर मुनियों को कभी राग नहीं करना चाहिए।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थों के सेवन में रागद्वेष का अभाव—

तिक्तं च कटुकं चाम्लं कषायं मधुरं रसम्।
मनोज्ञं वेतरं प्राप्य रागद्वेषौ त्यजेद् यतिः ॥६४९॥

अर्थ—तिक्त, कटुक, कषायला, खट्टा और मीठा ये रस हैं ये रस मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के होते हैं इनको पाकर मुनियों को रागद्वेष का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन में रागद्वेष का निषेध—

सरसं वा रसैस्त्यक्तं क्षारं वा क्षारवर्जितम्।
उष्णं वा शीतलं भद्रं रसनाक्ष-सुखावहम् ॥६५०॥
अनिष्टं वा यथालब्धमाहारं भिक्षयानघम्।
आहारन्ति तनुस्थित्यै त्यक्तरागादियोगिनः ॥६५१॥

अर्थ—रागद्वेष का सर्वथा त्याग करने वाले मुनि अपना शरीर स्थिर रखने के लिए सरस वा नीरस, लवण सहित वा लवण रहित, उष्ण वा शीतल रसना इन्द्रिय को सुख देने वाला वा अनिष्ट जैसा भिक्षा वृत्ति से आहार मिल जाता है उसी निर्दोष आहार को वे ग्रहण कर लेते हैं।

प्रासुक आहार से कर्मबंध का अभाव—

एवं ये प्रासुकाहारं भुञ्जन्ति पारणे क्वचित्।
तेषां न तत्कृतो बन्धः कर्मणां किन्तु निर्जरा॥६५२॥

अर्थ—वे मुनिराज पारणा के दिन इस प्रकार का जो प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं उससे उनके कर्मों का बंध नहीं होता किन्तु उससे ही उनके संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा होती है।

रागद्वेषपूर्वक आहार का निषेध—

ये गृह्णन्ति शठा रागाद्वेषाभ्यामशनं भुवि।
तेषां पदे पदे बन्धः कुतः संवरनिजरे ॥६५३॥

अर्थ—इस संसार में जो मूर्ख यति रागद्वेषपूर्वक आहार लेते हैं उनके पद-पद पर कर्मों का बंध

नहीं होता है किन्तु उनके संवर और निर्जरा किस प्रकार हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं होते।

जिह्वा इन्द्रिय राक्षसी के समान है—

जिह्वा विनिर्जिता येन सर्वभक्षण-राक्षसी।
तस्य समीहितं सिद्धं यान्ति सर्वेन्द्रियावशम् ॥६५४॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय सर्व भक्षण करने के लिए राक्षसी के समान है। ऐसी इस जिह्वा इन्द्रिय को जो जीत लेता है उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वह समस्त इन्द्रियों को वश करने वाला समझा जाता है।

जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी पर विजय आवश्यक—

जिह्वाहीमक्षमोयोऽत्र जेतुं दीनोऽक्ष-वञ्चितः।
स्मराद्यरीन् कथं हन्ति दुर्द्धरान् सोऽतिदुर्जयान् ॥६५५॥

अर्थ—इन्द्रियों से ठगा हुआ जो दीन मनुष्य जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी को जीतने में असमर्थ है वह अत्यन्त दुर्जय और दुर्द्धर ऐसे कामादिक शत्रुओं को कैसे मार सकता है।

इसकी लंपटता से कामादि की वृद्धि—

यतो जिह्वाक्षलांपट्यात्कामाद्या इन्द्रियारयः।
प्रयान्त्युत्कटतां नूनं धर्मसाम्राज्यघातिनः ॥६५६॥

अर्थ—क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता से धर्म के साम्राज्य को नष्ट करने वाले काम आदि इन्द्रिय शत्रु अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेते हैं।

मिष्ट रस की इच्छा करने वाला मुनि निन्द्य है—

भिक्षाचरत्वमासाद्य योऽर्द्धदग्धशवा कृतिः।
मिष्टं स ईहते नग्नः कथं लोके न लज्जते ॥६५७॥

अर्थ—आधे जले हुए मुर्दे की आकृति को धारण करने वाला जो नग्न मुनि भिक्षा भोजन का नियम लेकर भी मिष्ट रस की इच्छा करता है वह लोक में लज्जित क्यों नहीं होता।

द्रव्य देकर लाये हुए पदार्थ में भी क्रोध का निषेध—

क्रीतान्नं यदि चेद्द्रव्यैरानीतं स्याद्विरूपकम्।
तर्ह्यत्र श्लाघ्यते रोषः संयतैश्च कुतोभुवि ॥६५८॥

अर्थ—यदि द्रव्य देकर खरीद कर लाया हुआ अन्न बिगड़ा हुआ हो तो क्रोध करना भी अच्छा लगता है परन्तु इस संसार में मुनियों को ऐसा समय वा कारण कब मिलता है? अर्थात् कभी नहीं।

भिक्षावृत्ति से प्राप्त भोजन में क्रोध का अवसर नहीं—

नो चेदेवं मुधालब्धं भिक्षयान्नं शुभाशुभम्।
तर्ह्यादरेण भोक्तव्यं रोषस्यावसरः क्व भोः ॥६५९॥

अर्थ—यदि ऐसा नहीं है तो फिर भिक्षावृत्ति से शुभ वा अशुभ (इष्ट वा अनिष्ट) अन्न को ग्रहण करना व्यर्थ है। फिर तो आदरपूर्वक भोजन करना चाहिए। ऐसी अवस्था में भी क्रोध का अवसर कभी नहीं आ सकता।

रसों का त्यागपूर्वक रसना इन्द्रिय का जय—

मत्वेति मुनयो यत्नात् दुर्द्धरं रसनेन्द्रियम्।
जयन्त्वत्रैनसां मूलं रसत्यागतपोयमैः ॥६६०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को रसों का त्यागकर तथा तपश्चरण और यम-नियम धारण कर बड़े प्रयत्न के साथ समस्त पापों की मूलकारण और अत्यन्त दुर्द्धर ऐसी रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिए।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

जिह्वा इन्द्रिय का निरोध अत्यन्त आवश्यक क्यों?

कृत्स्नानर्थपरम्परार्पणपरं पञ्चाक्षशत्रोर्गृहं कर्मारण्यजलं निहत्य विषमं जिह्वेन्द्रियारिं खलम्।
घौरैस्तीव्रतरैस्तपोभिरखिलं जिह्वानिरोधं गुणं सेवध्वं यतयो भवारि मथनं शेषाक्षविध्वंसकम् ॥६६१॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रियरूपी शत्रु अत्यन्त दुष्ट है, समस्त अनर्थों की परम्परा को देने वाला है, पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का घर हैं, कर्मरूपी वन को बढ़ाने के लिए जल के समान है और अत्यन्त विषम हैं, इसलिए मुनियों को अत्यन्त घोर और अत्यन्त तीव्र तपश्चरण के द्वारा इस जिह्वा इन्द्रिय को अपने वंश में कर लेना चाहिए और जन्म-मरणरूप संसार शत्रु को नाश करने वाला तथा समस्त इन्द्रियों को निरोध करने वाला ऐसा जिह्वानिरोध नाम का गुण सदा पालन करते रहना चाहिए।

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

कर्कशो मृदुशीतोष्णाः स्निग्धोरूक्षो गुरुर्लघुः।
जीवाजीवभवा एतेऽत्राष्टौ स्पर्शाः शुभाशुभाः॥६६२॥
अमीषां स्पर्शने योऽत्राभिलाषो हि निवार्यते।
स्पर्शनेन्द्रियरोधः स केवलं योगिनां महान् ॥६६३॥

अर्थ—कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष तथा हल्का-भारी ये जीव-अजीव से होने वाले आठ स्पर्श हैं। ये आठों ही स्पर्श शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। मुनिराज जो इन आठों प्रकार के स्पर्शों में अपनी अभिलाषा का त्याग कर देते हैं उसको स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध कहते हैं यह स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध मुनियों के लिए सर्वोत्कृष्ट है।

स्पर्श इन्द्रिय को प्रिय पदार्थों को काँटे के समान समझकर इनके सेवन का निषेध—

स्त्रीमर्त्य-कोमलाङ्गेषु गद्यकातूलिकादिषु।
मृदुष्वासनशय्यादि - संस्तरेष्वघकारिषु ॥६६४॥

पट्टकूलादिवस्त्रेषु स्पर्शनं ब्रह्मनाशकृत्।
व्रतिभिर्जातु कार्यं न कालाहिकण्टकेष्विव ॥६६५॥

अर्थ—स्त्री वा पुरुष को कोमल शरीर के स्पर्श करना, रुई के कोमल गद्दों का स्पर्श करना, पाप उत्पन्न करने वाले कोमल शय्या-आसन आदि बिछौनों पर सोना वा कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना आदि सब ब्रह्मचर्य को नाश करने वाला है, इसलिए व्रती पुरुषों को काले सर्प वा काँटों के समान समझकर कभी इनका स्पर्श नहीं करना चाहिए।

कोमल गद्दों पर बैठने का निषेध—

कोमले गद्यकादौ ये कुर्वन्ति शयनासनम्।
स्पर्शनेन्द्रियलाम्पट्यात्तेषां ब्रह्मव्रतं कुतः ॥६६६॥

अर्थ—जो पुरुष कोमल गद्दों पर बैठते हैं वा सोते हैं उनके स्पर्श इन्द्रिय की लंपटता होने के कारण ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं ठहर सकता।

ब्रह्मचर्य के पालन हेतु कठिन तख्ते पर सोना चाहिए—

मत्वेति कोमले रम्ये शर्मदे शयनासने।
ब्रह्मव्रतार्थिभिर्जातु न कार्यं शयनासनम् ॥६६७॥
किन्तु शिलाश्मभूम्यादौ कठिने फलकादिषु।
शयनं चासनं कार्यं निद्राहान्यै सुब्रह्मणे ॥६६८॥

अर्थ—यही समझकर ब्रह्मचर्य व्रत की इच्छा करने वाले पुरुषों को कोमल मनोहर और सुख देने वाले आसन पर कभी नहीं बैठना चाहिए और न ऐसी शय्या पर सोना चाहिए किन्तु अपना ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए तथा निद्रा को दूर करने के लिए शिला, पत्थर, भूमि वा कठिन तख्ते पर सोना चाहिए और उसी पर बैठना चाहिए।

ग्रीष्मऋतु में शीत स्पर्श से राग छोड़ देना चाहिए—

यद्यनीहित-वृत्यात्र वायुः स्पृशति शीतलः।
ग्रीष्मे वपुस्तथाप्याशु रागस्त्याज्योऽशुभप्रदः ॥६६९॥

अर्थ—यदि ग्रीष्मऋतु में मुनियों के शरीर को बिना उनकी इच्छा के अनायास शीतल वायु स्पर्श करे तो मुनियों को उसी समय उस शीत स्पर्श से अपना अशुभ उत्पन्न करने वाला राग छोड़ देना चाहिए।

शीतऋतु में शीत स्पर्श से द्वेष छोड़ देना चाहिए—

शीतकालेऽथवा शीतो मरुत्स्पृशति योगिनम्।
तत्रापि न मनाग्द्वेषं करोति मुनिपुङ्गवः ॥६७०॥

अर्थ—यदि किसी मुनि के शरीर को शीतऋतु में शीतल वायु स्पर्श कर ले तो भी उन मुनिराज को अपने हृदय में किंचित् भी द्वेष नहीं करना चाहिए।

बहुत से पदार्थ स्पर्श करने में सुख एवं दुःख देने वाले हैं उनमें राग और द्वेष नहीं करना चाहिए—

इत्याद्या बहुधा स्पर्शाः सुख-दुःख-विधायिनः।
ये तानासाद्य योगीन्द्रा रागद्वेषौ न कुर्वते ॥६७१॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत से स्पर्श सुख देने वाले हैं और बहुत से स्पर्श दुःख देने वाले हैं उनको पाकर मुनियों को रागद्वेष कभी नहीं करना चाहिए।

पदार्थों में राग-द्वेष छोड़ देने से कर्मों का बंध नहीं होता—

रागद्वेषपरित्यागात्तेषां संवर-निर्जरे।
स्पर्शेषु सत्स्वपीहाऽहो न बन्धः कर्मणां क्वचित् ॥६७२॥

अर्थ—रागद्वेष का परित्याग करने से स्पर्श होते हुए भी मुनियों के कर्मों का बंध कभी नहीं होता किन्तु उनके कर्मों का संवर और निर्जरा ही होती है।

स्पर्श-जन्य आनन्द अनुभव करने से दुर्गति का बंध होता है—

स्पर्शेषु तेषु ये मूढा रागद्वेषौ वितन्वते।
तेषां पापास्त्रवस्तस्माद्दुर्गतौ भ्रमणं चिरम् ॥६७३॥

अर्थ—जो मूर्ख पुरुष उन स्पर्शों में रागद्वेष करते हैं उनके महापाप का आस्त्रव होता है और उस पापास्त्रव से वे चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।

इसमें रागद्वेष नहीं करना चाहिए—

विज्ञायेति न कर्तव्यौ रागद्वेषौ सुसंयतैः।
सर्वेषु स्पर्शभेदेषु सुखदुःखादिकारिषु ॥६७४॥

अर्थ—यही समझकर श्रेष्ठ मुनियों को सुख वा दुःख देने वाले अनेक प्रकार के स्पर्शों में कभी राग वा द्वेष नहीं करना चाहिए।

इस स्पर्शनेन्द्रिय, कामेंद्रिय को जीतना परमावश्यक है—

विश्वानिष्टकरं भवारिजनकं कामेन्द्रियस्पर्शनं
जित्वा श्मादिभवैरतीव-कठिनैः शय्यासनैर्दुष्करैः।
स्वर्मोक्षैककरं सुसौख्यजलधिं कर्माद्रिवज्रं परं
कृत्स्नाक्षारिवशीकरं प्रकुरुत स्पर्शाक्षरोधं बुधाः ॥६७५॥

अर्थ—यह कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय समस्त अनिष्टों को करने वाली है और संसाररूप शत्रु को उत्पन्न करने वाली है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को पत्थर, शिला आदि कठिन वा दुष्कर शय्या, आसन आदि के द्वारा इस कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिए तथा स्वर्ग-मोक्ष को देने

वाला, अनंत सुख का समुद्र, कर्मरूपी पर्वत को चूर करने के लिए वज्र के समान और समस्त इंद्रियरूपी शत्रुओं को वश करने वाला ऐसा स्पर्शन इन्द्रिय का निरोध अवश्य करना चाहिए।

पाँचों इन्द्रियों में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय को जीतना ही सबसे कठिन है—

एषां मध्ये जनैर्ज्ञेयौ रसनस्पर्शनाह्वयौ।
द्वौ हि कामेन्द्रियौ नृणां महानर्थविधायिनौ ॥६७६॥

अर्थ—इन पाँचों इन्द्रियों में से स्पर्शन इन्द्रिय और रसना वा जिह्वा इन्द्रिय ये दोनों इन्द्रियाँ कामेन्द्रिय कहलाती हैं और मनुष्यों के लिए अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करने वाली हैं।

घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय ये ३ भोगेन्द्रिय हैं—

श्रोत्रं घ्राणेन्द्रियं चक्षुरिमाणि त्रीणि संसृतौ।
भोगेन्द्रियाणि जन्तूनां स्तोकानर्थकराण्यपि ॥६७७॥

अर्थ—इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय ये तीन इन्द्रियाँ भोगेन्द्रिय कहलाती हैं और जीवों का थोड़ा ही अनर्थ करती हैं।

पाँचों इन्द्रियाँ चोर हैं—

इमे पञ्चेन्द्रियाश्चौरा धर्मरत्नापहारिणः।
जिताः संयमवाणैर्यैः सुखिनस्ते न चापरे ॥६७८॥

अर्थ—ये पाँचों इन्द्रियाँ चोर हैं और धर्मरूपी रत्न को चुराने वाली हैं। जिन संयमियों ने अपने संयम बाणों से इनको जीत लिया है इस संसार में वे ही सुखी हैं अन्य नहीं।

ये इन्द्रियरूपी हाथी बड़े प्रबल हैं—

धावन्तो विषमारण्ये दुर्दान्तेन्द्रियदन्तिनः।
त्रिवैराग्याङ्कुशेनाऽत्र यैर्धृतास्ते विदांवराः ॥६७९॥

अर्थ—ये इन्द्रियरूपी हाथी बड़े ही प्रबल हैं और विषयरूपी वन में दौड़ लगा रहे हैं। जो लोग संसार, शरीर और भोगों के वैराग्यरूपी अंकुश से इन इन्द्रियरूपी हाथियों को वश में कर लेते हैं उन्हें ही सबसे उत्तम ज्ञानी समझना चाहिए।

ये चोर बड़े ही क्रूर हैं—

पञ्चाक्षतस्कराः क्रूरास्तपः सुभट-ताडिताः।
विघटन्ते सतां मोक्षमार्गे विघ्नविधायिनः ॥६८०॥

अर्थ—ये पंचेन्द्रियरूपी चोर बड़े ही क्रूर हैं और सज्जन पुरुषों को मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाले हैं ऐसे ये चोर तपश्चरणरूपी योद्धाओं से ताड़ित होने पर भी इधर-उधर भागते हैं।

पालतू सर्प के समान ये इन्द्रियाँ स्वामी को ही मार डालती हैं—

यथाऽत्र पोषिता नागा नयन्ति स्वामिनो बलात्।
यमान्तं च तथा पञ्चेन्द्रियाः श्वभ्रं हि सप्तमम् ॥६८१॥

अर्थ—जिस प्रकार पालन-पोषण किये हुए पालतू सर्प अपने स्वामी को ही जबर्दस्ती यम मंदिर तक पहुँचा देते हैं, मार डालते हैं, उसी प्रकार ये पाँचों इन्द्रियाँ भी इस जीव को सातवें नरक तक पहुँचा देती हैं।

ये इन्द्रियरूपी शत्रु प्रबल शत्रुओं से भी अधिक भयङ्कर—

अरिभ्योऽपि महादुष्टा अदान्तेन्द्रियशत्रवः।
इहामुत्र मनुष्याणां कृत्स्नदुःखनिबन्धनाः ॥६८२॥
यतोत्रैवारयः किञ्चिद्दुःखं च ददते न वा।
इहामुत्र नृणां घोरं ददत्येवाक्षशत्रवः ॥६८३॥

अर्थ—ये इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रु शत्रुओं से भी महादुष्ट हैं तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में मनुष्यों को सब तरह के दुःख देने वाले हैं। इसका भी कारण यह है कि शत्रु इसी लोक में थोड़ा सा दुःख देते हैं अथवा नहीं भी देते हैं किन्तु इन्द्रियरूपी शत्रु मनुष्यों को इस लोक में भी दुःख देते हैं और परलोक में भी महादुःख देते हैं।

ये इन्द्रिय शत्रु इस लोक और परलोक दोनों में दुःख देते हैं—
ये रोग से भी अधिक दुःखदायी है—

रोगेभ्योऽपि महादुःखकराः पञ्चाक्षदुर्जनाः।
लालिताः स्त्रीनराणां च निन्द्या दुर्गतिदायिनः ॥६८४॥
जनयन्ति यतो रोगा अल्पासातं क्वचित् नृणाम्।
कोटी-कोटाब्धिपर्यन्तं दुःखं खानि च दुर्गतौ ॥६८५॥

अर्थ—स्त्री और पुरुषों के द्वारा लालन-पालन किये गए ये पाँचों इन्द्रियरूपी दुर्जन रोग से भी अधिक महा दुःख देने वाले हैं, निंदनीय हैं और दुर्गति को देने वाले हैं क्योंकि रोग तो मनुष्यों को कहीं-कहीं पर थोड़ा सा दुःख देते हैं परंतु ये इन्द्रियाँ दुर्गतियों में डालकर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यंत महादुःख देती हैं।

ये इन्द्रियाँ कालकूट विष से भी अधिक भयङ्कर हैं—

कालकूटविषं मन्ये सुखं वैषयिकं नृणाम्।
अक्षजं, विषमं घोरदुःखतापनिबन्धनम् ॥६८६॥
कालकूटं यतो भुक्तं स्वासून् हरति केवलम्।
सुखं चेन्द्रियजं पुंसां दत्तेऽनेकविधासुखम् ॥६८७॥

अर्थ—ये मनुष्यों के इन्द्रियजन्य विषय सम्बन्धी सुख अत्यन्त विषम हैं तथा घोर दुःख और संताप को देने वाले हैं इसीलिए हम इनको कालकूट विष के समान ही मानते हैं। इसका भी कारण यह है कि भक्षण किया हुआ विष केवल अपने प्राणों को हरण कर लेता है परंतु इन्द्रियजन्य सुख मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं।

स्पर्शन तथा रसना दोनों चार अंगुल प्रमाण ही हैं फिर भी महान् अनर्थकारी—

चतुरङ्गुलमानेयं जिह्वा दुःखाशुभाम्बिका।
तावन्मात्रोऽप्यजय्योऽहो दुष्टकामेन्द्रियः खलः ॥६८८॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनेक दुःख और दुर्गतियों को देने वाली है। इसी प्रकार अत्यन्त दुष्ट कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है और अत्यन्त अजेय है।

इन दोनों इन्द्रियों के द्वारा प्राणी बहुत दुःख भोगते हैं—

एभिरष्टांगुलोत्पन्नैर्दोषै-र्जीवाः कदर्थिताः।
प्रकुर्वन्ति महापापं लभन्ते दुःखमुल्वणम् ॥६८९॥

अर्थ—इन आठ अंगुल प्रमाण दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोषों के द्वारा कदर्थित हुए, दुःखी हुए जीव महापाप उत्पन्न करते हैं और फिर घोर दुःखों को भोगते हैं।

जो इन दोनों को जीत लेते हैं उनके सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं—

इदं कामेन्द्रियं युग्मं निर्जितं यैस्तपोयमैः।
तेषां शेषेन्द्रियाण्याशु वशं यान्ति हृदा समम् ॥६९०॥

अर्थ—जो जीव अपने तप और संयम के द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय इन दोनों कामेन्द्रियों को जीत लेते हैं उनकी बाकी की समस्त इन्द्रियाँ भी हृदय के साथ-साथ बहुत शीघ्र वश में हो जाती हैं।

रसत्याग द्वारा ये दोनों इन्द्रियाँ जीती जा सकती हैं—

विज्ञायेति रसत्यागतपोभिरतिदुष्करैः।
जयन्तु मुनयोऽत्रेदं स्वाक्षयुग्मं शिवाप्तये ॥६९१॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अत्यन्त कठिन ऐसे रसत्याग नाम के तपश्चरण से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में करनी चाहिए।

ये पाँचों इन्द्रियाँ बड़ी ठग हैं तथा अंतरंग शत्रु हैं

पञ्चेन्द्रियठगा एते वैरिणोऽभ्यन्तरङ्गजाः।
सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तादिरत्नान्यपहरन्ति नुः ॥६९२॥

अर्थ—ये पाँचों इन्द्रियाँ बड़ी ठग हैं और इस जीव की अंतरंग शत्रु हैं तथा मनुष्यों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नों को चुरा लेती है।

ये इन्द्रियरूपी हाथी मोक्षफल देने वाले अमृत फल को नष्ट कर देती है—

तथाऽक्षदन्तिनोऽदान्ता धर्मकल्पद्रुमं क्षणात्।
पुंसामुन्मूलयन्त्यत्र दत्तमुक्तिसुधाफलम् ॥६९३॥

अर्थ—किसी के वश न होने वाले ये इन्द्रियरूपी हाथी मोक्षरूपी अमृतफल को देने वाले ऐसे मनुष्यों के धर्मरूपी कल्पवृक्ष को क्षणभर में जड़ मूल से उखाड़कर फेंक देते हैं।

ये इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्ग में ले जाने वाले हैं—

पोषिताः स्वेच्छयात्रैतेऽक्षाश्वा उत्पथगामिनः।
उन्मार्गे पातयन्त्याशु नरान् मुक्तिपथात् शुभात् ॥६९४॥

अर्थ—अपनी इच्छानुसार पालन-पोषण किये हुए ये इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्गगामी हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को मोक्ष के शुभ मार्ग से हटाकर शीघ्र ही कुमार्ग में पटक देते हैं।

भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल में इनके द्वारा ही जीव नरकों में जाते हैं—

ये केचन गताः श्वभ्रं यान्ति यास्यन्ति भूतले।
केवलं ते जना नूनमिन्द्रियैर्व्याकुलीकृताः ॥६९५॥

अर्थ—इस संसार में अब तक जितने जीव नरक गए हैं वा अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे, वे मनुष्य केवल इन्द्रियों से व्याकुल होकर ही गए हैं वा जायेंगे और तरह से नहीं।

ग्यारह अंग के पाठी रुद्र भी इनके कारण ही नरक गए—

रुद्राद्या मुनयोऽत्राऽहो दशपूर्वधरा विदः।
खधूर्तैर्वञ्चिता हत्वा चारित्रं नरकं ययुः ॥६९६॥

अर्थ—देखो ग्यारह अंग और दश पूर्व के जानकार रुद्र आदि कितने ही मुनि इस संसार में इन्द्रियों से ठगे गए और अपने चारित्र को नष्टकर नरक में जा पहुँचे।

पाँचों इन्द्रियों में एक-एक के सेवन से भी निम्न प्राणियों ने अपने प्राण खो दिए—

स्पर्शनाक्षेण मातङ्गा मत्स्या जिह्वेन्द्रियेण च।
घ्राणेन भ्रमराश्चक्षुषा पतंगा मृगास्तथा ॥६९७॥
कर्णेन्द्रियेण चैकेन क्षयं यान्त्यत्र लोलुपाः।
केवलं विषयासक्त्या किञ्चित्सौख्यं श्रयन्ति न ॥६९८॥

अर्थ—देखो केवल स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर हाथी अपने प्राण खो देता है, जिह्वा इन्द्रिय के वश होकर मछलियाँ प्राण खो देती हैं, घ्राण इन्द्रिय के वश होकर भ्रमर अपने प्राण खोता है, चक्षु इन्द्रिय के वश होकर पतंगा अपने प्राण खोते हैं और कर्ण इन्द्रिय के वश होकर हिरण अपने प्राण खोते हैं। विषयों में आसक्त और इन्द्रिय लोलुपी ये जीव कुछ भी सुख न पाकर अपने प्राण खो देते हैं।

जो पाँचों ही इन्द्रियों का सेवन करते हैं वे नरकगामी क्यों नहीं होंगे?

एकैकाक्षारिणात्राऽहो प्रणष्टाः पशवो यदि।
ततः पञ्चाक्षलोला ये श्वभ्रनाथाः कथं न ते ॥६९९॥

अर्थ—देखो एक-एक इन्द्रियरूपी शत्रु के वश होने से ये पशु सब नष्ट हो जाते हैं, फिर भला जो पाँचों इन्द्रियों के लोलुपी हैं वे नरक के स्वामी क्यों नहीं होंगे? अर्थात् वे अवश्य नरक में जायेंगे।

चक्री, अर्धचक्री भी इन्हीं इन्द्रियों के कारण नरक में पहुँचे हैं—

अन्येऽपि बहवो येऽर्द्धचक्रिचक्र्यादयो भुवि।
राजानो विषयासक्त्या गताःश्वभ्रं च सप्तमम् ॥७००॥

अर्थ—और भी बहुत से चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती राजा विषयों में आसक्त होने के कारण सातवें नरक में पहुँचे हैं।

इनके भोगों की कथा कौन कह सकता है?

भुक्त्वा जन्मादिमृत्यन्तं भोगान्पञ्चेन्द्रियोद्भवान्।
तेषां को गदितुं शक्तः कथां भोगभवां बुधः ॥७०१॥

अर्थ—जो जीव जन्म से लेकर मरण पर्यंत पंचेन्द्रिय के भोगों को अनुभव करते हैं उनके भोगों से उत्पन्न होने वाली कथा को भला कौन बुद्धिमान् कह सकता है अर्थात् कोई नहीं।

वैराग्यरूपी रस्सी से इन्द्रियरूपी पशुओं को बाँधना चाहिए—

मत्वेति ज्ञानिनः शीघ्रं पञ्चेन्द्रियमृगान् चलान्।
वध्नन्तु दृढवैराग्यपाशेन शिवशर्मणे ॥७०२॥

अर्थ—यही समझकर ज्ञानी पुरुषों को अपना मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए शीघ्र ही वैराग्यरूपी रस्सी से पंचेन्द्रियरूपी चंचल पशुओं को दृढ़ता के साथ बाँधना चाहिए।

संयमरूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतना चाहिए—

इन्द्रियारातयो धीरैर्येर्जिताः संयमायुधैः।
तैश्च दुर्मोहकर्माद्या हता मुक्तिः करे कृता ॥७०३॥

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष अपने संयमरूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ही पुरुष मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को नाशकर डालते हैं तथा उन्हीं के हाथ में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इनको नहीं जीतने वाले मोहनीय कर्म को कैसे जीत सकेंगे—

अक्षारीनपि ये जेतुमक्षमाः क्लीवतां गताः।
मोहदुष्कर्मशत्रूंस्ते हनिष्यन्ति कथं भुवि ॥७०४॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को भी जीतने में असमर्थ हैं, उन्हें नपुंसक ही समझना चाहिए। ऐसे पुरुष भला इस संसार में मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं? अर्थात्

कभी नहीं।

रत्नत्रय का अपहरण करने वाले इन्द्रियों को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है—

गृहस्त्रीश्र्यादिकां त्यक्त्वा दीक्षाऽत्र गृह्यते बुधैः।
जयाय स्वाक्षशत्रूणां रत्नत्रयापहारिणाम् ॥७०५॥
अतोऽनिर्जितखारीणां वृथा दीक्षातपःफलम्।
व्यर्थो गृहपरित्यागो इहामुत्र सुखं न च ॥७०६॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग रत्नत्रय को अपहरण करने वाले इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए ही घर, स्त्री और धन आदि का त्यागकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, इसलिए जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा और तपश्चरण वा तपश्चरण का फल आदि सब व्यर्थ है तथा उनका घर का त्याग भी व्यर्थ है। ऐसे पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सुख नहीं मिल सकता।

इन्द्रियों को जीतना ही परम तप है—

यतोऽक्षविजयः पुंसां तपः स्यात्परमं भुवि।
अतः किं सत्तपस्तेषां येषां भो नाक्षनिर्जयः ॥७०७॥

अर्थ—इन्द्रियों को दमन करना, जीतना इस संसार में मनुष्यों का परम तप कहलाता है, इसलिए कहना चाहिए कि जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकते हैं उनके श्रेष्ठ तप कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

इन्द्रिय विजेताओं को ही ऋद्धियाँ एवं सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन तेषां सिद्धिर्महात्मनाम्।
ऋद्धयः सुतपांसि स्युर्जिता यैःस्वाक्षशत्रवः ॥७०८॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि जिन्होंने अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है उन्हीं महात्माओं के ऋद्धियाँ तपश्चरण और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इन्द्रिय लंपटता के कारण परलोक में दुर्गति—

अनिर्जिताक्षहीनानां नेहलोकोपिकीर्तितः।
परलोको न लाम्पट्यात् किन्तु दुर्गतिरेव च ॥७०९॥

अर्थ—अपनी इन्द्रियों को न जीतने के कारण जो हीन हो रहे हैं उनके न तो इस लोक में कीर्ति होती है और न परलोक ही उनका सुधरता है किन्तु इन्द्रिय लंपटता होने के कारण परलोक में उनकी दुर्गति ही होती है।

इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों एक साथ प्राप्त नहीं किए जा सकते—

यथाऽत्रगमने स्यातां पंथानौ द्वौ न देहिनाम्
तथाक्षसुख-मोक्षौ च वृथाजन्मद्विकांक्षिणाम् ॥७१०॥

अर्थ—जिस प्रकार चलते समय मनुष्य भिन्न-भिन्न दो मार्गों में नहीं चल सकता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियसुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति चाहते हैं उनका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिए।

चारित्र और तपरूपी भयङ्कर तलवार से इन्द्रिय शत्रुओं को जीत लेना चाहिए—

ज्ञात्वेति बहुयत्नेन दक्षाः सर्वार्थसिद्धये।
खारीन् जयन्तु चारित्रतपः खड्गैर्भयङ्करैः ॥७११॥

अर्थ—यही समझकर चतुर लोगों को अपने समस्त पदार्थों की सिद्धि करने के लिए चारित्र और तपरूपी भयंकर तलवार से बड़े प्रयत्न के साथ इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेना चाहिए।

(छन्द शार्दूलविक्रीडित)

वे ही मुनिराज धन्य हैं जो इन्द्रिय शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं—

धन्यास्ते भुवनत्रये च महिता वन्द्याः स्तुता योगिनो
ये चारित्ररणावनौ सुविषमे स्थित्वापि कृत्वोर्जितम्।
उग्रोग्रं सुतपो धनुर्गुणयुतं सम्यग्दृगाद्यैः शरैः
तीक्ष्णैर्घ्नन्ति खलान् त्रिलोकजयिनः पञ्चाक्षशत्रून् द्रुतम् ॥७१२॥

अर्थ—इस संसार में जो मुनिराज अत्यन्त विषम ऐसे चारित्ररूपी रणांगण में ठहरकर तथा उग्र-उग्र श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी प्रत्यंचा सहित धनुष को चढ़ाकर सम्यग्दर्शन आदि तीक्ष्ण बाणों से अत्यन्त दुष्ट और तीनों लोकों को जीतने वाले ऐसे पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं को शीघ्र ही मार डालते हैं वश में कर लेते हैं वे ही मुनि धन्य हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, वे ही वंदनीय हैं और वे ही स्तुति करने योग्य हैं।

(छन्द स्रग्धरा)

यम और नियमों से इन्द्रिय-जय करना चाहिए—

विश्वार्च्यान् विश्ववन्द्यान् जिनमुनिवृषभैः स्वीकृतान् धर्ममूलान्
पापघ्नान् मुक्तिकर्तॄन् शिवसुखजलधीन् स्वर्गसोपानभूतान्।
ज्ञानध्यानाग्निहेतून् सकलगुणनिधीरन् चित्तमातङ्गसिंहान्
सेवध्वं मुक्तिकामा यमनियमचयैः कृत्स्नपञ्चाक्षरोधान् ॥७१३॥

अर्थ—समस्त पाँचों इन्द्रियों का निरोध तीनों लोकों में पूज्य है, सबके द्वारा वंदनीय है, भगवान् तीर्थंकर और गणधर आदि श्रेष्ठ मुनियों ने भी इसको स्वीकार किया है, यह पंचेन्द्रियों का

निरोध पापों को नाश करने वाला है, धर्म का मूल है, मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है, मोक्ष के अनंत सुख का समुद्र है, स्वर्ग की सीढ़ी है, ज्ञान और ध्यान का कारण है समस्त गुणों की निधि है और मनरूपी हाथी को वश करने के लिए सिंह के समान है, इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को अपने यम और नियमों के समूह से इस पंचेन्द्रियों के निरोध को अवश्य धारण करना चाहिए।

६ आवश्यक मूलगुणों का वर्णन—

अथ मूलगुणान् वक्ष्ये षडावश्यकसंज्ञकान्।
धर्मशुक्लोत्तमध्यानहेतून् सिद्धान्तजान् सताम् ॥७१४॥

अर्थ—अब आगे मुनियों के छह आवश्यक नाम के मूलगुणों को कहते हैं। ये छह आवश्यक धर्म और शुक्ल नाम के उत्तम ध्यान के कारण हैं और सिद्धान्त शास्त्रों में कहे हुए हैं।

६. आवश्यकों के नाम—

सामायिकं स्तवो वन्दना प्रतिक्रमणं ततः।
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः इमान्यावश्यकानि षट् ॥७१५॥

अर्थ—सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कहलाते हैं।

(१) सामायिक आवश्यक का स्वरूप—

जीविते मरणे लाभालाभे दृषदि सन्मणौ।
संयोगे विप्रयोगे च रिपौ बन्धौ खलाखले ॥७१६॥
तृणे च काञ्चने सौख्ये दुःखे वस्तौ शुभाशुभे।
क्रियते समभावो यस्तद्धि सामायिकं मतम् ॥७१७॥

अर्थ—जीने-मरने में, लाभ-अलाभ में, पत्थर-मणि में, संयोग-वियोग में, शत्रु-बंधु में, दुष्ट-सज्जन में, तृण-सुवर्ण में, सुख-दुःख में और शुभ-अशुभ पदार्थों में समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है।

सामायिक के ६ भेद—

नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभाश्रितः।
भावसामायिकोऽत्रैषो निक्षेपः षड् विधो भवेत्॥७१८॥

अर्थ—यह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार है।

नाम सामायिक का स्वरूप—

क्रूरवीभत्सनामान्यशुभानि द्वेषदानि च।
रागकर्तॄणि नामानि मनोहरशुभानि वै ॥७१९॥

श्रुत्वा यद्वर्जनं रागद्वेषादीनां विधीयते।
नामसामायिकाख्यं तत्सतां प्रोक्तं गणाधिपैः ॥७२०॥

अर्थ—द्वेष उत्पन्न करने वाले क्रूर, वीभत्स और अशुभ नामों को सुनकर द्वेष नहीं करना तथा राग उत्पन्न करने वाले मनोहर और शुभ नामों को सुनकर राग नहीं करना, शुभ-अशुभ नामों में राग-द्वेष का त्याग कर देना उसको गणधर देवों ने सज्जनों के नाम सामायिक कहा है।

स्थापना सामायिक का स्वरूप—

स्थापनाः प्रतिमा दिव्यरूपा मनोऽक्षशर्मदाः।
नेत्रानिष्टाः कुरूपाश्च वेतालाकृतिधारिणीः ॥७२१॥
विलोक्य क्रियते राग-द्वेषयोर्यद्विसर्जनम्।
शान्तिशर्मप्रदं स्थापनासामयिकमेव तत् ॥७२२॥

अर्थ—स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित मन और इन्द्रियों को सुख देने वाली प्रतिमाओं को देखकर राग नहीं करना तथा नेत्रों को अनिष्ट, कुरूप, वेताल की आकृति के समान प्रतिमाओं को देखकर द्वेष नहीं करना शांति और कल्याण करने वाला स्थापना सामायिक है।

द्रव्य सामायिक का स्वरूप—

सुवर्णरूप्यमाणिक्यमुक्ताफलांशुकादिषु ।
द्रव्येषु भोगवस्त्रादौ मृत्तिकाकण्टकादिषु ॥७२३॥
रागद्वेषादिकांस्त्यक्त्वा सतां यत्समदर्शनम्।
द्रव्यसामायिकं तच्च द्रव्योत्पन्नाघनाशनम् ॥७२४॥

अर्थ—सोना, चाँदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि भोगोपभोग के पदार्थों में अथवा मिट्टी काँटे आदि पदार्थों में रागद्वेष का त्याग कर देना तथा समस्त पदार्थों में समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है। यह सामायिक द्रव्यों से उत्पन्न हुए समस्त पापों को नाश करने वाला है।

क्षेत्र सामायिक का स्वरूप—

सौधारामनदीकूलपुरादीनि शुभानि च।
क्षेत्राणि दाववीभत्सकंटकाद्याश्रितान्यपि ॥७२५॥
अशुभान्याप्य रागद्वेषयोरभाव एव यः।
क्षेत्रसामायिकं तद्धि क्षेत्रजास्त्रवरोधकम् ॥७२६॥

अर्थ—राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रों को पाकर राग नहीं करना तथा काँटों से भरे हुए कंकड़ पत्थरों से भरे हुए दावाग्नि से जले हुए वन आदि अशुभ क्षेत्र को पाकर द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है। यह क्षेत्र सामायिक क्षेत्र से उत्पन्न होने वाले आस्त्रव को रोकने वाला है।

काल सामायिक का स्वरूप—

साम्यरूपान् शुभान् कालान् शीतोष्णादिच्युतान् क्वचित्।
षड्ऋतूंश्च तमःपक्षशीतोष्णाद्यान् कुदुःखदान् ॥७२७॥
संस्पर्शः त्यज्यते यद्धि रागद्वेषद्वयं बुधैः।
कालसामायिकं कालकृतदोषादिहंतृ यत् ॥७२८॥

अर्थ—कोई समय शीत, उष्णता से रहित समान रूप तथा शुभ होता है। कहीं पर छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता रहा है, कहीं शीतता अधिक होती है, कहीं उष्णता अधिक होती है, किसी समय अंधेरा ही रहता है। इस प्रकार के सुख-दुःख देने वाले समयों में रागद्वेष नहीं करना, रागद्वेष का सर्वथा त्याग कर देना सो बुद्धिमानों के द्वारा काल सामायिक कहलाता है। यह काल सामायिक काल से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों का नाश करने वाला है।

भाव सामायिक का स्वरूप—

सर्वजीवेषु मैत्र्यादियुक्तोऽशुभपराङ्मुखः।
शुभो रागादिनिर्मुक्तो धर्मध्यानादितत्परः ॥७२९॥
शुद्धः समगुणापन्नो भावो यो धीमतां महान्।
भावसामायिकं तद्धि चित्तोत्थदोषवारकम् ॥७३०॥

अर्थ—समस्त जीवों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आदि भावों को धारण करना, अशुभ परिणामों से सदा पराङ्मुख रहना, रागादिक शुभ परिणामों का भी त्याग करना धर्मध्यान में सदा तत्पर रहना, समता गुण से सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूप से जो बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उसको भाव सामायिक कहते हैं। यह भाव सामायिक मन से उत्पन्न होने वाले समस्त दोषों को दूर करने वाला है।

६ प्रकार का सामायिक उत्कृष्ट है—

एतैः षड्भिश्च निक्षैपैरुपायैर्ज्ञानिनां परम्।
सामायिकं शुभध्यानकारणं जायतेतराम् ॥७३१॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुषों के ऊपर लिखे अनुसार छह प्रकार के उपायरूप निक्षेपों से उत्कृष्ट सामायिक होता है तथा वह शुभ ध्यान का कारण होता है।

१. आत्मा में लीन होना सर्वोत्कृष्ट सामायिक—

दर्शनज्ञानचरित्रतपोभिः सह चात्मनः।
ऐक्यं गमन-मत्यर्थं यत्तत्सामयिकं महत् ॥७३२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपश्चरण के साथ-साथ आत्मा की एकता हो जाना आत्मा में अत्यन्त लीन हो जाना सर्वोत्कृष्ट सामायिक कहलाता है।

२. सर्वोत्कृष्ट सामायिक का स्वरूप—

निर्जिताखिल - घोरोपसर्गतीव्रपरीषहः।
व्रतैः समितिगुप्ताद्यैः सर्वैश्च नियमैर्यमैः ॥७३३॥
सुभावनाखिलैः सारैः शुभध्यानैरलङ्कृतः।
यः सर्वत्र समारूढः सोऽत्र सामायिकी महान् ॥७३४॥

अर्थ—जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परीषहों को जीत लेता है, जो व्रत, समिति, गुप्ति, समस्त यम, नियम, सारभूत समस्त भावनाएँ और शुभध्यान से सुशोभित रहता है जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है वह उत्कृष्ट सामायिक करने वाला कहा जाता है।

परम ज्ञानी की सामायिक—

समवायं स्वरूपं च यो जानाति सुबुद्धिमान्।
द्रव्याणां तद्गुणानां च पर्यायाणां जिनागमम् ॥७३५॥
हेयोपादेयतत्त्वं च कारणं बन्धमोक्षयोः।
तस्य सामायिकं विद्धि परमं ज्ञानिनो भुवि ॥७३६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष स्वपर पदार्थों के सम्बन्ध के स्वरूप को जानता है, जिनागम के अनुसार द्रव्य, गुण और पर्यायों के स्वरूप को, उनके सम्बन्ध के स्वरूप को जानता है, हेय और उपादेय तत्त्वों को जानता है और बंध-मोक्ष के कारणों को जानता है उस परम ज्ञानी के सामायिक होता है।

उत्तम सामायिक करने वाले का स्वामी—

विरतः सर्वसावद्यान्निर्जिताक्षमना महान्।
महातपास्त्रिगुप्तो यः सामायिकी स उत्तमः ॥७३७॥

अर्थ—जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया है, जो उत्कृष्ट है, महा तपस्वी है और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला है वह उत्तम पुरुष सामायिक करने वाला कहा जाता है।

उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है—

यस्य सन्निहितोऽत्रात्मा संयमे नियमे गुणे।
शमे तपसि तस्यैव तिष्ठेत्सामायिकं परम् ॥७३८॥

अर्थ—जिस महापुरुष का आत्मा संयम में, नियम में, गुणों में, समता में और तपश्चरण में लगा हुआ है उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है।

कैसे भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है?

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।
सादृश्यः स्वात्मनो भावस्तच्च सामायिकं सताम् ॥७३९॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त त्रस-स्थावर जीवों में समता धारण करता है समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान मानता है। इस प्रकार के भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है।

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है?

रागद्वेषाक्षमोहाद्या विकृतिं जनयन्ति न।
शमाद्यैर्दमिता यस्य तस्य सामायिकं महत् ॥७४०॥

अर्थ—जिस पुरुष के रागद्वेष इन्द्रियाँ और मोह आदिक किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसके समता वा शांत परिणामों से रागद्वेषादिक सब शांत हो गए हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है।

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है?

कषायाः क्रोधमानाद्याश्चत्वारो येन निर्जिताः।
क्षमामृद्वार्जवासङ्गगुणैस्तच्छक्तिघातकैः ॥७४१॥
हास्याद्याः षट् त्रिवेदाश्च वैराग्यब्रह्मसंयमैः।
अन्ये दोषाश्च तस्याऽत्र परं सामायिकं मतम् ॥७४२॥

अर्थ—जिस महापुरुष ने क्रोधादिक की शक्ति को घात करने वाले क्षमा, मार्दव, आर्जव और आकिंचन्य गुणों से क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायों को जीत लिया है तथा वैराग्य, ब्रह्मचर्य और संयम से तीनों वेद और हास्यादिक नोकषाय जीत लिए हैं तथा जिसने और भी समस्त दोष जीत लिए हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है।

किसके शुभ सामायिक होता है—

आहाराद्याश्चतुःसंज्ञाः लेश्यास्तिस्रोऽशुभा भुवि।
न यान्ति विकृतिं यस्य तस्य सामायिकं शुभम् ॥७४३॥

अर्थ—जिस पुरुष के आहार आदिक चारों संज्ञाएँ तथा तीनों अशुभ लेश्याएँ कभी विकारभाव को प्राप्त नहीं होतीं उसी के शुभ सामायिक माना जाता है।

किसके उत्कृष्ट सामायिक होता है—

यस्य पञ्चेन्द्रिया दान्तास्तपोभिः स्पर्शनादयः।
शक्ताःकर्तुं विकारं न तस्य सामायिकं महत् ॥७४४॥

अर्थ—जिसके तपश्चरण के बल से स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियाँ शांत हो गई हैं और कभी भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकतीं उसी के उत्कृष्ट सामायिक होता है।

अशुभ ध्यानों को छोड़कर शुभध्यान वाला ही श्रेष्ठ सामायिक करता है—

दुर्ध्यानान्यार्त्तरौद्राणि योऽष्टौ नित्यं परित्यजेत्।

प्रशस्तध्यानमालम्ब्य तस्य सामायिकं परम् ॥७४५॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण कर चारों प्रकार के आर्तध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग कर देता है उसी के श्रेष्ठ सामायिक कहा जाता है।

मन को जीतने वाले के उत्तम सामायिक होता है—

ध्यानं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं ध्यायति योऽन्वहम्।

जित्वा मनोबलात्तस्य तिष्ठेत्सामायिकोत्तमम् ॥७४६॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी शक्ति से मन को जीतकर चारों प्रकार के धर्मध्यान को और चारों प्रकार के शुक्लध्यान को प्रतिदिन धारण करता है उसी के उत्तम सामायिक होता है।

योगियों को प्रतिदिन परम सामायिक करना चाहिए—

सर्वत्र समताभावकारणाय जिनैर्मतः।

योगिनां परमो नित्यं सामायिकाख्यसंयमः ॥७४७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने योगियों के लिए सर्वत्र नित्य समताभाव धारण करने के लिए परम सामायिक नामक संयम कहा है।

गृहस्थों के सामायिक का महत्त्व—

सर्वसावद्ययोगादिवर्जनार्थं शुभाप्तये।

सामायिकं गृहस्थानां प्रोक्तं धर्मशमाय च ॥७४८॥

अर्थ—गृहस्थों को समस्त पापरूप योगों का त्याग करने के लिए, शुभ की प्राप्ति के लिए तथा धर्म और कल्याण की प्राप्ति के लिए एक सामायिक ही बतलाया है।

श्रावकों का शुभ सामायिक

मत्वेति श्रावकैर्नित्यं कार्यं सामायिकं शुभम्।

दिनमध्ये त्रिवारं च धर्मध्यानाय शर्मणे ॥७४९॥

अर्थ—यही समझकर श्रावकों को धर्मध्यान की प्राप्ति और आत्मकल्याण करने के लिए प्रतिदिन दिन में तीन बार शुभ सामायिक करना चाहिए।

कौन गृहस्थ भावलिंगी मुनि के समान माना जाता है?

यतः कुर्वन् गृही नूनं शुद्धं सामायिकं परम्।

सर्वत्र समतापन्नो भावलिङ्गी यतिर्भवेत् ॥७५०॥

अर्थ—क्योंकि सर्वत्र समताभाव धारण करता हुआ और शुद्ध उत्कृष्ट सामायिक करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही भावलिंगी मुनि के समान माना जाता है।

भावलिंगी गृहस्थ की कथा—

अरण्ये श्रावकः कश्चित् धीरस्त्यक्तवपुर्महान्।
निष्कम्पं ध्यानमालम्ब्य व्यधात्सामायिकं परम् ॥७५१॥
शरेण केनचिद्विद्धो मृगस्तस्य पदान्तरे।
प्रविश्यार्तः कियत्कालं स्थित्वा वेदनया मृतः ॥७५२॥
तथापि न मनागेष चलेत्सामायिकात्सुधीः।
अस्यागमे कथा ज्ञेया गृहिणो भावलिङ्गिनः ॥७५३॥

अर्थ—कोई एक धीरवीर महा श्रावक अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर किसी वन में अचल और ध्यान में लीन होकर उत्कृष्ट सामायिक करने के लिए खड़ा था। उसी समय किसी के बाण से घायल हुआ कोई हिरण उस श्रावक के दोनों पैरों के बीच में आ पड़ा। उस समय वह हिरण अत्यन्त दुःखी होकर चिल्ला रहा था और उसी वेदना से वह थोड़ी ही देर में वहीं मर गया तथापि वह बुद्धिमान् श्रावक अपने सामायिक से रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। इस भावलिंगी गृहस्थ की कथा शास्त्रों में लिखी है वहाँ से जान लेनी चाहिए।

२२ तीर्थंकरों ने 'छेदोपस्थापना' का उपदेश क्यों नहीं दिया—

अजिताद्याश्च पार्श्वान्ता द्वाविंशतिजिनेश्वराः।
दिशन्ति मुक्तये वाण्या सामायिकैकसंयमम्॥७५४॥
छेदोपस्थापनं नैव यतोऽमीषां महाधियः ।
स्वभावेन सुशिष्याः स्युः निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः ॥७५५॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि से मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक सामायिक नाम के संयम का ही उपदेश दिया है। इन बाईस तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना नाम के संयम का उपदेश नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि इन बाईस तीर्थंकरों के श्रेष्ठ शिष्य स्वभाव से ही महा बुद्धिमान् थे, प्रमाद रहित थे और जितेन्द्रिय थे।

प्रथम तीर्थंकर तथा अंतिम तीर्थंकर का उपदेश—

सामायिकं च छेदोपस्थापनं संयमं परम्।
आहतुर्ध्वनिना मुक्त्यै ह्याद्यान्तिमजिनाधिपौ ॥७५६॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयमों का उपदेश दिया है।

इसका कारण–

यतः श्रीवृषभेशस्य सुशिष्या ऋजुबुद्धयः।
सन्मतेः कालदोषेण सदोषा मन्दबुद्धयः ॥७५७॥

अर्थ–इसका भी कारण यह है कि भगवान् वृषभदेव के शिष्य सरल बुद्धि को धारण करने वाले थे और भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य कालदोष से सदोष थे और मंदबुद्धि को धारण करने वाले थे।

उसी कारण का और अधिक विस्तार–

ऋजुमन्दस्वभावास्ते योग्यायोग्यं व्यतिक्रमम्।
व्यक्तं सर्वं न जानन्ति विस्तरोक्त्या विना भुवि ॥७५८॥
तस्माच्च कारणात्तौ द्वावूचतुःश्रीजिनाधिपौ ।
अनुग्रहाय शिष्याणां संयमौ द्वौ शिवाप्तये ॥७५९॥

अर्थ–स्वभाव से ही सरल बुद्धि और मंदबुद्धि को धारण करने के कारण वे लोग बिना विस्तार से बतलाए योग्य-अयोग्य मुनियों के पूर्ण चारित्र को व्यक्त रीति से नहीं जानते थे। इसी कारण से भगवान् वृषभदेव और भगवान् महावीरस्वामी ने उन शिष्यों का अनुग्रह करने के लिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए दोनों प्रकार के संयम बतलाए हैं।

सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं–

आख्यातुं किल विज्ञातुं पृथग्भावयितुं तथा।
महाव्रतानि पञ्चैव गुप्तयः समितीस्तथा ॥७६०॥
तेऽपि सर्वे जिनेशानां शिष्याः शुद्धिशिवाप्तये।
चरन्ति सर्वदोत्कृष्टं शुद्धं सामायिकं शुभम् ॥७६१॥

अर्थ–कहने, समझने और अलग-अलग पालन करने के लिए महाव्रत पाँच हैं, गुप्तियाँ तीन हैं और समितियाँ पाँच हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव के शिष्य आत्मशुद्धि और मोक्ष प्राप्त करने के लिए इनका पालन करते हैं तथापि वे शुभ, शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट सामायिक को अवश्य करते हैं क्योंकि सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं।

सामायिक का बल–

सामायिकबलाद्योगी क्षणार्द्धेन क्षिपेच्च यत् ।
कर्मजालं महत्तन्न तपसा वर्षकोटिभिः ॥७६२॥

अर्थ–मुनिराज इस सामायिक के बल से आधे क्षण में जितने कर्मों को नष्ट कर डालते हैं, उतने महाकर्म करोड़ों वर्षों के तपश्चरण से भी नष्ट नहीं हो सकते।

यह परम संवर का हेतु है—

सामायिकबलेनाऽसौ करोति संवरं परम्।
कर्मणां विधिना ध्यानी महतीं च सुनिर्जराम् ॥७६३॥

अर्थ—ध्यान करने वाला योगी इस सामायिक के बल से परम संवर करता है और विधिपूर्वक कर्मों की महा निर्जरा करता है।

सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारणादि—

सामायिकस्य सामर्थ्याद् विधत्ते मुनिपुङ्गवः।
ध्यानानि ते प्रजायेते केवलज्ञानदर्शने ॥७६४॥

अर्थ—मुनिराज इस सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारण करते हैं और ध्यान से केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं।

पाँचों इन्द्रियों व मन को वश में करने के लिए यह सामायिक रस्सी के समान है—

सामायिकं जिनाः प्राहुः पञ्चाक्षमृगबन्धने।
पाशं च शृंखलातुल्यं मनोमर्कटरोधने ॥७६५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पाँचों इन्द्रियरूपी पशुओं को बाँधने के लिए इस सामायिक को रस्सी के समान बतलाया है और मनरूपी बंदर को रोकने के लिए इसी सामायिक को सांकल के समान बतलाया है।

यह सामायिक सर्प को कीलने के लिए महामंत्र भी है—

सामायिकमहामन्त्रं संसारोरगकीलने।
बुधा जगुश्च साधूनां कर्मारण्येऽनलोपमम् ॥७६६॥

अर्थ—विद्वान् लोग संसाररूपी सर्प को कीलने के लिए (वश में करने के लिए) इस सामायिक को महामंत्र बतलाते हैं तथा साधुओं के कर्मरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान कहते हैं।

सामायिकरूपी अमृत पान का फल—

सामायिकसुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम्।
सुखिनस्ते चिरेण स्यु र्जन्ममृत्युविषातिगाः ॥७६७॥

अर्थ—जो मुनि इस सामायिकरूपी अमृतपान को निरन्तर करते रहते हैं वे जन्म मरणरूपी विषय से छूटकर सदा के लिए सुखी हो जाते हैं।

सामायिक के संस्कारों का फल—

संचीयते परं धर्मं स्वर्गमुक्तिवशीकरम्।
शुद्धं च क्षीयते पापं सामायिकात्तचेतसाम् ॥७६८॥

अर्थ—जिनने हृदय से सामायिक को प्राप्त किया उन मुनियों के पाप सब नष्ट हो जाते हैं और उनके अत्यन्त शुद्ध तथा स्वर्ग-मोक्ष को वश करने वाला परम धर्म संचित होता है।

मोक्ष लक्ष्मी स्वयं झुकती है—

मुक्तिश्रीः स्वयमागत्यासक्त्या सामायिकात्मनः।
वृणोत्यहो श्रिया सार्द्धं का कथा देवयोषिताम् ॥७६९॥

अर्थ—सामायिक करने वाले पुरुषों को मोक्षरूपी लक्ष्मी समस्त लक्ष्मियों के साथ आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है, फिर भला देवियों की तो बात ही क्या है।

सामायिक के प्रताप से श्रावक की समृद्धि—

सामायिकेन सागारा हिंसादिपञ्चपातकान्।
हत्वोपार्ज्य परं धर्मं यान्ति स्वर्गं च षोडशम् ॥७७०॥

अर्थ—इस सामायिक के प्रभाव से श्रावक भी हिंसादिक पाँचों पापों को नष्ट कर और परम धर्म को संचित कर सोलहवें स्वर्ग तक पहुँचते हैं।

अभव्य जीव भी इसके प्रताप से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक क्यों जाता है?

द्रव्यसामायिकेनात्राभव्योजिनेन्द्रवेषधृत् ।
महातपाःसुशास्त्रज्ञ ऊर्ध्वग्रैवेयकं व्रजेत् ॥७७१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के भेष को धारण करने वाला (मुनिलिंग धारण करने वाला) महातपस्वी और अनेक शास्त्रों का जानकार अभव्य जीव भी इस द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक पहुँचता है।

भरत चक्रवर्ती का दृष्टांत—

बह्वारम्भोद्भवं पापं क्षिपित्वा प्रत्यहं महत्।
शुद्धसामायिकेनैव निन्दयागर्हणेन च ॥७७२॥
क्षिप्तकर्मादिमश्चक्री भरतेशोऽनुसंयमम्।
गृहीत्वा ध्यानमालम्ब्य शुक्लं कर्मवनानलम् ॥७७३॥
घटिकाद्वयमात्रेण हत्वा घातिचतुष्टयम्।
सार्द्धं देवार्चनैर्दिव्यं प्रापानन्तचतुष्टयम् ॥७७४॥

अर्थ—देखो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत महारंभ से उत्पन्न हुए प्रतिदिन वे महापापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे तथा निंदा गर्हा के द्वारा बहुत से कर्मों को नष्ट करते थे। तदनंतर उन्होंने संयम धारण कर कर्मरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि के समान ऐसे शुक्लध्यान को धारण किया था और दो ही घड़ी में चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर देव और इन्द्रों के द्वारा होने वाली पूजा के साथ-साथ दिव्य अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिया था।

योगियों के लिए, सामायिक से बढ़कर और कोई उपयुक्त साधन नहीं—

बहुनोक्तेन किं साध्यं न किञ्चित्शिवसिद्धये।
सामायिकेन सादृश्यं विद्यते योगिनां क्वचित् ॥७७५॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि योगियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस सामायिक के समान और कोई पदार्थ किसी स्थान में भी नहीं है।

बुद्धिमानों को प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिए—

ज्ञात्वेत्यस्यात्र माहात्म्यमुत्थाय बुधसत्तमाः।
योगशुद्धिं विधाय प्रतिलेख्याङ्गं धरातलम् ॥७७६॥
स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य काले काले शिवाप्तये।
कुर्वन्तु सर्वदा यत्नात् शुद्धं सामायिकं परम् ॥७७७॥

अर्थ—इस प्रकार इस सामायिक के माहात्म्य को समझकर श्रेष्ठ बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए उठकर खड़ा होना चाहिए तथा मन-वचन-काय को शुद्ध कर अपने शरीर और पृथ्वी को देख-शोधकर अपने दोनों हाथ जोड़कर सामायिक के प्रति समय पर प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिए।

अपने कर्मों का नाश करने के लिए शुद्ध सामायिक करो—

अखिलगुणसमुद्रं मुक्तिसौधाग्रमार्गं निरुपमसुखहेतुं धर्मबीजं विशुद्धम्।
दुरिततिमिरभानुं धीधनाः कर्महान्यै कुरुत हृदयशुद्ध्या शुद्धसामायिकं भोः ॥७७८॥

अर्थ—यह सामायिक समस्त गुणों का समुद्र है, मोक्षरूपी राजभवन का मुख्य मार्ग है, मोक्षरूपी अनुपम सुख का कारण है, धर्म का बीज है, अत्यन्त विशुद्ध है और पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान है, इसलिए हे बुद्धिमान् लोगों! अपने कर्मों को नाश करने के लिए शुद्ध हृदय से शुद्ध सामायिक धारण करो। प्रतिदिन नियमपूर्वक इसको करते रहो।

दूसरे स्तव का स्वरूप—

इमां सामायिकस्यादौ निर्युक्तिं प्रतिपाद्य वै।
समासेन ततो वक्ष्ये निर्युक्तं सत्स्तवस्य च ॥७७९॥

अर्थ—इस प्रकार पहले सामायिक का स्वरूप कहा अब आगे संक्षेप से दूसरे स्तव वा स्तुति नाम के आवश्यक का स्वरूप कहते हैं।

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को स्तवन आवश्यक कहते हैं—

चतुर्विंशति-तीर्थेषां त्रिजगत्स्वामिनां च यत्।
सार्थैर्नामादिभिः षड्भिःसारैर्लोकोत्तमैर्गुणैः॥७८०॥

स्तवनं क्रियते दक्षैः प्रणामं भक्तिपूर्वकम्।
भावार्चनं महद्ध्यानं संस्तवः शिवशर्मदः ॥७८१॥

अर्थ—भगवान् चौबीस तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामी हैं उनके सार्थक नामों के द्वारा वा सारभूत लोकोत्तम गुणों के द्वारा प्रणाम और भक्तिपूर्वक छह प्रकार से जो चतुर पुरुषों के द्वारा स्तवन किया जाता है, उनकी भावपूजा की जाती है वा उनका महाध्यान किया जाता है उसको मोक्ष सुख देने वाला स्तवन कहते है।

स्तवन भी छह प्रकार का है—

स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालो जिनोद्भवः।
भावस्तथेति निक्षेपः स्तवस्य षड्विधः स्मृतः ॥७८२॥

अर्थ—वह स्तवन भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार का है। यह छह प्रकार का स्तवन का निक्षेप है और भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ।

स्तवन का फल—

तीर्थेशनाममात्रोच्चारणेन च सतां द्रुतम्।
विघ्नजालानि पापानि प्रलीयन्ते रुजादयः ॥७८३॥

अर्थ—चौबीसों तीर्थंकरों के नाममात्र के उच्चारण करने से सज्जनों के सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप नष्ट हो जाते हैं और रोगादिक सब नष्ट हो जाते हैं।

तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने का महाफल—

जायते च परं पुण्यं जिनचक्र्यादिभूतिदम्।
धर्माद्यर्थाश्च सिद्ध्यन्ति ढोकन्ते त्रिजगच्छ्रियः ॥७८४॥

अर्थ—इसके सिवाय तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने से तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की विभूति को देने वाला पुण्य प्राप्त होता है, धर्मादिक चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों की लक्ष्मियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

नाम स्तवन का स्वरूप—

इत्यादि नाममाहात्म्य-वर्णनैर्या विधीयते।
स्तुतिर्वा नामभिश्चाष्टाग्रसहस्रप्रणामकैः ॥७८५॥
वर्तमानश्चतुर्विंशतितीर्थेश्वरनामभिः ।
स्तवः स कथ्यते सद्भिर्धर्ममूलोऽशुभान्तकः ॥७८६॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् के नामों का माहात्म्य वर्णन कर जो स्तुति की जाती है अथवा एक हजार आठ नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उनको एक हजार आठ प्रणाम किये जाते हैं अथवा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उसको धर्म का मूल और शुभ देने

वाला नाम स्तवन कहते है।

स्थापना स्तवन का स्वरूप—

कृत्रिमाकृत्रिमाणां च मूर्तीनां तीर्थकारिणाम्।
पूजास्तुतिनमस्कारैः क्षीयन्ते विघ्नराशयः ॥७८७॥
सतां सम्पद्यते पुण्यं परं शर्मैककारणम्।
विश्वाभ्युदयकल्याणा जायन्ते च पदे पदे ॥७८८॥
इत्यादिस्थापनास्तुत्या तीर्थेषां स्तवनं च यत्।
शिवाय क्रियते विद्भिः स स्थापनाभिधःस्तवः ॥७८९॥

अर्थ—इस संसार में तीर्थंकरों की जो कृत्रिम वा अकृत्रिम प्रतिमाएँ हैं उनकी पूजा स्तुति वा नमस्कार करने से सज्जनों के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं। परम कल्याणों का कारण ऐसा पुण्य प्राप्त होता है और क्षण-क्षण में सब तरह के अभ्युदय और कल्याण प्राप्त होते हैं इस प्रकार विद्वान् लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्थापना निक्षेप से स्थापित की हुई तीर्थंकर की प्रतिमा को स्तुति करते हैं उसको स्थापना स्तव कहते हैं।

द्रव्य स्तवन का स्वरूप—

दिव्यौदारिकदेहानां कोटीनेभ्योऽखिलार्हताम्।
विश्वनेत्रप्रियाणां सौम्यानामधिकतेजसाम् ॥७९०॥
श्वेतपीतादिसद्वर्णैः स्तवनं यत्सुकान्तिभिः।
निष्पाद्यते च शास्त्रज्ञैः सद्द्रव्यस्तव एव हि ॥७९१॥

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर परमदेव दिव्य औदारिक शरीर को धारण करने वाले हैं संसारभर के समस्त नेत्रों को प्रिय हैं, अत्यन्त सौम्य हैं और करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेज को धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकरों के अत्यन्त मनोहर श्वेत, पीत आदि शरीर के रूप का वर्णन कर उनकी स्तुति करना अथवा अनेक शास्त्रों को जानने वाले जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार की स्तुति करते हैं उसको द्रव्य स्तवन कहते हैं।

क्षेत्र स्तवन का स्वरूप—

कैलासाचलसम्मेदोर्जयन्तादिशुभात्मनाम् ।
निर्वाणक्षेत्रभूमीनामर्हतां गुणवर्णनैः ॥७९२॥
पूजास्तुतिनमस्कारैर्यन्माहात्म्यप्रशंसनम् ।
क्षेत्रस्तवः स विज्ञेयः पुण्यनिर्वाणहेतुकृत् ॥७९३॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव के गुणों का वर्णन कर कैलाश पर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि अरहंतों की शुभ निर्वाण भूमियों की पूजा, स्तुति करना, उनको नमस्कार करना और उनका माहात्म्य

प्रकट करना क्षेत्र स्तवन कहलाता है। यह क्षेत्र स्तवन भी पुण्य और निर्वाण का कारण है।

काल स्तवन का स्वरूप—

पञ्चकल्याणकैः सारैः स्वर्गावतरणादिभिः।
देवेन्द्रादिकृतैर्भूत्या महापुण्यनिबन्धनैः ॥७९४॥
स्तुतिर्या क्रियते तज्ज्ञैः कल्याणगुणभाषणैः।
सर्वेषां तीर्थकर्तॄणां कालस्तवः स एव च ॥७९५॥

अर्थ—विद्वान् लोग जो समस्त तीर्थंकरों के स्वर्गावतार आदि पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं इन्द्रादिक देवों ने जिस विभूति के साथ कल्याणोत्सव मनाया है उसका वर्णन करते हैं उन कल्याणोत्सवों को महापुण्य का कारण बतलाते हैं और सारभूत कहते हैं इस प्रकार जो पाँचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं उसको काल स्तवन कहते हैं।

गुणों को देने वाला भाव स्तवन का स्वरूप—

केवलज्ञानदृष्ट्याद्या गुणा अन्तातिगाः पराः।
विद्यन्ते येऽर्हतां स्तोतुं तान्क्षमो मादृशः कथम् ॥७९६॥
इत्यादि सद्गुणानां च भाषणं यद्विधीयते।
तद्गुणाय बुधैर्भावस्तवः स तद्गुणप्रदः ॥७९७॥

अर्थ—''भगवान् अरहंतदेव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनंत गुण हैं उन सबकी स्तुति करने के लिए मेरे समान बुद्धिहीन पुरुष कभी समर्थ नहीं हो सकते'' इस प्रकार विद्वान् लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिए जो अरहंतदेव के गुणों का निरूपण करते हैं वह उन गुणों को देने वाला भाव स्तवन कहलाता है।

वे भगवान् मेरे लिए रत्नत्रय की प्राप्ति करें—

लोकोद्योतकरा लोके विश्वतत्त्वप्रकाशकाः।
धर्मतीर्थकराः सर्वज्ञानतीर्थविधायिनः ॥७९८॥
अर्हन्तो मुक्तिभर्तारः पञ्चकल्याणभागिनः।
शरण्या भवभीतानामनन्तगुणसागराः ॥७९९॥
मन्त्रमूर्तिमया ध्येयाः कीर्तनीयाः जगत्सताम्।
वन्दनीया महान्तश्च पूज्या लोकोत्तमाः पराः ॥८००॥
दिव्यश्रीभूषिता नित्या निस्पृहाः स्तवनादपि।
देवीनिकरमध्यस्थाः परब्रह्मव्रताङ्किताः ॥८०१॥
क्षमादिलक्षणैर्युक्ता कर्मारातिनिकन्दकाः।
विश्वभव्यहितोद्युक्ताः सार्थवाहाः शिवाध्वनि॥८०२॥

मुक्ति-भुक्त्यादिदातारो धर्मार्थकाममोक्षदाः।
विश्वविघ्नाघहन्तारो भाक्तिकानां न संशयः ॥८०३॥
इत्याद्यन्यगुणौघैर्ये पूर्णा जिनवरा भुवि।
ते मे बोधिं समाधिं च दिशन्तु कीर्तिता नुताः ॥८०४॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव इस लोक में समस्त लोक का उद्योत करने वाले हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं, धर्म के तीर्थंकर हैं, समस्त ज्ञान और तीर्थों की प्रवृत्ति करने वाले हैं, मोक्ष के स्वामी हैं, गर्भादिक पंच कल्याणों को प्राप्त हुए हैं, संसार से भयभीत हुए मनुष्यों को शरणभूत हैं, अनंतगुणों के समुद्र हैं, समस्त मंत्रों की मूर्तिस्वरूप हैं तथा समस्त जगत् के सज्जनों को ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं। वे भगवान् वंदनीय हैं, महान् हैं, पूज्य हैं, लोकोत्तम हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। वे भगवान् सदा ही दिव्य विभूतियों से विभूषित रहते हैं, अपने शरीर से भी निस्पृह हैं, अनेक देवियों के मध्य में विराजमान रहते हुए भी परम ब्रह्मचर्य व्रत से सुशोभित रहते हैं। वे भगवान् उत्तम क्षमा आदि उत्तम गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, समस्त भव्यजीवों का हित करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष मार्ग में वे सदा सहायक रहते हैं। वे भगवान् भक्त पुरुषों को भक्ति और मुक्ति दोनों के देने वाले हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देने वाले हैं तथा समस्त विघ्नों और पापों को नाश करने वाले हैं। इस प्रकार वे भगवान् अनेक गुणों के समूहों से परिपूर्ण हैं। उन भगवान् की मैंने यह स्तुति की है तथा उनको नमस्कार किया है इसलिए वे भगवान् मेरे लिए रत्नत्रय की प्राप्ति करें और समाधि की प्राप्ति करें।

तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं—

सम्यग्दर्शनसज्ज्ञानचारित्राण्यत्र यानि च।
परमार्थेन तीर्थानि दुष्कर्ममलनाशनात् ॥८०५॥
तेषां ये च प्रणेतारो महद्भिस्तैरलङ्कृताः।
तन्मया वा जगन्नाथास्तेऽत्र तीर्था भवन्त्यहो ॥८०६॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाये तो अशुभ कर्मों का नाश रत्नत्रय से ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये ही वास्तव में तीर्थ हैं। इन रत्नत्रय स्वरूप तीर्थों की प्रवृत्ति वे तीर्थंकर ही करते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयरूप महातीर्थों से सुशोभित रहते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयमय ही हैं ऐसे तीनों लोकों के स्वामी वे तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं।

भगवान् को 'जिन' क्यों कहते हैं?

जितमोहारिसन्तानाः सतां मोहं जयन्ति ये।
ते जिनाःघातिहन्तार उच्यन्ते तेन हेतुना ॥८०७॥

अर्थ—उन भगवान् ने मोहरूपी शत्रु की समस्त सन्तान जीत ली है अथवा वे भगवान् सज्जन

पुरुषों के मोह को भी जीत लेते हैं तथा वे भगवान् घातिया कर्मों को नाश करने वाले हैं, इसलिए उनको जिन कहते हैं।

भगवान् 'अर्हन्' क्यों कहलाते हैं?

सर्वान् स्तुतिनमस्कारान् सत्कारादीन्नृनाकिनाम्।
पञ्चकल्याणकार्चां च गमनं मुक्तिधामनि ॥८०८॥
अन्यद्वा मानसन्मानं येऽत्रार्हन्ति जिनेश्वराः।
अर्हन्तस्तेऽत्र कथ्यन्ते ह्यमुना हेतुनाऽखिलाः ॥८०९॥

अर्थ—अथवा वे भगवान् जिनेन्द्रदेव मनुष्य और इन्द्रों के द्वारा की जानेवाली समस्त स्तुतियों के समस्त नमस्कारों के योग्य हैं, पंचकल्याणकों में होनेवाली पूजा के योग्य हैं, मुक्ति स्थान में गमन करने योग्य हैं तथा और भी संसार में जितना मान-सम्मान है सबके वे योग्य हैं इन्हीं सब हेतुओं से वे भगवान् अर्हन् कहलाते हैं।

वे मुनियों के द्वारा भी वंदनीय हैं—

कथ्यन्ते त्रिजगन्नाथैः कीर्तनीया न भूतले।
वन्द्याश्चमुनिभिर्यै सन्मुक्तिमार्गः प्रदर्शितः ॥८१०॥

अर्थ—जिन तीर्थंकर परमदेव ने श्रेष्ठ मोक्ष का मार्ग दिखलाया है वे भगवान् इस संसार में तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा ही प्रशंसनीय नहीं हैं किन्तु मुनियों के द्वारा भी वंदनीय गिने जाते हैं।

भगवान् केवलदर्शी तथा सर्वदर्शी क्यों कहलाते हैं?

लोकालोकं समस्तं ये जानन्ति केवलेन च।
प्रपश्यन्ति दृशा तस्मात्स्युस्तेकेवलिनोऽखिलाः ॥८११॥

अर्थ—वे भगवान् केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक-अलोक को जानते हैं इसलिए उनको केवली कहते हैं तथा केवलदर्शन के द्वारा वे समस्त लोक-अलोक को देखते हैं इसलिए उनको केवलदर्शी वा सर्वदर्शी कहते हैं।

वे भगवान् तीनों लोकों में 'सर्वोत्तम' कहलाते हैं—

मोहदृग्ज्ञानचारित्रावरणैर्घातिकर्मभिः ।
मुक्ता ये तीर्थकर्तार उत्तमास्ते जगत्त्रये ॥८१२॥

अर्थ—वे तीर्थंकर परमदेव मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और चारित्रावरण (चारित्र मोहनीय वा अंतराय) इन घातिया कर्मों से रहित हैं इसलिए वे भगवान् तीनों लोकों में सर्वोत्तम कहलाते हैं।

वे भगवान् मेरे लिए समाधि को प्रदान करें—

एवं गुणविशिष्टा ये तीर्थनाथा जगत्स्तुताः।
ते मे दिशन्तु बोधिं च समाधिं स्वगुणान् परान् ॥८१३॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित और तीनों लोकों के द्वारा स्तवन किये गए वे भगवान् तीर्थंकर परमदेव मेरे लिए रत्नत्रय तथा समाधि को प्रदान करें तथा अपने अन्य गुणों को भी प्रदान करें।

उक्त प्रार्थना को निदान नहीं समझना चाहिए—

न स्यादेतन्निदानं हि किन्त्वसत्यमृषाह्वया।
एषा भाषा जिनेन्द्रेण प्रणीता कार्यसिद्धये ॥८१४॥

अर्थ—भगवान् की इस प्रकार की स्तुति करने को ''रत्नत्रय समाधि प्रदान करें'' इस प्रकार कहने को निदान नहीं समझना चाहिए किन्तु भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कार्य सिद्धि के लिए ऐसी भाषा को अनुभय भाषा कहा है।

भगवान् के कृतकृत्यपना—

यतस्तैर्यच्चदातव्यं सर्वं दृग्चिद्व्रतादिकम्।
हितं धर्मोपदेशादि तद्दत्तं तैर्जिनैःसताम् ॥८१५॥
अधुना वीतमोहास्ते कृतकृत्या जिनाधिपाः ।
न किञ्चिद्ददते लोके विश्वचिन्तातिगा नृणाम् ॥८१६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव को भव्यजीवों के लिए सम्यग्दर्शन, आत्मा की शुद्धता, व्रत, हित धर्मोपदेश आदि जो कुछ देना था वह सब कुछ वे भगवान् भव्य सज्जनों को दे चुके। इस समय तो वे भगवान् वीतराग हैं, कृतकृत्य हैं, जिनेन्द्र हैं और समस्त चिंताओं से रहित हैं इसलिए वे अब इस संसार में मनुष्यों को कुछ नहीं देते।

भक्त पुरुषों की यह प्रार्थना सफल ही होती है—

अथवा प्रार्थनाऽत्रैषा भक्तिरागभराङ्किता।
सफला भाक्तिकानां सद्धर्मार्जनाद्भविष्यति ॥८१७॥

अर्थ—अथवा यों समझना चाहिए कि भगवान् की ऐसी स्तुति करना हमें रत्नत्रय देवें आदि कहना भक्ति और उनके गुणों के प्रति होने वाले अनुराग से भरी हुई प्रार्थना है और श्रेष्ठ धर्म को पालन करने से भक्त पुरुषों की वह प्रार्थना सफल ही होती है।

भक्त लोगों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं—

यतो भक्त्यार्हतां पुंसां क्षीयन्ते क्लेशराशयः।
सर्वे मनोरथाः सिद्धिमिहामुत्र व्रजन्ति च ॥८१८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् अरहंतदेव की भक्ति करने से मनुष्यों के समस्त क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है तथा इहलोक और परलोक दोनों लोकों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं।

प्रशस्त अनुराग रत्नत्रय धर्म को करने वाला है—

अर्हत्सुवीतदोषेष्वाचार्योपाध्यायसाधुषु ।
धर्मे रत्नत्रयेऽनर्घ्ये जिनवाक्ये च धर्मिषु ॥८१९॥
यतो जायते रागः स्वभावेन यो गुणोद्भवः।
स प्रशस्तो मतः सद्भिर्दृष्टिज्ञानादिधर्मकृत् ॥८२०॥

अर्थ—वीतराग भगवान् अरहंतदेव में, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं में, रत्नत्रयरूप सर्वोत्कृष्ट धर्म में, जिनवचनों में और धर्मात्माओं में उनके गुणों से उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग है उसको सज्जन पुरुष प्रशस्त अनुराग कहते हैं वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्म को उत्पन्न करने वाला है।

मत्वेति श्रीजिनादीनां भक्तिरागादयोऽखिलाः।
विश्वार्थसाधका नित्यं कर्तव्या भाक्तिकैः पराः ॥८२१॥

अर्थ—यही समझकर भक्त पुरुषों को समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाली भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति और उनके गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिए।

भगवान् २४ तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन करनी चाहिए—

स्तवं कुर्वन्तु तद्वच्चतुर्विंशतिजिनेशिनाम्।
सर्वाभ्युदयसंसिद्ध्यै नित्यं प्रति मुनीश्वराः ॥८२२॥

अर्थ—इसलिए मुनिराजों को अपने समस्त कल्याणों की सिद्धि करने के लिए भगवान् चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन सदा करनी चाहिए।

स्तुति करने की विधि—

प्रतिलेख्य धराङ्गादींश्चित्तशुद्धिं विधाय च।
स्वकरौ संपुटीकृत्य स्थित्वा कृत्वा स्थिरौ क्रमौ ॥८२३॥
ऋजू चान्तरितौ शक्त्या चतुर्भिरङ्गुलैर्मुदा।
मधुरेण स्वरेणैव शुद्धव्यक्ताक्षरव्रजैः ॥८२४॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले अपना शरीर और पृथ्वी को शुद्ध कर लेना चाहिए, मन को शुद्ध कर लेना चाहिए फिर अपने हाथ जोड़कर दोनों पैरों को स्थिर रखकर खड़े होना चाहिए। उस समय उनके दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर होना चाहिए और दोनों पैर सीधे रहने चाहिए फिर प्रसन्नचित्त होकर मधुर स्वर से शुद्ध और व्यक्त अक्षरों का उच्चारण करते हुए अपनी शक्ति के अनुसार चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति करनी चाहिए।

स्तुति का फल—

यतोऽर्हद्गुणराशीनां स्तवनेन बुधोत्तमैः।
लभ्यन्ते तत्समा सर्वे गुणाःस्वर्मोक्षदायिनः ॥८२५॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि भगवान् अरहंतदेव के गुणों के समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान् पुरुषों को उन गुणों के समान ही स्वर्ग-मोक्ष देने वाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं।

स्तवन करने वालों को प्रशंसनीय पद प्राप्त होते हैं—

कीर्तनेनाऽखिला कीर्तिस्त्रैलोक्ये च भ्रमेत्सताम्।
इन्द्रचक्रिजिनादीनां कीर्तनीयं पदं भवेत् ॥८२६॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभ कीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र, चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं।

अरहंतदेव की भक्ति करने से तीनों लोक में उच्च पद की प्राप्ति—

सम्पद्यतेऽर्हतां भक्त्या सौभाग्यभोगसम्पदः।
पूजया त्रिजगल्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥८२७॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव की भक्ति करने से समस्त सौभाग्य और भोग सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं तथा अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्य पद प्राप्त होते हैं।

भगवान् के ध्यान से मुक्ति स्त्री की प्राप्ति—

जिनानां ध्यानयोगेन तीर्थंकरादिभूतयः।
जायन्ते मुक्तिनार्यामा का वार्ता परसम्पदाम् ॥८२८॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव का ध्यान करने से मुक्तिस्त्री के साथ-साथ तीर्थंकर की समस्त विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, फिर भला अन्य सम्पदाओं की तो बात ही क्या है ?

सूर्य की प्रभा से अंधकार नष्ट होने का दृष्टांत—

गुणग्रहणमात्रेण जिनेन्द्राणां क्षयं क्षणात्।
यान्ति विघ्नाश्च रोगाद्या यथेनेन तमांसि भोः ॥८२९॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य की प्रभा से अंधकार सब नष्ट हो जाता है उसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों को ग्रहण करने से क्षणभर में ही समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

भगवान् के गुणों में अनुरागादि करना चाहिए—

ज्ञात्वेति यतयो नित्यं तद्गुणाय जिनेशिनाम्।
प्रयत्नेन प्रकुर्वन्तु रागभक्तिःस्तवादिकान् ॥८३०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को भगवान् अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिए बड़े प्रयत्न के साथ भगवान् अरहंतदेव के गुणों में अनुराग, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति आदि करनी चाहिए।

तीर्थंकरों के समस्त गुणों की प्राप्ति होती है—

जिनवरगुणहेतुं दोषदुर्ध्यानशत्रुं सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलम्।
परविमलगुणौघैस्तद्गुणग्रामसिद्ध्यै कुरुत बुधजना नित्यं स्तवं तीर्थभाजाम् ॥८३१॥

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर परमदेव का स्तवन उनके गुणों की प्राप्ति का कारण है, समस्त दोष और अशुभ ध्यानों को नाश करने वाला है समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल कारण है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को तीर्थंकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिए उनके निर्मल गुणों का वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिए।

वंदना नामक आवश्यक का स्वरूप—

विश्वेषां तीर्थकर्तॄणां निर्देश्येमं स्तवं ततः।
हिताय स्वान्ययोर्वक्ष्ये वन्दनां मुक्तिमातृकाम् ॥८३२॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त तीर्थंकरों की स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिए मोक्ष की जननी ऐसी वंदना का स्वरूप कहते हैं।

वन्दना आवश्यक का विशेष विवरण—

एकतीर्थकृतःसिद्धाचार्यपाठकयोगिनाम् ।
साधूनां च सुनामार्चा ध्यानभक्त्यादिभिश्च यत् ॥८३३॥
गुणग्रामैर्नमःस्तोत्रं कृतिकर्म विधीयते।
प्रत्यहं गुणिभिर्मुक्त्यै वन्दनावश्यकं हि तत् ॥८३४॥

अर्थ—गुणी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसी एक तीर्थंकर की सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करते हैं ध्यान और भक्ति के द्वारा तथा उनके गुण वर्णन करके प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं उनकी स्तुति करते हैं और कृतिकर्म करते हैं उसको वंदना नाम का आवश्यक गुण कहते हैं।

इसके छह भेदों का उल्लेख—

नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभान्वितः।
भावः षडिति निक्षेपा वन्दनाया जिनैर्मता ॥८३५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने उस वंदना के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप निक्षेपों के द्वारा छह भेद बतलाए हैं।

नाम वन्दना का स्वरूप–

एकार्हतोऽत्र सिद्धानां सूरीणां पाठकात्मनाम्।
साधूनां च मुदा नामोच्चारणैर्नामसम्भवैः ॥८३६॥
गुणग्रामैःसदा स्तोत्रं क्रियते यच्छिवाप्तये।
सा नामवन्दनाज्ञेया नुतिपूर्वा जगद्धिता ॥८३७॥

अर्थ–किसी एक तीर्थंकर का, सिद्धों का, आचार्यों का, उपाध्यायों का और साधुओं का प्रसन्नतापूर्वक नाम उच्चारण करना, उनके नाम में होने वाले गुणों का वर्णन करना वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनकी स्तुति करना नाम वंदना कहलाती है। यह नाम वंदना नमस्कारपूर्वक ही होती है और संसारभर का हित करने वाली है।

स्थापना वंदना नाम का आवश्यक का स्वरूप–

एकार्हदादिसर्वेषां भक्तिभावभराङ्कितैः।
स्तूयन्ते प्रतिमा यत्र पुण्यादिफलभाषणैः ॥८३८॥
तद्भक्त्यार्चाप्रणामादीनां धर्मार्थादिसाधनम्।
स्थापनाख्यं जिनैःप्रोक्तं वन्दनावश्यकं हि तत् ॥८३९॥

अर्थ–अलग-अलग तीर्थंकरों की, अलग-अलग प्रतिमाओं की अत्यन्त भक्ति और अनुराग के साथ स्तुति करना इस प्रकार सब तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्तुति करना तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, उनको प्रणाम आदि करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका निरूपण करना स्थापना वंदना नाम का आवश्यक गुण है यह गुण धर्म, अर्थ आदि समस्त पुरुषार्थों को सिद्धि करने वाला है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

द्रव्य वंदना का लक्षण–

अमीषां यच्छरीराणां दिव्यवर्णादिवर्णनैः।
स्तवनं यद्बुधैर्भक्त्या सा द्रव्यवन्दना शुभा ॥८४०॥

अर्थ–बुद्धिमान् लोग भक्तिपूर्वक जो पाँचों परमेष्ठियों के शरीर का दिव्य वर्णन करते हैं तथा उस वर्णन के द्वारा जो लोग उनकी स्तुति करते हैं उसको शुभ द्रव्य वंदना कहते हैं।

क्षेत्र वन्दना का स्वरूप–

क्षेत्राण्यधिष्ठितान्येव तैःसर्वैर्यत्र योगिभिः।
स्तूयन्ते पुण्यकर्तॄणि क्षेत्राख्या वन्दना हि सा ॥८४१॥

अर्थ–उन पाँचों परमेष्ठियों के द्वारा जो क्षेत्र अधिष्ठित किया गया है रोका गया है उस पुण्य बढ़ाने वाले क्षेत्र की स्तुति करना उसको क्षेत्र वंदना कहते हैं।

काल वन्दना का स्वरूप—

तैरेकजिनसिद्धाद्यैः कालो योऽधिष्ठितः शुभः।
स्तूयन्ते सद्गुणोच्चारैः सा कालवन्दनोर्जिता ॥८४२॥

अर्थ—एक तीर्थंकर, एक सिद्ध, एक साधु आदि के द्वारा जो शुभ काल अधिष्ठित किया गया है उसके गुणों को उच्चारण कर उसकी स्तुति करना काल वंदना है।

भाव वन्दना का स्वरूप—

एकार्हदशरीराचार्योपाध्यायमहात्मनाम् ।
साधूनां शुद्धभावेन भावग्रहणपूर्वकम् ॥८४३॥
स्तवनं यद्विचारज्ञैः क्रियते गुणभाषणैः।
सा भाववन्दना ज्ञेया शुभभावप्रवर्द्धिनी ॥८४४॥

अर्थ—किसी एक अरहंत, एक सिद्ध, एक आचार्य, एक महात्मा उपाध्याय और एक साधु की शुद्ध भावपूर्वक विचारवान पुरुषों के द्वारा स्तुति की जाती है उनके भाव ग्रहण कर उनके गुणों के वर्णन द्वारा जो स्तुति की जाती है उसको भाव वंदना कहते हैं। यह भाव वंदना अनेक शुभ भावों को बढ़ाने वाली है।

वन्दना आवश्यक के ४ कृतिकर्म—

प्रथमं कृतिकर्माथ चितिकर्म द्वितीयकम्।
पूजाकर्म तृतीयं च विनयकर्मचतुर्थकम् ॥८४५॥

अर्थ—वंदना में पहला कृति कर्म, दूसरा चिति कर्म, तीसरा पूजा कर्म और चौथा विनय कर्म किया जाता है।

कृतिकर्म किसे कहते हैं?

कृत्यते छिद्यते येनाक्षरव्रजेन योगिभिः।
सार्वमष्टविधं कर्म कृतिकर्मतदुच्यते ॥८४६॥

अर्थ—योगी लोग स्तुति के जिन अक्षरों से आठों प्रकार के कर्मों को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, काट डालते हैं उसको कृतिकर्म कहते हैं।

चितिकर्म का लक्षण—

पापारिनाशनोपायो येन संचीयते तराम्।
तीर्थकृत्वादिसत्पुण्यं चितिकर्म तदेव च ॥८४७॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से पापरूप शत्रु के नाश करने का उपाय किया जाता है अथवा तीर्थंकर की विभूति को देने वाला पुण्य संचय किया जाता है उसको चितिकर्म कहते हैं।

पूजाकर्म का स्वरूप—

पूज्यन्ते येन सर्वेऽत्रार्हदाद्याः परमेष्ठिनः।
विश्वाभ्युदयकर्तारस्तत्पूजाकर्म कथ्यते ॥८४८॥

अर्थ—जिन अक्षरों के समुदाय से समस्त कल्याणों को करने वाले समस्त विभूतियों को देने वाले अरहंत आदि पाँचों परमेष्ठियों की पूजा की जाती है उसको पूजा कर्म कहते हैं।

विनयकर्म का स्वरूप—

विनीयन्तेऽष्टकर्माणि येनान्तमुदयादिना।
तत्स्याद्विनयकर्माऽत्र समस्तकार्यसाधकम् ॥८४९॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से आठों कर्मों को उदय, उदीरणा में लाकर नष्ट कर दिया जाता है उसको समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला विनयकर्म कहते हैं।

इस विनय कर्म से आठों कर्म नष्ट होते हैं—

यस्माद्विनाशयत्याशु यः कर्माष्टकमञ्जसा।
तस्माद्विलीनसंसारास्तमाहुर्विनयं परम् ॥८५०॥

अर्थ—इस विनय से आठों कर्म बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए संसार को नाश करने वाले भगवान् अरहंतदेव इसको विनय कहते हैं।

यही विनय मोक्ष का कारण है—

पूर्वं विश्वैर्जिनाधीशैः सर्वासु कर्मभूमिषु।
सतां सुमुक्तिलाभाय विनयः प्रतिपादितः ॥८५१॥

अर्थ—पहले जितने भी तीर्थंकर हुए हैं उन सबने समस्त कर्मभूमियों में सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मोक्ष का कारण एक विनय ही बतलाया है।

विनय के ५ भेद—

लोकानुवृत्तिनामार्थनिमित्तः कामहेतुकः।
भयाख्यो मोक्षसंज्ञःपञ्चधेति विनयो मतः ॥८५२॥

अर्थ—इस विनय के पाँच भेद हैं, लोकानुवृत्ति, अर्थ निमित्तक, कामहेतुक, भय और मोक्ष संज्ञक।

लौकिक कार्य सिद्ध करने वाला (१) लोकानुवृत्ति नामक विनय—

अभ्युत्थाननमस्कारासनदानादिभिः परैः।
भाषानुवृत्तिछन्दोनुवृत्तिसद्भोजनादिकैः ॥८५३॥
लोकात्मीकरणार्थं यो विनयः क्रियते जनैः।
लोकानुवृत्तिनामा स विनयः कार्यसाधकः ॥८५४॥

अर्थ—दूसरे को देखकर खड़ा होना, उसको नमस्कार करना, उसको आसन देना, उसके अनुकूल भाषण करना, उसके अनुकूल चलना, उनको भोजन देना आदि लोगों को अपना बनाने के लिए जो विनय किया जाता है उसको लौकिक कार्य सिद्ध करने वाला लोकानुवृत्ति नाम का विनय कहते हैं।

अर्थ विनय तथा काम विनय का लक्षण—

अर्थाय यः कृतो लोके विनयः सोऽर्थसंज्ञकः।
कामाय कामिभिर्यश्च स कामविनयोऽशुभः ॥८५५॥

अर्थ—इस लोक में धन कमाने के लिए जो विनय किया जाता है उसको अर्थ विनय कहते हैं। कामी पुरुषों के द्वारा जो काम सेवन के लिए विनय किया जाता है उसको अशुभ काम विनय कहते हैं।

भय विनय एवं मोक्ष विनय का स्वरूप—

भयेन विनयो योऽनुष्ठीयते स भयाह्वयः।
मोक्षार्थं विनयो योऽत्र स मोक्षविनयो महान् ॥८५६॥

अर्थ—भय से जो विनय किया जाता है वह भय विनय है और मोक्ष के लिए जो विनय किया जाता है वह महान् मोक्ष विनय है।

मुनियों को किस प्रकार के विनय का निषेध—

त्याज्या लोकानुवृत्याद्याश्चत्वारो विनयाः सदा।
मोक्षाख्यः पञ्चमः कार्यो विनयो मुनिभिः परः ॥८५७॥

अर्थ—मुनियों को लोकानुवृत्ति आदि चारों प्रकार का विनय सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए और पाँचवाँ सर्वोत्कृष्ट मोक्ष नाम का विनय धारण करना चाहिए।

मोक्ष विनय के ५ भेद—

दृग्चिद्वृत्ततपोभेदैरुपचारेण पञ्चधा।
मोक्षाख्यो विनयो ज्ञेयो मुक्तिहेतु-गुणप्रदः ॥८५८॥

अर्थ—यह मोक्ष विनय मोक्ष का कारण है और अनेक गुणों को देने वाला है तथा दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय ये पाँच उसके भेद हैं।

दर्शन विनय का लक्षण—

यथाविश्वे पदार्था येऽत्रोपदिष्टा जिनोत्तमैः।
तेषां तथैव श्रद्धानं यद्दृष्टिविनयो हि सः ॥८५९॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने समस्त पदार्थों का स्वरूप जैसा बतलाया है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना दर्शन विनय कहलाती है।

दर्शन विनय का फल—

सम्यक्त्वविनयेनात्र सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम्।
सोपानं प्रथमं मुक्तिश्रीसौधं लभ्यते महत् ॥८६०॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन का विनय करने से चन्द्रमा के समान निर्मल और मुक्तिलक्ष्मी के राजभवन की पहली सीढ़ी ऐसा महान् सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

ज्ञान विनय का लक्षण—

कालाद्यष्टविधाचारैः पठनं पाठनं च यत्।
योगशुद्ध्या सुशास्त्राणां स ज्ञानविनयोऽद्भुतः ॥८६१॥

अर्थ—मन-वचन-काय को शुद्ध कर कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, शब्दार्थाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार इन आठों आचारों के साथ-साथ श्रेष्ठ शास्त्रों का पठन-पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञानविनय कहलाती है।

ज्ञान विनय का फल केवलज्ञान है—

सज्ज्ञानविनयेनाहो जायते ज्ञान - लोचनम्।
त्रिजगद्दर्पणं सार्द्धं सर्वैर्विद्यादिभिः सताम् ॥८६२॥

अर्थ—इस श्रेष्ठ ज्ञानविनय से सज्जन पुरुषों के समस्त विद्याओं के साथ-साथ दर्पण के समान तीनों लोकों के स्वरूप को दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रकट होता है।

चारित्र विनय का स्वरूप-

त्रयोदशविधेः वृत्तपालने वृत्तशालिभिः।
उत्साहो योऽनुरागश्च चारित्रविनयोऽत्र सः ॥८६३॥

अर्थ—चारित्र पालन करने वालों का तेरह प्रकार के चारित्र पालन करने में जो उत्साह वा अनुराग है उसको चारित्र विनय कहते हैं।

इसका फल यथाख्यात चारित्र है—

चारित्रविनयेनात्र केवलज्ञान - कारणम्।
विश्वसौख्याकरं वृत्तं यथाख्यातं नृणां भवेत् ॥८६४॥

अर्थ—चारित्र विनय को धारण करने से केवलज्ञान का कारण और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाला ऐसा यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है।

तप विनय का स्वरूप—

द्विषड्भेदतपोयोगाचरणे च तपस्विषु।
भक्तिरागोद्यमः शक्त्या यस्तपः विनयोऽत्र सः ॥८६५॥

अर्थ—बारह प्रकार के तपश्चरण को पालन करने में तथा तपस्वियों में शक्तिपूर्वक अनुराग

धारण करना तपोविनय कहलाता है।

तप विनय का फल—

स्युस्तपोविनयेनाहो घोरवीर-तपांसि च।

घातिकर्मारिहंतॄणि योगिनां विश्वसम्पदः ॥८६६॥

अर्थ—तपोविनय धारण करने से मुनियों के घातिया कर्मों को नाश करने वाले घोर वीर तपश्चरण प्रकट होते हैं और संसार की समस्त संपदाएँ प्राप्त होती हैं।

उपचार विनय का स्वरूप—

यत्प्रत्यक्षपरोक्षेणाचार्याद्यखिलयोगिनाम् ।

आज्ञादिपालनं चोपचारिको विनयोऽत्र सः ॥८६७॥

अर्थ—आचार्य आदि समस्त योगियों की प्रत्यक्ष वा परोक्षरूप से आज्ञा का पालन करना औपचारिक विनय है।

उपचार विनय का फल—

अनेन विनयेनाशु संपद्यन्तेऽखिला गुणाः।

ज्ञानविज्ञानविद्याद्या मोक्षदा यमिनां पराः ॥८६८॥

अर्थ—मुनियों के इस उपचार विनय से सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष देने वाले ज्ञान विज्ञान विद्या आदि समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं।

मोक्ष विनय से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति—

मोक्षार्थं विनयं मोक्षाभिधं ये कुर्वतेऽन्वहम्।

इमं तेषां जगल्लक्ष्म्या समं मुक्तिः प्रजायते ॥८६९॥

अर्थ—जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन इस मोक्ष विनय को धारण करते हैं उनको संसार की समस्त विभूतियों के साथ-साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त होती है।

मोक्ष विनय प्रतिदिन आवश्यक—

मत्वेति विनयं दक्षा इमं सर्वप्रयत्नतः।

त्रिशुद्ध्या प्रत्यहं सारं कुर्वन्तु शिवशर्मणे ॥८७०॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को मन-वचन-काय को शुद्धकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन यह सारभूत मोक्ष विनय धारण करना चाहिए।

शुभज्ञान प्राप्ति के लिए कुछ प्रश्न—

अत्रान्तरे सुमेधावी शिष्यः पृच्छति सादरः।

प्रणम्य स्वगुरुं मूर्ध्ना कांश्चित्प्रश्नाञ्शुभाप्तये ॥८७१॥

अर्थ—इसी बीच में किसी चतुर शिष्य ने अपने गुरु के आगे मस्तक झुकाकर आदर के साथ

शुभ ज्ञान की प्राप्ति के लिए कुछ प्रश्न पूछे।

कृतिकर्म का विशेष स्वरूप—

भगवन् कृतिकर्माऽत्र कीदृशं वा कियद्विधम्।
कैस्तेषां तद्धिकर्तव्यं विधिना केन वाखिलम् ॥८७२॥
अवस्थाविषये कस्मिन् कतिवारान् शुभप्रदान्।
कृतिकर्मण एवास्य कियन्त्यवनतानि वै ॥८७३॥
कियन्ति च शिरांसि स्युरावर्तानि कियन्ति च।
कति दोषैर्विमुक्तं वा कर्तव्यं कृति कर्म तत् ॥८७४॥

अर्थ—वह पूछने लगा कि हे भगवन्! यहाँ पर कृतिकर्म से क्या अभिप्राय है, वह कितने तरह का होता है, उनका विधान किन-किनके लिए है वा किनको करना चाहिए, किस विधि से करना चाहिए, किस अवस्था में कितने बार यह शुभप्रद कृतिकर्म करना चाहिए, कितने नमस्कार करने चाहिए, कितनी शिरोनति करनी चाहिए, कितने आवर्त करने चाहिए और कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म करना चाहिए ?

गुरु का उत्तर—

इमां सत्प्रश्नमालां मेऽनुग्रहाय सकिलादिश।
ततःप्राह गुरुर्विश्व-हितोद्युक्तं इदं वचः ॥८७५॥

अर्थ—हे प्रभो! मेरा अनुग्रह करने के लिए इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये। यह सुनकर सब जीवों का हित करने वाले गुरु नीचे लिखे अनुसार कहने लगे।

कृतिकर्म का स्वरूप सुनने के लिए प्रेरणा—

शृणु धीमन् विधाय त्वं स्ववशे हृदयं निजम्।
जिनागम बलाद्वक्ष्ये कृतिकर्मविधीन् परान् ॥८७६॥

अर्थ—कि हे बुद्धिमान्! तू अपने मन को वश में कर सुन। मैं जिनागम के अनुसार कृतिकर्म की उत्कृष्ट विधियों को कहता हूँ।

कृतिकर्म के २ भेद—

नित्यनैमित्तिकाभ्यां तत्कृतिकर्म द्विधोच्यते।
एकैकं बहुभेदं च कर्मघ्नं शिवकारणम् ॥८७७॥

अर्थ—उस कृतिकर्म के दो भेद हैं एक प्रतिदिन होने वाला कृतिकर्म और दूसरा किसी निमित्त से होने वाला कृतिकर्म। इनमें भी एक-एक कृतिकर्म के अनेक भेद हैं जो कर्मों को नाश करने वाले हैं और मोक्ष के कारण हैं।

नित्यकर्म पापों का नाश करने वाला है—

त्रिकालवन्दना योगसत्प्रतिक्रमणादिकम्।
प्रत्यहं क्रियते यत्तन्नित्यकर्माघनाशकम् ॥८७८॥

अर्थ—जो प्रतिदिन त्रिकाल वंदना की जाती है, योग धारण किया जाता है वा श्रेष्ठ प्रतिक्रमण किया जाता है उसको नित्यकर्म कहते हैं। यह नित्यकर्म भी पापों को नाश करने वाला है।

नैमित्तिक कृतिकर्म का स्वरूप—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षपर्वदिनादिषु।
विधीयते क्रियाकर्म यत्तन्नैमित्तिकं परम् ॥८७९॥

अर्थ—अष्टमी के दिन चतुर्दशी के दिन पक्ष पूरा होने पर वा अन्य किसी पर्व के दिन जो क्रिया कर्म किया जाता है उसको नैमित्तिक कृतिकर्म कहते हैं।

कौन सी भक्तियाँ करनी आवश्यक हैं—

त्रिकालवन्दनायां च विधेया भाक्तिकैः सदा।
चैत्यभक्तिस्ततः पञ्चगुरुभक्तिर्विधानतः ॥८८०॥

अर्थ—त्रिकाल वंदना में भक्त पुरुषों को विधिपूर्वक सदा चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलनी चाहिए।

चतुर्दशी के दिन की भक्तियाँ—

चतुर्दशीदिने सिद्धचैत्यश्रुताख्यभक्तयः।
भक्तिः पञ्चगुरूणां श्रीशान्तिभक्तिस्ततोऽन्तिमा ॥८८१॥

अर्थ—चतुर्दशी के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिए।

अष्टमी की भक्तियाँ—

अष्टमीदिवसे सिद्धश्रुतचारित्रभक्तयः।
चैत्यभक्तिस्ततः पञ्चगुरुशान्तिसमाह्वये ॥८८२॥

अर्थ—अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिए।

पाक्षिक वंदना में आवश्यक भक्तियाँ—

पाक्षिके दिवसे सिद्धचारित्रशान्तिभक्तयः।
श्रीसिद्धप्रतिमायां श्रीसिद्धभक्तिर्विधीयते ॥८८३॥

अर्थ—पाक्षिक वंदना में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए तथा सिद्ध प्रतिमा के सामने सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिए।

अपूर्व चैत्य एवं चैत्यालय में कौन सी भक्ति करनी चाहिए—

अपूर्वचैत्यचैत्यालये सिद्धचैत्यसंज्ञके।
भक्ती: चारित्रसत्पञ्चगुरुश्रीशान्तिनामिका: ॥८८४॥

अर्थ—अपूर्व चैत्य वा अपूर्व चैत्यालय में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, चारित्रभक्ति, पंचगुरु भक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

नंदीश्वर के तीनों पर्वों में कौन सी भक्ति करें—

नन्दीश्वरत्रये सिद्धचैत्यभक्ती स्वभक्तित:।
विधातव्ये तत:पञ्चगुरुशान्त्यविधे परे ॥८८५॥

अर्थ—नंदीश्वर के तीनों पर्वों में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

भगवान् के जन्म कल्याणक के दिन कौन सी भक्ति करनी चाहिए—

जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च तीर्थेशजन्मनो बुधै:।
सिद्धचारित्रशान्त्याख्या दातव्या भक्तयो मुदा ॥८८६॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के सामने तथा तीर्थंकर के जन्मकल्याणक के दिन बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

अभिषेक की वंदना में कौन सी भक्ति पढ़े?

कर्त्तव्या अभिषेकस्य वन्दनायां सुभक्तय:।
सिद्धचैत्यमहापञ्चगुरुशान्तिजिनेशिनाम् ॥८८७॥

अर्थ—अभिषेक की वंदना में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरु भक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

भगवान् की चल-अचल प्रतिष्ठा में कौन सी भक्ति पढ़े?

जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानां स्थिरानां वा चलात्मनाम्।
प्रतिष्ठायां भवेत्सिद्धशान्तिभक्त्याह्वय: द्वयम् ॥८८८॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव की चल और अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति ये दो भक्ति पढ़नी चाहिए।

स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौन-कौन सी भक्ति पढ़े—

स्थिरार्हत्प्रतिमायां च चतुर्थस्नपनाहनि।
सिद्धभक्तिश्च चारित्रभक्तिरालोचना युता ॥८८९॥
चैत्यभक्तिर्महापञ्चगुरुभक्ति: प्रयत्नत:।
शान्तिभक्तिर्विधातव्या विधिना विधिहानये ॥८९०॥

अर्थ—स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, आलोचना, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति विधिपूर्वक कर्मों को नाश करने के लिए प्रयत्नपूर्वक पढ़नी चाहिए।

चल प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौन सी भक्ति पढ़े?

चलाऽर्हत्प्रतिमायाश्च मुदा कार्या बुधोत्तमैः।
सिद्धचैत्यमहापञ्चगुरुशान्तिसुभक्तयः ॥८९१॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को चल अरहंत प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन प्रसन्नतापूर्वक सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरु भक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

सामान्य मुनियों की वंदना कैसे करें?

महत्तपः-पदारूढसामान्यर्षे प्रवन्दना।
सिद्धभक्तिं विधायोच्चैर्भक्त्या कार्यान्यसंयतैः ॥८९२॥

अर्थ—जो सामान्य मुनि उग्र-उग्र तपश्चरण करने वाले हैं उनकी वंदना करने के लिए अन्य मुनियों को भक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिए।

सिद्धान्त के जानकार मुनियों की वंदना कैसे करें?

सिद्धान्तवेदिनां सिद्धश्रुतभक्तिद्वयं भवेत्।
आचार्याणां हि सिद्धाचार्यभक्तीभवतो नुतौ ॥८९३॥

अर्थ—सिद्धान्त के जानने वाले मुनियों की वंदना करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए तथा आचार्यों की वंदना करने के लिए सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर नमस्कार करना चाहिए।

यदि आचार्य सिद्धान्त के जानकार हों तो भक्ति कैसे करें?

सिद्धान्तवेदिसूरीणां वन्दनायां सुशिष्यकैः।
कर्तव्या विधिना सिद्धश्रुताचार्याख्यभक्तयः ॥८९४॥

अर्थ—यदि वे आचार्य सिद्धान्त के जानकार हों तो उनके शिष्यों को विधिपूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए।

प्रतिमायोग धारण करने वालों की भक्ति कैसे करें?

मुनेर्लघीयसोऽपि प्रतिमायोगस्थितस्य वै।
महतस्तपसो भक्त्या प्रणामे परसंयतैः ॥८९५॥
दातव्या युक्तितः सिद्धयोगशान्त्याख्यभक्तयः।
तथा प्रदक्षिणा कार्या योगभक्त्यातिभाक्तिकैः ॥८९६॥

अर्थ—यदि कोई मुनि छोटे हों किन्तु प्रतिमायोग धारण कर खड़े हों तो उनके लिए तथा बड़े मुनियों के लिए अन्य मुनियों को नमस्कार करते समय युक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए तथा भक्त पुरुषों को योगभक्ति पढ़कर उनकी प्रदक्षिणा देनी चाहिए।

भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समय कौन सी भक्ति करें?

जिननिष्क्रमणे सिद्धचारित्रयोगभक्तय:।
योगशान्त्याह्वयेभक्ती योगभक्त्या प्रदक्षिणा ॥८९७॥

अर्थ—भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए तथा योगभक्ति पढ़कर प्रदक्षिणा देनी चाहिए।

तीर्थंकर के निर्वाण के समय कौन-सी भक्ति करें?

जिननिर्वाणसत्क्षेत्रे भक्ती सिद्धश्रुताभिधे।
चरित्रयोगनिर्वाण-शान्तिभक्तिप्रदक्षिणा ॥८९८॥

अर्थ—तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र में जाकर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए तथा प्रदक्षिणा भी देनी चाहिए। (प्रदक्षिणा योगभक्ति से दी जाती है)।

भगवान् के ज्ञान कल्याणक के समय कौन सी भक्ति पढ़े?

ज्ञानोत्पत्तौ महासिद्धश्रुतचारित्रभक्तय:।
शान्तिभक्तिस्तथायोगभक्त्या कार्या प्रदक्षिणा ॥८९९॥

अर्थ—भगवान् के ज्ञान कल्याणक के समय महा सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए तथा योगभक्ति पढ़कर प्रदक्षिणा देनी चाहिए।

भगवान् वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण कल्याणक के दिन कौन सी भक्ति पढ़े?

श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिने कार्या क्रियाविधौ।
सिद्धनिर्वाणसत्पञ्चगुरुशान्त्याख्यभक्तय: ॥९००॥

अर्थ—भगवान् वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के दिन कृतिकर्म की विधि करते समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

सामान्य ऋषि का मरण हो जाने पर कौन सी भक्ति पढ़े?

सामान्यर्षौ मृतेऽङ्गस्य निषद्यास्थानकस्य वा।
विधेया: सिद्धयोगश्रीशान्तिभक्तय एव हि ॥९०१॥

अर्थ—किसी सामान्य ऋषि के मरण हो जाने पर उनके शरीर के लिए तथा उनके निषद्या स्थान के लिए सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

सिद्धान्त के जानकार ऋषि के मरण हो जाने पर कौन सी भक्ति करें?

सिद्धान्तवेदिसाधूनां कर्त्तव्या मरणे बुधैः।

श्रीसिद्धश्रुतयोगश्रीशान्तिभक्तिसमाह्वयाः ॥९०२॥

अर्थ—सिद्धान्त के जानकार साधुओं का मरण होने पर बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

उत्तरगुण के धारण करने वाले के समाधिमरण पर कौन-सी भक्ति की जाये—

उत्तराख्यमहायोगधारिणां योगिनां मृतौ।

सिद्धचारित्रसद्योगश्रीशान्तिभक्तयोऽमलाः॥९०३॥

अर्थ—उत्तरगुण धारण करने वाले महायोगी मुनियों के मरण होने पर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और निर्मल शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

महामुनि के मरण पर कौन सी भक्ति करें—

तथोत्तरमहायोगधारिसिद्धान्तवेदिनाम् ।

श्रीसिद्धश्रुतचारित्रयोगश्रीशान्तिभक्तयः ॥९०४॥

अर्थ—यदि उत्तरगुणों को धारण करने वाले महामुनि सिद्धान्त के जानकार हों और उनका मरण हो जाये तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

आचार्य के मरण पर कौन सी भक्ति करें—

आचार्येऽत्र मृतेऽङ्गस्य निषद्यायाः किलाऽथवा।

दातव्याः सिद्धयोगाचार्यश्रीशान्तिसुभक्तयः ॥९०५॥

अर्थ—आचार्य के मरण होने पर उनके शरीर के लिए और निषद्या के लिए सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

सिद्धान्त के जानकार आचार्य के मरण पर कौन सी भक्ति पढ़े?

सिद्धान्तवेदिसूरीणां विधेर्याः शिष्यकैर्मुदा।

श्रीसिद्धश्रुतयोगाश्चाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥९०६॥

अर्थ—यदि सिद्धान्त के जानकार आचार्य का मरण हो जाये तो उनके शरीर और निषद्या के लिए शिष्यों को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

उत्तरगुणों के पालन करने वाले आचार्य के मरण पर कौन सी भक्ति पढ़े?

उत्तराभिधसद्योगिनां सूरीणां मृते सति।

सिद्धचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥९०७॥

अर्थ—इसी प्रकार उत्तरगुणों को धारण करने वाले आचार्यों के मरण होने पर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

यदि आचार्य सिद्धान्त पाठी हों और उत्तर गुणों के पालनकर्ता हों तो उनके मरण होने पर कौन सी भक्ति पढ़े—

सिद्धान्तोत्तर-सद्योगाद्यसूरेः सिद्धपूर्विकाः।
श्रुतचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशान्तिभक्तयः ॥९०८॥

अर्थ—यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता भी हों और उत्तरगुणों को धारण करने वाले भी हो और उनका मरण हो जाये तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

आठों प्रकार के निषद्या स्थानों की भक्ति करें—

इमा अष्टौ च क्रियाः कार्याः शिष्यैर्वा परसंयतैः।
शरीरस्य निषद्यास्थानस्य वा शुभकारणाः ॥९०९॥

अर्थ—ये आठ क्रियाएँ (आठ प्रकार के साधुओं के मरण होने पर पढ़ी जाने वाली भक्तियों का पढ़ना) उनके शिष्यों को भी करनी चाहिए तथा अन्य मुनियों को भी करनी चाहिए तथा ये शुभ क्रियाएँ उनके शरीर की भी करनी चाहिए और उनके निषद्या (समाधि स्थान) स्थान की भी करनी चाहिए।

श्रुतभक्ति पर्व पर भक्ति विधान—

प्रथमं श्रुतपञ्चम्यां भक्तीसिद्धश्रुताह्वये।
श्रीश्रुताचार्यभक्तीः च कृत्वा स्वाध्याय ऊर्जितः ॥९१०॥
ग्राह्यस्तत्त्वार्थसूत्राणि पठित्वाऽनुबुधैश्च तम्।
निष्ठाप्य श्रुतभक्त्यन्ते शान्तिभक्तिर्विधीयते ॥९११॥

अर्थ—श्रुतपंचमी के दिन पहले तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर उत्तम स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिए फिर तत्त्वार्थसूत्र को पढ़कर बुद्धिमानों को श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को पूर्ण करना चाहिए और फिर शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

समाधिमरण के प्रारम्भ पर क्या क्रिया—

संन्यासारम्भकाले भक्ती सिद्धश्रुतसंज्ञिके।
कृत्वा गृहीतसंन्यासः संवेगाङ्कित मानसः ॥९१२॥
श्रुताचार्याभिधे भक्ती दत्वा स्वाध्यायमद्भुतम्।
गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयेन्मुदा ॥९१३॥

अर्थ—समाधिमरण के प्रारम्भ काल में सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए फिर मन में परम वैराग्य धारण करते हुए संन्यास ग्रहण करना चाहिए। फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर

उत्तम स्वाध्याय को ग्रहण करना चाहिए और अंत में श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिए।

संन्यास धारण करने पर क्या करें—

स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेयाः संन्यासस्थ-महामुनेः।
महाश्रुतमहाचार्यमहाश्रुताख्य-भक्तयः ॥११४॥

अर्थ—संन्यास धारण करने वाले महामुनि को स्वाध्याय ग्रहण करते समय महा श्रुतभक्ति, और महा आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए।

प्रतिदिन तीनों कालों में प्रतिक्रमणादि भक्ति—

सत्प्रतिक्रमणे कार्या त्रिकालगोचरेऽन्वहम्।
सिद्धभक्तिस्ततो भक्तिः प्रतिक्रमणसंज्ञिका॥११५॥
निष्ठितकरणाद्यन्त - वीरभक्तिश्च संयतैः।
चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिर्मलहानये ॥११६॥

अर्थ—प्रतिदिन तीनों कालों में होने वाले प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति के बाद प्रतिक्रमणभक्ति उसके अंत में वीरभक्ति और दोष दूर करने के लिए चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करनी चाहिए।

चारित्र को शुद्ध करने वाली भक्तियों का पाठ करें—

पाक्षिकाख्ये च चातुर्मासिक संज्ञेऽघघातके।
सत्प्रतिक्रमणे सारे सांवत्सरिकनामनि ॥११७॥
आदौ श्रीसिद्धचारित्रप्रतिक्रमण-भक्तयः।
श्रीनिष्ठितकरणादि-वीरभक्तिसमाह्वयः ॥११८॥
चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिः शुभदायिनी।
चारित्रालोचनाचार्यभक्तिश्चारित्रशुद्धिदा ॥११९॥
वृहदालोचनाचार्यभक्तिर्मलविनाशिनी ।
क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिः शुद्धिकरान्तिमा ॥१२०॥

अर्थ—पापों को नाश करने वाले पाक्षिक प्रतिक्रमण में, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में और सारभूत वार्षिक प्रतिक्रमण में पहले सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति करनी चाहिए फिर प्रतिक्रमण भक्ति पढ़नी चाहिए। प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वीरभक्ति और शुभ देने वाली चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढ़नी चाहिए फिर चारित्र को शुद्ध करने वाली चारित्रालोचना व आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए। तदनंतर दोष दूर करने वाली बृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए अंत में शुद्धि करने वाली लघु आलोचना और लघु आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए।

आचार्य भक्ति दोष हरण करने वाली है—

चारित्रालोचनाचार्य-भक्तिर्भक्तिविधायिनी।
वृहदालोचनाचार्य-भक्तिर्दोषापहारिणी ॥९२१॥

अर्थ—इन भक्तियों में से चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति भक्ति उत्पन्न करने वाली हैं तथा बृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति दोषों को दूर करने वाली हैं।

अन्य प्रतिक्रमणों में भक्ति का विधान—

एतद्भक्तिद्वयं मुक्त्वा शेषाः षड्भक्तयो पराः।
प्रतिक्रमणशेषेषु कर्त्तव्या दोषहानये ॥९२२॥

अर्थ—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण को छोड़कर बाकी के जितने प्रतिक्रमण हैं उन सब में दोष दूर करने के लिए चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति को छोड़कर बाकी की छहों भक्ति पढ़नी चाहिए।

दीक्षा ग्रहण करते समय तथा केशलोंच करते समय कौन सी भक्ति करें—

सद्दीक्षाग्रहणे लोचे सिद्धयोगसमाह्वये।
भक्ती लोचावसाने च सिद्धभक्तिर्विरागदा ॥९२३॥

अर्थ—दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोंच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़नी चाहिए तथा केशलोंच करने के अनंतर वैराग्य उत्पन्न करने वाली सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिए।

पारणा के दिन आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिए—

श्रीसिद्धयोगभक्ती कृत्वा प्रत्याख्यानमूर्जितम्।
गृहीत्वाचार्यभक्तिश्च कर्तव्या पारणाहनि ॥९२४॥

अर्थ—सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़कर उत्तम प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और पारणा के दिन आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए।

प्रत्याख्यान का त्याग—

सिद्धभक्तिं विधायोच्चैः प्रत्याख्यानं विमोचयेत्।
मध्याह्ने संयमी दातृगेहेऽङ्गस्थितये चिदे ॥९२५॥

अर्थ—फिर संयमियों को आत्मकल्याणार्थ शरीर की स्थिति के लिए दाता के घर मध्याह्न के समय सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यान का त्याग करना चाहिए।

स्वाध्याय के आदि में तथा अंत में किस भक्ति का पाठ करें—

श्रीश्रुताचार्यभक्ती विधाय स्वाध्याय ऊर्जितः।
ग्राह्यो निष्ठापने तस्य श्रुतभक्तिर्भवेत्सताम् ॥९२६॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों को श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करते समय श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए।

मध्याह्न की क्रियाओं में भक्ति विधान—

कार्याःमङ्गलमध्याह्नक्रियायां मुनिसत्तमैः ।
सिद्धश्रीचैत्य - सत्पञ्चगुरुश्रीशान्तिभक्तयः ॥९२७॥

अर्थ—मध्याह्न की मांगलिक क्रियाओं में मुनियों को सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

मांगलिक शुभ कार्य में भक्ति विधान—

प्रत्याख्याने शुभे मङ्गलगोचरसमाह्वये।
महासिद्धमहायोगभक्ती कृत्वा चतुर्विधम् ॥९२८॥
प्रत्याख्यानं गृहीत्वैकोपवासादिकगोचरम्।
आचार्यशान्तिभक्ती चान्तेऽस्य कुर्वन्तु योगिनः ॥९२९॥

अर्थ—किसी मांगलिक शुभ प्रत्याख्यान में महा सिद्धभक्ति और महा योगभक्ति पढ़कर एक वा दो वा अधिक उपवास के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और अन्त में उन मुनियों को आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

रात्रि के समय योग धारण की विधि—

ग्रहणे रात्रियोगस्य मोचने च सुयोगिनः।
योगभक्तिं प्रकुर्वन्तु पापास्रवनिरोधिनीम् ॥९३०॥

अर्थ—रात्रि योग धारण करते समय और उसका त्याग करते समय मुनियों को पापास्रव को रोकने वाली योगभक्ति पढ़नी चाहिए।

वर्षायोग धारण व निष्ठापन में कौन सी भक्ति करें—

योगस्य ग्रहणे वर्षाकाले निष्ठापने तथा।
श्रीसिद्धयोगभक्ती दत्त्वा ग्राह्यो योगऊर्जितः ॥९३१॥
चतुर्दिक्षु चतस्रोऽनुचैत्य - भक्तयः एव हि।
ततो भक्तिद्वयं पञ्चगुरुशान्त्याह्वयं परम् ॥९३२॥

अर्थ—वर्षाकाल में योग धारण करते समय तथा अंत में उसका त्याग करते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़कर योग धारण करना चाहिए, वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में एक-एक चैत्यभक्ति पढ़नी चाहिए और फिर पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए। इसी प्रकार वर्षायोग धारण करना चाहिए और इसी प्रकार उसका विसर्जन करना चाहिए।

सिद्धान्त-वाचना के समय भक्ति—

सिद्धान्तवाचनाया ग्रहणे सिद्धश्रुताभिधे।
भक्ती कृत्वा पुनर्दत्वा श्रुताचार्याह्वये परे ॥९३३॥
स्वाध्यायं किल गृह्णातु तस्य निष्ठापने यमी।
श्रुतश्रीशान्तिभक्ती च करोतु बहुभक्तये ॥९३४॥

अर्थ—सिद्धान्त वाचना के ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिए फिर श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्याय का ग्रहण करना चाहिए और उसको समाप्त करते समय मुनियों को अधिक भक्ति करने के लिए श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिए।

सिद्धान्त ग्रन्थों के अधिकार समाप्ति पर विधान—

सिद्धान्तार्थाधिकाराणां समाप्तौ मानहेतवे।
एकैकं सत्तनूत्सर्गं मुदा कुर्वन्तु संयताः ॥९३५॥

अर्थ—सिद्धान्त ग्रन्थों के अधिकार समाप्त होने पर उनका सम्मान करने के लिए मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिए।

सिद्धान्त ग्रन्थों के अर्थाधिकार प्रारम्भ करने पर विधान—

तेषामर्थाधिकाराणां बहुमान्यत्वतश्चिदे।
आदौ सिद्धश्रुताचार्यभक्ती कृत्वा विदाम्वरैः ॥९३६॥

अर्थ—सिद्धान्त ग्रन्थों के अर्थाधिकारों के प्रारम्भ में अधिक मान देने के लिए सबसे पहले सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बुद्धिमानों को कर लेनी चाहिए।

ज्ञान की वृद्धि करने वाले ६ कायोत्सर्ग—

समाप्तावप्यनेन क्रमेण प्रवर्तिते सति।
भवन्ति ज्ञानकर्तारः कायोत्सर्गाः षडेव हि ॥९३७॥

अर्थ—इसी प्रकार सिद्धान्त ग्रन्थों के अर्थाधिकार समाप्त होने पर ये ही भक्तियाँ पढ़नी चाहिए तथा ज्ञान की वृद्धि करने वाले छह कायोत्सर्ग करने चाहिए।

ऐसा शिष्य गुरु की पदवी के योग्य होता है—

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो महाप्राज्ञो महातपाः।
चिरप्रव्रजितो वाग्मी सिद्धान्ताम्बुधिपारगः ॥९३८॥
दान्तेन्द्रियोऽति निर्लोभो धीरः स्वान्यमतादिवित्।
गम्भीरस्तत्त्वविद्दक्षो ह्यजह्यो मृदुमानसः ॥९३९॥
धर्मप्रभावनाशील इत्यादिगुणसागरः।
आचार्यपदवीयोग्यः शिष्यो गुरोरनुज्ञया ॥९४०॥

अर्थ—जो शिष्य ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न है, महाबुद्धिमान् है, महातपस्वी है, चिरकाल का दीक्षित है, श्रेष्ठ वक्ता है, सिद्धान्त महासागर का पारगामी है, इन्द्रियों को वश करने वाला है, अत्यन्त निर्लोभ है, धीर-वीर है, अपने और दूसरों के मत को अच्छी तरह जानता है, जो गम्भीर है, तत्त्वों का वेत्ता है, चतुर है, जिसका मन कोमल है, जो धर्म की प्रभावना करने में चतुर है और जिसका मन निश्चल है, कषायों को वश में करने वाला है। इस प्रकार जो अनेक गुणों का समुद्र है, ऐसा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचार्य पदवी के योग्य होता है।

आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण का विधान—

श्रीसिद्धाचार्य-भक्ती विधायाचार्यपदं महत्।
गृहीत्वा सङ्घसान्निध्ये शान्तिभक्तिं करोतु च ॥९४१॥

अर्थ—ऐसे शिष्य को सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण करना चाहिए और फिर संघ के समीप बैठकर शांतिभक्ति करनी चाहिए।

ये सब क्रियाएँ प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिए—

इमा उक्ताः क्रियाः कार्याः सकला योगिभिर्मुदा।
श्रावकैश्च यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमैः ॥९४२॥

अर्थ—ये सब ऊपर लिखी हुई क्रियाएँ मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिए तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों को यथा योग्य रीति से ये क्रियाएँ करनी चाहिए।

आचार्य आदि श्रेष्ठ मुनियों के लिए कृतिकर्म करना चाहिए—

क्षमादिलक्षणैर्युक्ता-रत्नत्रयविभूषिताः ।
निर्ममा-निरहङ्कारा अनालस्या जितेन्द्रियाः ॥९४३॥
दीक्षया लघवो दक्षा विरागा निर्जरार्थिनः।
धर्मशीलाः सुसंवेगा विचारचतुरा भुवि ॥९४४॥
इत्यादिगुणसम्पन्ना मुनयो ये शिवाप्तये।
आचार्यादि वरिष्ठानां कुर्वन्तु कृतिकर्म ते ॥९४५॥

अर्थ—जो मुनि उत्तम क्षमा आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं, रत्नत्रय से विभूषित हैं, मोहरहित हैं, अहंकार रहित हैं, आलस्य रहित हैं, जितेन्द्रिय हैं, दीक्षा की अपेक्षा लघु वा छोटे हैं, चतुर हैं, वीतराग हैं, कर्मों की निर्जरा करने वाले हैं, धर्मात्मा हैं, संसार से भयभीत हैं और विचार करने में चतुर हैं। इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित जो मुनि हैं उनको मोक्ष प्राप्त करने के लिए आचार्य आदि अपने से श्रेष्ठ मुनियों के लिए कृतिकर्म करना चाहिए।

अरहंत सिद्ध का सत्कृति कर्म करना चाहिए—

पञ्चकल्याणपूजार्हा अर्हन्तस्त्रिजगन्नुताः।
सिद्धाः कर्माङ्गमुक्ताश्च योग्याः सत्कृतिकर्मणाम् ॥९४६॥

अर्थ—जो पाँचों कल्याणकों की पूजा के योग्य हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे भगवान् अरहंतदेव तथा समस्त कर्मों से रहित भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सत्कृति कर्म के योग्य हैं।

भावार्थ—मुनियों को श्रेष्ठ मुनियों का कृतिकर्म करना चाहिए और अरहंत सिद्धों का सत्कृति कर्म करना चाहिए।

आचार्यों का लक्षण—

पञ्चाचारपरा दक्षाः षट्त्रिंशद्गुणभूषिताः।
विश्वोपकारचातुर्या आचार्याः सर्ववन्दिताः ॥९४७॥

अर्थ—जो पाँचों आचारों के पालन करने में अत्यन्त चतुर हैं, जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हैं, जो समस्त जीवों का उपकार करने में चतुर हैं और सब मुनि जिनको नमस्कार करते हैं उनको आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप—

रत्नत्रयमहाभूषा अङ्गपूर्वाब्धिपारगाः।
उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठनतत्पराः ॥९४८॥

अर्थ—जो रत्नत्रय से अत्यन्त सुशोभित हैं, जो अंग-पूर्वरूपी महासागर के पारगामी हैं और जो शास्त्रों के पठन-पाठन में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं।

प्रवर्तक तथा स्थविर का लक्षण—

प्रवर्तकाः स्वसङ्घानां योगक्षेमविधायिनः।
मर्यादेशका ये च स्थविराश्चिरदीक्षिताः॥९४९।

अर्थ—जो अपने संघ में योग क्षेम करने वाले हैं उनको प्रवर्तक कहते हैं तथा जो एकदेश मर्यादा को पालन करने व बतलाने वाले चिरकाल के दीक्षित हैं उनको स्थविर कहते हैं।

ये चारों प्रकार के मुनि जगत्वंद्य होते हैं—

चत्वारस्ते जगद्वन्द्या योग्या भवन्ति भूतले।
विनयस्य मुनीनां च सर्वेषां कृतिकर्मणाम् ॥९५०॥

अर्थ—ये जगद्वंद्य चारों प्रकार के मुनि इस संसार में अन्य मुनियों की विनय के और समस्त मुनियों के कृतिकर्म के योग्य होते हैं।

कौन वंद्य नहीं है तथा किनके लिए कृतिकर्म अनावश्यक है—

शैथिल्याचारणा मन्दसंवेगा द्रव्यलिङ्गिनः।
द्विधासङ्गार्त्तसंसक्ताः शठाः पण्डितमानिनः ॥९५१॥
नरेन्द्रमातृपित्राद्यै दीक्षाविद्यादिदायिनः।
गुरवश्चक्रियाहीनाः सर्वे पाषंडिलिङ्गिनः ॥९५२॥
रागिणोऽविरता विश्वे कुदेवा भववर्तिनः।
एते सतामवन्द्या यतोऽयोग्याः कृतिकर्मणाम् ॥९५३॥

अर्थ—जिनका आचरण अत्यन्त शिथिल है, जिनका संवेग मंद है, जो द्रव्यलिंगी है , बाह्याभ्यंतर परिग्रह धारण करने के कारण जो आर्तध्यान में लीन रहते हैं, जो मूर्ख हैं, अपने को पण्डित मानते हैं, जो राजा वा माता-पिता को दीक्षा वा विद्या देते हैं, जो गुरु क्रियाहीन हैं, जो-जो पाखंडी हैं, रागी हैं, व्रतहीन हैं, जो-जो संसार में परिभ्रमण करने वाले कुदेव हैं, वे सब सज्जनों को वंदना करने के अयोग्य हैं तथा कृतिकर्म करने के अयोग्य हैं। उनकी न वंदना करनी चाहिए और न उनके लिए कृतिकर्म करना चाहिए।

पार्श्वस्थ के भेद तथा उनकी प्रवंद्यता—

पार्श्वस्थाश्च कुशीला हि संसक्ता वेषधारिणः।
तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्रनामकाः ॥९५४॥
एते पञ्चैव पार्श्वस्था न वन्द्याः संयतैः क्वचित्।
अमीषां लक्षणं किञ्चन्निन्द्याचारं ब्रुवेऽत्र च ॥९५५॥

अर्थ—जो मुनि पार्श्वस्थ हैं, कुशील हैं, वेषधारी संसक्त हैं, अपगत संज्ञक हैं और मृगचारित्री हैं वे सब पार्श्वस्थ कहलाते हैं। मुनियों को ऐसे पार्श्वस्थों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिए। आगे मैं संक्षेप से इन पार्श्वस्थों का थोड़ा सा लक्षण और निंद्य आचरण कहता हूँ।

पार्श्वस्थ मुनियों का लक्षण—

वसतिप्रतिबद्धा ये बहुमोहाः कुमार्गगाः।
सङ्गोपकरणादीनां कारकाः शुद्धिदूरगाः ॥९५६॥
दूरस्थाः संयतेभ्यो दुष्टाऽसंयतादिसेविनः।
अजिताक्षकषायाश्च द्रव्यलिङ्गधरा भुवि ॥९५७॥
गुणेभ्यो दृग्विदादिभ्यः पार्श्वे तिष्ठन्ति योगिनाम्।
ते पार्श्वस्था जिनैः प्रोक्ताः स्तुतिनुत्यादिवर्जिताः ॥९५८॥

अर्थ—जो सदा वसतिका में निवास करते हैं, जो अत्यन्त मोही हैं, कुमार्गगामी हैं, परिग्रह और उपकरण आदि को उत्पन्न करने वाले हैं, जो शुद्धता से दूर रहते हैं, संयमियों से दूर रहते हैं, दुष्ट

असंयमियों की सेवा करते हैं, जो न तो इन्द्रियों को जीतते हैं और न कषायों को जीतते हैं जो संसार में केवल द्रव्यलिंग को धारण करते हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि गुणों से व मुनियों से दूर/बाजू में रहते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं ऐसे मुनि स्तुति वा नमस्कार आदि सबसे रहित होते हैं।

कुशील मुनि का स्वरूप—

शीलं च कुत्सितं येषां निन्द्यमाचरणं सताम्।
स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसा: ॥९५९॥

अर्थ—जिनका शील भी कुत्सित है, जिनके आचरण भी निंद्य हैं, जिनका स्वभाव भी निंद्य है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा हुआ है उनको कुशील कहते हैं।

इन्हीं का पुन: विवेचन—

व्रतशीलगुणैर्हीना अयश:करणे भुवि।
कुशला: साधुसङ्घानां कुशीला उदिता: खला: ॥९६०॥

अर्थ—ये कुशील मुनि व्रत, शील और गुणों से रहित होते हैं, साधु और संघ का अपयश करने में जो संसारभर में कुशल होते हैं तथा जो दुष्ट होते हैं ऐसे मुनियों को कुशील कहते हैं।

संसक्त मुनियों का स्वरूप—

असक्ता दुर्धियो निन्द्या असंयतगुणेषु ये।
सदाहारादिगृद्ध्या च वैद्यज्योतिष्ककारिण:॥९६१॥
राजादिसेविनो मूर्खा मन्त्रतन्त्रादितत्परा:।
संसक्तास्ते बुधै: प्रोक्ता धृतवेषाश्च लम्पटा: ॥९६२॥

अर्थ—जो मुनि चारित्र पालन करने में असमर्थ हैं, विपरीत बुद्धि को धारण करने वाले हैं, असंयमियों में भी निंद्य हैं, जो आहारादिक की लालसा से ही, वैद्यक वा ज्योतिष का व्यापार करते हैं, राजादिकों की जो सेवा करते हैं, जो मूर्ख हैं, मंत्र-तंत्र करने में तत्पर हैं और जो लंपटी हैं ऐसे भेष धारण करने वाले मुनियों को बुद्धिमान् लोग संसक्त मुनि कहते हैं।

अपगत संज्ञक मुनि कौन होते हैं?

विनष्टा: प्रगता: संज्ञा: सम्यग्ज्ञानादिजा: परा:।
येषां ते लिङ्गिनोऽत्रापगतसंज्ञा भवन्ति भो: ॥९६३॥

अर्थ—जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक संज्ञा सब नष्ट हो गई है चली गई है ऐसे भेषधारी मुनियों को अपगत संज्ञक कहते हैं।

मृगचारित्र मुनि कौन है?

जिनवाक्यमजानाना भ्रष्टाः चारित्रवर्जिताः।
सांसारिकसुखासक्ताः करणालसमानसाः ॥९६४॥
मृगस्येव चारित्रं चाचरणं स्वेच्छया भुवि।
येषां ते मृगचारित्रा भवेयुः पापकारिणः ॥९६५॥

अर्थ—जो भगवान् जिनेन्द्रदेव के वाक्यों को समझते ही नहीं जो भ्रष्ट हैं, चारित्र से रहित हैं, संसार के विषयजन्य सुखों में लीन रहते हैं, जिनका मन चारित्र के पालन करने में आलसी रहता है, जो इस संसार में हिरणों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र वा आचरणों को पालन करते हैं उन पापियों को मृगचारित्र नाम के मुनि कहते हैं।

उक्त पाँचों प्रकार के मुनि अवंद्य है—

स्वच्छन्दचारिणो जैनमार्गदूषणदायिनः।
त्यक्त्वाचार्योपदेशांश्चैकाकिनो धृतिवर्जिताः ॥९६६॥
दर्शनज्ञान-चारित्र-तपोभ्यो विनयाच्छ्रुतात्।
दूरीभूताश्च पार्श्वस्था एते पञ्चैव दुर्भगाः ॥९६७॥
छिद्रादिप्रेक्षिणो ज्ञेया गुणियोगिसतां सदा।
अवन्द्याः सर्वथा निन्द्या अयोग्या कृतिकर्मणाम् ॥९६८॥

अर्थ—ये ऊपर लिखे पाँचों प्रकार के मुनि स्वच्छन्दचारी होते हैं, जैनधर्म में दोष लगाने वाले होते हैं, आचार्यों के उपदेश को छोड़कर एकाकी रहते हैं, धैर्य से सदा रहित होते हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, विनय और श्रुतज्ञान से सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनों के दोष देखने में ही निपुण होते हैं, छिद्रान्वेषी होते हैं, इसीलिए ये अवंदनीय होते हैं, सर्वथा निंद्य होते हैं और कृतिकर्म के अयोग्य होते हैं।

किसी भी लोभ से उक्त मुनियों की वंदना न करनी चाहिए—

एषां पूर्वोदितानां च जातु कार्या न वन्दना।
विनयाद्या न शास्त्रादिलाभभीत्यादिभिर्बुधैः ॥९६९॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से वा किसी भय से भी ऊपर कहे हुए पार्श्वस्थ आदि मुनियों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिए और न इनकी विनय करनी चाहिए।

उक्त मुनियों की वंदना करने से रत्नत्रय की हानि—

अमीषां भ्रष्टवृत्तानां ये कुर्वन्ति स्वकारणात्।
विनयादिनुतिस्तेषां क्व बोधिर्निश्चयः कथम् ॥९७०॥

अर्थ—जो पुरुष अपने किसी भी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र को धारण करने वाले इन पार्श्वास्थों

की विनय करता है वा इनकी वंदना करता है उनके रत्नत्रय और श्रद्धा वा निश्चय कभी नहीं हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता।

सज्जनों की हानि—

यतः पलायते नूनं सम्यक्त्वं सद्गुणैः समम्।
ढौकन्ते दोषमिथ्यात्वा नीचसङ्गनुतेः सताम् ॥९७१॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि नीच लोगों के संसर्ग से वा उनको नमस्कार करने से सज्जनों का समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोष सब उन सज्जनों में आ मिलते हैं।

व्रतों को जड़ मूल से गिराने वाला है—

मत्वेति जातु कार्यो न तेषां सङ्गोऽपकीर्तिकृत्।
व्रतमूलहरो निन्द्यः सद्भिः शास्त्रादिलोभतः ॥९७२॥

अर्थ—यही समझकर सज्जन पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभ से भी इन भ्रष्ट मुनियों का संसर्ग नहीं रखना चाहिए क्योंकि इनका संसर्ग अपकीर्ति करने वाला है, व्रतों को जड़ मूल से हरण करने वाला है और निंदनीय है।

पुष्पमाला का दृष्टांत—

पुष्पमालार्हतो यद्वत्संपर्काद्वन्द्यतां व्रजेत्।
अस्पर्शतां च लोकेऽहो मृतकस्य न संशयः ॥९७३॥
तद्वन्महात्मनां सङ्गात्पूज्यतां यान्ति संयताः।
नीचात्मनामिहामुत्र निन्द्यतां च पदे पदे ॥९७४॥

अर्थ—देखो जिस प्रकार भगवान् अरहंतदेव के संसर्ग से पुष्पमाला भी वंदनीय गिनी जाती है और मृत पुरुष के (मुर्दा के) संसर्ग से वही पुष्पमाला अस्पृश्य छूने अयोग्य मानी जाती है, उसी प्रकार संयमी लोग भी महात्माओं के संसर्ग से पूज्यता को प्राप्त होते हैं और नीचों के संसर्ग से इस लोक और परलोक में पद-पद पर निंदनीय हो जाते हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

संसर्ग के कारण गुण और दोष—

यथापद्मादियोगेन सुगन्धं शीतलं जलम्।
भाजनानलसंपर्कात्संतप्तं जायतेतराम् ॥९७५॥
तथात्रोत्तमसङ्गेनोत्तमोंगी तद्गुणैः समम्।
भवेन्नीचप्रसङ्गेन नीचश्चतद्गुणैः सह ॥९७६॥

अर्थ—देखो कमल आदि के संयोग से जल सुगंधित और शीतल हो जाता है तथा बर्तन और अग्नि के संसर्ग से वही जल अत्यन्त गर्म हो जाता है। उसी प्रकार यह पुरुष भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग

से उनके उत्तम गुणों के साथ-साथ उत्तम बन जाता है और नीच पुरुषों के संसर्ग से उनके नीच गुणों के साथ-साथ नीच हो जाता है।

साहूकार भी खोटी संगति से चोर कहलाता है—

अचौरश्चौरसंसर्गाद्यथा चौरोऽत्र कथ्यते।
साधुश्चासाधुसंसर्गादसाधुर्नान्यथा तथा ॥९७७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है। उसी प्रकार साधु पुरुष भी असाधुओं के संसर्ग से असाधु ही कहलाता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

निर्गुणी भी गुणी पुरुष की संगति से गुणवान् बन जाता है—

असाधुः प्रोच्यते साधुर्यथात्र साधुसेवया।
निर्गुणोऽपि तथा लोके गुणी च गुणिसेवया॥९७८॥

अर्थ—इस संसार में जिस प्रकार असाधु पुरुष भी साधु की सेवा करने से साधु कहलाते हैं, उसी प्रकार निर्गुणी पुरुष भी गुणी पुरुषों की सेवा करने से इस लोक में गुणी ही कहलाते हैं।

किमत्र बहुनोक्तेन गुणा दोषांश्च देहिनाम्।
संसर्गजनितान् मन्ये सर्वान् बुद्ध्या न चान्यथा ॥९७९॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि जीवों के जितने गुण वा दोष हैं वे सब संसर्गजन्य ही माने जाते हैं। न तो वे गुण-दोष बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और न किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होते हैं।

नीच पुरुषों की संगति कभी नहीं करनी चाहिए—

विज्ञायेत्युत्तमानां च सङ्गंमुक्त्वा गुणार्थिभिः।
क्वचित्सङ्गो न कर्तव्यो नीचानां कार्यकोटिषु ॥९८०॥

अर्थ—यही समझकर गुण चाहने वाले पुरुषों को करोड़ों कार्य होने पर भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग को छोड़कर कभी भी नीच पुरुषों का संसर्ग नहीं करना चाहिए।

आदर्श मुनिराज की भक्ति करना चाहिए—

महाव्रतसमित्याद्यैः कलितान् धर्मभूषितान्।
बाह्यान्तर्ग्रन्थनिर्मुक्तान् युक्तान् सद्गुणसम्पदा ॥९८१॥
मुमुक्षून् श्रमणान्नित्यं ध्यानाध्ययनतत्परान्।
वन्दस्व परया भक्त्या त्वं मेधाविन् शिवाप्तये ॥९८२॥

अर्थ—इसलिए हे बुद्धिमान्! जो मुनि महाव्रत और समिति आदि से सुशोभित हैं, धर्म से विभूषित हैं, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से रहित हैं, श्रेष्ठ गुणरूपी संपदा से सुशोभित हैं, जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं ऐसे मुनियों की मोक्ष

प्राप्त करने के लिए परम भक्तिपूर्वक वंदना कर।

आत्मध्यान में लीन मुनि ही संसार में वंदनीय हैं—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोविनयभूषणैः ।
भूषिता निर्ममा नित्यं सर्वत्राङ्गादि वस्तुषु ॥९८३॥
सतां गुणधराणां च ये दक्षा गुणवादिनः।
आत्मध्यानरतास्तेऽत्र वन्दनीया न चापरे ॥९८४॥

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, विनय आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर आदि पदार्थों में भी मोह रहित हैं, जो गुणों को धारण करने वाले सज्जनों के गुण वर्णन करने में निपुण हैं और जो आत्मध्यान में लीन हैं ऐसे मुनि ही इस संसार में वंदनीय हैं अन्य नहीं।

ध्यान अध्ययन से रहित मुनि को नमस्कारादि नहीं करना चाहिए—

केनचिद्धेतुना व्याकुलचित्ता मुनयोऽप्यहो।
प्रमत्ता निद्रिताः सुप्ता विकथादिरताशयाः ॥९८५॥
आहारं यदि कुर्वाणा नीहारं वा परान्मुखाः।
नार्हा सतां नमस्कारे ध्यानाध्ययनवर्जिताः ॥९८६॥

अर्थ—जिन मुनियों का चित्त किसी भी कारण से व्याकुल है, जो प्रमादी हैं, निद्रित हैं, सोए हुए हैं, विकथा आदि करने में लीन हैं, जो आहार वा नीहार कर रहे हैं अथवा जो पराङ्मुख हैं और जो ध्यान, अध्ययन से रहित हैं ऐसे मुनि सज्जन पुरुषों को कभी नमस्कार करने योग्य नहीं होते।

मैं आपको वंदना करना चाहता हूँ (आसन शुद्ध) इस प्रकार सूचित करना चाहिए—

पर्यंकाद्यासनस्था ये शुभध्यानपरायणाः।
गुरवः शान्तरूपाः शुद्धाचार्यादयोऽखिलाः ॥९८७॥
तेभ्यः स्वस्यान्तरे स्थित्वा हस्तमात्रे मुमुक्षवः।
प्रतिलेख्य धरापादगुह्यादींश्च प्रवन्दनाम् ॥९८८॥
भवद्भ्यः कर्तुमिच्छाम इति विज्ञाप्य संयताः।
कुर्वन्तु वन्दनां तेषां कृतिकर्माणि मुक्तये ॥९८९॥

अर्थ—जो मुनि पर्यंकासन वा अन्य किसी आसन से विराजमान हैं, जो गुरु शुभध्यान में तत्पर हैं और अत्यन्त शांत हैं ऐसे शुद्ध आचार्य, उपाध्याय वा साधु हैं उनसे एक हाथ दूर बैठकर तथा पृथ्वी, पाद, गुह्य, इन्द्रिय आदि का प्रतिलेखन कर (पिच्छिका से शुद्ध कर) ''मैं आपके लिए वंदना करना चाहता हूँ'' इस प्रकार उनको सूचित कर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उनकी वंदना करनी चाहिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए उनका कृतिकर्म करना चाहिए।

कल्याण करने वाली वंदना करनी चाहिए—

मायागर्वादिदूरस्थैः शुद्धभावैरनुद्धतैः।
जनयद्भिः सुसंवेगं कृतिकर्मविधायिनाम्॥९९०॥
आचार्याद्यैर्जगद्वंद्यैस्तैर्योग्यमधुरोक्तिभिः।
वन्दनाभ्युपगन्तव्या स्वान्ययोः शुभकारिणी ॥९९१॥

अर्थ—जो आचार्यादिक माया, अहंकार आदि से रहित हैं, शुद्ध भावों को धारण करने वाले हैं, उद्धतता से रहित हैं, संवेग को उत्पन्न करने वाले हैं और जगद्वंद्य हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय और श्रेष्ठ साधुओं को योग्य और मधुर वचन कहकर कृतिकर्म करने वालों की वह अपना और दूसरों का कल्याण करने वाली वंदना स्वीकार करनी चाहिए।

मुनियों को गुरु वंदना कब आवश्यक है—

प्रश्ने चालोचना काले स्वापराधे सुसंयतैः।
गुरूणां वन्दना कार्या स्वाध्यायावश्यकादिषु ॥९९२॥

अर्थ—किसी प्रश्न के पूछने पर, आलोचना करते समय, अपना कोई अपराध हो जाने पर और स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों के करते समय मुनियों को अपने गुरु की वंदना करनी चाहिए।

शिरोनति के पूर्व कर्म आवश्यक—

एकैकस्मिन् तनूत्सर्गे मूर्ध्ना द्वेऽवनती पृथक्।
आवर्ता द्वादश स्युश्चातुश्शिरोनतयोऽथवा ॥९९३॥

अर्थ—प्रत्येक कायोत्सर्ग में आदि-अंत में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चारों दिशाओं में चार प्रणाम वा शिरोनति करनी चाहिए।

१२ आवर्तों का क्रम तथा चारों दिशाओं में शुभ प्रणाम—

चतुर्दिक्षु च चत्वारः प्रणामा भ्रमणे शुभाः।
एकैकस्मिन् बुधैर्ज्ञेया आवर्ता द्वादशैव हि ॥९९४॥

अर्थ—विद्वानों को एक-एक प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में चार शुभ प्रणाम करने चाहिए और बारह आवर्त करना चाहिए।

शुभ भावनाओं को करने वाला कृतिकर्म करें—

इत्थं च सकलं सारं कृतिकर्मशुभावहम्।
मनोवाक्कायसंशुद्धं ग्रन्थार्थोभयभूषितम् ॥९९५॥
द्विविधस्थानसंयुक्तं मदातीतं सुयोगिनः।
दोषातिगं यथाजातं कुर्वन्तु विनयादिभिः ॥९९६॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त दोषों से रहित, शुभ भावनाओं को धारण करने वाला, सारभूत यह कृतिकर्म मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक, शब्द, अर्थ और शब्दार्थ से विभूषित होकर तथा मद रहित होकर और दोनों प्रकार के स्थानों से सुशोभित होकर विनयादिक के साथ यथार्थ रीति से करना चाहिए।

वंदना के ३२ दोष—

दोषश्चानादृतः स्तब्धः प्रविष्टः परिपीडितः।
दोलायिताख्यदोषोंऽकुशितः कच्छपरिंगतः ॥९९७॥
मत्स्योद्वर्त्तो मनोदुष्टो वेदिकावद्ध एवहि।
भयाभिधो बिभ्यदोष ऋद्धिगौरवगौरवौ ॥९९८॥
स्तेनितः प्रतिनीताख्यः प्रदुष्टस्तर्जिताभिधः।
शब्दो हीलितदोषस्त्रिवलितः कुञ्चिताह्वयः ॥९९९॥
दृष्टोऽदृष्टाभिधः सङ्घकरमोचनसंज्ञकः।
आलब्धाख्योऽप्यनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥१०००॥
मूकाख्यो दर्दुरो दोषस्तथा चुलुलिताख्यकः।
वन्दनाया इमे दोषास्तत्त्याज्या द्वात्रिंशदेव हि ॥१००१॥

अर्थ—इस वंदना के बत्तीस दोष हैं और वे ये हैं—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीड़ित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगत, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकावद्ध, भय, बिभ्यदोष, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, दुष्टदोष, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकर, मोचन, लब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर, चूलिक, मूक, दर्दुर और चुलुलित। वंदना के ये बत्तीस दोष हैं। वंदना करते समय इन सबका त्याग कर देना चाहिए।

अनादृत नाम का दोष—

आदरेण विना यच्च शैथिल्येन प्रमादिभिः ।
क्रियतेऽत्रक्रियाकर्म दोषः सोऽनादृताह्वयः ॥१००२॥

अर्थ—आदर के बिना शिथिलतापूर्वक प्रमाद के साथ क्रियाकर्म करना अनादृत नाम का दोष है।

स्तब्ध दोष—

श्रुतविद्यादिगर्वेण प्रोद्धताशयसंयतैः।
विधीयते क्रियाकर्म यः स्तब्धदोष एव सः ॥१००३॥

अर्थ—श्रुतज्ञान वा विद्या आदि के अहंकार से उद्धत हुए मुनियों के द्वारा जो क्रियाकर्म किया जाता है उसको स्तब्ध दोष कहते हैं।

प्रविष्ट दोष—

अत्यासन्नोऽत्रभूत्वा यः पञ्चानां परमेष्ठिनाम्।
क्रियाकर्म विधत्ते सः प्रविष्टदोषमाप्नुयात् ॥१००४॥

अर्थ—जो पाँचों परमेष्ठियों के अत्यन्त निकट होकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है उसके प्रविष्ट नाम का दोष प्राप्त होता है।

परिपीड़ित दोष—

करजानुप्रदेशैर्यः संस्पृश्य परिपीड्य वा।
करोति वन्दनां तस्य दोषाः स्यात्परिपीडितः ॥१००५॥

अर्थ—जो अपने हाथ से जंघा को स्पर्श करता हुआ वा जंघा को दबाता हुआ वंदना करता है उसको परिपीड़ित नाम का दोष लगता है।

दोलायित दोष—

यः कृत्वा चलमात्मानं दोलामिवाऽत्र वन्दनाम्।
संशयित्वाऽथवा कुर्यात् स दोलायितदोषभाक्॥१००६॥

अर्थ—जो मुनि झूला के समान आत्मा को चलायमान करता हुआ अथवा संशय में पड़कर वंदना करता है उसको दोलायित नाम का दोष लगता है।

अंकुशित नामक दोष—

कृत्वांकुशमिवात्मीये ललाटेंऽगुष्ठमेवऽयः।
भजते वन्दनां तस्य दोषोंऽकुशित-नामकः ॥१००७॥

अर्थ—जो मुनि अंकुश के समान अपने ललाट पर अंगूठे को रखकर वंदना करता है उसको अंकुशित नाम का दोष प्रकट होता है।

कच्छपरिंगत नामक दोष—

विधाय कच्छपस्येव कटीभागेनचेष्टितम्।
कुरुते वन्दनां य सः भजेत्कच्छपरिंगतम् ॥१००८॥

अर्थ—जो अपनी कमर से कच्छप के समान चेष्टा करता हुआ वंदना करता है उसके कच्छपरिंगत नाम का दोष लगता है।

मत्स्योद्वर्त्त दोष—

मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं स विधाय या ।
वन्दना वा द्विपार्श्वेन मत्स्योद्वर्तः स उच्यते ॥१००९॥

अर्थ—जो मछली के समान अपनी कमर को ऊँची निकालकर वंदना करता है अथवा जो दोनों बगलों से वंदना करता है उसको मत्स्योद्वर्त नाम का दोष लगता है।

मनोदुष्ट नाम का दोष—

दुष्टो भूत्वा हृदाचार्यादीनां क्लेशयुतेन वा ।
विधत्ते यः क्रियाकर्म स मनो दुष्टदोषभाक् ॥१०१०॥

अर्थ—जो मुनि आचार्यों को क्लेश पहुँचा कर वा आचार्यों के प्रति अपने मन में कुछ दुष्टता धारण कर वंदना करता है उसको मनोदुष्ट नाम का दोष लगता है।

वेदिकाबद्ध दोष—

वेदिकाकारहस्ताभ्यां बध्वा जानुद्वयं स्वयम्।
वन्दनाकरणं यत्स वेदिकाबद्धसंज्ञकः ॥१०११॥

अर्थ—जो वेदी के आकार के अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को बाँधकर वंदना करता है उसको वेदिकाबद्ध नाम का दोष लगता है।

भय नामक दोष—

मृत्व्यादिभयभीतो यो भयत्रस्तो भयेन वा।
करोति वन्दनां तस्य भयदोषोऽत्र जायते ॥१०१२॥

अर्थ—जो मृत्यु आदि के भय से भयभीत होकर अथवा किसी भय से त्रस्त होकर वंदना करता है उसको भय नाम का दोष लगता है।

बिभ्य नामक दोष—

परमार्थातिगा ज्ञस्य गुर्वादिभ्योऽत्र बिभ्यतः।
वन्दनाकरणं यत्स बिभ्यदोषोऽशुभप्रदः ॥१०१३॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि परमार्थ को न जानता हुआ गुरु से डरकर वंदना करता है उसके अशुभ उत्पन्न करने वाला बिभ्य नाम का दोष लगता है।

ऋद्धि गौरव दोष—

चातुर्वर्णसुसङ्घेभ्यो भक्तिकीर्त्यादिहेतवे।
वन्दनां यो विधत्ते स ऋद्धिगौरवदोषवान् ॥१०१४॥

अर्थ—जो मुनि चारों प्रकार के संघ से भक्ति वा कीर्ति चाहने के लिए वंदना करता है उसको ऋद्धि गौरव नाम का दोष लगता है।

गौरव नाम का दोष—

आविष्कृत्य स माहात्म्यमासनाद्यैः सुखाय वा ।
कुर्याद्यो वन्दनां तस्य दोषो गौरवसंज्ञकः ॥१०१५॥

अर्थ—जो मुनि किसी विशेष आसन आदि के द्वारा अपना माहात्म्य प्रकट कर वंदना करता है अथवा जो अपने किसी सुख के लिए वंदना करता है उसको गौरव नाम का दोष लगता है।

स्तेनित नामक दोष—

चौरबुद्ध्यास्वगुर्वादीनां करोति य: वन्दनाम्।
चौरयित्वा स्वमन्येषां तस्याघ:स्तेनिताभिध: ॥१०१६॥

अर्थ—जो मुनि चोर की बुद्धि रखकर अन्य मुनियों से छिपाकर गुरु आदि की वंदना करता है उसके स्तेनित नाम का दोष लगता है।

प्रतिनीत दोष—

प्रतिकूलोऽत्र यो भूत्वा देवगुर्वादियोगिनाम्।
वन्दनां कुरुते तस्य प्रतिनीताह्वयो मल: ॥१०१७॥

अर्थ—जो मुनि देव-शास्त्र-गुरु से प्रतिकूल होकर वंदना करता है उसके प्रतिनीत नाम का दोष लगता है।

दुष्ट नामक दोष—

विधाय कलहाद्यन्यै: सह क्षन्तव्यमाशु य:।
अकृत्वा वन्दनां कुर्यात्स दुष्टदोषमाप्नुयात् ॥१०१८॥

अर्थ—जो मुनि किसी से कलह करके बिना उससे क्षमा कराए वंदना करता है उसके दुष्ट नाम का दोष लगता है।

तर्जित नामक दोष—

अन्यान् यस्तर्जयन्नङ्गुल्या वा गुर्वादितर्जित:।
श्रयते वन्दनां तस्य दोषस्तर्जितसंज्ञक: ॥१०१९॥

अर्थ—जो मुनि दूसरों को तर्जना करता हुआ वंदना करता है अथवा गुरु के द्वारा तर्जना किया हुआ वंदना करता है उसको तर्जित नाम का दोष लगता है।

शब्द नामक दोष—

मौनं त्यक्त्वा ब्रुवाणो य: क्रियाकर्म निजेच्छया।
करोति तस्य जायेत शब्ददोषोऽघ-कारक: ॥१०२०॥

अर्थ—जो मुनि मौन को छोड़कर अपनी इच्छानुसार बोलता हुआ क्रियाकर्म (वंदना) करता है उसको पाप उत्पन्न करने वाला शब्द नाम का दोष लगता है।

हीलित नामक दोष—

कृत्वा परिभवं वाक्येनाचार्यादिमहात्मनाम्।
क्रियाकर्म विधत्ते य: स स्याद्धीलितदोषभाक् ॥१०२१॥

अर्थ—जो मुनि किसी वाक्य आदि के द्वारा आचार्य आदि महापुरुषों का तिरस्कार कर वंदना करता है उसको हीलित नाम का दोष लगता है।

त्रिवलित दोष—

कृत्वा त्रिवलितं कट्यादौ ललाटेऽथवा त्रयः।
विदधाति क्रियां तस्य दोषस्त्रिवलिताह्वयः ॥१०२२॥

अर्थ—जो मुनि अपनी कमर में त्रिवली डालकर अथवा ललाट पर त्रिवली डालकर वंदना करता है उसके त्रिवलित नाम का दोष होता है।

कुंचित नामक दोष—

हस्ताभ्यां स्वशिरः स्पर्शन् जानुमध्ये विधाय वा।
यः करोति क्रियाकर्म तस्य दोषोऽत्रकुंचितः॥१०२३॥

अर्थ—जो मुनि अपने हाथ से मस्तक को स्पर्श करता हुआ अथवा अपने मस्तक को जंघाओं के बीच में रखकर वंदना करता है उसको कुंचित नाम का दोष लगता है।

दृष्ट नामक दोष—

आचार्याद्यैश्च दृष्टो यः सम्यक्करोति वन्दनाम्।
नान्यथा वा दिशः पश्यन् दृष्टदोषोऽत्र तस्य वै ॥१०२४॥

अर्थ—आचार्यों वा अन्य किसी के देख लेने पर तो जो अच्छी तरह वंदना करता है और किसी के न देखने पर सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वंदना करता है उसके दृष्ट नाम का दोष लगता है।

अदृष्ट नामक दोष—

त्यक्त्वा दृष्टिपथं योऽत्राचार्यादीनां च वन्दनाम्।
करोत्यप्रतिलेख्याङ्गभूमिं सो दृष्टिदोषभाक् ॥१०२५॥

अर्थ—जो आचार्यों की दृष्टि को बचाकर तथा शरीर भूमि आदि को बिना प्रतिलेखन किये वंदना करता है उसको अदृष्ट नाम का दोष लगता है।

संघकर मोचन नाम का दोष—

सङ्घस्य करदानार्थं वा सङ्घभक्तिवांछया।
क्रियते यत्क्रियाकर्म तत्सङ्घकरमोचनम् ॥१०२६॥

अर्थ—जो मुनि वंदना को संघ का समझकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है अथवा संघ से भक्ति चाहने की इच्छा से वंदना करता है उसको संघकर मोचन नाम का दोष लगता है।

लब्ध नाम का दोष—

लब्धोपकरणादिर्यः सानंदः सर्ववन्दनाम्।
कुरुते नान्यथा तस्य लब्धदोषः प्रजायते ॥१०२७॥

अर्थ—जो मुनि किसी उपकरण आदि को पाकर आनन्द के साथ पूर्ण वंदना करता है तथा

उपकरण आदि को न पाने से वंदना नहीं करता उसको लब्ध नाम का दोष लगता है।

अनालब्ध नाम का दोष—

योऽद्योपकरणं लप्स्येऽहमत्रेऽतिधिया मुनिः।
विधत्ते वन्दनां तस्य दोषोऽनालब्धसंज्ञकः ॥१०२८॥

अर्थ—यहाँ पर आज मुझे कोई उपकरण अवश्य प्राप्त होगा इस प्रकार की बुद्धि रखकर जो मुनि वंदना करता है उसके अनालब्ध नाम का दोष लगता है।

हीन नामक अशुभ दोष—

ग्रन्थार्थकालहीनां सत्परिणामविवर्जिताम्।
तनोति वन्दनां तस्य हीनदोषोऽशुभो भवेत् ॥१०२९॥

अर्थ—जो मुनि शब्द अर्थ से रहित, काल से रहित और शुभ परिणामों से रहित वंदना करता है उसके हीन नाम का अशुभ दोष लगता है।

उत्तरचूलिका दोष—

वन्दनां स्तोककालेन निर्वर्त्यकार्यसिद्धये।
वन्दनाचूलिकाभूतस्यालोचनात्मकस्य वै ॥१०३०॥
कालेन महता कृत्वा निर्वर्तनं करोति यः।
वन्दनां स्याच्च तस्योत्तरचूलिकाह्वयो मलः ॥१०३१॥

अर्थ—जो मुनि अपने कार्य की सिद्धि के लिए वंदना को बहुत थोड़े समय में पूर्ण कर लेता है तथा वंदना की चूलिकाभूत जो आलोचना है उसके करने में बहुत समय लगाता है उसको उत्तर चूलिका नाम का दोष लगता है।

मूक नाम का दोष—

मूकवन्मुखमध्ये यो वन्दनां वितनोति वा।
कुर्वन् हस्ताद्यहंकारसंज्ञां स मूक-दोषवान् ॥१०३२॥

अर्थ—जो मुनि गूँगे के समान मुख के भीतर ही भीतर वंदना करता है अथवा हाथ आदि के इशारे से अहंकार को सूचित करता हुआ वंदना करता है उसको मूक नाम का दोष लगता है।

दर्दुर दोष—

स्वशब्देनाभिभूयान्यशब्दान् वृहद्गलेन वा।
वन्दनां कुरुते तस्य दोषो दर्दुरनामकः ॥१०३३॥

अर्थ—जो मुनि अपने ऊँचे गले की आवाज से दूसरे मुनियों के शब्दों को दबाता हुआ, तिरस्कार करता हुआ वंदना करता है उसके दर्दुर नाम का दोष लगता है।

चुलुलित दोष—

स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वन्दनां भजेत्।
दोषश्चुलुलितस्तस्य पञ्चमादिस्वरेण वा ॥१०३४॥

अर्थ—जो मुनि एक ही प्रदेश में बैठकर सब मुनियों की वंदना कर लेता है अथवा जो पंचम स्वर से ऊँचे स्वर से वंदना करता है उसके चुलुलित नाम का दोष लगता है।

एते दोषाः सदा त्याज्याः कृतिकर्म-मलप्रदाः।
द्वात्रिंशत्सर्वयत्नेन षडावश्यकशुद्धये ॥१०३५॥

अर्थ—मुनियों को अपने छहों आवश्यक शुद्ध रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इन बत्तीस दोषों का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ये दोष वंदना में मल उत्पन्न करने वाले हैं।

अमीषां केनचिद्दोषेण समं कृतिकर्म च।
कुर्वन् सर्वं भवेन्निर्जराभागी जातु नो यतिः ॥१०३६॥

अर्थ—जो मुनि इन दोषों में से किसी भी दोष के साथ वंदना करता है वह पूर्ण निर्जरा का भागी कभी नहीं हो सकता।

उपरिलिखित दोष वंदना में मल उत्पन्न करते हैं—

मत्वेत्यमूंश्च तद्दोषान् सम्यक्त्यक्त्वा सुसंयताः।
कुर्वन्तु कृतिकर्माणि सर्वाणि निर्जराप्तये॥१०३७॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को कर्म की निर्जरा करने के लिए इन समस्त दोषों का त्यागकर कृतिकर्म वा वंदना करनी चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

उच्च पद प्राप्त करने के लिए वंदना सदा करना चाहिए—

नृसुरजिनयतीनां विश्वसम्पत्तिखानीं वरपदजननीं वा सद्गुणारामवृष्टिम्।
अतुलसुखनिधिं सद्वन्दनां धर्मिमान्यां प्रभजत शिवकामाः सर्वदोच्चैः पदाप्त्यै ॥१०३८॥

अर्थ—यह वंदना नाम का आवश्यक मनुष्य, देव और जिनेन्द्रदेव की समस्त सम्पत्तियों की खानि है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदों को देने वाली है, श्रेष्ठ गुणरूपी बगीचे के लिए वर्षा के समान है अनुपम सुखों की निधि है और धर्मात्मा लोगों को सदा मान्य है इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वालों को उच्च पद प्राप्त करने के लिए यह वंदना सदा करते रहना चाहिए।

(छन्द-स्रग्धरा)

उपसंहारात्मक मंगलाचरण—

तीर्थेशान् धर्ममूलान् त्रिभुवनपतिभिः सेव्यमानाङ्घ्रिपद्मान्
सिद्धानन्तातिगान् सद्वसुगुणकलितान् ज्ञानदेहानदेहान्।

सूरीनाचारदक्षान् स्वपरहितकरान् पाठकान् ज्ञानऋद्धीन्
साधून्सर्वांश्चमूलोत्तरगुणजलधीन्संस्तुवे तद्गुणाप्त्यै ॥१०३९॥

इति मूलाचारप्रदीपाख्ये महाग्रन्थे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचते मूलगुण व्यावर्णने पंचेन्द्रियरोध-सामायिकस्तवनवंदना-वर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः।

अर्थ—जो तीर्थंकर परमदेव धर्म के मूल हैं और तीनों लोकों के समस्त इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थंकरों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ। जो अनंतसिद्ध सम्यक्त्व आदि आठों श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वयं शरीर रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को भी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ। जो आचार्य पाँचों आचारों को पालन करने में चतुर हैं और जो अपना और दूसरों का हित करने वाले हैं, जो उपाध्याय ज्ञान और ऋद्धियों से सुशोभित हैं तथा जो साधु मूलगुण और उत्तरगुण के समुद्र हैं उन सबकी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिए स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित 'मूलाचार-प्रदीप' की भाषा टीका में, मूलगुणों के वर्णन में पाँचों इन्द्रियों का निरोध तथा सामायिक, स्तुति, वंदना का निरूपण करने वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

चतुर्थोऽधिकारः

मंगलाचरण—

पूर्णावश्यककर्त्तारो ये पञ्चपरमेष्ठिनः।
गुणानामब्ध्यस्तेषां वन्देंऽघ्रींस्तद्गुणाप्तये ॥१०४०॥

अर्थ—जो पाँचों परमेष्ठी पूर्ण आवश्यकों के करने वाले हैं और गुणों के समुद्र हैं उनके गुण प्राप्त करने के लिए मैं उनके चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ।

प्रतिक्रमण का स्वरूप संक्षेप में—

अथ वक्ष्ये समासेन व्रतरत्नमलापहाम्।
प्रतिक्रमणनिर्युक्तिं स्वान्येषां मुक्तिसिद्धये ॥१०४१॥

अर्थ—अब मैं अपने और दूसरों के मोक्ष की सिद्धि के लिए व्रतरूपी रत्नों के दोषों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण के स्वरूप को संक्षेप से कहता हूँ।

व्रतों के दोषों को दूर करने वाला प्रतिक्रमण होता है—

द्रव्यक्षेत्रादिकैर्भावैः कृतापराधशोधनम्।
स्वनिन्दागर्हणाभ्यां यत्क्रियतेऽत्र मुमुक्षुभिः ॥१०४२॥
मनोवाक्काययोगैश्च कृतकारितमाननैः।
तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम् ॥१०४३॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले जो मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से द्रव्य, क्षेत्र व भावों से उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं अथवा अपनी गर्हा-निंदा के द्वारा अपराधों को शुद्ध करते हैं उसको व्रतों के दोषों को दूर करने वाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण के भी ६ भेद हैं—

नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालो निजाश्रितः।
भावोऽमी षड्धा निक्षेपाः स्युःप्रतिक्रमणेऽशुभाः ॥१०४४॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, नाम, स्थापना और अपने आश्रित रहने वाले भावों के द्वारा छह प्रकार का माना जाता है।

नाम प्रतिक्रमण का स्वरूप—

शुभाशुभादि नामाद्यैर्जातातीचारशोधनम्।
निन्दाद्यैर्यत्सतां नामप्रतिक्रमणमेव तत् ॥१०४५॥

अर्थ—शुभ वा अशुभ नामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को अपनी निंदा आदि के द्वारा शुद्ध करना नाम प्रतिक्रमण कहलाता है।

स्थापना प्रतिक्रमण का लक्षण—

मनोज्ञेतरमूर्तेभ्यो जातदोषाद्विवर्जनम्।
योगैर्यत्स्थापनाख्यं तत् प्रतिक्रमणमूर्जितम् ॥१०४६॥

अर्थ—मनोज्ञ वा अमनोज्ञ मूर्ति से उत्पन्न हुए दोषों को मन-वचन-काय से त्याग करना स्थापना नाम का श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है।

द्रव्य प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सावद्यद्रव्यसेवाया उत्पन्नदोषवारणम्।
त्रिशुद्ध्या यत्सतां द्रव्यप्रतिक्रमणमेव तत् ॥१०४७॥

अर्थ—पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक निवारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है।

क्षेत्र प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सरागक्षेत्रवासोत्थातीचारपरिहापनम् ।
निन्दाद्यैर्यत्सदाक्षेत्रप्रतिक्रमणमेव तत् ॥१०४८॥

अर्थ—सरागरूप क्षेत्रों के निवास से उत्पन्न हुए अतिचारों को निंदादि के द्वारा दूर करना उसको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं।

काल प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रजनीदिनवर्षादिकालजव्रतदोषतः ।
निवृत्तिर्या हृदा कालप्रतिक्रमणमेव तत् ॥१०४९॥

अर्थ—रात, दिन, वर्षा आदि काल जन्य व्रतों के दोषों को हृदय से निवारण करना काल प्रतिक्रमण कहलाता है।

भाव प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रागद्वेषाश्रिताद्भावाज्जातस्यातिक्रमस्य या।
विरतिः क्रियते भावप्रतिक्रमणमेव तत् ॥१०५०॥

अर्थ—रागद्वेष आदि के आश्रित रहने वाले भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना भाव प्रतिक्रमण कहलाता है।

उत्तम प्रतिक्रमण का विधान—

एतैः षड्विधनिक्षेपैः सर्वेषां स्वव्रतात्मनाम्।
कृतानां कृत्स्नदोषाणां निराकरणमूर्जितम् ॥१०५१॥

हृदा च वपुषा वाचा निंदनैर्गर्हणादिभिः।
क्रियते मुनिभिर्यत्तत्प्रतिक्रमणमद्भुतम् ॥१०५२॥

अर्थ—व्रत करने वाले समस्त व्रतियों के इन छहों निक्षेपों के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। मुनि लोग जो मन-वचन-काय से होने वाली निंदा-गर्हा के द्वारा उन समस्त दोषों को दूर करते हैं उसको उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं।

उत्तम प्रतिक्रमण के ७ भेद—

एकं दैवसिकं रात्रिकमैर्यापथसंज्ञकम्।
पाक्षिकं नाम चातुर्मासिकं दोषक्षयङ्करम् ॥१०५३॥
सांवत्सरिकमेवोत्तमार्थं संन्याससंभवम्।
सप्तधेति जिनैः प्रोक्तं प्रतिक्रमणमुत्तमम् ॥१०५४॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—एक दैवसिक प्रतिक्रमण, दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण, तीसरा ईर्यापथ प्रतिक्रमण, चौथा पाक्षिक प्रतिक्रमण, पाँचवाँ दोषों को क्षय करने वाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, छठा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और सातवाँ उत्तम अर्थ को देने वाला संन्यास के समय होने वाला प्रतिक्रमण। इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद बतलाए हैं।

(१) प्रतिक्रामक (२) शुभ प्रतिक्रमण (३) प्रतिक्रमितव्य के भेद—

प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमणमेव तत्।
यत्प्रतिक्रमितव्यं तत्त्रयं सर्वे ब्रुवेऽधुना ॥१०५५॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमण के करने में आत्मा प्रतिक्रामक होता है, जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। अब आगे इन तीनों का स्वरूप कहते हैं।

प्रतिक्रामक का स्वरूप—

मुमुक्षुर्यत्नचारी यः पापभीतो महाव्रती।
मनोवाक्कायसंशुद्धो निन्दागर्हादितत्परः ॥१०५६॥
द्रव्यैर्नानाविधैः क्षेत्रैः कालैर्भावैर्व्रतात्मनाम्।
अतीचारागतस्याशु सन्निराकरणोद्यतः ॥१०५७॥
निर्मायो निरहंकारो व्रतशुद्धिसमीहकः ।
स प्रतिक्रामको ज्ञेयः उत्तमो मुनिपुङ्गवः ॥१०५८॥

अर्थ—जो उत्तम मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, यत्नाचार से अपनी प्रवृत्ति करता है, जो पापों से भयभीत है, महाव्रती है, जिसका मन-वचन-काय अत्यन्त शुद्ध है, जो निंदा, गर्हा आदि करने में तत्पर है, जो अनेक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के द्वारा लगे हुए व्रतों के दोषों

को निराकरण करने में सदा तत्पर रहता है, जो छल-कपट से रहित है, अहंकार से रहित है और जो व्रतों को शुद्ध रखने की सदा इच्छा करता रहता है ऐसा मुनि प्रतिक्रमण करने वाला प्रतिक्रामक कहलाता है।

शुभ प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सर्वथा कृतदोषाणां यन्निराकरणं त्रिधा।
पश्चात्तापाक्षरोच्चारैस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम् ॥१०५९॥

अर्थ—पश्चाताप के द्वारा तथा अक्षरों का उच्चारण कर जो सर्वथा किए हुए दोषों का मन-वचन-काय से निराकरण करना है उसको शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं।

द्रव्य प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप—

सचित्ताचित्तमिश्रं यत्त्रिधा द्रव्यमनेकधा।
वा प्रतिक्रमितव्यं तत्सर्वं तद्दोषहापनैः ॥१०६०॥

अर्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से द्रव्य के तीन भेद हैं अथवा द्रव्य के अनेक भेद हैं वे सब द्रव्य दोष दूर करते समय प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं।

क्षेत्र व काल प्रतिक्रम्य का स्वरूप—

सौधादिरम्यक्षेत्रं च कालो दिननिशादिकः।
यः प्रतिक्रमितव्यः स तज्जातीचारशोधनैः ॥१०६१॥

अर्थ—राजभवन आदि मनोहर क्षेत्र तथा दिन-रात आदि काल भी तज्जन्य (क्षेत्र वा काल से उत्पन्न होने वाले) अतिचारों को शुद्ध करने के लिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के लिए सदाकाल प्रतिक्रमण—

काले कालेऽथवा नित्यं योगिभिर्व्रतशुद्धये।
भोः प्रतिक्रमितव्यं स्वदोष-हान्यै च मुक्तये ॥१०६२॥

अर्थ—अथवा मुनियों को अपने दोष दूर करने के लिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए तथा व्रतों को शुद्ध रखने के लिए प्रत्येक समय प्रतिक्रमण करते रहना चाहिए, अतएव उनके लिए सदा काल प्रतिक्रमितव्य है।

रागद्वेष अथवा मिथ्यात्व के आश्रित भावों का भी त्याग आवश्यक है—

रागद्वेषाश्रितो भावो मिथ्यात्वासंयमादिभाक्।
कषायबहलो यः प्रतिक्रमितव्यः एव सः ॥१०६३॥

अर्थ—जो भाव रागद्वेष के आश्रित है अथवा मिथ्यात्व असंयम के आश्रित है अथवा जो भाव अधिक कषाय विशिष्ट है वह भी प्रतिक्रमितव्य है उसका भी प्रतिक्रमण वा त्याग करना चाहिए।

पाँचों पाप, सब तरह का असंयम, समस्त कषायादि त्याज्य हैं—

मिथ्यात्वपञ्चपापानां सर्वस्यासंयमस्य च।
कषायाणां च सर्वेषां योगानामशुभात्मनाम् ॥१०६४॥
प्रयत्नेन विधातव्यं प्रतिक्रमणमञ्जसा।
तज्जातव्रतदोषादिनिराकरणशुद्धिभिः ॥१०६५॥

अर्थ—मुनियों को मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होने वाले दोषों को निराकरण करने और व्रतों को शुद्ध रखने के लिए मिथ्यात्व, पाँचों पाप, सब तरह का असंयम, समस्त कषाय और समस्त अशुभ योगों का प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

समस्त व्रतों की आलोचना—

सिद्धभक्त्यादिकं कृत्वा सन्मार्ज्याङ्गधरादिकान्।
कृताञ्जलिपुटः शुद्धो मायामानौ विहाय च ॥१०६६॥
शिष्यो व्रत-विशुद्ध्यर्थं गुरवे ज्ञानशालिने।
आलोचयेत्समस्तान् व्रतातिचारान् यथोद्भवान् ॥१०६७॥

अर्थ—शिष्य मुनियों को पृथ्वी और अपने शरीर को पिच्छिका से शुद्ध कर तथा सिद्धभक्ति आदि पढ़कर दोनों हाथ जोड़कर मान तथा माया का त्यागकर अंतःकरण से शुद्ध होकर अत्यन्त ज्ञानवान् ऐसे अपने गुरु के सामने अपने व्रतों को अत्यन्त शुद्ध करने के लिए जैसे-जैसे उत्पन्न हुए हैं उसी तरह समस्त व्रतों के अतिचारों की आलोचना करनी चाहिए।

आलोचना के भी ७ भेद—

आद्यं दैवसिकं रात्रिकमैर्यापथनामकम्।
पाक्षिकाख्यं च चातुर्मासिकं व्रतमलापहम् ॥१०६८॥
सांवत्सरिकनामोत्तमार्थं चानशनोद्भवम्।
सप्तभेदमिति प्रोक्तं सतामालोचनं जिनैः ॥१०६९॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना के भी सात भेद बतलाए हैं—पहली आलोचना दैवसिक, दूसरी रात्रिक, तीसरी ईर्यापथ, चौथी पाक्षिक, पाँचवीं चातुर्मासिक, छठी दोषों को दूर करने वाली सांवत्सरिक और सातवीं उत्तम अर्थ को देने वाली औपवासिक (उपवास से उत्पन्न होने वाली)।

बालक के समान गुरु के समक्ष सब पापों की आलोचना—

यद्धि किञ्चित्कृतं कर्म कारितं चानुमोदितम्।
वपुषा मनसा वाचा व्रतातीचारगोचरम् ॥१०७०॥

प्रकटं सङ्घलोकानां प्रच्छन्नं वा प्रमादजम्।
तत्सर्वं बालवत्पापं त्रिशुद्ध्यालोचयेद्यतिः ॥१०७१॥

अर्थ—जिन कर्मों से व्रतों में दोष वा अतिचार लग जाये ऐसे कर्म जो मुनिराज मन-वचन-काय से करते हैं वा कराते हैं वा अनुमोदना करते हैं, चाहे उन्होंने वह कार्य संघ वा लोगों के सामने किया हो चाहे छिपकर किया हो और चाहे प्रमाद से किया हो वह सब पाप उन मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक बालक के समान गुरु से कह देना चाहिए और फिर उनकी आलोचना करनी चाहिए।

दोषों को शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण—

यस्मिन् क्षेत्रे च कालादौ द्रव्यभावाश्रयेण यः।
जातो व्रताद्यतीचारो मायां त्यक्त्वा तदेव सः ॥१०७२॥
निहितव्यः प्रयत्नेन-निन्दा-गर्हा-शुचादिभिः।
गुर्वादिसाक्षिकं दक्षैर्व्रतघ्नोऽरिरिवोत्थितः ॥१०७३॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में जिस काल में जिन द्रव्यों से और जिन भावों से व्रतों में अतिचार उत्पन्न हुआ है वह सब चतुर मुनियों को छल-कपट छोड़कर निंदा-गर्हा और शोक के साथ गुरु आदि की साक्षीपूर्वक बड़े प्रयत्न से दूर करना चाहिए तथा उस दोष को व्रतों को नाश करने वाले शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण करना चाहिए।

भाव प्रतिक्रमण अंतः शुद्धि का कारण है—

मनसा निन्दनं स्वस्य गर्हणं गुरुसाक्षिकम्।
पश्चात्तापजशोकेन यदश्रुपतनादि च ॥१०७४॥
क्रियते मुक्तिमार्गस्थैः सति व्रताद्यतिक्रमे।
प्रतिक्रमणं भावाख्यं तदन्तःशुद्धिकारणम् ॥१०७५॥

अर्थ—मन से अपनी निंदा करना गर्हा है, पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए शोक से आँसू गिरना आदि शोक कहलाता है। मोक्षमार्ग में रहने वाले मुनियों को व्रतों में दोष लगने पर गर्हा, निंदा व शोक के द्वारा प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए। यह भाव प्रतिक्रमण कहलाता है और अंतःकरण की शुद्धि का कारण है।

किसके व्रतों की शुद्धि नहीं होती—

यः प्रतिक्रमणं सर्वं द्रव्यभूतं करोति वा।
शृणोति सूत्रमात्रेण निन्दागर्हादिदूरगः ॥१०७६॥
परमार्थातिगस्तस्य शुद्धिर्न जायते मनाक्।
व्रतानां न च दोषाणां हानिर्न निर्जरा शिवम् ॥१०७७॥

अर्थ—जो मुनि केवल द्रव्य प्रतिक्रमण तो सब तरह का कर लेता है तथा सूत्र मात्र से उसको सुन भी लेता है परंतु निंदा, गर्हा से दूर रहता है और परमार्थ से भी दूर रहता है उसके व्रतों की शुद्धि किंचित्मात्र भी नहीं होती है, न उसके दोष दूर होते हैं, न उसकी निर्जरा होती है और न उसको मोक्ष प्राप्त होता है।

कौन से मुनि प्रतिक्रमण का फल मोक्ष प्राप्त करते हैं?

यतः संवेगवैराग्यशुद्धभावाश्रितो मुनिः।
अनन्यमानसो धीमान् स्वनिन्दागर्हणादिभाक् ॥१०७८॥
प्रतिक्रमणसूत्रेण विधाय शुद्धिमुल्वणम् ।
व्रतानां तत्फलेनाशु लभते शाश्वतं पदम् ॥१०७९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो बुद्धिमान् मुनि संवेग वैराग्य और शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो संवेग व वैराग्य के सिवाय अन्य किसी काम में अपना मन नहीं लगाते जो अपनी निंदा, गर्हा करते रहते हैं और जो प्रतिक्रमण सूत्र के अनुसार अपने व्रतों की उत्तम शुद्धि करते हैं वे ही मुनि उस प्रतिक्रमण के फल से शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त करते हैं।

निंदा, गर्हा पूर्वक शुद्ध प्रतिक्रमण आवश्यक है—

मत्वेति धीमता नित्यं निन्दागर्हादिपूर्वके ।
सत्प्रतिक्रमणालोचने कार्ये व्रतशुद्धये ॥१०८०॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिए निंदा-गर्हापूर्वक श्रेष्ठ प्रतिक्रमण और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए।

श्रेष्ठ प्रतिक्रमण का फल—

सत्प्रतिक्रमणो धर्मो महान् रत्नत्रयात्मकः।
शिष्याणां मुक्तिकर्त्तासीन्नाभेय-वीरनाथयोः ॥१०८१॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमणरूप धर्म रत्नत्रयात्मक है और महान् है तथा भगवान् वृषभदेव और भगवान् वीरनाथ के शिष्यों को मोक्ष का देने वाला है।

भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक के मुनियों का प्रतिक्रमण—

तयोर्मध्यजिनेशानां शिष्याणां च प्रमादतः।
क्वचिद्यस्मिन्व्रते दोषो जायते तस्य शुद्धये ॥१०८२॥
तावन्मात्रं भवेत्स्तोकं सत्प्रतिक्रमणं शुभम्।
न च सर्वं यतस्तेस्युर्निष्प्रमादा महाधियः ॥१०८३॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों के शिष्यों को किसी भी प्रमाद से जिस व्रत में दोष लगा है उसी की शुद्धि के लिए उतना ही थोड़ा-सा शुभ

प्रतिक्रमण बतलाया है उनके लिए सब प्रतिक्रमण नहीं बतलाया क्योंकि मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शिष्य बड़े बुद्धिमान् थे और स्वभाव से ही प्रमाद रहित थे।

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के काल में होने वाले मुनियों का प्रतिक्रमण—

आदितीर्थकृतः शिष्याः स्वभावाद् ऋजुबुद्धयः ।
तस्मात्तेषामतीचाराः भवेयुर्बहवो व्रते ॥१०८४॥
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशशिष्यास्तुच्छधियस्ततः ।
कालदोषेण तेषां स्यादतीचार-व्रजो व्रते ॥१०८५॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के शिष्य स्वभाव से ही सरल बुद्धि वाले थे, इसलिए उनके व्रतों में भी बहुत से अतिचार लगते थे तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमानस्वामी के शिष्य तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं, अतएव काल दोष के कारण उनके व्रतों में भी बहुत से अतिचार लगते हैं।

तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण—

तस्मादतिक्रमस्तेषां दुःस्वप्नेर्यागोचरादिकः।
जातः स्वल्पो महान्चात्र तस्य शुद्ध्यै स्वशंकिताः ॥१०८६॥
उच्चारयन्ति सर्वांस्तान् प्रतिक्रमणदण्डकान्।
त्रिकालं नियमेनैव व्रतशुद्धिविधायिनः ॥१०८७॥

अर्थ—अतएव दुःस्वप्न ईर्यागमन आदि से होने वाले जितने भी छोटे वा बड़े अतिचार हैं उनको शुद्ध करने के लिए व्रतों को शुद्ध करने वाले मुनि अच्छी तरह निःशंकित होकर नियमपूर्वक तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण करते हैं।

कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है—

विज्ञायेति व्रतादीनां शुद्ध्यर्थं कर्महानये।
कर्तव्यं यत्ततो दक्षैः प्रतिक्रमणमञ्जसा ॥१०८८॥

अर्थ—यह समझकर चतुर पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध करने के लिए और कर्मों को नष्ट करने के लिए बहुत शीघ्र प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही कब करना चाहिए—

यतः कश्चिद्व्रते दोषादिर्निराक्रियते बुधैः।
सत्प्रतिक्रमणेनैव कश्चिदालोचनादिभिः ॥१०८९॥
तस्मात्तद्द्वितयं नित्यं विधेयं विधिपूर्वकम्।
सर्वदोषापहं यत्नाद् व्रतशुद्धिविधायिभिः ॥१०९०॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग किसी दोष को तो प्रतिक्रमण से निराकरण करते हैं और किसी दोष की आलोचना आदि से निराकरण करते हैं, अतएव यत्नपूर्वक व्रतों की शुद्धि करने वाले मुनियों को विधिपूर्वक समस्त दोषों को दूर करने वाले प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही सदा करने चाहिए।

ऐसा करने से व्रतों के समूह चन्द्रमा की चाँदनी के समान निर्मल हो जाते हैं—

यतः सर्वैर्गुणैः सार्द्धं समस्ता व्रतपंक्तयः।
चन्द्रज्योत्स्ना इवात्यर्थं निर्मलाःस्युश्च तद्द्वयात् ॥१०९१॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण और आलोचना करने से समस्त व्रतों के समूह समस्त गुणों के साथ-साथ चन्द्रमा की चाँदनी के समान अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं।

प्रतिक्रमण और आलोचना करने का विशेष फल—

चित्तशुद्धिश्च जायेत तया ध्यानं शिवप्रदम्।
तेन कर्मविनाशश्च तन्नाशे निर्वृतिः सताम् ॥१०९२॥

अर्थ—इसके सिवाय प्रतिक्रमण और आलोचना करने से चित्त की शुद्धि होती है तथा चित्त की शुद्धि होने से मोक्ष देने वाला ध्यान प्रकट होता है उस ध्यान से समस्त कर्मों का नाश होता है और समस्त कर्मों के नाश होने से सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रमादी और अहंकारी मुनि का प्रतिक्रमण व्यर्थ है—

प्रमादी योऽथवा गर्वी मत्वा निजं तपो महत्।
मूढधीः प्रत्यहं कुर्यान्न प्रतिक्रमणादिकम् ॥१०९३॥
दोषैर्मलीमसं तस्य व्यर्थं स्यात्तपोऽखिलम्।
दीक्षा च निष्फला पापास्त्रवा जन्मनिरर्थकम् ॥१०९४॥

अर्थ—जो मुनि अपने तपश्चरण को बहुत बड़ा समझकर प्रमादी तथा अहंकारी हो जाता है और इसीलिए जो मूर्ख प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि नहीं करता उसका समस्त तपश्चरण दोषों से मलिन रहता है और इसीलिए व्यर्थ समझा जाता है। इसी प्रकार पापों का आस्रव करने वाली उसकी दीक्षा भी निष्फल समझी जाती है और उसका जन्म भी निरर्थक माना जाता है।

अतः आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण आवश्यक है—

मत्वेत्यालोचना युक्तं सत्प्रतिक्रमणं विदः।
कुर्वन्तु सर्वयत्नेन नित्यं युक्त्या शिवाप्तये ॥१०९५॥

अर्थ—इसलिए चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ युक्तिपूर्वक प्रतिदिन आलोचनापूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

मुनियों को प्रतिक्रमण प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए—

सर्वेषां व्रतगुप्तियोगसमितीनां शुद्धिहेतुं परमन्तातीतगुणात्मनां च शिवदं दोषापहं निर्मलम्।
पापघ्नं मुनयः कलङ्कहतकं यत्नात्कुरुध्वं सदा स्वान्तःशुद्धिकरं प्रतिक्रमणनामावश्यकं मुक्तये ॥१०९६॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक अनंत गुणों को धारण करने वाले समस्त व्रत,

गुप्ति, योग और समितियों को शुद्ध करने वाला है, सर्वोत्कृष्ट है, मोक्ष देने वाला है, दोषों को दूर करने वाला है, अत्यन्त निर्मल है, पापों को नाश करने वाला है, कलंक को दूर करने वाला है और अंत:करण को शुद्ध करने वाला है। इसीलिए मुनियों को ऐसा यह प्रतिक्रमण नाम का आवश्यक प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन करते रहना चाहिए।

शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा—

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमिमामुक्त्वा समासतः।
सत्प्रत्याख्यान-निर्युक्तिं प्रवक्ष्यामि ततःशुभाम् ॥१०९७॥

अर्थ—इस प्रकार हमने संक्षेप से प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा अब आगे शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं।

प्रत्याख्यान का स्वरूप—

अयोग्यानां स्वयोग्यानां वस्तूनां तपसेऽथवा ।
यन्निराकरणं यत्नात्क्रियते नियमेन च ॥१०९८॥
नामादिषड्विधानां वा कर्मसंवरहेतवे।
आगतानामनागतानां तत्प्रत्याख्यानं मतं जिनैः ॥१०९९॥

अर्थ—जो पदार्थ अपने योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं उन पदार्थों का नियमपूर्वक तपश्चरण के लिए त्याग कर देना प्रत्याख्यान है अथवा कर्मों का संवर करने के लिए नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थों का त्याग करना भगवान् जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है।

प्रत्याख्यान के भी ६ भेद हैं—

नामानुस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः।
भावश्चेत्यत्र निक्षेपः प्रत्याख्यानेऽपि षड्विधः ॥११००॥

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह अशुभ निक्षेप आश्रित माने गए हैं अर्थात् छहों निक्षेपों से यह प्रत्याख्यान भी छह प्रकार है।

नाम प्रत्याख्यान का स्वरूप—

पापरागादिहेतूनि क्रूराशुभान्यनेकशः।
नामानि बुधनिन्द्यानि स्वान्येषां दोषदानि च ॥११०१॥
जातुचिद्यत्र नोच्यन्ते हास्याद्यैः स्वपरादिभिः।
नियमेनैव तन्नामप्रत्याख्यानं स्मृतं बुधैः ॥११०२॥

अर्थ—इस संसार में अनेक नाम ऐसे हैं जो पाप और राग के कारण हैं, क्रूर हैं, अशुभ हैं, विद्वानों के द्वारा निंदनीय हैं और अपने तथा दूसरों के लिए दोष उत्पन्न करने वाले हैं, ऐसे नामों को हँसी आदि के कारण वा अपने पराए की किसी प्रेरणा से भी नियमपूर्वक उच्चारण नहीं करना

विद्वानों के द्वारा नाम प्रत्याख्यान कहलाता है।

उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मिथ्यादेवादिमूर्तीनां खनीनां सकलैनसाम्।
मिथ्यात्वहेतुभूतानां वीक्षणे नियमोऽत्र यः ॥११०३॥
कृताद्यैर्वा सरागाणां क्रूराणां गृह्यतेऽनिशम्।
पापभीतैश्च तत्स्थापनाप्रत्याख्यानमद्भुतम् ॥११०४॥

अर्थ—पाप के डर से मुनि लोग समस्त पापों की खानि, मिथ्यात्व बढ़ाने का कारण, क्रूर और सरागी मिथ्या देवों की मूर्तियों के देखने का कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग कर देते हैं, उनके न देखने का नियम कर लेते हैं उसको उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं।

उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान का स्वरूप—

कर्मबन्धकरा द्रव्याः शुभा वा तपसेऽखिलाः।
स्वेन जातु न भोक्तव्या भोजितव्या न चापरैः ॥११०५॥
मनसा नानुमन्तव्या एवं यो नियमो वरः।
मुनीशैर्गृह्यते द्रव्यप्रत्याख्यानं तदूर्जितम् ॥११०६॥

अर्थ—जो द्रव्य कर्मबंध को करने वाले हैं अथवा अशुभ हैं ऐसे पदार्थों को तपश्चरण पालन करने के लिए कभी उपभोग नहीं करना और न दूसरों से कभी उपभोग कराना और मन से उनके उपभोग करने की अनुमोदना भी नहीं करना, इस प्रकार मुनिराज जो नियम कर लेते हैं उसको उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं।

क्षेत्र प्रत्याख्यान का लक्षण—

रागबाहुल्यकर्त्तॄणामसंयमप्रवर्तिनाम् ।
सेवितानां विटस्त्र्याद्यैः सर्वदोषविधायिनाम् ॥११०७॥
क्षेत्राणां दुष्टमिथ्यादृग्भूतानां परिहापनम्।
नियमाद्यत्सतां क्षेत्रप्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥११०८॥

अर्थ—जो क्षेत्र अत्यन्त राग उत्पन्न करने वाले हैं, असंयम की प्रवृत्ति करने वाले हैं, जो व्यभिचारी वा कुट्टिनियों के रहने के स्थान हैं जो समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं और दुष्ट वा मिथ्यादृष्टियों से भरे हुए हैं ऐसे क्षेत्रों का नियमपूर्वक त्याग कर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान कहलाता है।

काल प्रत्याख्यान का वर्णन—

यच्च वृष्टितुषारादि-व्याप्तकालस्य वर्जनम्।
असंयमादि-हेतोः कालप्रत्याख्यानमेव तत् ॥११०९॥

अर्थ—जिस समय वृष्टि पड़ रही हो वा तुषार पड़ रहा हो ऐसे काल का असंयमादि के डर से

त्याग कर देना काल प्रत्याख्यान कहलाता है।

उत्तम भाव प्रत्याख्यान का वर्णन—

मिथ्यात्वासंयमानां प्रमादानां चाशुभात्मनाम् ।
कषायवेदहास्यादीनां सर्वेषां जितेन्द्रियैः ॥१११०॥
सर्वथा शुद्धभावेन त्यजनं क्रियते बुधैः।
नियमाद्यैश्च यद्भावप्रत्याख्यानं तदुत्तमम् ॥११११॥

अर्थ—जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष अपने पूर्ण शुद्ध भावों से नियमपूर्वक मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, अशुभ, कषाय, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का त्याग कर देते हैं उसको उत्तम भाव प्रत्याख्यान कहते हैं।

उक्त छहों प्रकार का प्रत्याख्यान आवश्यक—

एतैश्च षड्विधोपायैर्निक्षेपैः षड्विधं शुभैः।
प्रत्याख्यानं विधातव्यं प्रत्यहं संयमाप्तये ॥१११२॥

अर्थ—मुनियों को अपना संयम पालन करने के लिए ऊपर लिखे शुभ छहों प्रकार के निक्षेपरूप उपायों से छहों प्रकार का प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यापक तथा प्रत्याख्यातव्य का स्वरूप—

प्रत्याख्यापक आत्माऽत्र यः प्रत्याख्यानमेव यत्।
प्रत्याख्यातव्यमन्यद्यदेतेषां विस्तरं ब्रुवे ॥१११३॥

अर्थ—यहाँ पर प्रत्याख्यान करने वाला आत्मा प्रत्याख्यापक कहलाता है। त्याग करना प्रत्याख्यान है और जिसका त्याग किया जाता है उसको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप कहते हैं।

प्रत्याख्यान करने वाले का स्वरूप—

श्रीगुरोर्जिनदेवस्याज्ञया - चरणपालकः।
मूलोत्तर-गुणान् सर्वान्निर्मली-कर्तुमुद्यतः ॥१११४॥
जिनसूत्रानुचारी यो दोषागमन-भीतिकृत्।
तपोऽर्थी जितकामाक्षः स प्रत्याख्यापको महान् ॥१११५॥

अर्थ—जो मुनि श्री गुरु की आज्ञा से वा भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से चारित्र का पालन करता है, समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों को निर्मल करने को जो सदा उद्यत रहता है, जो जिन शास्त्रों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, जो दोषों के आगमन से सदा भयभीत रहता है, जो निर्मल तपश्चरण करना चाहता है, जो इन्द्रिय और काम को जीतने वाला है और जो उत्कृष्ट है उसको प्रत्याख्यापक कहते हैं।

१० प्रकार के त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं—

अशनादिपरित्यागं प्रत्याख्यानमनेकधा ।
मूलोत्तर-गुणादौ च दशधाऽनागतादि वा ॥१११६॥

अर्थ—भोजन-पान का त्याग करना प्रत्याख्यान है वह अनेक प्रकार है अथवा मूलगुण वा उत्तरगुणों में अनागत आदि जो दस प्रकार का त्याग है उसको भी प्रत्याख्यान कहते हैं।

उनके १० प्रकार के प्रत्याख्यान के नाम मात्र—

अनागतमतिक्रान्तं कोटीसहितसंज्ञकम्।
अखण्डितं च साकारमनाकारसमाह्वयम् ॥१११७॥
परिमाणगतं नामा परिशेषाभिधानकम् ।
तथाध्वगतसंज्ञं च प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥१११८॥

अर्थ—अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, अखंडित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, परिशेष, अध्वगत और सहेतुक ये दस प्रकार के प्रत्याख्यान हैं।

(१) अनागत प्रत्याख्यान का स्वरूप—(चतुर्दशी शुद्धरूप)

कर्तव्यमुपवासादि चतुर्दश्यादिके च यत्।
क्रियते तत् त्रयोदश्यादावनागतमेव तत् ॥१११९॥

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना चाहिए उसका नियम त्रयोदशी के दिन ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है।

(२) अतिक्रांत प्रत्याख्यान का लक्षण—

विधेयमुपवासादि-चतुर्दश्यादिके च यत्।
ततः प्रतिपदादौ क्रियतेऽतिक्रान्तमेव तत् ॥११२०॥

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना है, उसका नियम प्रतिपदा के दिन ही कर लेना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

(३) कोटिसहित प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रातः स्वाध्यायसंपूर्णे यदि शक्तिं भविष्यति।
उपवासं करिष्यामि तत्कोटिसहितं मतम् ॥११२१॥

अर्थ—प्रातःकाल स्वाध्याय पूर्ण होने पर यदि शक्ति होगी तो मैं उपवास करूँगा इस प्रकार के नियम करने की कोटिसहित प्रत्याख्यान कहते हैं।

(४) अखंडित प्रत्याख्यान का लक्षण—

अवश्यं यद्विधातव्यं पक्षमासादिगोचरम्।
उपवासादिकं तत्स्यात्प्रत्याख्यानमखण्डितम् ॥११२२॥

अर्थ—किसी पक्ष वा किसी महीने में जो उपवास अवश्य किया जाता है उसको अखंडित प्रत्याख्यान कहते हैं।

(५) साकार प्रत्याख्यान का वर्णन—

सर्वतोभद्रनक्षत्ररत्नावल्याद्यनेकधा ।
विधानकरणं यद्बहुधा साकारमत्र तत् ॥११२३॥

अर्थ—सर्वतोभद्र, नक्षत्रमाला, रत्नावली आदि अनेक प्रकार के विधान वा व्रत करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है।

(६) अनाकार प्रत्याख्यान का स्वरूप—

निजेच्छयोपवासादि करणं यद्विधिं विना।
प्रत्याख्यानमनाकारं कथ्यते तत्तपस्विनाम् ॥११२४॥

अर्थ—बिना किसी विधि के अपनी इच्छानुसार उपवास आदि करना तपस्वियों का अनाकार प्रत्याख्यान कहा जाता है।

(७) परिमाणगत प्रत्याख्यान का लक्षण—

यत्षष्ठाष्टमपक्षैकमासादि - वर्षगोचरम्।
करणं स्वोपवासादेः परिमाणगतं हि तत् ॥११२५॥

अर्थ—जो दो दिन का, तीन दिन का, एक पक्ष का, एक महीने का वा एक वर्ष का उपवास किया जाता है उसको परिमाणगत प्रत्याख्यान कहते हैं।

(८) परिशेष प्रत्याख्यान का लक्षण—

चतुर्विधाखिलाहार-वर्जनं यद्विधीयते।
यावज्जीवं स्वसंन्यासे परिशेषं तदुच्यते ॥११२६॥

अर्थ—अपने संन्यास मरण के समय जीवनपर्यंत तक जो चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है उसको परिशेष प्रत्याख्यान कहते हैं।

(९) अध्वगत प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मार्गाटव्याद्रिनद्यादिगमनानां प्रतिज्ञा या ।
क्रियतेऽत्रोपवासादि यत्तदध्वगतं स्मृतम् ॥११२७॥

अर्थ—किसी मार्ग में, वन में, पर्वत पर वा नदी आदि के गमन करने में जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको अध्वगत प्रत्याख्यान कहते हैं।

(१०) सहेतुक प्रत्याख्यान का स्वरूप—

उपसर्गनिमित्तेऽत्रजाते सति विधीयते ।
उपवासादिकं यत्तत् प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥११२८॥

अर्थ—किसी उपसर्ग आदि के निमित्त मिलने पर जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको सहेतुक प्रत्याख्यान कहते हैं।

तपश्चरणों की वृद्धि के लिए उपरिलिखित प्रत्याख्यान करना चाहिए—

प्रत्याख्यानविधेः सारान् दशभेदानिमान् सदा।

ज्ञात्वा नाना-तपोवृद्ध्यै ह्याचरन्तु तपोधनाः ॥११२९॥

अर्थ—ये ऊपर लिखे हुए प्रत्याख्यान विधि के सारभूत दस भेद हैं, इन सबको समझकर मुनियों को अपने अनेक प्रकार के तपश्चरणों की वृद्धि के लिए इन प्रत्याख्यानों का पालन करना चाहिए।

त्याग करने योग्य पदार्थ प्रत्याख्यान हैं—

अशनं-पानकं-खाद्यं-स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम्।

आहारं विविधं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकम् ॥११३०॥

उपधिः श्रमणायोग्यः क्षेत्रं कालादयोऽखिलाः।

इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यातव्यमञ्जसा ॥११३१॥

अर्थ—अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है। इनके सिवाय सचित्त, अचित्त, मिश्र के भेद से अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, मुनियों के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण हैं, अयोग्य क्षेत्र, अयोग्य काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याख्यान पदार्थ हैं।

किसी द्रव्य से मिला हुआ सचित्त जल भी अपेय है—

द्रव्यमिश्रितपानेनोपवासो याति खण्डताम्।

सचित्तं न जलं पातुं योग्यं तस्मात्त्यजेद्बुधः ॥११३२॥

अर्थ—किसी द्रव्य से मिला हुआ पानी पीने से उपवास खंडित हो जाता है तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है। इसलिए बुद्धिमानों को इन सबका त्याग कर देना चाहिए।

किस समय उष्ण जल पेय है—

रोगोष्ण-कालदाहाद्यैर्यदि त्यक्तुं न शक्यते।

नीरं षष्ठाष्टमादौ तर्ह्युष्णं ग्राह्यं क्वचिज्जनैः ॥११३३॥

अर्थ—रोग की अधिकता के कारण वा उष्णकाल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि वेला-तेला आदि में पानी का त्याग न हो सके तो लोगों को ऐसे समय में उष्ण जल ग्रहण करना चाहिए।

भोजन के बाद जल अग्राह्य है—

पारणाहनि जातासु रोगक्लेशादिकादिषु।

प्राणान्तेऽपि न चादेयं भोजनानन्तरे जलम् ॥११३४॥

अर्थ—पारणा के दिन यदि रोग, क्लेश आदि भी उत्पन्न हो जाये और प्राणों के अंत होने का समय आ जाये तो भी उस दिन भोजन के बाद जल ग्रहण नहीं करना चाहिए।

निम्नलिखित ४ शुद्धि सब जगह रखनी चाहिए—

आद्यं विनयशुद्धाख्यमनुभाषासमाह्वयम्।
प्रतिपालनशुद्धाख्यं भावशुद्धाभिधानकम् ॥११३५॥
शुद्धं चतुर्विधं ह्यीदं प्रत्याख्यानं भवापहम्।
मुक्तये युक्तिमद्वाक्यैः पृथक् पृथक् ब्रुवे सताम् ॥११३६॥

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखना चाहिए—पहली विनय शुद्ध, अनुभाषाशुद्ध, प्रतिपालनशुद्ध और भावशुद्ध इस प्रकार चार प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही संसार को नाश करने वाला है। अब हम सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए युक्तिपूर्वक वचनों के द्वारा अलग-अलग इनका स्वरूप कहते हैं।

(१) विनयशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

सिद्धयोगाभिधेभक्ती कृत्वा नत्वा गुरुक्रमौ।
पञ्चधा विनयेनामा प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥११३७॥
गृह्यते यत्तदन्ते चाचार्यभक्तिः प्रदीयते।
शिष्यैर्विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं शिवप्रदम् ॥११३८॥

अर्थ—प्रत्याख्यान लेते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़नी चाहिए फिर गुरु के दोनों चरण कमलों को नमस्कार कर पाँच प्रकार की विनय के साथ चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए तथा अंत में आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए। इस प्रकार शिष्यों के द्वारा मोक्ष देने वाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं।

(२) अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रत्याख्यानाक्षराः सर्वे गुरुणोच्चरिता यथा।
व्यञ्जनस्वरमात्रादिशुद्ध्या ये तांस्तथैव च ॥११३९॥
शिष्योऽनुभाषते यत्र प्रत्याख्यानविधौ शुभे ।
अनुभाषणशुद्धाख्यं प्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥११४०॥

अर्थ—प्रत्याख्यान के समस्त अक्षर जो गुरु ने उच्चारण किये हैं, व्यंजन, स्वर और मात्राएँ जिस प्रकार शुद्ध उच्चारण की हैं उसी प्रकार शिष्य को भी शुभ प्रत्याख्यान लेते समय उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार के प्रत्याख्यान को अनुभाषण शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहते हैं।

(३) अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान का लक्षण—

महोपसर्ग - दुर्व्याध्यश्रमक्लेशादिराशिषु।
जातेषु सुखदु:खादिष्वटव्यद्रिवनादिषु ॥११४१॥
दुर्भिक्षादिषु सर्वत्राखण्डं यत्प्रतिपाल्यते ।
अनुपालनशुद्धाख्यं तत्प्रत्याख्यानमूर्जितम् ॥११४२॥

अर्थ—किसी महा उपसर्ग के आ जाने पर, किसी महाव्याधि के हो जाने पर, किसी दु:ख वा क्लेश के हो जाने पर अथवा किसी जंगल, वन, पर्वत आदि में किसी सुख-दु:ख के उत्पन्न हो जाने पर अथवा दुर्भिक्ष के उत्पन्न हो जाने पर सर्वत्र अपने प्रत्याख्यान का पालन करना अनुपालन शुद्ध नाम का प्रत्याख्यान कहलाता है।

(४) भावशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

रागद्वेषमदोन्मादै: कषायारि-व्रजै: क्वचित्।
कामोद्रेकाख्यधूर्तैश्च परिणामेन योगिनाम् ॥११४३॥
न मनाग्दूषितं शुद्धं प्रत्याख्यानं यदुत्तमम्।
भावशुद्धाभिधं ज्ञेयं प्रत्याख्यानं तदेव हि ॥११४४॥

अर्थ—राग, द्वेष, मद, उन्माद आदि के द्वारा वा कषायरूप शत्रुओं के द्वारा अथवा काम के उद्रेकरूपी धूर्तों के द्वारा मुनियों के परिणामों में किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं आती है। उनका उत्तम प्रत्याख्यान शुद्ध बना रहता है उसको भावशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं।

शरीर की स्थिति के लिए आहार कब ग्रहण करें?

प्रत्याख्यानमिदं सर्वं कृत्वा कायस्थितिद्रुतम्।
ग्राह्यं चतुर्विधं मुक्त्यै गुरोरन्ते मुदा बुधै: ॥११४५॥

अर्थ—बुद्धिमान् मुनियों को यह सब प्रत्याख्यान करके उसका नियम पूर्ण होने पर शरीर स्थिति के लिए आहार ग्रहण करना चाहिए और फिर गुरु के समीप जाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए फिर चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिए—

क्वचिद् हानिर्न कर्तव्या प्रत्याख्यानस्य संयतै: ।
प्राणान्तेऽपि जगन्निन्द्या तीव्रै: परीषहादिभि: ॥११४६॥

अर्थ—मुनियों को अपने कंठगत प्राण होने पर भी तीव्र परीषह आदि के द्वारा जगत् भर में निंदा उत्पन्न करने वाली प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिए।

शिथिलाचार कभी नहीं करना चाहिए—

प्रत्याख्यानस्य भङ्गेन भङ्गं यान्ति यतोऽखिलाः।
गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद्भंगाच्छ्वभ्रकारणम् ॥११४७॥
महापापं प्रजायेत तेन दुःखं वचोतिगम्।
भ्रमणं शिथिलानाञ्च श्वभ्रादिदुर्गतौ चिरम् ॥११४८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यान के भंग होने से मूलगुण, उत्तरगुण आदि सबका भंग हो जाता है तथा मूलगुण, उत्तरगुण के भंग होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से वचनातीत दुःख होता है तथा इस प्रकार शिथिलाचार को धारण करने वाले मुनि नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

उपद्रव आने पर भी इसे नहीं छोड़ें—

मत्वेति विश्वयत्नेन पालयन्तु तपोधनाः।
प्रत्याख्यानं जगत्सारं सत्सूपद्रवकोटिषु ॥११४९॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों उपद्रव आने पर भी जगत् में सारभूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिए।

प्रत्याख्यान का फल—

सर्वानर्थहरं मनोक्षजयिनं कर्मारिविध्वंसकं
स्वर्मोक्षैकनिबन्धनं शुभनिधिं तीर्थेश्वरैः सेवितम्।
अन्तातीतगुणाम्बुधिं सुमुनयः संपालयेताऽखिलं
प्रत्याख्यानवरं सदासुविधिना सर्वार्थसंसिद्धये ॥११५०॥

अर्थ—यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थों को हरण करने वाला है, मन और इन्द्रियों को जीतने वाला है, कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वाला है, स्वर्ग और मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, शुभ की निधि है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं और अनंत गुणों का समुद्र है इसलिए श्रेष्ठ मुनियों को संपूर्ण पुरुषार्थ सिद्धि करने के लिए विधिपूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा—

प्रत्याख्यानस्य निर्युक्तिं निरूप्येमां समासतः।
कायोत्सर्गस्य निर्युक्तिमित ऊर्ध्वं दिशाम्यहम् ॥११५१॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेप से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा। अब आगे कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं।

कायोत्सर्ग का लक्षण—

त्यक्त्वाङ्गादिममत्वं यद्द्विधा सङ्गं विधीयते।
लम्बमानभुजास्थानं गुणचिन्तनपूर्वकम् ॥११५२॥
परमेष्ठिपदादीनामहोरात्रादिगोचरः।
कायोत्सर्गः स मन्तव्योऽनन्तवीर्यादि-कारकः ॥११५३॥

अर्थ—रात्रि में वा अन्य किसी समय में अपने शरीर से ममत्व का त्यागकर तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्यागकर खड़े होकर दोनों भुजाएँ लंबी लटकाकर पाँचों परमेष्ठियों के गुणों का चिंतन करना कायोत्सर्ग कहलाता है। यह कायोत्सर्ग अनंतवीर्य को उत्पन्न करने वाला है।

कायोत्सर्ग के भी ६ भेद हैं—

नामाख्यःस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः।
भाव एषोस्य निक्षेपः कायोत्सर्गस्य षड्विधः ॥११५४॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये अशुभ के आश्रय से छहों निक्षेपों से यह कायोत्सर्ग भी छह प्रकार का है।

नाम कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरनिन्दादिनामोत्थदोषशुद्धये।
कायोत्सर्गोऽत्र यो नाम कायोत्सर्गाह्वयो हि सः ॥११५५॥

अर्थ—किसी सरागी, क्रूर और निंद्य आदि नाम से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं।

स्थापना कायोत्सर्ग का लक्षण—

कुत्सितस्थापनाद्वारागतातीचारशान्तये।
कायोत्सर्गः कृतो यः स स्थापनासंज्ञ एव हि ॥११५६॥

अर्थ—किसी कुत्सित स्थापना के आए हुए अतिचारों को शांत करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं।

द्रव्य कायोत्सर्ग का लक्षण—

सावद्यद्रव्यसेवाद्यैर्जातदोषस्य हानये।
क्रियते यस्तनूत्सर्गो द्रव्यव्युत्सर्ग एव सः ॥११५७॥

अर्थ—पापरूप द्रव्यों के सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको द्रव्य कायोत्सर्ग कहते हैं।

क्षेत्र कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरमिथ्यात्वादिक्षेत्रजमलात्मनाम् ।
विशुद्ध्यै यस्तनूत्सर्गः क्षेत्रव्युत्सर्ग एव सः ॥११५८॥

अर्थ—सरागी, क्रूर और मिथ्यात्व से दूषित क्षेत्र से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं।

काल कायोत्सर्ग का लक्षण—

ऋत्वहोरात्रवर्षादि-व्याप्तकालोद्भवस्य यः।
दोषस्य हानये कायोत्सर्गः स कालसंज्ञकः ॥११५९॥

अर्थ—ऋतु, दिन, रात और वर्षाऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोषों को नाश करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं।

भाव कायोत्सर्ग का स्वरूप—

मिथ्यासंयमकोपादियुक्तदुर्भावजस्य यः।
दोषस्य शुद्धये कायोत्सर्गः स भावनामकः ॥११६०॥

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादिक दुर्भावों से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भाव कायोत्सर्ग कहलाता है।

छहों प्रकार के कायोत्सर्गों को करें—

अमीभिः षड्विधैः सारैर्निक्षेपैर्मुनिसत्तमैः।
कायोत्सर्गः सदा कार्यो जातदोषविशुद्धये ॥११६१॥

अर्थ—उत्तम मुनियों को उत्पन्न हुए दोषों को विशुद्ध करने के लिए सारभूत इन छहों निक्षेपों से होने वाला कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिए।

कायोत्सर्गादि के कथन की प्रतिज्ञा—

कायोत्सर्गश्च कायोत्सर्गी कायोत्सर्गकारणम्।
अमीषां त्रितयानां हि प्रत्येकं लक्षणं ब्रुवे ॥११६२॥

अर्थ—अब आगे कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारणों का अलग-अलग लक्षण कहते हैं।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—

बाह्यान्तःसकलैः सङ्गैः समं कायस्य धीधनैः।
क्रियते यः परित्यागः कायोत्सर्गः स मुक्तये ॥११६३॥

अर्थ—जहाँ पर बुद्धिमानों के द्वारा बाह्य और आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के साथ-साथ शरीर का भी त्याग कर दिया जाता है परिग्रह और शरीर के ममत्व सर्वथा त्याग कर दिया जाता है उसको

कायोत्सर्ग कहते हैं। ऐसा कायोत्सर्ग मोक्ष देने वाला होता है।

कायोत्सर्ग के ४ भेद हैं—

प्रलम्बितभुजः पादान्तश्चतुःस्वाङ्गुलाश्रितः।
सर्वांग-चलनातीतः कथ्यतेऽत्र चतुर्विधः॥११६४॥

अर्थ—उस कायोत्सर्ग में भुजाएँ लंबायमान होती हैं दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रहता है और समस्त शरीर का हलन-चलन बंद कर दिया जाता है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चार-चार प्रकार का होता है।

चारों के नाम—

उत्थितोत्थितनामोत्थितोपविष्टसमाह्वयः ।
उपविष्टोत्थिताख्यः किलासीनासीनसंज्ञकः ॥११६५॥

अर्थ—पहला उत्थितोत्थित, दूसरा उत्थितोपविष्ट, तीसरा उपविष्टोत्थित और चौथा उपविष्टोपविष्ट अथवा आसीनासीन ये चार कायोत्सर्ग के भेद हैं।

इनमें २ अशुभ कायोत्सर्ग नहीं करने चाहिए—

एतैः शुभाशुभैर्भेदैः कायोत्सर्गश्चतुर्विधः।
द्विधा त्याज्यो द्विधा ग्राह्यस्तेषां मध्ये स योगिभिः ॥११६६॥

अर्थ—इन चारों प्रकार के कायोत्सर्ग में दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं। मुनियों को दोनों अशुभ कायोत्सर्गों का त्यागकर देना चाहिए और दोनों शुभ कायोत्सर्ग ग्रहण कर लेना चाहिए।

धर्मशुक्लाभिधं द्वेधा ध्यानं यत्क्रियते बुधैः।
कायोत्सर्गेण मुक्त्यै सः व्युत्सर्ग उत्थितोत्थितः ॥११६७॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतन करते हैं उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं।

आर्तरौद्राख्यदुर्ध्याने कायोत्सर्गेण यः स्थितः ।
ध्यायेत्तस्य तनूत्सर्ग उत्थितासीनसंज्ञकः ॥११६८॥

अर्थ—जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का चिंतन करता है उसको उत्थितासीन कायोत्सर्ग कहते हैं।

निविष्टोत्थित नामक कायोत्सर्ग का स्वरूप—

धर्मशुक्लशुभध्यानान्निविष्टो भजतेऽत्र यः।
हृदा तस्य तनूत्सर्गो निविष्टोत्थितनामकः ॥११६९॥

अर्थ—जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का चिंतन करता है उसके निविष्टोत्थित नाम का कायोत्सर्ग कहलाता है।

आसीनासीन नामक कायोत्सर्ग—

ध्यायत्यत्र निविष्टो यः आर्तरौद्राणि चेतसा।
ध्यानानि तस्य चासीनासीनव्युत्सर्ग एव हि ॥११७०॥

अर्थ—जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से आर्तध्यान वा रौद्रध्यान का चिंतन करता है उसके आसीनासीन नाम का कायोत्सर्ग होता है।

उत्थितासीन दोष का त्याग—

उत्थितासीन एकोन्य आसीनासीनसंज्ञकः।
द्वाविमौ सर्वथा त्याज्यौ शेषौ कार्यौ प्रयत्नतः ॥११७१॥

अर्थ—इनमें से एक उत्थितासीन और दूसरा आसीनासीन इन दोनों कायोत्सर्गों का सदा के लिए त्याग कर देना और बाकी के दोनों कायोत्सर्ग प्रयत्नपूर्वक धारण करने चाहिए।

उत्तम ध्यान का स्वरूप—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रश्रुताभ्यासयमादिषु ।
महाव्रतेषु सर्वेषु संयमाचरणेषु च ॥११७२॥
दशलक्षणधर्मेषु तपःसमितिगुप्तिषु।
प्रत्याख्याने कषायाक्षाशुभध्यानादिरोधने ॥११७३॥
आत्मतत्त्वेऽन्यतत्त्वेषु ध्यानेषु परमेष्ठिनाम्।
कर्मास्त्रवनिरोधे च संवरे निर्जराशिवे ॥११७४॥
हृदि शुद्धसुसङ्कल्पः क्रियते यो गुणाप्तये।
महान् व्युत्सर्गमापन्नैस्तद्ध्यानमुत्तमं मतम् ॥११७५॥

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनि गुण प्राप्त करने की इच्छा से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शास्त्रों का अभ्यास, यम, नियम, समस्त महाव्रत, समस्त संयमाचरण, दशलक्षण धर्म, तप, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, कषायों का निरोध, इन्द्रियों का निरोध, अशुभ ध्यान का निरोध, आत्मतत्त्व, अन्य तत्त्व, परमेष्ठियों का ध्यान, कर्मों के आस्त्रव का निरोध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो हृदय में शुद्ध संकल्प करते हैं महासंकल्प करते हैं उसको उत्तम ध्यान कहते हैं।

अशुभध्यान का स्वरूप—

परिवारमहासम्पत्पूजासत्कारहेतवे ।
अन्नपानादिमिष्टाप्त्यै ख्यातिकीर्तिप्रसिद्धये ॥११७६॥
स्वमाहात्म्यप्रकाशाय स्वेष्टवस्त्वाप्तयेऽन्वहम्।
स्वर्गराज्यपदादीनां प्राप्तयेऽमुत्र वा हृदि ॥११७७॥

इत्याद्यन्यतमाप्त्यै यः सङ्कल्पः क्रियतेऽशुभः।
कायोत्सर्गसमापन्नैस्तद्ध्यानमशुभं स्मृतम् ॥११७८॥

अर्थ—इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वाले जो मुनि अपने परिवार को महासंपत्ति प्राप्त करने के लिए वा पूजा सत्कार कराने के लिए वा मीठे-मीठे अन्न-पान प्राप्त करने के लिए वा अपनी कीर्ति फैलाने वा प्रसिद्ध होने के लिए वा अपना माहात्म्य प्रकट करने के लिए वा प्रतिदिन अपनी इच्छानुसार इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिए वा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति, राज्य की प्राप्ति वा सेना की प्राप्ति के लिए व इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिए अपने हृदय में अशुभ संकल्प करते हैं उसको अशुभ ध्यान कहते हैं।

अशुभ ध्यान का त्याग एवं शुभध्यान आवश्यक—

अप्रशस्तं प्रशस्तं च ध्यानं ज्ञात्वा बुधा इदम्।
त्यक्त्वाऽशुभं शुभध्यानं कायोत्सर्गे भजन्तु भोः ॥११७९॥

अर्थ—इस प्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान को समझकर बुद्धिमानों को कायोत्सर्ग में अशुभ ध्यान का त्याग कर देना चाहिए और शुभध्यान धारण करना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने वाले मुनि का स्वरूप—

मोक्षार्थी जितनिद्रो यस्तत्त्वशास्त्रविशारदः।
मनोवाक्कायसंशुद्धो बलवीर्याद्यलं-कृतः ॥११८०॥
महातपा महाकायो महाधैर्यो जितेन्द्रियः ।
परीषहोपसर्गादि-जयशीलोऽचलाकृतिः ॥११८१॥
महाव्रती परात्मज्ञः इत्याद्यन्यगुणाकरः।
कायोत्सर्गी भवेन्नूनमुत्तमो मुक्तिसाधकः ॥११८२॥

अर्थ—जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाला है, निद्रा को जीतने वाला है, तत्त्व और शास्त्रों के जानने में अत्यन्त चतुर है, जिसके मन-वचन-काय शुद्ध हैं, जो बल और वीर्य से (शक्ति से) सुशोभित है, जो महातपस्वी है, हृष्ट, पुष्ट, पूर्ण शरीर को धारण करने वाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय है, परीषह और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है, परमात्मा को जानने वाला है और मोक्ष को सिद्ध करने वाला है तथा और भी ऐसे ही ऐसे गुणों की खानि है, ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्गी (कायोत्सर्ग करने वाला) कहा जाता है।

कायोत्सर्ग करने का कारण—

व्रतानां समितीनां च गुप्तीनां संयमात्मनाम्।
क्षमादिलक्षणानां च मूलान्यगुणदृक् चिदाम् ॥११८३॥

कषायै-र्नोकषायैश्च मदोन्माद-भयादिभिः।
यातायातैः प्रमादैश्च मनोऽक्षवाग्वपुश्चलैः ॥११८४॥
जाता येऽतिक्रमास्तेषां दक्षैः शुद्ध्यर्थमत्र यः।
विधीयते तनूत्सर्गः तज्ज्ञेयं तस्य कारणम् ॥११८५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा, मार्दव आदि धर्म, मूलगुण, उत्तरगुण, सम्यग्दर्शन और आत्मा की शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन, इन्द्रियाँ, वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं, इसीलिए व्रतादिकों में लगे दोषों का निवारण करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वही कायोत्सर्ग का कारण है।

पुनः कायोत्सर्ग के कारण—

दुर्द्धरा उपसर्गा ये नृदेवादि-कृता भुवि।
सर्वे परीषहा घोरा महान्तस्तपसादयः ॥११८६॥
कायोत्सर्गेण तान्विश्वान्सहेऽहं मुक्तिहेतवे।
इत्यादि-कारणैर्नित्यं कुर्वन्तु मुनयोऽत्र तम् ॥११८७॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किए हुए जितने भी दुर्द्धर उपसर्ग हैं, जितने घोर परीषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं, उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूँगा, यही समझकर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिए।

कायोत्सर्ग का फल—

कायोत्सर्गे कृते यद्वदङ्गोपाङ्गादिसन्धयः।
भिद्यन्ते सुधियां तद्वद्दुष्कर्माणि क्षणे क्षणे ॥११८८॥

अर्थ—कायोत्सर्ग के करने में जिस प्रकार अंग-उपांग की संधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार बुद्धिमानों के कर्म भी क्षण-क्षण में नष्ट होते रहते हैं।

कायोत्सर्ग से ऋद्धियों की प्राप्ति—

कायोत्सर्गप्रभावेन जायन्तेऽहो महर्द्धयः।
समस्ता अचिरेणैव योगिनां नाऽत्रसंशयः ॥११८९॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से मुनियों को बहुत ही शीघ्र समस्त महाऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

कायोत्सर्ग से शुभध्यान की प्राप्ति—

धर्मशुक्लशुभध्यानाः शुभाः लेश्याः प्रयान्त्यहो।
कायोत्सर्गेण धर्मात्मनां सर्वोत्कृष्टतामिह ॥११९०॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से धर्मात्मा पुरुषों के धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएँ सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं।

कायोत्सर्ग के प्रभाव से इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं—

प्रकम्पन्ते सुरेशानामासनानि - क्षणान्तरे।
महाध्यानप्रभावेन कायोत्सर्गस्थयोगिनाम् ॥११९१॥

अर्थ—कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से क्षणभर में ही इंद्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं।

इसके फल से क्रूर व्याघ्रादि भी शांत हो जाते हैं—

व्याघ्रसिंहादयः क्रूराः शाम्यन्ति नतमस्तकाः
कायोत्सर्गस्थधीराणां महायोगप्रभावतः ॥११९२॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए महा धीर वीर मुनियों के महाध्यान के प्रभाव से सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और उनके चरणों में आकर अपना मस्तक झुका देते हैं।

इससे करोड़ों विघ्नों के जाल क्षणभर में नष्ट होते हैं—

उपसर्ग-व्रजाः सर्वे विघ्नादिजालकोटयः।
कायोत्सर्गस्थमाहात्म्याद् विघटन्ते च तत्क्षणम् ॥११९३॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के माहात्म्य से क्षणभर में ही समस्त उपसर्गों के समूह नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों विघ्नों के जाल क्षणभर में कट जाते हैं।

केवलज्ञान की प्राप्ति भी इसका फल है—

कायोत्सर्गेण दक्षाणां केवलज्ञानमाशु भोः।
जायते प्रकटं लोकेऽत्रान्यज्ञानस्य का कथा ॥११९४॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से इसी लोक में शीघ्र ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है फिर भला अन्य ज्ञानों की तो बात ही क्या है।

केवलज्ञानरूपी स्त्री वरण करती है—

व्युत्सर्गं कुरुते धीरो यो धर्मशुक्लपूर्वकम्।
अत्यासक्त्या स्वयं ह्येत्य मुक्तिरामा वृणोति तम् ॥११९५॥

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक कायोत्सर्ग धारण करता है उस पर मुक्तिरूपी स्त्री अत्यन्त आसक्त हो जाती है और स्वयं आकर उसको वर लेती है।

यह सर्वोत्कृष्ट तप है—

कायोत्सर्गेण सादृश्यं नापरं परमं तपः।
उपायस्तत्समो नान्यः कर्मारातिनिकन्दने ॥११९६॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के समान न तो अन्य कोई परमोत्कृष्ट तप है और न कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए अन्य कोई उपाय है।

इस तप करने वाले के करोड़ों कर्मजाल नष्ट हो जाते हैं—

यतो व्युत्सर्गकर्तॄणां कर्मजालानि कोटिशः।
नश्यन्ति क्षणमात्रेण तमांसि भानुना यथा ॥११९७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के करोड़ों कर्मजाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।

कायोत्सर्ग के फल का उपसंहार—(मुक्ति प्राप्ति)—

इत्यादि प्रवरं चास्य फलं मत्वा शिवार्थिनः।
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य सिद्ध्यै कुर्वन्तु तं सदा ॥११९८॥

अर्थ—इस प्रकार इस कायोत्सर्ग का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति प्रकट कर वह कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिए।

विभिन्न प्रतिक्रमणों में कायोत्सर्ग का काल—

कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्टेन वर्षैकं प्रमाणकम्।
अन्तर्मुहूर्तमानं स्याज्जघन्यं कालसंख्यया ॥११९९॥
मध्यमेन तयोर्मध्ये प्रमाणं बहुधा भवेत्।
अहोरात्रादिपक्षैकमासद्वित्र्यादिगोचरम् ॥१२००॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है तथा मध्य का जो एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक महीना, दो महीना, तीन महीना, छह महीना आदि काल है वह सब कायोत्सर्ग का मध्यम काल गिना जाता है।

श्वासोच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग विधि—

सत्प्रतिक्रमणे वीरभक्तौ दैवसिकाभिधे।
कायोत्सर्गे स्युरुच्छ्वासा अष्टोत्तर-शतप्रमाः ॥१२०१॥
उच्छ्वासा रात्रिके कार्याश्चतुः पञ्चाशत् एव च।
परमेष्ठिपदोच्चारैः शतानि त्रीणि पाक्षिके ॥१२०२॥

उच्छ्वासानां च चातुर्मासिके चतु:शतानि वै।
शतानि पञ्च सांवत्सरके स्युर्नियमात्सताम् ॥१२०३॥
वीरभक्तिं विना शेषसिद्धभक्त्यादिषु स्फुटम्।
सवेष्वन्यतनूत्सर्गे उच्छ्वासा: सप्तविंशति: ॥१२०४॥

अर्थ—श्रेष्ठ प्रतिक्रमण करते समय, वीरभक्ति करते समय और दैवसिक कायोत्सर्ग में एक सौ आठ उच्छ्वासों से छत्तीस बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए। रात्रि के कायोत्सर्ग में चौवन श्वासोच्छ्वासों से अठारह बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए। पाक्षिक कायोत्सर्ग में तीन सौ उच्छ्वासों से परमेष्ठी वाचक पदों का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् सौ बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए। चातुर्मास कायोत्सर्ग में चार सौ श्वासोच्छ्वासों से नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए और वार्षिक कायोत्सर्ग में पाँच सौ उच्छ्वासों से पंच नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिए। वीरभक्ति के बिना शेष सिद्धभक्ति आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से करना चाहिए।

व्रत शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग की आवश्यकता—

प्राणिहिंसानृतस्तेयाऽब्रह्मोपधिप्रसङ्गत: ।
सन्महाव्रतपञ्चानां जाताऽतिचारशुद्धये ॥१२०५॥
पृथक्पृथग्विधातव्य: कायोत्सर्गो व्रतार्थिभि:।
अष्टोत्तरशतोच्छ्वास: प्रमाणो विधिना क्वचित् ॥१२०६॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के निमित्त से जो पाँचों महाव्रतों में अतिचार लगे हों तो उनको शुद्ध करने के लिए व्रतियों को अलग-अलग व्रत के अलग-अलग अतिचार एक सौ आठ उच्छ्वास के द्वारा विधिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण कर अलग ही शुद्ध करना चाहिए।

भावार्थ—एक सौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा अहिंसा व्रत के दोष शुद्ध करने चाहिए फिर एक सौ आठ उच्छ्वासों द्वारा सत्यव्रत के दोष दूर करने चाहिए। इस प्रकार सबके लिए अलग-अलग कायोत्सर्ग करना चाहिए।

स्वाध्याय और वन्दना में कायोत्सर्ग विधि—

ग्रन्थारम्भे समाप्तौ च स्वाध्याये वन्दनादिषु।
कायोत्सर्गेण कर्तव्या उच्छ्वासा: सप्तविशंति: ॥१२०७॥

अर्थ—ग्रन्थ के प्रारम्भ में वा ग्रन्थ की समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना करने में वा और भी ऐसे कार्यों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग में ध्याने योग्य पद और उसका फल—

कायोत्सर्गेषु सर्वेषु हीत्युच्छ्वासान् विधाय च।
परमेष्ठिपदानां जपनेनाघविशुद्धये ॥१२०८॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त कायोत्सर्गों में ऊपर कहे हुए उच्छ्वासों के द्वारा पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पदों को जपना चाहिए। ऐसे ही जप से पापों की शुद्धि होती है।

प्रशस्त ध्यान करने की प्रेरणा—

प्रशस्तं धर्मशुक्लाख्यं द्विधा ध्यानं शिवप्रदम्।
स्वशक्त्या स्वैकचित्तेन चिरं ध्यायन्तु धीधनाः ॥१२०९॥

अर्थ—धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान ही प्रशस्त हैं और ये ही दो ध्यान मोक्ष देने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार एकचित्त होकर चिरकाल तक ये दोनों ध्यान धारण करने चाहिए।

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतो व्युत्सर्ग एकोत्र धर्मशुक्लशुभान्वितः।
द्वात्रिंशद्दोषनिष्क्रान्तः कृतः आशु सुयोगिनाम् ॥१२१०॥
महती सकला ऋद्धिः व्योमगत्यादिकारिणीः।
ज्ञानं च केवलं विश्वप्रदीपं जनयत्यहो ॥१२११॥

अर्थ—क्योंकि यह कायोत्सर्ग यदि बत्तीस दोषों से रहित तथा शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यानपूर्वक किया जाये तो इस एक ही से मुनियों को आकाश गामिनी आदि बड़ी-बड़ी समस्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा लोक-अलोक सबको दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम—

घोटकोऽथलताख्यःस्तंभकुड्यौ मालसंज्ञकः ।
दोषः स वरवध्वाख्यस्ततो निगलनामकः ॥१२१२॥
लम्बोत्तराभिधो दोषःस्तनदृष्टिश्च वायसः ।
खलिनो युगकपित्थौ शिरः प्रकम्पिताख्यकः ॥१२१३॥
मूकितोऽङ्गुलिदोषोथभ्रूविकारसमाह्वयः ।
दोषश्च वारुणीपायी दिग्दशालोकनादिशः ॥१२१४॥
ग्रीवोन्नमनदोषोथ दोषःप्रणमनाख्यकः।
निष्ठीवनोऽङ्गमर्शाख्योऽथामीषां लक्षणं ब्रुवे ॥१२१५॥

अर्थ—कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम कहते हैं-घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य, माल, वरवधू, निगल, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस, खलीन, युग, कपित्थ, शिर प्रकंपित, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिग्दशालोकन, ग्रीवोन्नमन, प्रणमन, निष्ठीवन, अंगमर्श ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष हैं, आगे अनुक्रम से इनका लक्षण कहते हैं।

घोटक दोष का स्वरूप—

यः स्वेकं पादमुत्क्षिप्य विन्यस्य वाऽत्र तिष्ठति।
अश्ववद्धि तनूत्सर्गे सः स्याद् घोटकदोषभाक् ॥१२१६॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर को उठाकर अथवा एक पैर को रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके घोटक नाम का दोष लगता है।

लता दोष का स्वरूप—

लते वाऽत्र निजाङ्गानि चालयन् यः प्रतिष्ठते।
कायोत्सर्गेण तस्य स्याल्लतादोषश्चलात्मनः ॥१२१७॥

अर्थ—जो मुनि लता के समान अपने शरीर को वा अंग-उपांगों को हिलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के लता नाम का दोष लगता है।

स्तंभ दोष का स्वरूप—

स्तम्भमाश्रित्य यस्तिष्ठेत् कायोत्सर्गेण संयतः।
वा शून्यहृदयस्तस्य स्तम्भदोषोऽत्र जायते ॥१२१८॥

अर्थ—जो मुनि किसी खंभे के आश्रय खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है अथवा खंभे के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करता है उसके स्तंभ नाम का दोष लगता है।

कुड्य दोष का स्वरूप—

कुड्यमाश्रित्य तिष्ठेद्यो व्युत्सर्गेणाथवा परम्।
कुड्यदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गमलप्रदः ॥१२१९॥

अर्थ—जो मुनि किसी दीवाल के सहारे खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके कायोत्सर्ग को दूषित करने वाला कुड्य नाम का दोष लगता है।

माल दोष का स्वरूप—

पीठिकादिकमारुह्य वोर्ध्वभागं स्व-मस्तकात्।
आश्रित्य यस्तनूत्सर्गं कुर्यात्स मालदोषवान् ॥१२२०॥

अर्थ—जो मुनि किसी पीठिका पर (वेदी आदि पर) चढ़कर और उसके ऊपर के भाग पर मस्तक का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके माल नाम का दोष प्रकट होता है।

वर-वधू दोष का स्वरूप—

जंघाभ्यां जघनं पीड्य स वरादिवधूरिव।
यस्तं धत्तेऽत्र स स्यात्सवरवध्वाख्यदोषभाक् ॥१२२१॥

अर्थ—जो मुनि वर-वधू के समान दोनों जंघाओं से जंघा को दबाकर कायोत्सर्ग करता है उसके वरवधू नाम का दोष लगता है।

निगल दोष का स्वरूप—

कृत्वा बह्वन्तरालं यः पादयोर्निगलस्थवत्।
कायोत्सर्गं विधत्ते स निगलाख्यं मलं श्रयेत् ॥१२२२॥

अर्थ—जिसके पैर सांकल से बँधे हैं, पैरों के बीच में बेड़ी वा लोहे के डंडे पड़े हैं उसके समान जो अपने पैरों को बहुत दूर-दूर रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके निगल नाम का दोष लगता है।

लंबोत्तर दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थस्य यस्याऽत्रोन्नमनं च भवेन्मुनेः ।
बह्वधोनमनं तस्य दोषो लम्बोत्तराह्वयः ॥१२२३॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करते समय जो मुनि ऊँचे को अधिक तन जाये अथवा नीचे को नम जाये उसके लंबोत्तर नाम का दोष लगता है।

स्तन दृष्टि दोष का स्वरूप

व्युत्सर्गस्थोऽत्र यः पश्येत्स्वस्तनौ चञ्चलो दृशा।
तस्य दोषः प्रजायेत स्तनदृष्टिसमाह्वयः ॥१२२४॥

अर्थ—जो चंचल मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों से अपने स्तनों को देखता है उसके स्तनदृष्टि नाम का दोष लगता है।

वायस दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गस्थ एवापि पार्श्वं पश्यति यो दृशा।
काकवत्तस्य जायेत दोषो वायस-संज्ञिकः ॥१२२५॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि कौए के समान इधर-उधर दोनों बगलों की ओर देखता है उसके वायस नाम का दोष लगता है।

खलीन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गं विधत्ते चाश्ववत् खलिनपीडितः।
यो दन्तकटकं मस्तकं तस्य खलिनो मलः ॥१२२६॥

अर्थ—लगाम से दुःखी हुए घोड़े के समान जो मुनि मस्तक को हिलाता हुआ और दाँतों को किटकिटाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन नाम का दोष होता है।

युग दोष का स्वरूप—

ग्रीवां प्रसार्य तिष्ठेद्युगपीडितवृषादिवत्।
कायोत्सर्गेण तस्यास्ति युगदोषो विरूपकः ॥१२२७॥

अर्थ—जिस प्रकार जुआ से दुःखी हुआ बैल अपनी गर्दन को लंबी कर देता है उसी प्रकार जो मुनि अपनी गर्दन को लंबी कर कायोत्सर्ग करता है उसके युग नाम का अशुभ दोष होता है।

कपित्थ दोष का स्वरूप—

कपित्थफलवन्मुष्ठिं कृत्वा तिष्ठति यो मुनिः।
व्युत्सर्गेण भवेत्तस्य कपित्थदोष एव हि ॥१२२८॥

अर्थ—जो मुनि कैथ के समान अपनी मुट्ठियों को बाँधकर कायोत्सर्ग करता है उसके कपित्थ नाम का दोष लगता है।

शिरः प्रकंपित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गान्वितो यः शिरः प्रकम्पयति स्फुटम्।
शिरः प्रकम्पितं दोषं लभते स मलप्रदम् ॥१२२९॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ सिर को हिलाता जाता है उसके शिरः प्रकंपित नाम का मल उत्पन्न करने वाला दोष लगता है।

मूकित दोष का स्वरूप—

करोति चञ्चलत्वेन कायोत्सर्गस्थसंयतः।
मुखनासाविकारं यस्तस्य दोषो हि मूकितः ॥१२३०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी चंचलता से कायोत्सर्ग करता हुआ भी मुख वा नासिका में विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूकित नाम का दोष लगता है।

अंगुलि चलित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्ग-युतो योऽत्र विकारं कुरुते यतिः।
हस्तपादाङ्गुलीनामङ्गुलिदोषं लभेत सः ॥१२३१॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि हाथ, पैर वा अंगुली से विकार उत्पन्न करता रहता है उसके अंगुली नाम का दोष लगता है।

भ्रू-विकार दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थो यमी नेत्रे भ्रूविकारं तनोति यः।
नर्तनं वाङ्गुलीनां पादयोः स भ्रूविकारभाक् ॥१२३२॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों में वा भौंहों में विकार उत्पन्न करता है अथवा अपने पैर की अंगुलियों को नचाता है उसको भ्रू विकार नाम का दोष लगता है।

वारुणी-पायी दोष का स्वरूप—

सुरापायीव यो घूर्णमानस्तिष्ठति संयमी।
व्युत्सर्गे वारुणीपायी दोषस्तस्य चलात्मनः ॥१२३३॥

अर्थ—जो मुनि मद्य पीने वाले मनुष्य के समान लहरें लेता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के वारुणीपायी नाम का दोष लगता है।

दश दिगालोकन के दश दोषों का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थः प्रपश्येद्यो नेत्राभ्यां हि दिशो दश।
लभेत दश दोषान् स दिगालोकनसंज्ञकान् ॥१२३४॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपने नेत्रों से दसों दिशाओं की ओर देखता है उसके दश दिगालोकन नाम के दस दोष लगते हैं। भावार्थ—एक-एक दिशा को देखना एक-एक दोष है। इस प्रकार दसों दिशाओं को देखना दस दोष हैं।

ग्रीवोन्नमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गेण संयुक्तः स्वग्रीवोन्नमनं हि यः।
करोति तस्य दोषः स्याद् ग्रीवो न्नमन-नामकः ॥१२३५॥

अर्थ—जो मुनि अपनी गर्दन को ऊँची कर कायोत्सर्ग करता है उसके ग्रीवोन्नमन नाम का दोष लगता है।

प्रणमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गाङ्कितो यः प्रणमनं कुरुते यतिः।
तस्य प्रणमनाख्योऽस्ति दोषो दोषकरोऽशुभः ॥१२३६॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी नीचे की ओर झुक जाता है उसके अनेक दोष उत्पन्न करने वाला प्रणमन नाम का अशुभ दोष होता है।

निष्ठीवन दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गालङ्कृतो योऽत्र निष्ठीवनं करोति च ।
तथा षड्वारणं तस्य दोषो निष्ठीवनाह्वयः ॥१२३७॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है अथवा खकारता रहता है उसके निष्ठीवन नाम का दोष होता है।

अंगमर्श दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गयुतः कुर्याच्चपलत्वेन यो मुनिः।
स्वशरीरपरामर्शं सोंऽगामर्शाख्यदोषवान् ॥१२३८॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी चंचल होने के कारण अपने शरीर को स्पर्श करता रहता है उसके अंगमर्श नाम का दोष लगता है।

प्रयत्नपूर्वक दोषों के त्याग की प्रेरणा—

एते दोषाः प्रयत्नेन द्वात्रिंशत्संख्यकाः सदा।
योगशुद्ध्या परित्याज्याः कायोत्सर्गस्थसंयतैः ॥१२३९॥

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करने वाले मुनियों को अपने मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक

प्रयत्नपूर्वक इन बत्तीस दोषों का त्याग कर देना चाहिए।

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतोऽमीभिर्विनिर्मुक्तं दोषैः सर्वैः प्रकुर्वते।
व्युत्सर्गं प्रकटीकृत्य ये सामर्थ्यं पराक्रमम् ॥१२४०॥
तेषां नश्यन्ति चत्वारि घातिकर्माणि जायते।
केवलावगमं सर्वैर्गुणैः सहाचिरेण भोः ॥१२४१॥

अर्थ—क्योंकि जो मुनि अपने पराक्रम वा सामर्थ्य को प्रकट कर इन समस्त दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके चारों घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही अनंत चतुष्टय आदि गुणों के साथ-साथ केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

कायोत्सर्ग की प्रेरणा—

विज्ञायेति फलं चास्य शक्ता वा मन्दशक्तयः।
कुर्वन्तु प्रत्यहं कायोत्सर्गं सर्वार्थसिद्धये ॥१२४२॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का ऐसा फल समझकर समर्थ मुनियों को व कम समर्थ मुनियों को भी अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग की प्रमाणिकता—

यतोऽत्र निजशक्त्या स क्रियमाणो जगत्सताम्।
भवत्येव न संदेहो महाफलनिबन्धनः ॥१२४३॥

अर्थ—क्योंकि अपनी शक्ति के अनुसार किया हुआ कायोत्सर्ग जगत् के सज्जन पुरुषों को महाफल का कारण होता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

कायोत्सर्ग बिना शारीरिक बल की निस्सारता—

समर्था बलिनो येऽत्र प्रमादेन न कुर्वते।
कायोत्सर्गं भवेत्तेषां व्यर्थं जङ्घाबलादिकम् ॥१२४४॥

अर्थ—जो मुनि समर्थ और बलवान् होकर भी प्रमाद के कारण कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनकी जंघा का बल व्यर्थ ही समझना चाहिए।

कायोत्सर्ग में प्रमाद त्याग की प्रेरणा—

मत्वेति कर्मनाशाय कायोत्सर्गो भवापहः।
कर्तव्यः प्रत्यहं धीरैः प्रमादेन विनाऽखिलः ॥१२४५॥

अर्थ—यही समझकर धीर वीर पुरुषों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए प्रमाद को छोड़कर संसार को नाश करने वाला यह कायोत्सर्ग प्रतिदिन करना चाहिए।

(छन्द-वैतालीयं)

कायोत्सर्ग की महिमा—

विश्वाग्र्यं धर्ममूलं सकलविधिहरं तीर्थनाथैर्निषेव्यं
मुक्तिश्रीदानदक्षं गुणमणिजलधिं धीरवीरैकगम्यम्।
दुःखघ्नं शर्मखानिं कुरुत सुविधिना ध्यानमालम्ब्य दक्षाः
कायोत्सर्गं शिवाप्त्यै वपुषि जगति वा निर्ममत्वं विधाय ॥१२४६॥

अर्थ—यह कायोत्सर्ग संसारभर में मुख्य है, धर्म का मूल है, समस्त कर्मों को नाश करने वाला है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव भी इसको धारण करते हैं, यह मोक्षरूपी लक्ष्मी के देने में अत्यन्त चतुर है, गुणरूपी मणियों को उत्पन्न करने के लिए समुद्र के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसको धारण कर सकते हैं, यह समस्त दुःखों को नाश करने वाला है और कल्याण की खानि है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने शरीर से तथा संसार से ममत्व छोड़कर और शुभध्यान को आलंबन कर विधिपूर्वक अवश्य करना चाहिए।

आवश्यक के नाम की सार्थकता और प्रयत्नपूर्वक पालन की प्रेरणा—

अवश्यकरणादेते प्रोक्ता आवश्यका जिनैः।
सर्वे सार्थक-नामानो योगिनां योगकारिणः ॥१२४७॥
अथवा मुक्तिरामावश्यवशीकरणा बुधैः।
आवश्यका महान्तः षड् उक्ताः सर्वार्थसाधकाः ॥१२४८॥
ज्ञात्वेति परिपूर्णानि दक्षैरावश्यकानि षट्।
काले काले विधेयानि महाफलकराण्यपि ॥१२४९॥

अर्थ—इस प्रकार जो छह आवश्यक कहे हैं वे मुनियों को अवश्य करने चाहिए इसलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव इनको आवश्यक कहते हैं। ये सब आवश्यक सार्थक नाम को धारण करते हैं और योगियों को ध्यान उत्पन्न करने वाले हैं अथवा इनके द्वारा मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य ही वश में हो जाती है इसलिए बुद्धिमान् लोग इनको आवश्यक कहते हैं। ये छहों आवश्यक महान् हैं और समस्त अर्थों को सिद्ध करने वाले हैं। यही समझकर चतुर पुरुषों को अपने-अपने समय पर महाफल देने वाले ये छहों आवश्यक पूर्णरूप से पालन करने चाहिए।

योग्य समय पर किए गए आवश्यक का फल—

यथा धान्यानि सर्वाणि काले काले कृतानि च।
महाफलप्रदानि स्युः सामग्र्यात्र कुटुंबिनाम् ॥१२५०॥
तथावश्यक-कृत्स्नानि योग्यकाले कृतान्यपि।
इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेशादि श्रीप्रदानि योगिनाम् ॥१२५१॥

अर्थ—जिस प्रकार समय-समय पर उत्पन्न किए हुए धान्य कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सामग्री के

साथ महाफल देने वाले होते हैं, उसी प्रकार योग्य समय पर किए हुए समस्त आवश्यक भी मुनियों को इन्द्र, अहमिन्द्र और तीर्थंकर आदि के समस्त पद और उनकी लक्ष्मी को देने वाले होते हैं।

असमय में आवश्यक करने से हानि—

अकाले कृतसस्यानि यथा नाभीष्टसिद्धये।
कृतान्यावश्यकान्यत्र सामग्र्यादि विना तथा ॥१२५२॥

अर्थ—जिस प्रकार असमय पर उत्पन्न किए हुए धान्यों से अपनी इष्ट सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार सामग्री आदि के बिना किए हुए आवश्यकों से भी मुनियों को इष्ट सिद्धि नहीं होती।

त्रियोग शुद्धिपूर्वक आवश्यक करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति विचारज्ञाः षडावश्यकमञ्जसा।
काले काले प्रकुर्वन्तु त्रिशुद्ध्या शिवभूतये ॥१२५३॥

अर्थ—यह समझकर विचारवान् पुरुषों को मोक्षलक्ष्मी प्राप्त करने के लिए मन-वचन-काय को शुद्धकर समयानुसार छहों आवश्यक करने चाहिए।

आवश्यक की प्रमाणिकता—

सर्वसिद्धान्तसारार्थ-मादाय श्रीगणाधिपैः।
रचितानि मुनीनां च विशुद्ध्यै धर्मसिद्धये ॥१२५४॥

अर्थ—गणधर देवों ने धर्म की सिद्धि के लिए और मुनियों के चारित्र को शुद्ध रखने के लिए समस्त सिद्धान्त के सारभूत अर्थ को लेकर ये आवश्यक बतलाए हैं।

शास्त्र पठन के लोभ से आवश्यक नहीं करने से हानि—

यान्यावश्यकसाराणि तानि यो गतधीर्यतिः।
हीनानि कुरुते मूढः शास्त्रपाठादिलोभतः ॥१२५५॥
तस्मात्पलायते बुद्धिर्जडत्वं तस्य ढौकते।
इहामुत्र सुखं नश्येद् व्रतादिसद्गुणैः समम् ॥१२५६॥

अर्थ—जो बुद्धि रहित मूर्ख मुनि शास्त्रों के पठन-पाठन के लोभ से सारभूत समस्त आवश्यकों को पूर्णरूप से नहीं करता है, कर्म करता है उसकी बुद्धि दूर भाग जाती है, मूर्खता उस पर सवार हो जाती है और व्रत आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ इहलोक और परलोक दोनों लोकों के उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं।

आवश्यक करने के पश्चात् ही अन्य कार्यों की प्रेरणा—

मत्वेति योगिनः पूर्वं कृत्वावश्यकमञ्जसा।
ततः पठन्तु शास्त्रादीन् यैः स्युः सर्वार्थसिद्धयः ॥१२५७॥

अर्थ—यही समझकर योगी पुरुषों को सबसे पहले आवश्यक करने चाहिए और फिर

शास्त्रादिक का पठन-पाठन करना चाहिए। ऐसा करने से ही समस्त पदार्थों की सिद्धि होती है।

बिना आवश्यक के मोक्ष प्राप्ति असम्भव—

विनाऽत्रावश्यकैर्यो ऽधीरावासमीहते शिवे।
कायक्लेशेन गन्तुं स मेर्वग्रं चरणादृते ॥१२५८॥

अर्थ—जो धीर वीर रहित मुनि बिना आवश्यकों के केवल कायक्लेश के द्वारा मोक्ष निवास चाहते हैं। वे बिना पैरों के मेरुपर्वत पर चढ़ना चाहते हैं।

धर्म के बिना कार्य की असिद्धि—

दन्तभग्नो यथा हस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः।
त्यक्तधर्मो जनो जातु न क्षमः कार्यसाधने ॥१२५९॥

अर्थ—जिस प्रकार टूटे दाँत वाला हाथी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता, बिना दाढ़ों के सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार धर्मरहित मनुष्य भी कभी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता।

दृष्टान्तपूर्वक आवश्यक बिना कर्म के नाश नहीं—

तथावश्यकहीनश्च यतिः क्वचिन्न जायते।
कुशलो वा समर्थोऽस्वर्गमोक्षादिसाधने ॥१२६०॥
राज्याङ्गरहितो यद्वन्नारीन्हंतुं क्षमो नृपः।
कर्मारातीन् मुनिस्तद्वदावश्यक बलातिगः ॥१२६१॥

अर्थ—इसी प्रकार आवश्यक रहित मुनि भी स्वर्ग-मोक्ष की सिद्धि करने में कभी कुशल वा समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार राज्य के अंगों से रहित राजा अपने शत्रुओं को नष्ट नहीं कर सकता उसी प्रकार आवश्यकरूपी बल से रहित मुनि भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नाश नहीं कर सकता।

आवश्यक की महिमा—

मत्वेति सर्वयत्नेन रत्नत्रयविशुद्धये।
सम्पूर्णानि सदा दक्षाः कुर्वन्त्वावश्यकानि षट् ॥१२६२॥

(छन्द-स्रग्धरा)

विश्वार्च्यान् विश्ववन्द्यान् शिवसुखजनकान् सर्वदोषारिहन्तॄन्
सेव्यान् लोकोत्तमाद्यै गणधरजिनपैर्धर्मवार्द्धीननघ्नन्।
पूतान्सारान् गुणांकान् श्रुतसकलमहार्थै र्विवद्धांस्त्रिशुद्धया
पूर्णान्नित्यं-प्रयत्नात्कुरुत सुमुनयः षड्विधावश्यकान् भोः॥१२६३॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को अपना रत्नत्रय विशुद्ध रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न के

साथ समस्त छहों आवश्यक पालन करने चाहिए। ये छहों आवश्यक तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वंदनीय हैं, मोक्ष सुख को देने वाले हैं, समस्त दोषरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव वा गणधरदेव आदि संसार के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं, इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्म के समुद्र को कहने वाले हैं, पापरहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं और श्रुतज्ञान के समस्त महाअर्थों से भरे हुए हैं इसलिए हे मुनिराजों मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक पूर्ण प्रयत्न से इन छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से सदा पालन करो।

१३ क्रियाएँ में सारभूत दो क्रिया—

त्रयोदशक्रियाणां हि मध्ये येऽत्रोदिते जिनैः।
निषिद्धिकासिके सारेऽधुनातेत्र दिशाम्यहम् ॥१२६४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने तेरह क्रियाओं में निषिद्धिका और आसिका ये सारभूत दो क्रियाएँ बतलाई हैं आगे इन्हीं दोनों का स्वरूप कहते हैं।

निषिद्धिका का स्वरूप और उसकी महिमा—

भवेद्योऽत्र निषिद्धात्मा महायोगी जितेन्द्रियः।
कषायाङ्गममत्वादौ मनोवाक्कायकर्मभिः ॥१२६५॥
प्रोक्ता महामुनेस्तस्य सार्था पूज्या निषिद्धिका।
तीर्थभूता जगद्वंद्या धर्मखानिर्गणाधिपैः ॥१२६६॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय महायोगी कषाय और शरीर के ममत्व आदि में मन-वचन-काय के तीनों योगों से निषिद्ध स्वरूप रहते हैं कषाय और शरीर ममत्व नहीं करते उन महामुनियों के पूज्य और सार्थक निषिद्धिका कही जाती है। यह निषिद्धिका तीर्थभूत है, जगद्वंद्य है और धर्म की खानि है, ऐसा गणधरदेवों ने कहा है।

कषाय, ममत्व घटे बिना निषिद्धिका व्यर्थ—

अपरस्य निषिद्धस्य योगिनश्चञ्चलात्मनः।
निषिद्धिकाभिधः शब्दो भवत्येवात्र केवलम् ॥१२६७॥

अर्थ—जिन मुनियों के मन-वचन-काय चंचल हैं और जिनके कषाय और ममत्व घटे नहीं हैं उनके लिए निषिद्धिका शब्द केवल नाममात्र के लिए कहा गया है।

आसिका का स्वरूप, ख्याति पूजा की इच्छा करने वाले के आसिका क्रिया व्यर्थ—

इहामुत्राक्षभोगादौ ख्यातिपूजादि - कीर्तिषु।
सर्वाशाभ्यो विनिर्मुक्तो मुक्तिकाङ्क्षी मुनीश्वरः ॥१२६८॥

योऽत्र तस्य यतीन्द्रस्यासिका संज्ञा जिनोदिता।
आकांक्षिणोऽपरस्यासिका शब्दः केवलं भवेत् ॥१२६९॥

अर्थ—जो मुनिराज इस लोक और परलोक दोनों लोक सम्बन्धी इन्द्रिय भोगों में तथा ख्याति, पूजा और कीर्ति में समस्त आशाओं से रहित हैं और जो केवल मोक्ष की इच्छा रखते हैं उन मुनिराजों की आसिका संज्ञा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बतलाई है तथा जो मुनि भोगादिकों की इच्छा करते हैं अथवा ख्याति, पूजा वा कीर्ति की इच्छा करते हैं उनके लिए आसिका शब्द केवल नाममात्र के लिए कहा गया है।

वचनपूर्वक निषिद्धिका आसिका करने की प्रेरणा—

यथायोग्यमिमे युक्त्यै निषिद्धिकासिके शुभे।
त्रयोदशक्रियासिद्ध्यै क्रियते वचसा बुधैः ॥१२७०॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए तथा तेरह क्रियाओं को सिद्ध करने के लिए यथायोग्य रीति से वचनपूर्वक निषिद्धिका और आसिका ये दोनों क्रियाएँ करनी चाहिए।

केशलोंच का स्वरूप—

इत्यावश्यकमाख्याय यतीनां हितसिद्धये।
शेषमूलगुणान् वक्ष्ये लोचादिप्रमुखानहम् ॥१२७१॥
हस्तेन मस्तके - कूर्चश्मश्रूणां यद्विधीयते।
उत्पाटनं विना क्लेशं सद्भिः लोचः स उच्यते ॥१२७२॥

अर्थ—इस प्रकार यतियों का हित करने के लिए आवश्यकों का स्वरूप कहा अब आगे केशलोंच आदि अन्य मूलगुणों को कहते हैं। मुनिराज जो बिना किसी क्लेश के अपने हाथ से ही मस्तक के तथा दाढ़ी-मूछों के बाल उखाड़ डालते हैं उसको सज्जन पुरुष लोच कहते हैं।

उत्कृष्ट मध्यम जघन्य केशलोंच का स्वरूप—

क्रियते यो द्विमासाभ्यां लोच उत्कृष्ट एव सः।
त्रिमासैर्मध्यमस्तुर्यमासैर्जघन्य एव सः ॥१२७३॥

अर्थ—जो लोंच दो महीने में किया जाता है वह उत्कृष्ट कहलाता है, जो तीन महीने में किया जाता है वह मध्यम कहलाता है और जो चार महीने में किया जाता है वह जघन्य कहलाता है।

चौथे महीने के उल्लंघन का निषेध—

तुर्य्यमासान्तरे लोचः कर्तव्यो मुनिभिः सदा।
रोगक्लेशादिकोटीभिः पञ्चमे मासे जातु न ॥१२७४॥

अर्थ—मुनियों को चौथे महीने के भीतर ही लोंच कर लेना चाहिए। करोड़ों रोग वा क्लेश होने पर भी पाँचवें महीने में लोंच नहीं करना चाहिए।

केशलोंच की महिमा—

लोचेन प्रकटं वीर्यं जिनलिङ्गं च योगिनाम्।
अहिंसाव्रतवृद्ध्यर्थं कायक्लेशं तपो भवेत् ॥१२७५॥
तथास्य करणेनैव वैराग्यं वर्द्धतेतराम्।
हीयते रागशत्रुश्चाङ्गादौर्निर्ममता परा ॥१२७६॥

अर्थ—केशलोंच करने से मुनियों की सामर्थ्य प्रकट होती है, जिनलिंग प्रकट होता है, अहिंसा व्रत की वृद्धि होती है और कायक्लेश नाम का तपश्चरण होता है। इसके सिवाय इस केशलोंच के करने से वैराग्य की वृद्धि होती है, रागरूप शत्रु नष्ट होता है और शरीर से होने वाले निर्ममत्व की अत्यन्त वृद्धि होती है।

उपवासपूर्वक केशलोंच करने की प्रेरणा—

इत्यादिगुणवृद्ध्यर्थं योगिभिर्लोच एव हि।
उपवासदिने कार्यो न जातु मुण्डनादिकः ॥१२७७॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक गुणों की वृद्धि करने के लिए मुनियों को उपवास के दिन लोच ही करना चाहिए, उन्हें मुंडन आदि कभी नहीं कराना चाहिए।

क्षौर कर्म का निषेध—

यतो न काकिनीमात्रः सङ्ग्रहोऽस्ति महात्मनाम्।
येनाऽत्र कार्यते क्षौरं तस्माल्लोचः कृतो महान् ॥१२७८॥
हिंसाहेतुभयाद्यस्मादस्त्रमात्रं न चाश्रितम्।
मुनिभिः पापभीतेर्यैर्तेषां लोचो जिनैर्मतः ॥१२७९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि महात्मा मुनियों के पास सलाई मात्र भी परिग्रह नहीं होता जिससे वह क्षौर कर ले इसीलिए मुनियों को लोंच करना ही सर्वोत्कृष्ट माना है। कोई भी अस्त्र रखना हिंसा का कारण है अतएव पापों से डरने वाले मुनि हिंसा के हेतु के भय से कोई अस्त्र नहीं रखते, इसलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिए लोच ही बतलाया है।

(छन्द–मालिनी)

केशलोंच का उपसंहारात्मक विवरण—

इति गुणमणिखानिं सर्वतीर्थेशसेव्यं मुनिवरगतिहेतुं सत्तपो धर्मबीजम्।
सुरशिवगतिमार्गं मुक्तिकामाः कुरुध्वं, दुरिततिमिर-भानुं लोचमात्माविशुद्ध्यै॥१२८०॥

अर्थ—यह केशलोंच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियों की खानि है समस्त तीर्थंकर इसकी सेवा करते हैं अर्थात् लोंच करते हैं, यह मुनियों को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है, मोक्ष वा स्वर्गगति का मार्ग है और पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिए सूर्य के समान है।

ऐसा यह लोंच मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए अवश्य करना चाहिए।

अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप—

वस्त्रेणाजिनवल्काभ्यां रोमपत्रतृणादिभिः ।
पट्टकूलेन वान्यैश्च सर्वैरावरणैः परैः ॥१२८१॥
संस्कारैर्वर्जितं जातरूपं यद्धार्यते भुवि।
सर्वदा मुक्तिकामैस्तदचेलकत्वमुच्यते ॥१२८२॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि न तो वस्त्र धारण करते हैं, न चमड़े से शरीर ढकते हैं, न वृक्षों की छाल पहनते हैं, न ऊनी वस्त्र पहनते हैं, न पत्ते-तृण आदि से शरीर ढकते हैं, न रेशमी वस्त्र धारण करते हैं तथा और भी किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करते। समस्त संस्कारों से रहित उत्पन्न होने के समय जैसा इसका नग्नरूप धारण करते हैं इसको अचेलकत्व मूलगुण कहते हैं।

अचेलकत्व मूलगुण की पूज्यता—

इदमेव जगत्पूज्यं मोक्षमार्गप्रदीपकम्।
गृहीतं श्रीजिनेन्द्राद्यैर्वन्द्यं देवनराधिपैः ॥१२८३॥
यतः पुरुषसिंहा ये जिनचक्रिबलादयः।
एतल्लिङ्गं गृहीतं तैर्धीरैर्विश्वार्थसिद्धये ॥१२८४॥

अर्थ—यह नग्नरूप धारण करना ही जगत् में पूज्य है, मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, भगवान् जिनेन्द्रदेव भी इसको धारण करते हैं और इसीलिए यह देवेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा भी वंदनीय है क्योंकि तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र आदि जितने उत्तम पुरुष हुए हैं उन समस्त धीर-वीर पुरुषों ने अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए यह जिनलिंग धारण किया है।

कायर ही वस्त्र धारण करते है—

कातरा ये निराकर्तुमक्षमा हि कुलिङ्गिनः।
कामादिकविकारांस्तैर्गृहीतं चीवरादिकम् ॥१२८५॥

अर्थ—जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं शूरवीर नहीं।

अचेलकत्व मूलगुण पालने का फल—

जायन्ते जैननिर्ग्रन्थरूपेण त्रिजगच्छ्रियः।
शक्रचक्रिजिनेशादिपदान्यचिरतः सताम् ॥१२८६॥
तथा नैर्ग्रन्थ्यवेषेण रत्नत्रितयभागिनाम्।
किंकरा इव सेवन्ते पादपद्मान् सुरेश्वराः ॥१२८७॥

अहो मुक्तिवधूरेत्य दत्तेऽत्रालिङ्गनं मुदा।
दिगलङ्कार-भाजां का कथा देवादियोषिताम् ॥१२८८॥

अर्थ—इस जिनलिंग वा निर्ग्रन्थ अवस्था से सज्जन पुरुषों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और इन्द्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। इसके सिवाय इस निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण करने से रत्नत्रय धारण करने वाले मुनियों के चरणकमलों को इन्द्र भी आकर किंकर के समान सेवा करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि दिशारूपी वस्त्र अलंकार धारण करने वाले मुनियों को मोक्षरूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिंगन करती है फिर देवियों की तो बात ही क्या है।

ब्रह्मचर्य की महिमा—

ब्रह्मचर्यं परं मन्ये तेषां ब्रह्ममयात्मनाम्।
सर्वमाचरणं त्यक्तं यैर्नांगावृतदेहिनाम् ॥१२८९॥
नग्ना अपि न ते नग्ना ये ब्रह्मांशुक-भूषिताः।
वस्त्रावृताश्च ते नग्ना ये ब्रह्मव्रतदूरगाः ॥१२९०॥
नग्नत्वे ये गुणा व्यक्ता ब्रह्मचर्यप्रदीपकाः।
वस्त्रावृते च ते सर्वे दोषाः स्युर्ब्रह्मघातकाः ॥१२९१॥

अर्थ—जिन्होंने अपने वस्त्र लंगोटी आदि समस्त आवरणों का त्याग कर दिया है जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण नहीं है परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं। उन्हीं का ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिए। जो मुनि ब्रह्मचर्यरूपी वस्त्रों से सुशोभित हैं वे नग्न होते हुए भी नग्न नहीं कहलाते तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर रहते हैं और वस्त्रावरण धारण करते हैं वे नग्न न होने पर नग्न वा नंगे कहलाते हैं। नग्न अवस्था धारण करने से ब्रह्मचर्य को दिखलाने वाले दीपक के समान जो-जो गुण हैं वे सब वस्त्र पहन लेने पर ब्रह्मचर्य को घात करने वाले दोष कहलाते हैं।

अल्प परिग्रह भी दुःख का कारण—

तथा कौपीनमात्रेऽपि सति सङ्गे भवन्त्यपि।
योगिनां बहवो दोषाश्चिन्ता दुर्ध्यानहेतवः ॥१२९२॥
कौपीनेऽपि क्वचिन्नष्टे चित्त - व्याकुलता भवेत्॥
तया दुर्ध्यानमन्यस्य प्रार्थना विश्वनिन्दिता ॥१२९३॥

अर्थ—यदि कोपीन मात्र का भी उपयोग किया जाये तो भी योगियों को उससे चिंता और अशुभ ध्यान के कारण ऐसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कहो वह कोपीन नष्ट हो जाये तो चित्त में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है और आर्तध्यान होने लगता है तथा संसार में अत्यन्त निंदनीय ऐसी उसके लिए प्रार्थना दूसरों से करनी पड़ती है।

शुभध्यान की सिद्धि नग्नता से ही होती है–

इत्यादि चेलसङ्गस्य ज्ञात्वा दोषान् बहून् विदः।
अचेलस्य गुणान् सारान् धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥१२९४॥
दुर्ध्यानहानये नित्यं कुर्वन्ति श्रीजिनादयः।
निर्दोषं स्वाखिलाङ्गेऽहो दिगष्टावरणं परम् ॥१२९५॥

अर्थ–इस प्रकार इस वस्त्र धारण करने के अनेक दोष समझकर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझकर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिए तथा अशुभ ध्यानों को दूर करने के लिए अपने समस्त शरीर पर इन दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं।

मोक्ष सिद्धि में वस्त्र की बाधकता–

यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च।
तावन्न लभते मोक्षं का कथा परयोगिनाम् ॥१२९६॥

अर्थ–इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है।

नग्नता धारण करने की प्रेरणा–

मत्वेति मुक्तिकामा हि त्यक्त्वा चेलादिमञ्जसा।
कलङ्कमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥१२९७॥

अर्थ–यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिए और मोक्ष प्राप्त करने वे लिए नग्न अवस्था धारण करनी चाहिए।

(छन्द–मालिनी)

अचेल मूलगुण का उपसंहारात्मक विवरण–

असमगुणनिधानं मुक्तिधामाग्रमार्गं जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्यादिखानिम्।
त्रिभुवनपतिवन्द्यं धीधनाः स्वीकुरुध्वं शुभशिवगतयेऽत्राचेलकत्वं त्रिशुद्ध्या ॥१२९८॥

स्नानोद्वर्तनसेकादीन् मुखप्रक्षालनादिकान्।
संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद-जल्लमलादिभिः ॥१२९९॥
लिप्ताङ्गं धार्यते यच्च स्वान्तः शुद्ध्यैर्विशुद्धये।
तदस्नान-व्रतं प्रोक्तं जिनैरन्तर्मलापहम् ॥१३००॥

अर्थ–यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधरदेव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के

स्वामी सुरेन्द्र, नरेन्द्र, असुरेन्द्र भी इसकी वंदना करते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिए। जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिए और आत्मा की शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उबटन, शरीर का सिंचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना, कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करने वाला अस्नान नाम का व्रत कहते हैं।

स्नान त्याग मूलगुण का स्वरूप—

अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः।
जायन्ते यमिनां नूनं शुद्धयोऽघमलान्तकाः ॥१३०१॥
रागद्वेषादिमोहानां हानयश्च व्रतादयः।
अहिंसादिक - सम्पूर्णवैराग्यादिविवृद्धयः ॥१३०२॥

अर्थ—इस अस्नान नाम के उत्तम व्रत से मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मल को दूर करने वाले शुद्ध गुण प्रकट होते हैं। इस अस्नान व्रत से राग, द्वेष, मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रकट करने वाले व्रत वृद्धि को प्राप्त होते रहते हैं।

स्नान करने से हानि—

यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां परिक्षयाः।
तेन पापं परं रागो महान् ब्रह्मादिघातकः ॥१३०३॥
ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम्।
रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण-नाशिनः ॥१३०४॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवों का घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करने वाला महाराग प्रकट होता है, अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदय में उनके आत्मगुणों को नाश करने वाले पापकर्मरूप महामल प्रकट होते हैं।

स्नान त्याग मूलगुण अन्तरंग शुद्धि का कारण—

अस्नान-व्रतभूषानामन्तःशुद्धिः परा भवेत्।
रागादि-त्यजनैः कर्म नाशजा मुक्तिमातृका ॥१३०५॥

अर्थ—जो मुनि अस्नान व्रत से सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करने वाली और मोक्ष की देने वाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की शुद्धि प्रकट होती है।

स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

मद्यकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित्।
तथा मिथ्यादृशः स्नानैरन्तः पापमलीमसाः ॥१३०६॥

अर्थ—जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जल से धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापों से महामलिन मिथ्यादृष्टि भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

मुनि अन्तरंग शुद्धि के कारण सदा निर्मल ही होते हैं—

घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना ।
तथान्तः शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ॥१३०७॥

अर्थ—जिस प्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी बिना धोने पर शुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यन्त शुद्धता को धारण करने वाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं।

देह स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

यदि स्नानेन शुद्धिश्चेत्तर्हि वन्द्या विशुद्धये।
मूढैर्मत्स्यादयो व्याधा नान्तःशुद्धाश्च सज्जनाः ॥१३०८॥
अत्यन्त-मलिनः कायः पूतो जातु न जायते।
जलैर्निसर्गशुद्धोऽस्ति स्वात्मापूर्वं जलादृते ॥१३०९॥

अर्थ—यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाये तो फिर मूढ़ पुरुषों को अपनी शुद्धता प्रकट करने के लिए मछलियों की वा धीवरों की वंदना करनी चाहिए अंतरंग में शुद्धता धारण करने वाले सज्जनों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिए। देखो यह शरीर अत्यन्त मलिन है इसलिए वह जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह अपनी आत्मा बिना जल के स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है।

चतुर पुरुष स्नान त्याग करते हैं, मूर्ख ही इसे स्वीकार करते हैं—

तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम्।
दक्षैस्त्यक्तं महामूढैः स्वीकृतं धर्मदूरगैः ॥१३१०॥

अर्थ—इसलिए मुनियों के लिए जल से स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है, इसलिए चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है।

जल से शुद्धि मानने वाला मनुष्य पशु के समान है—

सप्तधातुमये देहे सर्वाशुचि-कुटीरके।
मन्यन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा न च ॥१३११॥

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थों का घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिए किन्तु उन्हें पशु समझना चाहिए।

बुद्धिमानों को आत्मशुद्धि के लिए अस्नान व्रत स्वीकार करना चाहिए—

इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वा दोषान् स्नानभवान् बहून्।
श्रयध्वं धीधनाः शुद्ध्यै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ॥१३१२॥

अर्थ—इस प्रकार अस्नान व्रत के अनेक गुणों को समझकर और स्नान से उत्पन्न होने वाले बहुत से दोषों को समझकर बुद्धिमान् लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रत को ही स्वीकार करना चाहिए।

अस्नान व्रत की महिमा—

(छन्द–मालिनी)

रहितनिखिलदोषं रागनिर्नाशहेतुमसमगुणसमुद्रं लोक-नाथैकपूज्यम्।
जगति परपवित्रं शुद्धिदं पापहान्यै भजत विगतसङ्गाः नित्यमस्नानसारम् ॥१३१३॥

अर्थ—यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणों का समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसारभर में पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करने वाला है, इसलिए परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिए इस अस्नान व्रत को नित्य ही पालन करना चाहिए।

भूमिशयन नामक मूलगुण का स्वरूप—

संस्तरे निर्जने तिर्यक्स्त्री-क्लीवादिविवर्जिते।
अल्पसंस्तरिते प्रासुकभूम्यादिक-गोचरे ॥१३१४॥
एकपार्श्वधनुर्दण्डादिशय्याभिर्विधीयते ।
शयनं यच्छ्रमोत्थित्यै धराशयनमेव तत् ॥१३१५॥

अर्थ—मुनिराज अपना परिश्रम से ऊपर उठने के लिए तिर्यंच, स्त्री, नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तख्ता आदि पर किसी एक कर्वट से अथवा धनुष के समान पैर समेट कर वा डंडे के समान शयन करते हैं उसको भूमिशयन नाम का मूलगुण कहते हैं।

भूमि शयन करने में गुण और कोमल शय्या पर सोने से उत्पन्न दोष—

व्रतेनानेन जायेत दृढं तुर्यं महाव्रतम्।
निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेग ऊर्जितः ॥१३१६॥
मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी।
तया ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युतो नृणाम् ॥१३१७॥
एष सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः।
विश्वपापाकरीभूतोऽनेकानर्थादिसागरः ॥१३१८॥

अर्थ—इस भूमिशयन व्रत से ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, राग की हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रकट होता है। कोमल शय्या पर सोने से पाप उत्पन्न करने वाली निद्रा बढ़ती है और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। समस्त प्रमादों में यह निद्रा नाम का प्रमाद ही प्रबल है। यह निद्रा नाम का प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है।

भूमि शयन निद्रा विजय का कारण—

मत्वेत्यल्पान्नपानाद्यैः काठिन्यैः शयनासनैः।
निद्राजयं प्रकुर्वीध्वं मुनीन्द्रा ध्यानसिद्धये ॥१३१९॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अन्न-पान की मात्रा अत्यन्त कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्या पर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिए।

ध्यान सिद्धि के लिए निद्रा विजय की आवश्यकता—

यतो निद्रापिशाचीं येऽधमा जेतुमिहाक्षमाः।
ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः ॥१३२०॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो नीच इस निद्रारूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना ध्यान की शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिए।

दिन में निद्रा निकालने का निषेध—

विज्ञायेति न कर्तव्या निद्रा पापखनी क्वचित्।
दिवसे सति रोगादौ ध्यानिभिर्ध्याननाशिनी ॥१३२१॥

अर्थ—यही समझकर ध्यान करने वाले मुनियों को रोगादिक के होने पर भी पाप की खानि और ध्यान को नाश करने वाली ऐसी निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिए।

रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में निद्रा लेने का निषेध—

किन्तु मध्यविभागे च निशायां योगिनायकाः।
आन्तर्मुहूर्तिकीं निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥१३२२॥
कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमश्रान्त्यादि-हानये।
न पूर्वे पश्चिमे यामे यातु प्राणात्ययेऽपि भोः ॥१३२३॥

अर्थ—इसलिए हे योगिराजो! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिए शिला, भूमि व तख्ते पर रात्रि के मध्यभाग में अंतर्मुहूर्त तक निद्रा लो। रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत प्राण होने पर भी निद्रा मत लो।

(छन्द–मालिनी)

भूमिशयन मूलगुण की महिमा और धारण करने की प्रेरणा–

बुधजन–परिसेव्यं धर्मशुक्लादिमूलं श्रमहरमपदोषं योगबीजं गुणाब्धिम्।
निहतमदनसर्पं निष्प्रमादत्वहेतुं क्षितिशयनमतन्द्रा मुक्तये स्वीकुरुध्वम् ॥१३२४॥

अर्थ–इस भूमिशयन नाम के मूलगुण को विद्वान् लोग धारण करते हैं, यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कारण है, परिश्रम को हरण करने वाला है, समस्त दोषों से रहित है, योगसाधन का कारण है, गुणों का समुद्र है, कामरूपी सर्प को नाश करने वाला है और प्रमाद को दूर करने का कारण है, इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के लिए तंद्रा रहित मुनियों को इस भूमिशयन व्रत को अवश्य धारण करना चाहिए।

अदन्त धावन मूलगुण का स्वरूप–

स्वनखाङ्गुलिपाषाणलेखिनीखर्परादिभिः ।
तृणत्वजादिकैर्यश्च दन्तानां मलसंचयः ॥१३२५॥
न निराक्रियते जातु वैराग्याय मुनीश्वरैः।
अदन्तवनमेवाऽत्र तद्रागादिनिवारकम् ॥१३२६॥

अर्थ–मुनिराज अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए अपने नखों से, उंगली से, पत्थर से, कलम से, खप्पर से, तृण से वा छाल से दाँतों में इकट्ठे हुए मल को कभी दूर नहीं करते हैं उसको रागादिक को दूर करने वाला अदंतधावन नाम का मूलगुण कहते हैं।

अदन्तधावन से लाभ और दन्तधावन से हानि–

अनेन वीतरागत्वादयो व्यक्तगुणाः सताम्।
जायन्ते च प्रणश्यन्ति दोषा रागादयोऽखिलाः ॥१३२७॥
मुखादिधावनं दन्तघर्षणं ये वितन्वते ।
अङ्गसंस्कारमत्यर्थं तेषां रागोत्कटो भवेत् ॥१३२८॥
रागात्कामश्च कामेन व्रतभङ्गोऽखिलोद्भुतः।
तेन पापं महत्पापान्मज्जनं नरकाम्बुधौ ॥१३२९॥

अर्थ–इस अदंतधावन व्रत से सज्जनों के वीतरागादिक गुण प्रकट हो जाते हैं तथा रागादिक समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष अपना मुख धोते हैं, दंतधावन करते हैं और शरीर का खूब संस्कार करते हैं उनके उत्कट राग उत्पन्न होता है। उस उत्कट राग से काम के विकार उत्पन्न होते हैं, काम के विकारों से व्रतों का भंग होता है, समस्त व्रत भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से इस जीव को नरकरूपी महासागर में डूबना पड़ता है।

दन्तधावन त्याग की प्रेरणा—

मत्वेति यतयो नित्यं त्यजन्तु दूरतोऽखिलम्।
मुखप्रक्षालनाङ्गादिसंस्कारदन्तधावनम् ॥१३३०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मुख प्रक्षालन करना, शरीर का संस्कार करना, दंतधावन करना आदि सबका त्याग दूर से ही सदा के लिए कर देना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

अदन्तधावन की महिमा—

समयमदमसौधं वीतरागत्वमूलं वरयतिगुण-वार्द्धिं दुर्विकारादि-दूरम्।
सुरशिवगतिमार्गं त्यक्तसङ्गा अदन्तवनमपगतदोषं शुद्धयेऽहो भजन्तु ॥१३३१॥

अर्थ—यह अदंतधावन नाम का गुण समता परिणाम, यम, नियम और इन्द्रिय दमन के रहने के लिए राजभवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियों के गुणों का समुद्र है, अशुभ विकारों से सर्वथा रहित है स्वर्ग-मोक्ष का कारण है और समस्त दोषों से रहित है, इसलिए परिग्रह रहित मुनियों को अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिए यह अदंतधावन नाम का गुण अवश्य धारण करना चाहिए।

स्थिति भोजन मूलगुण का स्वरूप—

स्वपादस्थापनोत्सृष्टपात्रदातृजनाश्रिते ।
धरात्रिके विशुद्धेङ्घ्रीन् स्थापयित्वा समौ बुधैः ॥१३३२॥
पाणिपात्रेण कुड्यादीननाश्रित्यान्यधामनि।
अशनं भुज्यते शुद्धं यत्तत्स्यात्स्थिति-भोजनम् ॥१३३३॥

अर्थ—अपने पैरों के रखने की भूमि, उत्सृष्ट गिरने का पात्र रखने की भूमि और दाता जनों को खड़े होने की भूमि ऐसी तीन प्रकार की विशुद्ध पृथ्वी पर अपने दोनों पैरों को समान स्थापन कर बुद्धिमान् मुनियों को दूसरे के घर में जाकर दीवाल आदि के सहारे के बिना खड़े होकर करपात्र में शुद्ध भोजन लेना चाहिए इसको स्थिति भोजन नाम का मूलगुण कहते हैं।

स्थिति भोजन के गुण—

स्थितिभोजनसारेण व्यक्तं वीर्यं प्रजायते।
आहारगृद्धिहानिश्च जिह्वा याति वशं सताम् ॥१३३४॥
निविष्ट-भोजनेनैवाहारसंज्ञा च वर्द्धते।
लाम्पट्यं रसनाक्षाणामिह वैषयिके सुखे ॥१३३५॥
कातरत्वं यतोऽमीषां प्रतिज्ञेमा परा सताम्।
पाण्योः संयोजनं यावत्स्थिरौ पादौ ममस्थितौ ॥१३३६॥
तावद्गृह्णामि चाहारमन्यथानशनं परम्।
इत्यादिगुणसंसिद्ध्यै स्थितिभोजनमूर्जितम् ॥१३३७॥

अर्थ—इस सारभूत स्थिति भोजन से सज्जन पुरुषों की सामर्थ्य प्रकट होती है, आहार की लंपटता नष्ट होती है और जिह्वा इन्द्रिय वश में हो जाती है। बैठकर भोजन करने से आहार संज्ञा बढ़ती है और रसना इन्द्रिय से उत्पन्न हुए वैषयिक सुखों में अत्यन्त लंपटता बढ़ जाती है। इसके सिवाय बैठकर भोजन करने में कातरता सिद्ध होती है, इसलिए सज्जन मुनियों की यह प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं और मेरे दोनों पैर खड़े होने के लिए स्थिर रह सकते हैं तभी तक मैं आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा उपवास धारण करूँगा। इस प्रकार के अनेक गुण प्रकट होने के लिए स्थिति भोजन नाम का उत्कृष्ट गुण बतलाया है।

स्थिति भोजन नहीं करने से हानि—

ज्ञात्वेति मुनिभिः सर्वैर्व्याधिक्लेशादिकोटिषु।
प्राणनाशेऽपि न ग्राह्यमुपविष्टेन भोजनम् ॥१३३८॥
तिर्यक्-स्थितेन सुप्तेन वांगाधोनमनेन च।
सुखाय वा प्रमादेन संत्याज्यं स्थितिभोजनम् ॥१३३९॥
यतो मूलगुणस्यास्य भङ्गेन पापमुल्वणम्।
पापेन दुर्गतौ पुंसां भ्रमणं चायशश्चिरम् ॥१३४०॥
इति दोषं परिज्ञाय निविष्टैः संयतैः क्वचित्।
जलपानं च पूगादि-भक्षणं न विधीयते ॥१३४१॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों व्याधि और क्लेश होने पर भी तथा प्राणों का नाश होने पर भी बैठकर भोजन कभी नहीं करना चाहिए। जो मुनि टेढ़ी रीति से खड़े होकर आहार लेता है वा खड़े ही खड़े सोता हुआ आहार लेता है वा अपने शरीर को नीचा नवाकर आहार लेता है अथवा सुख के लिए वा प्रमाद के कारण खड़े होकर आहार नहीं करता तो उसका यह मूलगुण भंग हो जाता है। मूलगुण भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है तथा महापाप उत्पन्न होने से इस मनुष्य को दुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है तथा चिरकाल तक उसका अपयश बना रहता है।

इस प्रकार दोषों को समझकर मुनियों को बैठकर कभी भी जलपान वा सुपारी आदि का भक्षण नहीं करना चाहिए।

१ वर्ष के उपवास की पारणा पर भी मुनि बैठकर आहार नहीं करें—

यतः श्रीजिनदेवाद्याः षण्मासाब्दादिपारणे।
कायस्थित्यै हि गृह्णन्ति स्थित्याहारं च नान्यथा ॥१३४२॥
ज्ञात्वेति यमिनः कृत्वात्रान्तरं निजपादयोः।
चतुरङ्गुलसंख्यानं कुर्वन्तु स्थितिभोजनम् ॥१३४३॥

अर्थ—देखो तीर्थंकर परमदेव छह महीने वा एक वर्ष का उपवास करके भी शरीर को स्थिर

रखने के लिए खड़े होकर ही आहार लेते हैं, वे बैठकर कभी आहार नहीं लेते। यही समझकर मुनियों को चार अंगुल का अंतर रखकर अपने दोनों पैरों से खड़े होना चाहिए और इस प्रकार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

स्थितिभोजन मूलगुण की महिमा—

परमगुणसमुद्रं व्यक्तवीर्यादिकारं जिनमुनिगणसेव्यं धीरयोगीन्द्रगम्यम्।
रहितनिखिलदोषं स्वाक्षजिह्वार्चिवारिद मिह कुरुत दक्षा भोजनं स्वोर्द्धकायम् ॥१३४४॥

अर्थ—यह स्थितिभोजन परम गुणों का समुद्र है, अपनी शक्ति को प्रकट करने वाला है, तीर्थंकर मुनिराज और गणधरदेव भी इसकी सेवा करते हैं, धीर वीर मुनि ही इस गुण को पालन कर सकते हैं, यह समस्त दोषों से रहित है और जिह्वा इन्द्रियरूपी अग्नि को दमन करने के लिए मेघ के समान है, इसलिए चतुर पुरुषों को खड़े होकर ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

एकभक्त मूलगुण का स्वरूप—

नाडीत्रिकं विहायात्रोदयास्तमनकालयोः।
एकद्वित्रिमुहूर्तानां मध्ये यद्भोजनं भुवि ॥१३४५॥
क्रियते मुनिभिर्योग्यकाले श्रावकसद्मनि।
एकस्यां निजवेलायामेकभुक्तं तदुच्यते ॥१३४६॥

अर्थ—मुनिराज सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी पहले तक योग्य काल में श्रावक के घर जाकर एक ही बार एक मुहूर्त, दो मुहूर्त वा तीन मुहूर्त के भीतर-भीतर तक आहार लेते हैं उसको एकभुक्त नाम का मूलगुण कहते हैं।

एकभक्त मूलगुण से लाभ और इस व्रत भंग से हानि—

एकभक्तेन चान्नादेर्दुराशानाशमिच्छति।
संतोषस्तपसा सार्द्धं वर्द्धते योगिनां महान् ॥१३४७॥
एकभक्तस्य भङ्गेन प्रणश्यंत्यखिलाः गुणाः।
तन्नाशतः परं पापं पापाद्दुःखं महन्नृणाम् ॥१३४८॥

अर्थ—एकबार आहार करने से अन्नादिक की दुराशा नष्ट हो जाती है और योगियों का महान् संतोष तपश्चरण के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस एकभक्त व्रत का भंग करने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं गुणों के नाश होने से पाप उत्पन्न होता है और उस पाप से मनुष्यों को महादुःख भोगने पड़ते हैं।

दूसरी बार जल ग्रहण का भी निषेध—

मत्वेति संयतैरेक-वेलां गोचारगोचराम्।
मुक्त्वा पानादि न ग्राह्यं तीव्रदाह-ज्वरादिषु ॥१३४९॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को तीव्र दाह वा ज्वर आदि के होने पर भी आहार के योग्य ऐसे एक समय को छोड़कर दूसरी बार कभी जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

एकभक्त मूलगुण की महिमा—

विषयसफरजालं सत्तपोवृद्धिहेतुं सुरगति-शिवमार्गं चान्नसंज्ञादिदूरम्।
श्रुतविपिनमहाध्यानांगयोगादिकर्तृ भजत विगतकामा एकभक्तं शिवाय ॥१३५०॥

अर्थ—यह एकभुक्त व्रत विषयरूपी मछलियों के लिए जाल है, श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धि का कारण है, स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग है, आहारसंज्ञा से दूर है और श्रुतज्ञान तथा महाध्यान के अंगभूत योग को उत्पन्न करने वाला है, इसलिए इच्छाओं का त्याग करने वाले तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस एकभुक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिए।

२८ मूलगुण की महिमा व उसके पालन करने की प्रेरणा—

एते मूलगुणाः सारा अष्टाविंशतिरूर्जिताः।
तपोविश्वमहायोगाधारभूता जिनोदिताः ॥१३५१॥
सर्वोत्तर-गुणाद्याप्त्यै गुणानां मूलहेतवः।
प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्या बुधैः सर्वार्थसिद्धिदाः ॥१३५२॥

अर्थ—ये अट्ठाईस मूलगुण सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि समस्त महायोगों के आधारभूत बतलाया है। समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिए ये गुण मूलरूप हैं, मूल कारण हैं और समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमानों को कंठगत प्राण होने पर भी इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए।

मूलगुण के बिना उत्तरगुण फलदायी नहीं—

कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीना मूलगुणैःसताम्।
परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाङ्घ्रिपाः॥१३५३॥

अर्थ—जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कोई किसी प्रकार का फल नहीं लगता, उसी प्रकार सज्जनों के मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देने वाले नहीं हो सकते।

मूलगुणों को नष्ट करके उत्तरगुण पालने का दृष्टान्त पूर्वक निषेध—

येऽत्रोत्तरगुणाद्याप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान्।
ते कराङ्गुलिकोट्यर्थं छिन्दन्ति स्वशिरः शठाः ॥१३५४॥

अर्थ—जो मूर्ख उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए मूलगुणों का त्यागकर देते हैं वे लोग अपने हाथ की थोड़ी-सी अंगुली बढ़ाने के लिए अपने मस्तक को काट डालते हैं ।

व्रतभंग दुःख का कारण—

इमान् मूलगुणान् सर्वान् त्रिजगच्छ्रीसुखप्रदान्।
साक्षी-कृत्य गृहीत्वा जिनसङ्घश्रुतसद्गुरून् ॥१३५५॥
त्यजन्ति ते लभन्तेऽत्र दुःखं वाचामगोचरम्।
अमुत्र श्वभ्रगत्यादौ व्रतभङ्गोत्थपापतः ॥१३५६॥

अर्थ—ये मूलगुण तीनों जगत् की लक्ष्मी और समस्त सुख देने वाले हैं ऐसे इन मूलगुणों को भगवान् अरहंतदेव, संघ, श्रुत और सद्गुरुओं की साक्षीपूर्वक ग्रहण करके जो छोड़ देते हैं वे व्रत भंग होने के कारण उत्पन्न हुए पापों से वाणी के अगोचर ऐसे महादुःखों को प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादिक दुर्गतियों में महा दुःख भोगते हैं।

मूलगुण पालन करने की पुनः प्रेरणा—

इहैव चोत्तमाचारत्यक्तानां दुर्धियां बुधैः।
विधीयतेऽपमानं च सर्वत्राहो शुनामिव ॥१३५७॥
मत्वेति यमिनो नित्यं सर्वयत्नेन सर्वथा।
सर्वत्र पालयन्त्वत्र विश्वान् मूलगुणान् परान् ॥१३५८॥
शशाङ्कनिर्मलान् सारान् स्वप्नेपि मा त्यजन्तु च।
घोरोपसर्गरोगाद्यैः पक्षमासादिपारणैः ॥१३५९॥

अर्थ—जो मूर्ख लोग उत्तम आचरणों का त्याग कर देते हैं उनका कुत्ते के समान अपमान सर्वत्र बुद्धिमान् लोग करते हैं। यही समझकर मुनियों को सर्वोत्कृष्ट ये समस्त मूलगुण पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र सर्वथा सदा पालन करते रहना चाहिए। ये मूलगुण चन्द्रमा के समान निर्मल हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए घोर उपसर्ग के आने पर वा रोगादिक के हो जाने पर अथवा पक्षोपवास, मासोपवास की पारणा होने पर भी स्वप्न में भी इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

मूलगुणों में अतिक्रमादि लगाने का निषेध—

तथा मूलगुणानां च न कर्तव्यो ह्यतिक्रमः।
व्यतिक्रमोप्यतीचारोऽनाचारः संयतैः क्वचित् ॥१३६०॥

अर्थ—इसी प्रकार इन मूलगुणों में न तो अतिक्रम लगाना चाहिए, न व्यतिक्रम लगाना चाहिए, न अतिचार लगाना चाहिए और न अनाचार लगाना चाहिए।

अतिक्रम का स्वरूप—

अहिंसादि-व्रतानां च षडावश्यककर्मणाम्।
पालने या मनः शुद्धेर्हानिः सोऽतिक्रमो यतः ॥१३६१॥

अर्थ—अहिंसादिक महाव्रतों के पालन करने में तथा छहों आवश्यकों के पालन करने में जो

मन की शुद्धता की हानि है उसको अतिक्रम कहते हैं।

व्यतिक्रम का स्वरूप—

षडावश्यक-कर्त्तॄणां महाव्रत-धरात्मनाम्।
विषयेष्वभिलाषो यो जायते स व्यतिक्रमः ॥१३६२॥

अर्थ—महाव्रत पालन करने वालों को तथा छहों आवश्यक पालन करने वालों की जो विषयों में अभिलाषा होना है उसको व्यतिक्रम कहते हैं।

अतिचार का स्वरूप—

महाव्रतसमित्यावश्यकादि - परिपालने।
आलस्यं क्रियते यत्सोऽतीचारो व्रतदूषकः ॥१३६३॥

अर्थ—महाव्रत, समिति, आवश्यक आदि के पालन करने में जो आलस करना है उसको व्रतों में दोष लगाने वाला अतिचार कहते हैं।

अनाचार का स्वरूप—

व्रतावश्यकशीलानां भङ्गो योऽत्र दुरात्मभिः।
विधीयते स धर्मघ्नोऽनाचारः श्वभ्रसाधकः ॥१३६४॥

अर्थ—दुरात्मा वा पापियों के द्वारा व्रत, आवश्यक वा शीलों का जो भंग करना है वह धर्म को नाश करने वाला और नरक में पहुँचाने वाला अनाचार कहलाता है।

अतिक्रमादि चारों दोष मल उत्पत्ति के कारण—

एते दोषा हि चत्वारः सर्वमूलगुणात्मनाम्।
सर्वथा यतिभिस्त्याज्या यत्नेन मल-कारिणः ॥१३६५॥
यतोऽमीभिश्चतुर्दोषैर्विश्वे मूलगुणा नृणाम्।
दूषिता न फलन्त्यत्र स्वर्मोक्षादौ महत्फलम् ॥१३६६॥

अर्थ—ये चारों दोष समस्त मूलगुणों में मल उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए मुनियों को पूर्ण प्रयत्न करके इनका सर्वथा त्यागकर देना चाहिए क्योंकि इन चारों दोषों से समस्त मूलगुण दूषित हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को स्वर्ग-मोक्षादिक के महाफल उन मूलगुणों से कभी प्राप्त नहीं हो सकते।

(छन्द-मालिनी)

मूलगुणों का उपसंहारादि विवरण और मूलगुण प्राप्ति की भावना—

असमगुणनिधानान् स्वर्गमोक्षादिहेतून् गणपतिमुनिसेव्यांस्तीर्थनाथैः प्रणीतान्।
दुरिततिमिरसूर्यान् धर्मवार्द्धीन् महान्तो भजत निखिलयत्नान् मूलसंज्ञान् गुणौघान् ॥१३६७॥

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

येऽमून्मूलगुणान् प्रमादरहिताः संपालयन्त्वन्वहं
ते लोकत्रयसंभवांश्च परमान् सौख्योत्तमान् सद्गुणान्।
संप्राप्यानुजिनेन्द्रचक्रिपदवीं देवार्चनां केवलं
ज्ञानं कर्मरिपून् निहत्य तपसा मोक्षं लभन्तेऽचिरात् ॥१३६८॥
विज्ञायेतिफलं महद्बुधजनाः मोहारिमाहत्य च
निर्वेदासिवरेण सार्द्धमखिलैर्लक्ष्मी - कुटुम्बादिभिः।
दीक्षां मुक्तिसखीं परार्थजननीं ह्यादाय मोक्षाप्तये
सर्वान् मूलगुणान् मलादिरहितान् भोः पालयन्त्वन्वहम् ॥१३६९॥
ये सर्वे परमेष्ठिनोऽत्रपरमान् मूलोत्तराख्यान् गुणान्
नित्यं यत्नपरा भजन्ति यमिनामाचारयन्त्यूर्जितान्
व्याख्यान्त्येवगिरा जगत्त्रयसतां सर्वार्थसंसिद्धये
ते मे मूलगुणान् प्रदद्युरखिलान् सारान्स्वकीयान् स्तुताः ॥१३७०॥

इति श्रीमूलाचार-प्रदीपाख्ये भट्टारक-श्रीसकलकीर्ति विरचिते मुलगुणव्यावर्णने प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-कायोत्सर्गलोचाचेलक्त्वास्नान-क्षितिशयनादंतधावनस्थितिभोजनैकभक्तवर्णनोनाम चतुर्थोऽधिकारः॥

अर्थ—ये समस्त मूलगुण अनुपम गुणों के निधि हैं, स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं, भगवान् तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधरदेव और मुनिराज इनको पालन करते हैं, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिए ये सूर्य के समान हैं, धर्म के समुद्र हैं और सबमें उत्तम हैं, इसलिए महापुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ इनका पालन करना चाहिए।

जो मुनि प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन इन समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले परम और उत्तम सुखों को तथा उत्तम सद्गुणों को प्राप्त होते हैं फिर देवों के द्वारा पूज्य ऐसे चक्रवर्ती और तीर्थंकर के पद प्राप्त करते हैं तदनंतर तपश्चरण कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाशकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार विद्वान् लोगों को इन मूलगुणों को महाफल देने वाले समझकर वैराग्यरूपी तलवार से मोहरूपी शत्रु को मारकर तथा लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि सबका त्यागकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए मोक्षस्त्री की सखी और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली ऐसी जिनदीक्षा धारण करनी चाहिए और फिर उनको प्रतिदिन समस्त दोषों से रहित ऐसे ये समस्त मूलगुण पालन करने चाहिए। इस संसार में जो-जो अरहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी प्रयत्नपूर्वक सर्वोत्कृष्ट मूलगुणों को वा उत्तरगुणों को प्रतिदिन पालन करते हैं वा इन्हीं सर्वोत्तम मूलोत्तर गुणों को मुनियों से पालन कराते हैं अथवा तीनों

जगत् के सज्जन पुरुषों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए अपनी वाणी से इन्हीं मूलोत्तर गुणों का व्याख्यान करते हैं, उन समस्त परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ। वे समस्त परमेष्ठी मेरे लिए अपने समस्त उत्कृष्ट मूलगुणों को प्रदान करें।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप महाग्रन्थ में मूलगुणों के वर्णन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, लोंच, अचेलकत्वं, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एकभक्त को वर्णन करने वाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

पञ्चमोऽधिकारः

मंगलाचरण—

पञ्चाचारप्रभावेन ये प्राप्तास्तीर्थकृच्छ्रियः।
अनन्तमहिमोपेता वन्दे तेषां पदाम्बुजान् ॥१३७१॥
त्रिजगन्नाथसंप्रार्थ्या गताः सिद्धगतिं हि ये।
पञ्चाचारेण तान् सिद्धान्नमाम्यन्तातिगान्परान् ॥१३७२॥
येऽत्राचरन्ति यत्नेन पञ्चाचारान् शिवाप्तये।
आचारयन्ति शिष्याणां तानाचार्यान् स्तुवेऽनिशम् ॥१३७३॥
ये व्याख्यान्ति सतां सिद्ध्यै ह्यंगैः पूर्वैः प्रकीर्णकैः।
पञ्चाचारानुपाध्यायान् तान्नमामि श्रुताप्तये ॥१३७४॥
त्रिकालयोगयुक्ता येऽद्रिकन्दरगुहादिषु।
साधयन्त्यखिलाचारांस्तान् साधून् नौमि शक्तये ॥१३७५॥

अर्थ—पंचाचार के प्रभाव से ही जिन्होंने तीर्थंकर की परम लक्ष्मी प्राप्त की है और जो अनंत महिमा से विभूषित हैं ऐसे अरहंत भगवान् के चरण कमलों को मैं नमस्कार करता हूँ। तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी जिनकी स्तुति करते हैं और जो इन पंचाचारों के प्रभाव से ही सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ। जो आचार्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक पंचाचारों का पालन करते हैं तथा शिष्यों से प्रतिदिन पालन कराते हैं उन आचार्यों की भी मैं स्तुति करता हूँ। जो उपाध्याय मोक्ष प्राप्त करने के लिए अंग पूर्व और प्रकीर्णकों के द्वारा पंचाचारों का व्याख्यान करते हैं उन उपाध्यायों को मैं श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ। त्रिकाल योग धारण करने वाले जो मुनि पर्वत, कंदरा वा गुफा में बैठकर समस्त पंचाचारों को सिद्ध करते हैं उन साधुओं को मैं शक्ति प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

पञ्चाचार निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यमून् शिरसा नत्वा पञ्च सत्परमेष्ठिनः।
धृत्वा च स्वगुरूंश्चित्ते श्रीजिनास्यज-भारतीम् ॥१३७६॥
पञ्चाचारान् प्रवक्ष्यामि विश्वाचारप्रसिद्धये।
मुनीनां स्वस्य वा नूनं समासेन शिवाय च ॥१३७७॥

अर्थ—इस प्रकार पाँचों श्रेष्ठ परमेष्ठियों को मस्तक झुकाकर नमस्कार करके तथा अपने गुरु और भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई सरस्वती देवी को अपने हृदय में विराजमान करके

तीनों लोकों में पंचाचारों की प्रसिद्धि करने के लिए तथा स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए वा मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होने के लिए मैं संक्षेप से पंचाचारों का निरूपण करता हूँ।

पञ्चाचार की प्रमाणिकता—

दर्शनाचार एवाद्यो ज्ञानाचारस्ततोद्धुतः।
चारित्राचारनामान्यस्तप आचार ऊर्जितः ॥१३७८॥
वीर्याचार इमे पञ्चाचाराः सर्वार्थसाधकाः।
प्रोक्ताविश्वैर्जिनाधीशैर्मुनीनां मुक्तिसिद्धये ॥१३७९॥

अर्थ—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार ये पाँच पंचाचार कहलाते हैं। ये पंचाचार समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाले हैं और समस्त तीर्थंकर परमदेवों ने मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति के लिए निरूपण किए हैं।

सम्यग्दर्शन की प्रमुखता और उसके भेद—

तेषामादौ प्रसिद्धं यत्सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम्।
तद्वक्ष्येऽहं समासेन निर्दोषं गुणभूषितम् ॥१३८०॥
तन्निसर्गाभिधं दृष्ट्यधिगमाख्यं ततो परम्।
इति द्वेधा जिनैः प्रोक्तं सम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥१३८१॥

अर्थ—इनमें भी सबसे प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन है जो शुद्धि का कारण है, गुणों से सुशोभित है और दोषों से रहित है। ऐसे सम्यग्दर्शन को ही मैं सबसे पहले कहता हूँ। भव्यजीवों के होने वाला यह सम्यग्दर्शन भगवान् जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का बतलाया है एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज।

निसर्गज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

भव्यः पञ्चेन्द्रियःसंज्ञी यो भवाब्धितटाश्रितः।
तस्यात्र काललब्ध्या यो जायते निश्चयो महान् ॥१३८२॥
जिनेन्द्रतत्त्वगुर्वादौ मुक्तिमार्गे स्वयं द्रुतम्।
विना गुरूपदेशादेर्निसर्गं तद्धि दर्शनम् ॥१३८३॥

अर्थ—जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसाररूपी समुद्र के किनारे आ लगा है उसके काल प्राप्त कर पर जो देव-शास्त्र-गुरु में, तत्त्वों में और मोक्षमार्ग में, बिना गुरु के उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महा निश्चय हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

तत्त्वदेवागमादीनां श्रवणेनात्र या रुचिः।
प्रादुर्भवति सन्मार्गे सतामधिगमं हि तत् ॥१३८४॥

अर्थ—तत्त्व और देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को सुनकर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है

वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के औपशमिकादिक ३ भेद—

तथौपशमिकं क्षायिकं मुक्तिस्त्रीवशीकरम्।
क्षायोपशमिकं चेति त्रिविधं दर्शनं मतम् ॥१३८५॥

अर्थ—अथवा औपशमिक, मुक्तिस्त्री को वश में करने वाला क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से इस सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं।

औपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

आद्याश्चतुः कषाया अनन्तानुबन्धिसंज्ञकाः।
तिस्रो मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रप्रकृतयोऽशुभाः ॥१३८६॥
आसां सप्तविधानां प्रकृतीनां अन्तरे सताम्।
समस्तोपशमेनौपशमिकाख्यं च दर्शनम् ॥१३८७॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को घात करने वाली मोहनीयकर्म की सात प्रकृतियाँ हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। ये तीन तो दर्शनमोहनीय की अशुभ प्रकृति हैं तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृति हैं। इन सातों प्रकृतियों का जब पूर्णरूप से उपशम होता है तब भव्यजीवों के औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

निःशेष-क्षययोगेन क्षायिकं जायते परम्।
साक्षान्मुक्तिवरं ह्यासन्नभव्यानां च शाश्वतम्॥१३८८॥

अर्थ—तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों का जब पूर्णरूप से क्षय हो जाता है तब आसन्न भव्यजीवों को क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्ष देने वाला है और प्रकट होने के बाद सदा बना रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

षण्णां हि प्रकृतीनामुदयाभावे नृणां सति।
सम्यक्त्वस्योदयेऽन्यद्धि क्षायोपशमिकाह्वयम् ॥१३८९॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृति को छोड़कर बाकी की छहों प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होने पर तथा सत्तावस्थित इन्हीं छहों प्रकृतियों के उपशम होने पर और सम्यक्त्वप्रकृति के उदय होने पर मनुष्यों के क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अधिकारी भव्यजीव ही है—

एतत्त्रिविधसम्यक्त्वं भव्यानामिह केवलम्।
प्रणीतं तीर्थनाथेन न दूराभव्यदेहिनाम् ॥१३९०॥

अर्थ—यह तीनों प्रकार का सम्यग्दर्शन केवल भव्यजीवों के ही होता है। अभव्यों के नहीं। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। दूरभव्यों के भी यह सम्यग्दर्शन नहीं होता।

वीतराग देव प्रणीत पदार्थ ही यथार्थ है—

जैनतत्त्वपदार्थेभ्यः सर्वज्ञोक्तेभ्य एव हि।
तत्त्वेभ्यो नापरे तत्त्वपदार्थाः सूनृताः क्वचित् ॥१३९१॥

अर्थ—भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेव ने जो तत्त्व और पदार्थ बतलाए हैं वे ही यथार्थ हैं उनसे भिन्न अन्य पदार्थ कभी यथार्थ नहीं हो सकते।

सम्यग्दृष्टि का अरहंतदेव के प्रति ही श्रद्धान होता है—

अर्हद्भ्यो घातिहंतृभ्यो निर्दोषेभ्यो जगत्सताम्।
भुक्तिमुक्त्यादिदातारो नान्यदेवाः शुभप्रदाः ॥१३९२॥

अर्थ—घातियाकर्मों को नाश करने वाले तथा अठारह दोषों से रहित भगवान् अरहंतदेव ही देव हैं और वे ही जगत् के समस्त सज्जन पुरुषों को भुक्ति और मुक्ति दे सकते हैं। उनके सिवाय अन्य कोई भी देव, देव नहीं हो सकता और न वह भुक्ति-मुक्ति दे सकता है तथा भगवान् अरहंतदेव के सिवाय अन्य कोई देव शुभप्रद नहीं हो सकता।

अरिहन्त प्रणीत धर्म ही श्रेष्ठ है—

कैवल्यभाषिताद्धर्माद्यतिश्रावकगोचरात् ।
नापरोऽत्रोर्जितो धर्मो धर्मार्थ-काममोक्षदः ॥१३९३॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव ने जो मुनि और श्रावकों का धर्म निरूपण किया है वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म है इसके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता और न अन्य कोई धर्म पुरुषार्थों को दे सकता है।

दिगम्बर गुरु ही सच्चे गुरु हैं—

विश्वसत्त्वहितेभ्योऽत्र निर्ग्रन्थेभ्योऽपरे पराः।
भवाब्धिं तरितुं तारयितुं न गुरवः क्षमाः ॥१३९४॥

अर्थ—समस्त जीवों का हित करने वाले दिगम्बर गुरु ही उत्कृष्ट गुरु हैं और वे ही इस संसाररूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं। दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है वा न अन्य किसी को पार कर सकता है।

जिनेन्द्रदेव प्रणीत मोक्षमार्ग ही सच्चा है—

रत्नत्रयात्मकान्मार्गाज्जिनोक्तात्परमार्थतः ।
नापरो विद्यते जातु मोक्षमार्गोऽतिनिस्तुषः ॥१३९५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय स्वरूप बतलाया है परमार्थ से वही मोक्ष

का मार्ग है और वही निर्दोष है उसके सिवाय अन्य कोई भी निर्दोष और यथार्थ मोक्ष का मार्ग नहीं है।

जिनशासन ही शरण लेने योग्य है और सुपात्र दान ही हितकारी है—

जैनशासनतो नान्यत् शासनं शरणं सताम्।
सुपात्रदानतो नान्यद् दानं स्वान्यहितं करम् ॥१३९६॥

अर्थ—यह जैनशासन ही सज्जनों को शरण लेने योग्य उत्तम शासन है। इसके सिवाय अन्य कोई शासन शरण लेने योग्य नहीं है। अपना और दूसरों का हित करने वाला सुपात्र दान ही दान है इसके सिवाय अन्य कोई दान हित करने वाला नहीं।

जिन सिद्धान्त और जिनसूत्र ही यथार्थ शास्त्र है—

द्विषड्भेदतपोभ्योऽन्यन्न तपः कर्मघातकम्।
जिनसिद्धान्तसूत्रेभ्यो नान्यच्छास्त्रं च सूनृतम् ॥१३९७॥

अर्थ—बारह प्रकार का तपश्चरण ही कर्मों को नाश करने वाला तपश्चरण है इसके सिवाय अन्य कोई तपश्चरण कर्मों को नाश करने वाला नहीं है। जिनसिद्धान्त और जिनसूत्र ही यथार्थ शास्त्र है। इनके सिवाय अन्य कोई शास्त्र यथार्थ नहीं है।

जिनेन्द्रदेव प्रणीत धर्मादि की रुचि करना, श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है —

इत्याद्यपर-धर्माणां जिनोक्तानां महीतले।
प्रामाण्यपुरुषाद्यच्च श्रद्धानं बुधसत्तमैः ॥१३९८॥
क्रियते या रुचिश्चित्ते निश्चयो योऽथवामहान्।
तत्सर्वं दृष्टि-कल्पद्रुमस्य स्यान्मूलकारणम् ॥१३९९॥

अर्थ—इस संसार में पुरुष के प्रमाण होने से उसके वचन प्रमाण माने जाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं, इसलिए उत्तम पुरुष उन्हीं के कहे हुए धर्म का श्रद्धान करते हैं, उसी में रुचि करते हैं और अपने हृदय में उसी का महान् निश्चय करते हैं।

इसके सिवाय अन्य धर्म का वे कभी श्रद्धान नहीं करते। इस प्रकार के श्रद्धान में सम्यग्दर्शनरूपी कल्पवृक्ष ही मूल कारण समझना चाहिए अर्थात् ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्दर्शन के होने से ही ऐसा श्रद्धान होता है।

तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, सप्त तत्त्वों के नाम—

अथ तेषां तत्त्वानां श्रद्धाने नात्र लभ्यते।
निर्मलं दर्शनं तानि तत्त्वान्येव दिशाम्यहम् ॥१४००॥
जीवाजीवास्त्रवा बन्धः संवरो निर्जरा परा।
मोक्षोऽमूनि सुत्तत्त्वानि भाषितानि जिनाधिपैः ॥१४०१॥

अर्थ—इस संसार में तत्त्वों का श्रद्धान करने से ही निर्मल सम्यग्दर्शन होता है इसलिए अब हम उन तत्त्वों का ही स्वरूप निरूपण करते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाए हैं।

जीवों के भेद—

मुक्तसंसारिभेदाभ्यां द्विधा जीवा जिनैर्मताः।
मुक्ता भेदविनिष्क्रान्ताः षड्विधा भववर्तिनः ॥१४०२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुक्त और संसारी के भेद से जीवों के दो भेद बतलाए हैं। इनमें भी मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं है सब समान हैं तथा संसारी जीवों के छह भेद है।

मुक्त जीवों का स्वरूप—

अष्टकर्मवपुर्मुक्ता दिव्याष्टगुणभूषिताः।
लोकाग्रशिखरावासाः सिद्धाः स्युरन्तवर्जिताः ॥१४०३॥

अर्थ—जो ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठों दिव्य गुणों से सुशोभित हैं और लोक शिखर पर विराजमान हैं उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध अनंतानंत हैं।

संसारी जीवों के छह भेद—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्काया वनस्पत्यङ्गिनस्त्रसाः।
एते संसारिणो ज्ञेया षड्विधा जीवजातयः ॥१४०४॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस के भेद से संसारी जीवों के छह भेद समझना चाहिए।

कोमल पृथ्वी के १६ भेद—

पृथ्वी बालुका ताम्रमयस्त्रिपुषसीसकौ।
रूप्यं सुवर्णमेवाथ हरितालं मनः शिला ॥१४०५॥
हिंगुलं सस्यकं वांजनमभ्रकोऽभ्रबालुकाः।
लवणं चेति भेदाः स्युर्मृदुपृथ्व्या हि षोडश ॥१४०६॥

अर्थ—पृथ्वी, बालू, ताँबा, लोहा, रांगा, सीसा, चाँदी, सोना, हरताल, मनशिल, हिंगुल, सस्यक, सुरमा, अभ्रक, अभ्रबालुका, लवण ये सोलह कोमल पृथ्वी के भेद हैं।

कठोर पृथ्वी के २० भेद—

शर्करा उपलं वज्रं शिला प्रवालकायिकाः।
कर्केतनमणिश्चांकोरजकः स्फटिकोमणिः ॥१४०७॥
पद्मरागोथ वैडूर्य्यश्चन्द्रप्रभश्च चन्दनः।
जलकान्तो वकः सूर्यकान्तो मरकतो मणिः ॥१४०८॥

मोचो मसृणपाषाणो रुचिराख्यो मणिः स्फुटम्।
अमी भेदाः बुधैर्ज्ञेया खरपृथ्व्या हि विंशतिः ॥१४०९॥

अर्थ—कठिन बालू, पत्थर के गोल टुकड़े, वज्र (हीरा), बड़ी शिला, प्रवाल वा मूंगा, गोमेदमणि, पुलकमणि (प्रवाल के समान), रुजक (राजवर्त मणि), स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रप्रभमणि, चन्दनमणि, जलकांतमणि, पुष्परागमणि, सूर्यकांतमणि, मरकतमणि, नीलमणि, विद्रुममणि और रुचिरमणि। बुद्धिमानों को ये बीस भेद कठिन पृथ्वी के समझने चाहिए।

स्थूल पृथ्वीकायिक जीवों के ३६ भेद हैं, सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव सर्वत्र है—

षट्त्रिंशत्स्युरिमे भेदाः स्थूलपृथ्व्यङ्गिनां भुवि।
सूक्ष्माः पृथ्व्यङ्गिनो ज्ञेयाः खे सर्वत्र जिनागमात् ॥१४१०॥

अर्थ—ये छत्तीस भेद पृथ्वीकायिक स्थूल जीवों के समझने चाहिए तथा पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव आकाश में सब जगह फैले हुए हैं ऐसा जैन शास्त्रों में कहा है।

आठों पृथ्वीकायिकादि कठोर पृथ्वी में ही गर्भित—

पृथ्व्यष्ट पञ्च मेर्वाद्याः पर्वताः सकला भुवः।
द्वीपवेदीविमाना हि प्रतोली तोरणाश्च ये ॥१४११॥
जम्बूशाल्मलि - चैत्यद्रुमास्तूपभवनादयः।
कल्पवृक्षाः खरा विश्वे ह्येतेष्वन्तर्भवन्ति ते ॥१४१२॥

अर्थ—आठों पृथ्वी पाँचों मेरुपर्वत, द्वीप, वेदी, विमान, प्रतोली (गली), तोरण, जम्बू, शाल्मलि, चैत्यवृक्ष, भवन, कल्पवृक्ष आदि कठिन प्रकार की पृथ्वी सब इसी में अंतर्भूत समझनी चाहिए।

पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

ज्ञात्वेति पृथ्वीकायान् खननाद्यैः शिवार्थिभिः।
तेषां जातु न कर्तव्या स्वेनान्येन विराधना ॥१४१३॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को खोद-पीटकर पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना न तो स्वयं करनी चाहिए और न किसी दूसरे से करानी चाहिए।

अपकायिक जीवों का स्वरूप—

अवश्यायजलं पश्चिमरात्रिपतितं हिमम्।
महिकाख्यजलं धूमाकारं हरज्जलं ततः ॥१४१४॥
स्थूलविन्दुयुतं वाणुजलं शुद्धोदकं तथा।
चन्द्रकान्तभवं नीरं सामान्यं नीहारादिजम् ॥१४१५॥
घनोदकं घनाकारं ह्रदाब्धिघनवातजम्।
वा मेघोद्भवमि-त्याद्या ज्ञेया अप्कायिकाङ्गिनः ॥१४१६॥

सरित्सागरमेघोत्था: कूपनिर्झर - भूस्थिता:।
चन्द्रकान्तादिजा अत्रैवान्तर्भवा जलाङ्गिनः ॥१४१७॥

अर्थ—कुहरा ओस का जल, पिछली रात में पड़ी हुई ओस, तुषार, भाप का पानी, हरज्जल, बड़ी बूँदें, छोटी बूँदें, शुद्ध पानी, चन्द्रकांत मणिसे उत्पन्न होने वाला पानी, जमाई हुई बरफ का पानी घनोदक, घनाकार, सरोवर, समुद्र आदि का पानी, घनवात का पानी, बादल से बरसा हुआ पानी आदि सब तरह का पानी अपकायिक जीवमय ही समझना चाहिए। नदी-समुद्र का पानी, मेघों का बरसा पानी, कुँए वा झरने का पानी, पृथ्वी के भीतर रहने वाला पानी, चन्द्रकांत मणि से निकला हुआ पानी इनके जलकायिक जीव सब इन्हीं में अंतर्भूत समझना चाहिए।

अपकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

इति ज्ञात्वा सदाऽमीषां रक्षा कार्या प्रयत्नतः।
पादादिक्षालनैर्जातु न हिंसा: सर्वथा बुधैः ॥१४१८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिए और पाद प्रक्षालन आदि के द्वारा इन जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए।

अग्निकायिक जीवों का स्वरूप—

ज्वालाङ्गारमथार्चिर्मुर्मुरः शुद्धाग्निसंज्ञकः।
सूर्यकान्तादिजोऽग्निः सामान्य इत्यग्निकायिकाः ॥१४१९॥
नन्दीश्वरादि चैत्यालय-धूमकुण्डिकानलाः।
मुकुटाग्न्यादयोऽत्रैवान्तर्भवन्त्यग्निकायिका ॥१४२०॥

अर्थ—ज्वाला, अंगार, ज्वाला का प्रकाश, बारीक कोयलों के फुलिंगे, शुद्ध अग्नि, सूर्यकांत से उत्पन्न हुई अग्नि इत्यादि सामान्य-अग्नि, अग्निकायिक जीव विशिष्ट है। नंदीश्वरद्वीप के चैत्यालयों में रखे हुए धूप कुंड की अग्नि, अग्निकुमार देवों के मुकुट की अग्नि में रहने वाले अग्निकायिक जीव सब इसी में अंतर्भूत समझने चाहिए।

अग्निकायिक जीवों की हिंसा का निषेध—

इत्यग्निकायिकान् ज्ञात्वाऽमीषां रोगादिशान्तये।
हिंसा क्वचिन्न कार्या ज्वालनविध्यापनादिभिः ॥१४२१॥

अर्थ—इस प्रकार अग्निकायिक जीवों को समझकर किसी रोग को शांत करने के लिए भी अग्नि को जलाकर वा बुझाकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए

वायुकायिक जीवों का स्वरूप—

वात:सामान्यरूपश्चोद्भ्रमं ऊर्ध्वं व्रजन् मरुत्।
उत्कलिमडलीर्वायुः पृथ्वीलग्नो भ्रमन् व्रजेत् ॥१४२२॥

गुञ्जा मरुन्महावातो वृक्षादि-भङ्गकारकः।
घनवातश्च तन्वाख्यो व्यजनादि-कृतोऽथवा ॥१४२३॥
उदरस्थाब्धिभूस्थानविमानाधार - वायवः।
अत्रैवान्तर्भवा ज्ञेयाः भवनस्थादिकाखिलाः ॥१४२४॥

अर्थ—सामान्य वायु को वात कहते हैं, ऊपर को जाने वाली वायुको उद्भ्रम कहते हैं, गोलाकार घूमते हुए वायु को उत्कलि वायु कहते हैं, पृथ्वी से लगकर चलने वाले वायु को गुंजावात कहते हैं, वृक्षादिकों को तोड़ देने वाला महावात कहलाता है। घनवात, तनुवात, पंखा आदि से उत्पन्न किया हुआ वायु, पेट में भरा हुआ वायु, पृथ्वी, समुद्र, विमान आदि को आश्रय देने वाला वायु तथा भवनों में रहने वाला वायु सब सामान्य वायु में अंतर्भूत है।

महादाह होने पर भी वायुकायिक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए—

इमान् वाताङ्गिनो मत्वा जात्वमीषां विराधना।
न विधेया महादाहे वातादिकरणैर्बुधैः ॥१४२५॥

अर्थ—यह सब वायु वातकायिक जीवमय है। यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को महादाह होने पर भी वायु को उत्पन्न कर वातकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिए।

वनस्पतिकायिक और अनन्तकायिक वनस्पति का स्वरूप—

मूलाग्रपौरबीजाः कन्दस्कन्धबीजसंज्ञकाः।
बीजबीजरुहा एते कन्दाद्यारोहसम्भवाः ॥१४२६॥
जीवाः सन्मूर्छिमा मूलाद्यभावेऽपि समुद्भवाः।
प्रत्येककायिका जीवा अनन्तकायदेहिनः ॥१४२७॥
कन्दमूलाङ्गिनस्त्वक्स्कन्धः पत्रं कुसुमं फलम्।
प्रवालं गुच्छकायश्च गुल्मं वल्ली तृणान्यथ ॥१४२८॥
पर्वकाया इमे ज्ञेयाः पृथ्वीतोयादिसंभवाः।
विना बीजेन नाना भेदा वनस्पतिकायिकाः ॥१४२९॥
सैवालं पणकं भूमिगतसैवालमेव हि।
कवगं नाम श्रृंगालं वकच्छत्रं हरिप्रभम् ॥१४३०॥
कुहणाख्यं स्थिताहारकं जिह्वादिस्थपुष्पिका।
एतेऽत्र बादरा ज्ञेया अनन्तकायिका बुधैः ॥१४३१॥

अर्थ—मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूह ये सब कंदादिक से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके सिवाय सम्मूर्च्छन जीव हैं जो मूलादिक का प्रभाव होने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से कोई प्रत्येक कायिक हैं और कोई अनंतकाय हैं। कंदमूल,

त्वक् (छाल), स्कंध, पत्र, कुसुम, फल, नया कोंपल, गुच्छ, गुल्म, वेल, तृण आदि सब अनंतकायिक हैं तथा बिना बीज के पृथ्वी, जल आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के पर्व कायिक हैं जो अनंतकाय कहलाते हैं। शैवाल, पणक, भूमिगत, शैवाल, कवग, शृंगाल, वकछत्र, हरिप्रभ, कुहण, स्थिताहारक, जिह्वादि में स्थित पुष्पिका ये सब बादर अनंतकाय हैं ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिए।

सूक्ष्म जीवों की अवगाहना का प्रमाण—

पृथ्व्यप्तेजोमरुज्जीवाः सूक्ष्मदृष्ट्याद्यगोचराः।
अङ्गुलस्याप्यसंख्यातभागप्रमवपुर्युताः ॥१४३२॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक सूक्ष्म जीव दृष्टि के अगोचर होते हैं और उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

सूक्ष्म-स्थूल वनस्पतिकायिक जीव सब जगह है—

सर्वत्र द्विविधा ज्ञेया जलस्थलनभोऽखिले।
सर्वे वनस्पतिप्राणिनः प्रत्येकेतरात्मकाः ॥१४३३॥

अर्थ—वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जीव जल, स्थल और आकाश आदि सब स्थानों में भरे हुए हैं। इनमें से कुछ प्रत्येक वनस्पति हैं और कुछ साधारण हैं।

साधारण और प्रत्येक वनस्पति का स्वरूप—

येषां गूढसिरासन्धिपर्वाणि स्युरहीरकम्।
समभङ्गं तथा छेदरुहं च विद्यते भुवि ॥१४३४॥
साधारणशरीरास्तेत्रानन्त-जीवसंकुलाः।
एतेभ्यो विपरीता ये ते प्रत्येकाङ्गिनो मताः ॥१४३५॥

अर्थ—जिनकी सिरा, संधि, पर्व आदि गूढ़ हैं दिखाई नहीं देते, तोड़ने से जिनका भंग समान होता है और जो काटने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। उनको साधारण शरीर कहते हैं ऐसे साधारण शरीर अनंत जीवों से भरे हुए होते हैं। इनसे जो विपरीत हैं अर्थात् जिनका सिरा संधि प्रकट हो गया है और तोड़ने से जिनका समभंग नहीं होता उनको प्रत्येक कहते हैं।

अनन्तकाय का स्वरूप व उसका अनन्तकाय नाम की सार्थकता—

यत्रैको म्रियते तत्र म्रियन्तेऽनन्तदेहिनः।
यत्रैको जायते तत्र जायन्तेऽनन्तकायिकाः ॥१४३६॥
अतोऽत्रैते जिनैः प्रोक्ताः जीवा अनन्तकायिकाः।
भुवि सार्थकनामानोऽनन्तप्राणिमयाः स्फुटम् ॥१४३७॥

अर्थ—एक जीव के मरने पर जहाँ अनंत जीव मर जायें और एक जीव के उत्पन्न होने पर जहाँ

पर अनंत जीव उत्पन्न हो जायें ऐसे जीवों को भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अनंतकाय बतलाया है। उनमें का एक-एक शरीर अनंत जीव स्वरूप होता है इसलिए वे अनंतकाय इस सार्थक नाम को धारण करते हैं।

नित्य अनन्तकायिक जीवों का स्वरूप—

अनन्तैः प्राणिभिर्यैश्च महामिथ्याघपूरितैः।
त्रसत्वं जातु न प्राप्तं नित्यास्तेऽनन्तकायिकाः ॥१४३८॥

अर्थ—महा मिथ्यात्व के पाप से परिपूर्ण हुए जिन अनंत जीवों ने आज तक त्रस पर्याय नहीं पाई है उनको नित्य अनंतकायिक कहते हैं।

एक निगोद शरीर में दृष्टान्तपूर्वक निगोद जीवों की संख्या का प्रमाण—

जम्बूद्वीपे यथाक्षेत्रं भरतं भरते भवेत्।
कौशलः कौशलेऽयोध्याऽयोध्यायां गृहपङ्क्तयः ॥१४३९॥
तथा स्कन्धा असंख्याता लोकमात्रा भवन्ति वै।
एकैकस्मिन् पृथक् स्कन्धे प्रोदिता अण्डरा जिनैः ॥१४४०॥
असंख्यलोकमात्राश्चैकेकस्मिन्नंडरे तथा।
आवासाः स्युरसंख्यातलोकतुल्या न संशयः ॥१४४१॥
एकैकस्मिन् किलावासे मताः पुलवयो बुधैः।
असंख्यलोकमानाश्चैकैकस्मिन् पुलवौ भुवि॥१४४२॥
शरीराणि ह्यसंख्येय-लोकमानानि सन्ति च।
एकैकस्मिन्निकोतस्य शरीरे जन्तवः स्फुटम् ॥१४४३॥
अतीतकालसिद्धेभ्यः सर्वानन्तेभ्य एव हि।
प्रोक्तास्तीर्थकरैरागमेऽत्रानन्तगुणा परे ॥१४४४॥

अर्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्रादिक क्षेत्र हैं, भरतक्षेत्र में कोशल आदि देश हैं, कोशलदेश में अयोध्या आदि नगर हैं और अयोध्या आदि नगरों में घरों की पंक्तियाँ हैं, उसी प्रकार इस संसार में असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध हैं। एक-एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं। एक-एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी हैं। एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं तथा उस एक-एक निगोद शरीर में अतीतकाल के समस्त अनंतानंत सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने आगम में बतलाया है।

पाँच स्थावर जीवों की रक्षा की प्रेरणा—

इत्यादीन् स्थावरान् पञ्चविधान् विज्ञाय योगिभिः।
प्रयत्नेन दया कार्याऽमीषां वाक्कायमानसैः ॥१४४५॥

अर्थ—मुनियों को इस प्रकार स्थावरों के पाँचों भेद समझकर मन-वचन-काय से प्रयत्नपूर्वक उन सब जीवों की दया करनी चाहिए।

त्रस जीवों का स्वरूप और उसके भेद—

सकलाविकलाश्चेति द्विधा जीवास्त्रसा मताः।
विकला द्वित्रितुर्याक्षाः शेषा हि सकलेन्द्रियाः ॥१४४६॥

अर्थ—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं, उनके दो भेद हैं– एक विकलेन्द्रिय और दूसरा सकलेन्द्रिय। दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं।

दो इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

कृमयः शुक्तिकाः शंखाः कपर्दकाश्च बालकाः।
जलूकाद्याः श्रुते ज्ञेया द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियान्विताः ॥१४४७॥

अर्थ—लट, सीप, शंख, जोंक, लीक आदि जीवों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ हैं इसलिए इन जीवों को दो इन्द्रिय कहते हैं।

तीन इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

कुंथवो वृश्चिका यूका मत्कुणाश्च पिपीलिकाः।
उद्देहिकाद्या गोपानिकास्त्रीन्द्रियशरीरिणः ॥१४४८॥

अर्थ—कुंथु, बिच्छू, जू, खटमल, चींटी, उद्देहिका, गोपानिका आदि जीवों की स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं इसलिए इनको त्रींद्रिय कहते हैं।

चार इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

भ्रमरा मशका दंशाः पतङ्गा मधुमक्षिकाः।
कीटका मक्षिकाद्याश्च चतुरिन्द्रियजातयः ॥१४४९॥

अर्थ—भौंरा, मच्छर, डांस, पतंगा (दीपक पर पड़ने वाले), मधुमक्खी, मक्खी जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियाँ हैं इसलिए इनको चौइन्द्रिय कहते हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

जलस्थलनभोगामिनस्तिर्यञ्चो नराः सुराः।
नारकाः सकलाः प्रोक्ता जीवाः पञ्चेन्द्रियाः श्रुते ॥१४५०॥

अर्थ—मगरमच्छ आदि जलचर, कबूतर आदि नभचर और गाय, भैंस आदि स्थलचर जीव पंचेन्द्रिय हैं। मनुष्य, देव और समस्त नारकी जीव भी पंचेन्द्रिय हैं, ऐसे शास्त्रों में कहा है।

चौरासी लाख योनियों के स्वामी—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्काया लक्षाणां सप्तसप्त च।
नित्येतरनिकोताः किलवनस्पतयो दश ॥१४५१॥

द्विद्विलक्षप्रमा द्वित्रिचतुरक्षाःपृथक् सुराः।
तिर्यञ्चो नारका लक्षाणां चत्वारः पृथक् पृथक् ॥१४५२॥
द्विसप्तलक्षसंख्यानां आर्यम्लेच्छाखिला नराः।
इति सर्वाङ्गलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तराः ॥१४५३॥

अर्थ—इनमें से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों की सात-सात लाख योनियाँ हैं। नित्यनिगोद और इतरनिगोद की भी सात-सात लाख योनियाँ हैं। वनस्पतिकायिक की दस लाख योनियाँ हैं, दो इन्द्रिय की दो लाख, त्रीन्द्रिय की दो लाख और चौइन्द्रिय की दो लाख योनियाँ हैं। देवों की चार लाख, तिर्यंचों की चार लाख और नारकियों की चार लाख योनियाँ हैं तथा आर्य और म्लेच्छ के भेद से दोनों प्रकार के मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार समस्त जीवों की चौरासी लाख योनियाँ हैं।

एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलों के स्वामी कौन-कौन—

इत्थं विश्वाङ्गि-जातीः सम्यग्निरूप्य जिनागमात्।
ततः सतां दयासिद्ध्यै वक्ष्ये कुलानि देहिनाम् ॥१४५४॥
पृथ्वीनां कुलकोटी लक्षाणां द्वाविंशतिः स्फुटम्।
अप्कायिकाङ्गिनां सप्त त्रयश्चानलदेहिनाम् ॥१४५५॥
मरुतां कुल-कोटीलक्षाणि सप्तकुलानि वै।
कोटीलक्षाणि चाष्टाविंशतिर्हरितजन्मिनाम् ॥१४५६॥
द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां तुर्येन्द्रियात्मनाम्।
कोटीशतसहस्त्राणि सप्तचाष्टौ नवक्रमात् ॥१४५७॥
अप्चराणां नभोगामिनां किलार्द्धत्रयोदश।
द्वादशैव क्रमात्सन्ति लक्षाणि कुलकोटयः ॥१४५८॥
दशैव कोटि-लक्षाणि चतुष्पदां कुलानि च।
पञ्चविंशतिकोटीलक्षाणि नारकदेहिनाम् ॥१४५९॥
स्युः षड्विंशतिकोटीलक्षाणि देव-कुलानि च।
नवैव कोटि-लक्षाणि ह्युरः सर्पात्मनां भुवि ॥१४६०॥
कुलान्यत्र मनुष्याणामार्यम्लेच्छखगात्मनाम्।
द्विसप्तकोटिलक्षाणि सर्वेषामिति जन्मिनाम् ॥१४६१॥
एकैव - कोटि - कोटीसार्द्धानवतिर्नवाधिका।
कोटीशतसहस्त्राणि कुलसंख्याजिनोदिता ॥१४६२॥

अर्थ—इस प्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त जीवों की जातियों का स्वरूप बतलाया, अब आगे सज्जनों को दया पालन करने के लिए जीवों के कुल बतलाए हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के

बाईस लाख करोड़, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं। दोइन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़, तेइन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़, चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं। जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, नभचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं। चतुष्पदों के दस लाख करोड़ कुल हैं, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं, देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं और सरीसर्पो के नौ लाख करोड़ कुल हैं। आर्य, म्लेच्छ और विद्याधरों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं। इस प्रकार समस्त जीवों के कुलों की संख्या एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ होती है। इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इनके कुल बतलाए हैं।

जाति कुलादि से जीवों का स्वरूप जानकर उनकी रक्षा की प्रेरणा—

इति जाति-कुलान्यत्र गुणस्थानानि मार्गणाः।
सम्यग्विज्ञाय जीवानां श्रुते कार्या दयाऽन्वहम् ॥१४६३॥

अर्थ—इस प्रकार जीवों की जाति, कुल, गुणस्थान और मार्गणाओं को शास्त्रों के अनुसार अच्छी तरह जानकर प्रतिदिन जीवों की दया करनी चाहिए।

अध्यात्म अपेक्षा निश्चयनय से जीव तत्त्व का स्वरूप—

जीवतत्त्वं निरूप्येदं प्रसिद्धागमभाषया।
सतां ब्रुवे समासेनाधुनाध्यात्मसुभाषया ॥१४६४॥
द्रव्यभावात्मकैः प्राणैर्जीविताः प्राग्यतोऽङ्गिनः।
जीवन्ति च तथा जीविष्यन्ति जीवास्ततो मताः ॥१४६५॥
केवलज्ञानदृग्नेत्राः कर्त्तृभोक्तृत्ववर्जिताः।
उत्पत्तिर्मरणातीताः बन्धमोक्षातिगा भुवि ॥१४६६॥
असंख्यातप्रदेशाः सर्वेऽमूर्ताः सिद्धसन्निभाः।
सादृश्या गुणयोगेन निश्चयेनाङ्गिनः स्मृताः ॥१४६७॥

अर्थ—इस प्रकार आगम की प्रसिद्ध भाषा के अनुसार जीव तत्त्व का स्वरूप कहा। अब आगे सज्जनों के लिए अध्यात्म भाषा के द्वारा संक्षेप से जीव का स्वरूप कहते हैं। जो प्राणी द्रव्य प्राण और भाव प्राणों के द्वारा पहले जीवित थे, अब जीवित हैं और आगे जीवित रहेंगे उनको जीव कहते हैं। निश्चय नय से देखा जाये तो समस्त जीव केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित हैं, जन्म-मरण से रहित हैं, बंध-मोक्ष से रहित हैं, असंख्यात प्रदेशी हैं और सिद्ध के समान सब अमूर्त हैं तथा आत्मगुणों के समान होने से सब समान हैं। इस प्रकार निश्चयनय से जीवों का स्वरूप है।

व्यवहार नय से जीव का स्वरूप—

युक्त्या मत्यादिभिर्ज्ञानैश्चक्षुराद्यैश्च दर्शनैः।
कर्मणां कर्तृभोक्तारो बन्धमोक्षविधायिनः ॥१४६८॥
चतुर्गतिगतामूर्ताः सुखदुःखादिभोगिनः।
व्यवहारनयेनात्र प्रोक्ता जीवा गणाधिपैः ॥१४६९॥

अर्थ—इसी प्रकार गणधरादिक देवों ने व्यवहारनय से जीवों का स्वरूप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों को धारण करने वाला चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि दर्शनों को धारण करने वाला, कर्मों का कर्ता, भोक्ता, बंध वा मोक्ष को करने वाला, चतुर्गति में परिभ्रमण करने वाला मूर्त और सुख-दुःख भोगने वाला बतलाया है।

अजीव तत्त्व और उसके भेद—

रूप्यरूपिप्रकाराभ्यामजीवा द्विविधा मताः ।
चतुर्द्धा पुद्गला रूपिणश्च स्कन्धादिभेदतः ॥१४७०॥

अर्थ—आगे अजीव को बतलाते हैं, अजीव के दो भेद हैं रूपी और अरूपी। उनमें से पुद्गल रूपी हैं और स्कंधादिक के भेद से चार उसके भेद हैं।

पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप—

स्कन्धाख्याः स्कन्धदेशाश्च स्कन्धप्रदेशपुद्गलाः।
अणवः पुद्गला अत्रेत्युक्ता जिनैश्चतुर्विधाः ॥१४७१॥
सर्वः स्कन्धः सभेदश्च बह्वणूद्भव ऊर्जितः।
स्कन्धस्यार्द्धं बुधैरुक्तः स्कन्धदेशो जिनागमे॥१४७२॥
तस्यार्द्धार्द्धेन संजातो द्व्यणुपर्यन्तभेदभाक्।
स्कन्धप्रदेश एवाविभागी स्यादणुः पुद्गलः ॥१४७३॥

अर्थ—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पुद्गल के चार भेद बतलाए हैं। जो बहुत से परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कंध को स्कंध कहते हैं। स्कंध का जो आधा भाग है उसको विद्वानों ने जैन शास्त्रों में स्कंधदेश बतलाया है। उस स्कंधदेश के आधे भाग को तथा उसके भी आधे भाग को इस प्रकार दो अणु के स्कंध तक के भागों को स्कंधप्रदेश कहते हैं तथा अविभागी पुद्गल के परमाणु को अणु कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य का उपकार—

जीवितं मरणं दुःखं सुखं देहादिसर्जनम्।
जीवानां पुद्गलाः कुर्युः कर्मबन्धाद्युपग्रहम् ॥१४७४॥

अर्थ—जीवन-मरण, सुख-दुःख तथा शरीर के त्याग के द्वारा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार

करते हैं। ये पुद्गल कर्मबंध के द्वारा भी जीव का उपकार करते।

अरूपी अजीव द्रव्य के भेद और उपकार—

धर्मोऽधर्मो नभः काल इमे रूपादिवर्जिताः।
जीवपुद्गलयोर्लोके निष्क्रियाः सहकारिणः ॥१४७५॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी अजीव द्रव्य हैं, ये चारों ही द्रव्य क्रिया रहित हैं और जीव-पुद्गल के उपकारक हैं।

धर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

सहकारी गतौ धर्मो जीवपुद्गलयोर्मतः।
असंख्यातप्रदेशोऽत्र मत्स्यानां जलराशिवत् ॥१४७६॥

अर्थ—जिस प्रकार जल की राशि मछलियों को चलने में सहायक है उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों के चलने में सहकारी होता है। यह धर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है।

अधर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

छायावत्पथिकानामधर्मः साह्यकारः स्थितौ।
जीवपुद्गलयोः प्रोक्तः संख्यातीतप्रदेशवान् ॥१४७७॥

अर्थ—जिस प्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी होता है तथा यह द्रव्य भी असंख्यात प्रदेशी है।

आकाश द्रव्य का स्वरूप और उसके भेद—

लोकालोक-द्विभेदाभ्यां द्विधाकाशः स्मृतो जिनैः।
अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां खण्डवर्जितः ॥१४७८॥
धर्मोऽधर्मोऽङ्गिनः कालः पुद्गलाः खेऽत्र यावति।
एते तिष्ठन्ति तावन्मानः लोकाकाश एव हि ॥१४७९॥
तस्मात्स्यात्परतोऽनन्तप्रदेश एकको महान् ।
सर्वद्रव्यातिगो नित्योऽलोकाकाशो जिनोदितः ॥१४८०॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने आकाश के दो भेद बतलाए हैं—एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। यह आकाश समस्त पदार्थों को जगह देता है तथा यह आकाश अखंड द्रव्य है। जितने आकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल रहते हैं उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं। उस लोकाकाश के बाहर सब ओर जो एक महान् और अनंतप्रदेशी आकाश है जिसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है और जो नित्य है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अलोकाकाश बतलाया है।

व्यवहार काल का स्वरूप—

नवजीर्णादिभिः कालः परिवर्तनहेतुकृत्।
जीवपुद्गलयोर्लोके व्यवहारो दिनादिकः ॥१४८१॥

अर्थ—काल द्रव्य पदार्थों को भी नवीन पुराना बना देता है और जिस प्रकार जीव, पुद्‌गल आदि समस्त पदार्थों में परिवर्तन करता रहता है तथा लोक में दिन-रात, घड़ी, घंटा आदि के भेद से जो काल माना जाता है वह सब व्यवहार काल है

निश्चय काल का स्वरूप—

लोकाकाशप्रदेशे यः पृथग्भूतोऽणुसंचयः।
स निश्चयाभिधः कालो रत्नराशिरिवोर्जितः ॥१४८२॥

अर्थ—जिस प्रकार रत्नों की राशि पास-पास जड़ी रहती है, उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो अलग-अलग काल के परमाणु विद्यमान हैं, उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं।

पाँच अस्तिकाय द्रव्य के नाम—

एतेऽत्र सह जीवेन षड्द्रव्या उदिता जिनैः।
कालद्रव्यं विना पञ्चास्तिकायाः श्रीजिनागमे ॥१४८३॥

अर्थ—इस प्रकार पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच अजीव के भेद बतलाए हैं। उनमें जीव द्रव्य को मिला देने से भगवान् जिनेन्द्रदेव ने छह नाम बतलाए हैं तथा काल द्रव्य को छोड़कर बाकी के पाँच जैन शास्त्रों में अस्तिकाय बतलाए हैं।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप—

रागद्वेषादियुक्तो यः परिणामो हि रागिणाम्।
कर्मास्रवनिमित्तोऽनेकधा भावास्रवोऽत्र सः ॥१४८४॥
भावास्रवेन जन्तूनां यदागमनमन्वहम्।
कर्मरूपेण यो पुद्‌गलानां द्रव्यास्रवोऽत्र सः ॥१४८५॥

अर्थ—रागद्वेष को धारण करने वाले जीवों के कर्मों के आस्रव का कारण ऐसा जो रागद्वेष सहित परिणाम है उसको भावास्रव कहते हैं। उस भावास्रव के अनेक भेद हैं। संसारी जीवों के उस भावास्रव के द्वारा कर्मरूप बनकर जो पुद्‌गलों का आगमन होता है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं।

भावास्रव के कारण, उनको रोकने का फल—

मिथ्यात्वं पञ्चधा द्वादशधाऽविरतयोऽशुभाः।
दशपञ्चप्रमादाश्च कषायाः पञ्चविंशतिः ॥१४८६॥
योगाः पञ्चदशात्रैते दुस्त्याज्याः प्रत्यया नृणाम्।
विश्वानर्थकरीभूता भावास्रवस्य हेतवः ॥१४८७॥
येन प्रत्ययरोधेन रुद्धः कर्मास्रवोऽखिलः।
सर्वं समीहितं सिद्धं तस्यैव मुक्ति-कारणम् ॥१४८८॥

अर्थ—पाँच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार का अविरत, पंद्रह प्रकार के अशुभ प्रमाद, पच्चीस कषाय और पंद्रह योग ये सब भावास्रव के कारण हैं, समस्त अनर्थों के करने वाले हैं और मनुष्यों से बड़ी कठिनता से छूटते हैं। जो मनुष्य भावास्रव के कारणों को रोककर समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेता है उसके मोक्ष के कारण ऐसे समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

भावास्रव को रोके बिना कर्मों का नाश असम्भव—

कर्मास्रवनिरोधं योऽक्षमः कर्तुं निजात्मनः।
ध्यानाध्ययनयोगाद्यैर्वृथा तस्य तपो यमः ॥१४८९॥
कर्मास्रवं निराकर्तुं येऽसमर्था यमादिभिः।
चञ्चलास्ते कथं घ्नन्ति क्रूरान् कर्मारिदुर्जयान् ॥१४९०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी आत्मा के ध्यान, अध्ययन और योग आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ है अर्थात् जो ध्यानादिक के द्वारा आस्रव रोक नहीं सकता उसका यम, नियम और तपश्चरण सब व्यर्थ है। जो मुनि यम, नियम आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को भी रोकने में असमर्थ हैं वे चंचल पुरुष अत्यन्त क्रूर ऐसे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं।

भावास्रव रोकने की प्रेरणा—

ज्ञात्वेति कूर्मवद्दक्षाः स्वं निरुध्याखिलास्रवात्।
बाह्यात्सर्वप्रयत्नेन रुंधीध्वं सकलास्रवम् ॥१४९१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को कूर्म के समान बाहर के समस्त आश्रयों से कर्मविशिष्ट आत्मा को रोकना चाहिए और पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त आस्रवों को रोकना चाहिए।

भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध का स्वरूप—

रागद्वेषमयेनात्र परिणामेन येन च।
बध्यन्ते कृत्स्नकर्माणि भावबन्धः स उच्यते ॥१४९२॥
भावबन्धनिमित्तेनसार्द्धं यः कर्मपुद्गलैः।
संश्लेषोऽङ्गिप्रदेशानां द्रव्यबन्धः स कथ्यते ॥१४९३॥

अर्थ—जिन रागद्वेषमय परिणामों से समस्त कर्म बँधते हैं, उन परिणामों को भाव बंध कहते हैं। उस भाव बंध के निमित्त से कर्मपुद्गलों के साथ-साथ जो आत्मा के प्रदेशों का सम्बन्ध हो जाता है, उसको द्रव्य बंध कहते हैं।

बन्ध के भेद और उनके कारणों का वर्णन—

प्रकृतिस्थितिबन्धोऽनुभागः प्रदेशसंज्ञकः।
इति चतुर्विधो द्रव्यबन्धो बन्धकरोऽङ्गिनाम् ॥१४९४॥

प्रकृत्यामा प्रदेशस्य बन्धौ वाक्कायमानसैः ।
कषायैर्भवतो बन्धौ पुसां स्थित्यनुभागयोः ॥१४९५॥
यथा रजांसि तैलादिस्निग्धगात्रेण देहिनाम्।
लगन्ति च तथा कर्माणवो रागादिभिः सदा ॥१४९६॥

अर्थ—प्राणियों को बंध करने वाला यह द्रव्य बंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से चार प्रकार का बतलाया है। इन चारों प्रकार के बंधों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध मन-वचन-काय के योगों से होते हैं और स्थितिबंध तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं। जिस प्रकार तेल आदि के द्वारा चिकने हुए मनुष्यों के शरीर पर धूल जम जाती है, उसी प्रकार रागद्वेष आदि के कारणों से आत्मा के प्रदेशों में कर्मों के परमाणु आकर मिल जाते हैं।

बन्ध का फल—

यथा बन्धनबद्धोऽत्र भुंक्ते दुःखमनारतम्।
पराधीनस्तथा प्राणी चतुर्गतिषु साधिकम् ॥१४९७॥
अक्षमः कर्मबन्धं यः छेत्तुं ध्यानायुधादिभिः।
कथं मुक्तो भवेत्सोऽत्रकुर्वन्नपि तपो महत् ॥१४९८॥
यावच्छिनत्ति बन्धं न कर्मणां सत्तपोऽसिना।
तावत्सुखी क्व जायेत मुनिर्भ्रमन् भवाटवीम् ॥१४९९॥

अर्थ—जिस प्रकार बंधन में बँधा हुआ मनुष्य पराधीन होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है उसी प्रकार कर्मबंध से बँध हुआ यह प्राणी पराधीन होकर चारों गतियों में बहुत से दुःख भोगता है। जो मुनि महातपश्चरण करता हुआ भी ध्यानरूपी शस्त्र से कर्मबंध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त कभी नहीं हो सकता। यह मुनि जब तक श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी तलवार से कर्मों के बंधन को छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता, तब तक वह संसाररूपी वन में ही घूमता रहता है और तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मबन्ध नष्ट करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति प्रयत्नेन मुक्तिकामाः स्वमुक्तये।
रत्नत्रयायुधेनैव छिन्दन्तु कर्मशात्रवम् ॥१५००॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालना चाहिए।

भाव संवर का स्वरूप और उसके कारण—

चैतन्यपरिणामो यः कर्मास्त्रवनिरोधकः।
स्वात्मध्यानरतः शुद्धो भावसंवर एव सः ॥१५०१॥

त्रयोदशविधं वृत्तं धर्मो दशविधो महान्।
अनुप्रेक्षाद्विषड्भेदाः परीषहजयोऽखिलः ॥१५०२॥
चारित्रं पञ्चधा योग-ध्यानाध्ययनदक्षताः।
तपो यमादिका एते भावसंवरकारिणः ॥१५०३॥

अर्थ—कर्मों के आस्रव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है अथवा ध्यान में लीन हुआ जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको भाव संवर कहते हैं। तेरह प्रकार का चारित्र, दस प्रकार का सर्वोत्कृष्ट धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, समस्त परीषहों का जीतना, पाँच प्रकार का चारित्र, योग ध्यान और अध्ययन की चतुरता, तप, यम, नियम आदि सब भाव संवर के कारण हैं।

भावसंवर से ही दीक्षादि की सार्थकता—

संवरः कर्मणां यस्य मुनेर्योगादिनिग्रहैः।
तस्यैव सफलं जन्मसार्था दीक्षा शुभं शिवम् ॥१५०४॥

अर्थ—जो मुनि अपने मन-वचन-काय के योगों का निग्रह कर कर्मों का संवर करता है उसी का जन्म सफल समझना चाहिए, उसी की दीक्षा सार्थक समझनी चाहिए और उसी को शुभ मोक्ष की प्राप्ति समझनी चाहिए।

भाव संवर के अभाव में दीक्षादि की निरर्थकता—

अक्षमः संवरं कर्तुं यो यतिर्योगचञ्चलैः।
तस्य जातु न मोक्षोऽत्राङ्गक्लेशस्तुषखंडनम् ॥१५०५॥
सन्नद्धः सङ्गरे यद्वद्भटो हन्ति रिपून् बहून्।
तद्वत् संवरितो योगी कर्मारातींस्तपोबलात् ॥१५०६॥
संवरेण विना पुसां वृथा दीक्षा तपोऽखिलम्।
यतः कर्मास्त्रवेणैव वर्द्धते संसृतिस्तराम् ॥१५०७॥

अर्थ—जो मुनि अपने योगों की चंचलता के कारण कर्मों का संवर करने में असमर्थ है उसको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी अवस्था में उसका तप करना चावलों की भूसी को कूटने के समान केवल शरीर को क्लेश पहुँचाना है। जिस प्रकार युद्ध के लिए तैयार हुआ योद्धा युद्ध में बहुत से शत्रुओं को मार डालता है, उसी प्रकार संवर को धारण करने वाला मुनि अपने तपश्चरण के बल से बहुत से कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर डालता है। बिना संवर के मनुष्यों की जिनदीक्षा वा तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है क्योंकि कर्मों का आस्रव होने से संसार की परम्परा बराबर बढ़ती जाती है।

भावसंवर की प्रेरणा

मत्वेति धीधनैः कार्यः संवरो मुक्तिकारकः।
सर्वैर्व्रतादिभिर्योगैः प्रयत्नेन शिवाप्तये ॥१५०८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त चारित्र तपश्चरण आदि धारण कर प्रयत्नपूर्वक मोक्ष देने वाला कर्मों का संवर सदा करते रहना चाहिए।

अशुभ कर्मों के संवर पश्चात् ही शुभ संवर करने की प्रेरणा—

कर्तव्यो मुनिभिः पूर्वं संवरोऽत्राघकर्मणाम्।
स्वात्मध्यानं ततः प्राप्य सिद्ध्यै च शुभकर्मणाम् ॥१५०९॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले पापरूप अशुभ कर्मों का संवर करना चाहिए और फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने आत्मध्यान में लीन होकर शुभ कर्मों का भी संवर करना चाहिए।

निर्जरा का स्वरूप उसके भेद और स्वामी—

सविपाकाविपाकाभ्यां कर्मणां निर्जरा द्विधा।
सविपाकात्र सर्वेषां सदा कर्मविपाकतः ॥१५१०॥
अविपाका मुनीनां सा केवलं जायते तराम्।
तपोभिर्दुष्करैर्विश्वैर्यमाद्यैर्मुक्तिमातृका ॥१५११॥

अर्थ—कर्मों के एकदेश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं, उसके सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा के भेद से दो भेद हैं। उनमें से सविपाक निर्जरा समस्त संसारी जीवों के सदा होती रहती है क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का विपाक प्रतिसमय सबके होता रहता है तथा अविपाक निर्जरा मोक्ष की माता है और वह घोर तपश्चरण तथा समस्त यमों को धारण करने से केवल मुनियों के ही होती है।

अविपाक निर्जरा का दृष्टान्त उसका फल—

यद्वदाम्रफलान्यत्र पचन्तेऽहो बहूष्मणा।
तद्वच्च कृत्स्नकर्माणि तपस्तापैर्मुनीश्वरैः ॥१५१२॥
यथाऽजीर्णयुतो रोगी मलनिर्ज्झरणाद्भवेत् ।
महासुखी मुनिस्तद्वत्कर्मनिर्जरणाद्भुवि ॥१५१३॥
यथा यथाऽत्र जायेत कर्मणां निर्जरा सताम्।
तथा तथा समायाति निकटं मुक्तिनायिका ॥१५१४॥
यदैव निर्जरा सर्वा तपसाऽखिलकर्मणाम्।
तदैव जायते मोक्षोऽनन्तसौख्याकरः सताम् ॥१५१५॥

अर्थ—जिस प्रकार आम के फल अधिक गर्मी से जल्दी पक जाते हैं उसी प्रकार मुनिराज भी अपने तीव्र तपश्चरण की गर्मी से समस्त कर्मों को पका डालते हैं। जिस प्रकार अजीर्ण रोग का रोगी

मल निकल जाने से (दस्त हो जाने से) अधिक सुखी होता है, उसी प्रकार मुनिराज भी कर्मों की निर्जरा हो जाने से अधिक सुखी हो जाते हैं। मुनियों की जैसे-जैसे कर्मों की अधिक निर्जरा होती जाती है, वैसे ही वैसे मुक्तिरूपी नायिका उनके निकट आती जाती है। जब तपश्चरण के द्वारा सज्जनों के समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, उसी समय उनको अनंतसुख देने वाला मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

निर्जरा के कारण तपश्चरणादि की प्रेरणा—

ज्ञात्वेति मुक्तिकामैः सा विधेया मुक्तिकारिणी।
खनी समस्तसौख्यानां तपोरत्नत्रयादिभिः ॥१५१६॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को तपश्चरण और रत्नत्रय आदि के द्वारा समस्त सुखों की खानि और मोक्ष को देने वाली यह कर्मों की निर्जरा अवश्य करनी चाहिए।

भाव मोक्ष, द्रव्य मोक्ष का स्वरूप—

सर्वेषां कर्मणां योऽत्र क्षयहेतुर्जितात्मनः।
विशुद्धः परिणामः स तावन्मोक्षोऽशुभान्तकः ॥१५१७॥
केवलज्ञानिनो योऽत्रविश्लेषः कर्मजीवयोः।
सर्वथा द्रव्यमोक्षः सोऽनन्तशर्माकरो महान् ॥१५१८॥

अर्थ—अपने आत्मा को वश करने वाले मुनियों के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण ऐसा जो अत्यन्त शुद्ध परिणाम होता है उसको समस्त पापों का नाश करने वाला भावमोक्ष कहते हैं। केवली भगवान् के जो कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसको अनंतसुख देने वाला महान् द्रव्य मोक्ष कहते है।

उभय मोक्ष का फल—

यथा पादशिरोऽन्तं हि बद्धस्य दृढबन्धनैः।
मोचनाच्च परं शर्म तथा कृत्स्नविधिक्षयात् ॥१५१९॥
तत ऊर्ध्वस्वभावेन व्रजेदात्माशिवालयम् ।
कृत्स्नकर्मवपुर्नाशाद् गुणाष्टकमयो महान् ॥१५२०॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य अत्यन्त दृढ़ बन्धनों से सिर से पैर तक बँधा हो और फिर उसको छोड़ दिया जाये तो छूटने से वह सुखी होता है उसी प्रकार कर्मों से बँधा हुआ आत्मा समस्त कर्मों के नाश हो जाने से अनंतसुखी हो जाता है। तदनन्तर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण यह आत्मा मोक्ष में जा विराजमान होता है। इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और शरीर भी नष्ट हो जाता है इसलिए भी यह मोक्ष में पहुँच जाता है। उस समय यह सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हो जाता है और सर्वोत्कृष्ट हो जाता है।

सिद्धों के सुख का वर्णन और उसका प्रमाण—

तत्रभुंक्ते निराबाधं सुखं वाचामगोचरम्।
अनन्तं शाश्वतं सिद्धः स्वात्मजं विषयातिगम् ॥१५२१॥
यत्सुखं सकलोत्कृष्टं कालत्रितयगोचरम्।
विश्वदेवमनुष्याणां तिरश्चां भोगभागिनाम् ॥१५२२॥
तस्मादन्तातिगं सौख्यं निरौपम्यं सुखोद्भवम्।
एकस्मिन् समये भुंक्ते सिद्धोऽमूर्तोऽखिलार्थवित्॥१५२३॥

अर्थ—वहाँ पर सिद्ध भगवान् जिस सुख का अनुभव करते हैं वह सुख निराबाध है, वाणी के अगोचर है, अनंत है, नित्य है, केवल स्वात्मा से प्रकट होता है और विषयों से सर्वथा रहित है। समस्त देव, समस्त मनुष्य, समस्त तिर्यंच और समस्त भोगभूमियों का भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में होने वाला जो सर्वोत्कृष्ट सुख है उससे अनंतगुना अनुपम सुख समस्त पदार्थों को जानने वाले अमूर्त सिद्ध भगवान् एक समय में अनुभव करते हैं।

मोक्षसुख प्राप्ति की प्रेरणा—

विज्ञायेति बुधाः शीघ्रं मोक्षं नित्यगुणाम्बुधिम्।
साधयन्तु प्रयत्नेन तपोभिर्दीक्षया यमैः ॥१५२४॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को तपश्चरण, दीक्षा और यम आदि धारण कर प्रयत्नपूर्वक सदा रहने वाले अनुपम गुणों का समुद्र ऐसा यह मोक्ष अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिए।

सप्त तत्त्वों के श्रद्धान की प्रेरणा—

इमानि सप्ततत्त्वानि भाषितानि जिनागमे।
जिनैर्दृक्शुद्धये नित्यं श्रद्धेयानि दृगन्वितैः ॥१५२५॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम में ये सात तत्त्व निरूपण किए हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध रखने के लिए सदा इनका श्रद्धान बनाये रखना चाहिए।

पुण्य, पाप का स्वरूप और उन प्रकृतियों के नाम—

शुभैर्योगक्रियाद्यैश्च पुण्यमुत्पद्यते नृणाम्।
अशुभैः पापमत्यर्थं प्रत्यहं दुःखकारणम् ॥१५२६॥
सद्वेद्यं सुरतिर्यग्नरायुर्नामशुभानि च।
उच्चैर्गोत्रमिमा ज्ञेया द्विचत्वारिंशदेव हि ॥१५२७॥
पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखखानयः ।
पापप्रकृतयः शेषा विश्वदुःखनिबन्धनाः ॥१५२८॥

अर्थ—मनुष्यों को मन-वचन-काय की शुभ क्रियाओं से पुण्य उत्पन्न होता है और अशुभ क्रियाओं से प्रतिदिन दुःख देने वाला अत्यन्त पाप उत्पन्न होता है। सातावेदनीय, देवायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँचों शरीर, तीनों अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, मनुष्यगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थंकर, उच्चगोत्र ये कर्मों की बयालीस प्रकृतियाँ शुभ कहलाती हैं तथा इन्हीं को पुण्य कहते हैं ये पुण्य प्रकृतियाँ तीर्थंकरादिक पदों के सुख देने वाली हैं। इनके सिवाय जो कर्म प्रकृतियाँ हैं, ये सब पाप प्रकृतियाँ कहलाती हैं और समस्त दुःखों को देने वाली हैं।

पुण्य पाप सहित सात तत्त्व ही नौ पदार्थ है—

प्रागुक्तसप्ततत्त्वानि पुण्यपापयुतानि च।
पदार्था नव कथ्यन्ते सम्यग्दृग्ज्ञानगोचराः ॥१५२९॥

अर्थ—पहले कहे हुए सातों तत्त्व पुण्य-पाप के मिलाने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गोचर हैं।

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम व उनके पालन की प्रेरणा—

तेषु तत्त्वपदार्थेषु परां श्रद्धां विधाय च।
दृष्टेरङ्गान्यपीमान्यादेयान्यष्टौ विशुद्धये ॥१५३०॥
निःशङ्कितं च निःकाङ्क्षिताङ्गं निर्विचिकित्सितम्।
अमूढदृष्टिनामाङ्गं ह्युपगूहनसंज्ञकम् ॥१५३१॥
सुस्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावननामकम्।
एतान्यष्टौ महाङ्गानि दृष्टेर्धार्याणि दृग्युतैः ॥१५३२॥

अर्थ—इन तत्त्व और पदार्थों में परम श्रद्धा धारण कर इस सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिए आगे कहे हुए सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का पालन करना चाहिए। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के महा अंग हैं। सम्यग्दृष्टियों को इनका पालन अवश्य करना चाहिए।

निःशंकित अंग का स्वरूप—

उक्ततत्त्वपदार्थेषु तीर्थेशे सकलागमे।
निर्ग्रन्थे च गुरौ धर्मे दयापूर्णे जिनोदिते ॥१५३३॥
रत्नत्रयमये मोक्षमार्गे शङ्काबुधोत्तमैः।
त्यज्यते या सदा स स्यान्निःशङ्किताङ्ग आदिमः ॥१५३४॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त तत्त्वों में, पदार्थों में, तीर्थंकर परमदेव में, उनके कहे हुए आगम में, निर्ग्रन्थ गुरु में भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए दयामय धर्म में और रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में विद्वान् पुरुषों को सब तरह की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिए। इसको सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग कहते हैं।

तीर्थंकरदेव के वचन को ही प्रमाणिक मानने की प्रेरणा—

कुलाद्रिमेरुभूभागं क्वचिद्दैवाच्चलेदहो ।
न जातुदेशकालेऽपि वाक्यं श्रीजिनभाषितम् ॥१५३५॥
इति मत्वाऽत्र सर्वज्ञं निर्दोषं गुणसागरम्।
प्रमाणीकृत्य तीर्थेशं तद्वाक्ये निश्चयं कुरु ॥१५३६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कदाचित् दैवयोग से कुलपर्वत वा मेरुपर्वत का भूभाग चलायमान हो सकता है परन्तु किसी भी देश वा किसी भी काल में भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वचन चलायमान वा अन्यथा नहीं हो सकता। यही समझकर और सर्वज्ञ निर्दोष तथा गुणों के समुद्र ऐसे तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मानकर उनके वचनों का निश्चय करना चाहिए।

सप्त भय व उनके त्याग की प्रेरणा—

इहलोकभयं नाम परलोकभयं भुवि।
अत्राणागुप्तिमृत्याख्यवेदनाकस्मिकाह्वयाः ॥१५३७॥
इमे सप्तभयास्त्याज्या भयकर्मभवा बुधैः।
दृग्विशुद्ध्यै विदित्वानुल्लंघ्यं भावि शुभाशुभम् ॥१५३८॥

अर्थ—इस संसार में सात भय हैं—इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी अरक्षा का भय, मृत्यु का भय, वेदना वा रोग का भय, आकस्मिक भय और परकोटा आदि के न होने से सुरक्षित न रहने का भय ये सातों भय, भय नाम के कर्म से उत्पन्न होते हैं इसलिए सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिए बुद्धिमानों को इन सातों भयों का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जो होनहार शुभ तथा अशुभ है उसको कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता।

निःकांक्षित अंग का स्वरूप—

इह पुत्रकलत्रश्रीराज्यभोगादिशर्मसु।
अमुत्र स्वर्ग-चक्रीन्द्राहमिन्द्रादिपदेषु च ॥१५३९॥
कुदेवश्रुतगुर्वादौ कुधर्मे वारिनिर्जये।
धर्माय मूढभावेन तपोधर्मफलादिभिः ॥१५४०॥
या निराक्रियते नित्यं दुराकाङ्क्षा विरागिभिः।
तन्निःकाङ्क्षाह्वयं सारं ह्यंगं स्वर्मुक्तिभूतिदम् ॥१५४१॥

अर्थ—वीतरागी पुरुष धर्म के लिए किए हुए तपश्चरण आदि धर्म के फल से अज्ञानरूप परिणामों से भी पुत्र, स्त्री, लक्ष्मी, राज्य, भोग आदि कल्याण करने वाले इस लोक सम्बन्धी पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते तथा परलोक में होने वाले स्वर्ग के सुख वा इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि के पदों की आकांक्षा भी नहीं करते। इसी प्रकार कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु और कुधर्म की भी इच्छा कभी नहीं करते और न शत्रुओं के जीतने की इच्छा करते हैं। इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करना है उसको स्वर्ग-मोक्ष की विभूति देने वाला सारभूत निःकांक्षित अंग कहते हैं।

इन्द्रिय सुखादि की आकांक्षा के त्याग की प्रेरणा—

भङ्गुरं त्रिजगत्सर्वं भोगाङ्गं श्वभ्रकारणम्।
कारागारं वपुर्मत्वा काङ्क्षा हेया सुखादिषु ॥१५४२॥

अर्थ—ये समस्त तीनों लोक क्षणभंगुर हैं, भोगोपभोग के साधन सब नरक के कारण हैं और शरीर कारागार के समान है यही समझकर सुखादिक की आकांक्षा सर्वथा दूर कर देनी चाहिए।

विचिकित्सा का स्वरूप व भेद—

द्रव्यभावद्विभेदाभ्यां विचिकित्सा द्विधा मता।
आद्या मुनिवपुर्जाता द्वितीयाऽत्र क्षुधादिजा ॥१५४३॥

अर्थ—द्रव्य और भाव के भेद से विचिकित्सा के दो भेद हैं। पहली मुनियों के शरीर से उत्पन्न हुई द्रव्य विचिकित्सा है और दूसरी भूख-प्यास से उत्पन्न होने वाली भाव विचिकित्सा है।

द्रव्य-भाव विचिकित्सा का स्वरूप—

मुनीनां मलमूत्रादीन् वातकुष्ठादिरुग्व्रजान्।
पश्यतां या घृणा द्रव्यविचिकित्साऽत्र सा शुभा ॥१५४४॥
जैनेऽत्र शासने घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः।
यदि सन्ति न चेदन्यत्समीचीनं किलाखिलम् ॥१५४५॥
इत्यादिचिन्तनं यच्च कातरैः क्रियते हृदि।
भावाख्या विचिकित्सा सा स्मृता मिथ्यात्वकारिणी ॥१५४६॥

अर्थ—मुनियों के मलमूत्र को देखकर अथवा वायु के रोग को वा उनके अन्य रोगों को देखकर जो घृणा करता है वह अशुभ द्रव्य चिकित्सा कहलाती है। यदि जैनशासन में भूख-प्यास की घोर परीषह न हों तो बाकी का समस्त जैनशासन अत्यन्त समीचीन है इस प्रकार का चिंतन कातर लोग ही करते हैं और इसी को मिथ्यात्व बढ़ाने वाली भाव चिकित्सा कहते हैं।

विचिकित्सा का त्याग ही निर्विचिकित्सा अंग है—

एषात्र द्विविधा चित्ते हन्यते या विवेकिभिः।
तत्स्यान्निर्विचिकित्साख्यमङ्गं विश्वसुखप्रदम् ॥१५४७॥

अर्थ—विवेकी पुरुष इन दोनों प्रकार की विचिकित्साओं का जो त्याग कर देते हैं उसको समस्त संसार को सुख देने वाला निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं।

मुनिराज के शरीर से घृणा करने का निषेध—

मुनीन्द्रसद्‌गुणान् सारान् जगद्‌भव्यहितङ्करान्।
विश्वासाधारणान् ज्ञात्वा तद्‌गात्रे त्यज भो घृणाम् ॥१५४८॥

अर्थ—मुनिराज में समस्त संसार में न होने वाले अनेक असाधारण सद्‌गुण हैं वे सब गुण सारभूत हैं और जगत् के समस्त भव्यजीवों का हित करने वाले हैं। यही समझकर मुनिराज के शरीर को देखकर कभी घृणा नहीं करनी चाहिए।

अमूढ़दृष्टि अंग का स्वरूप मूढ़ता त्याग का उपदेश—

बौद्धादिसमये सर्वे वेदस्मृत्यादिदुःश्रुते ।
हरहर्यादिदेवे च सग्रन्थे कुगुरौ खले ॥१५४९॥
श्रेयोऽर्थं दक्षभावेन भक्तिरागाद्युपासनम्।
यन्निराक्रियते स्वान्यैरमूढत्वं तदूर्जितम् ॥१५५०॥
विवेकलोचनेनाऽत्र परीक्ष्य निखिलान्मतान् ।
सारासारांश्च धर्मादीन् मूढत्वं जहि सर्वथा ॥१५५१॥

अर्थ—चतुर पुरुष अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए बौद्ध आदि अन्य समस्त मतों में, वेद-स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रों में, हरि-हर आदि अन्य देवों में और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओं में न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते उसको श्रेष्ठ अमूढ़दृष्टि अंग कहते हैं। चतुर पुरुषों को विवेकरूपी नेत्रों से समस्त मतों की परीक्षा कर लेनी चाहिए उन सबका सार-असार समझ लेना चाहिए। धर्म का स्वरूप समझ लेना चाहिए और फिर अपनी मूढ़ता का त्याग कर देना चाहिए।

उपगूहन अंग का स्वरूप और उसके पालने की प्रेरणा—

निर्दोषस्य निसर्गेण जिनेन्द्रशासनस्य च।
चतुःसङ्घमुनीशानां बालाशक्त-जनाश्रयैः ॥१५५२॥
आगतस्याऽत्र दोषस्याच्छादनं यद्विधीयते।
दक्षैर्नानाविधोपायैरुपगूहनमेव तत् ॥१५५३॥
निष्कलङ्कं शरण्यं च महच्छ्रीजिनशासनम्।
विदित्वागततद्दोषं छादयन्तु बुधा द्रुतम् ॥१५५४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ यह जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिए उसमें तथा चारों प्रकार के मुनियों के संघ में यदि किसी बालक वा असमर्थ मनुष्य के आश्रय से

कोई दोष आ जाये तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादन ही कर देना चाहिए। इसको उपगूहन अंग कहते हैं। यह भगवान् जिनेन्द्रदेव का महा जिनशासन निष्कलंक है और शरणभूत है, यही समझकर चतुर पुरुषों को शीघ्र ही उसमें आये हुए दोषों को आच्छादन करते रहना चाहिए।

स्थितिकरण अंग का स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रेभ्यो घोरतपसोभुवि ।
परीषहोपसर्गाद्यैश्चलतां गृहियोगिनाम् ॥१५५५॥
सुस्थितीकरणं यच्च क्रियते स्वक्रियादिषु।
हितैर्धर्मकरैर्वाक्यैः सुस्थितीकरणं हि तत् ॥१५५६॥
परिज्ञाय जगत्सारांस्तपोधर्मव्रतादिकान्।
स्वर्मुक्तिसाधकांस्तेषुस्थितीकरणमाचरेः ॥१५५७॥

अर्थ—यदि कोई श्रावक वा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्मरूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है। ये तप, धर्म और व्रतादिक सब जगत् में सारभूत हैं और स्वर्ग-मोक्ष के साधन हैं यही समझकर उनमें स्थितिकरण अवश्य करना चाहिए।

वात्सल्य अंग का स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

चतुर्विधेषु सङ्घेषु नाकनिर्वाणगामिषु।
धर्मप्रवर्तकेष्वत्र सद्यः प्रसूतधेनुवत् ॥१५५८॥
स्नेहं भक्त्यादिकं यच्च धर्मबुद्ध्या विधीयते।
धार्मिकैर्धर्मसिद्ध्यर्थं तद्वात्सल्यं जगद्धितम् ॥१५५९॥
चतुर्विधं महासङ्घं विश्वलोकोत्तमं परम्।
गुणैरन्तातिगैर्ज्ञात्वा तद्वात्सल्यं भजान्वहम् ॥१५६०॥

अर्थ—धर्मात्मा पुरुष अपने धर्म की सिद्धि के लिए स्वर्ग-मोक्ष में जाने वाले चारों प्रकार के संघ में तथा धर्म की प्रवृत्ति करने वालों में धर्मबुद्धि से जो हाल की प्रसूता गाय के अन्दर होने वाला बछड़े पर अकृत्रिम स्नेह के समान स्नेह करते हैं और भक्ति करते हैं उसको जगत् का हित करने वाला वात्सल्य अंग कहते हैं। यह चारों प्रकार का संघ समस्त लोक में उत्तम है और अनंत गुणों से सुशोभित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है। यही समझकर प्रतिदिन इस वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिए।

प्रभावना अंग का स्वरूप और उसके माहात्म्य प्रकट करने की प्रेरणा—

मूलोत्तरगुणैर्योगैर्वृक्षमूलादिपूर्वकैः ।
तपोभिर्दुष्करैर्ज्ञानविज्ञानभानुरश्मिभिः ॥१५६१॥
उच्छिद्यान्यमतध्वान्तं विद्भिर्लोके प्रकाशकम्।
धर्मार्हच्छासनादीनां यत् सा प्रभावना मता ॥१५६२॥
सत्यभूतं जगत्पूज्यं भव्यात्तं जिनशासनम्।
भवघ्नं मोक्षदं वीक्ष्य व्यक्तीकुर्वन्तु धीधनाः ॥१५६३॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाएँ डालियाँ आदि होती हैं, उसी प्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं। इन मूलगुणों को धारण करके तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान विज्ञानरूपी सूर्य को किरणों से अन्य मतरूपी अंधकार को नाशकर विद्वान् लोग इस लोक में जो धर्मस्वरूप भगवान् अरहंतदेव के शासन को प्रकाशित करते हैं उसको प्रभावना अंग कहते हैं। यह जिनशासन यथार्थ है, जगत्पूज्य हैं, भव्यजीवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है, संसार को नाश करने वाला है और मोक्ष को देने वाला है। यहीं समझकर बुद्धिमान् लोगों को इसका माहात्म्य प्रकट करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन शुद्धि के लिए अष्ट अंग की रक्षा करने की प्रेरणा—

इमान्यष्टाङ्गसाराणि दर्शनस्य विशुद्धये।
विशुद्धिदानि यत्नेन रक्षणीयानि धीधनैः ॥१५६४॥
यथाराज्याङ्गहीनोऽत्राक्षमो हन्तुं रिपून् नृपः।
तथास्याङ्गैर्विना सम्यग्दृष्टिः कर्मरिपून् क्वचित् ॥१५६५॥

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि आठ अंग हैं। ये अंग सारभूत और सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमानों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए यत्नपूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार राज्य के अंगों रहित हुआ राजा अपने शत्रुओं को नहीं जीत सकता, उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दृष्टि पुरुष भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नहीं जीत सकता।

२५ मल दोषों के नाम व उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

इति मत्वा मुदादायाष्टाङ्गानि दर्शनस्य च।
पञ्चविंशतिरत्रेमे दोषास्त्याज्या मलप्रदाः ॥१५६६॥
त्रिधा मौढ्यं मदा अष्टौ षडनायतनानि च।
दोषाः शङ्कादयोऽत्रैते दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥१५६७॥

अर्थ—यही समझकर सम्यग्दर्शन के इन आठों अंगों को प्रसन्नतापूर्वक धारण करना चाहिए

तथा मलिनता उत्पन्न करने वाले पच्चीस दोषों का त्याग कर देना चाहिए। तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंकादिक दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहे जाते हैं।

देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता, समयमूढ़ता का स्वरूप—

चंडिका क्षेत्रपालेषु ब्रह्मकृष्णेश्वरादिषु।
उपासनं कुदेवेषु यद्दैवमौढ्यमेव तत् ॥१५६८॥
मिथ्यामतानुसारेण लोकाचारोऽघकारकः ।
आचार्यते शठैर्लोकैर्लोकमूढत्वमेव तत् ॥१५६९॥
बौद्धमीमांसकादीनां समयेष्वन्यवर्त्मसु ।
मूढभावेन यो रागस्तन्मौढ्यं समयाभिधम् ॥१५७०॥

अर्थ—चंडी, क्षेत्रपाल वा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि कुदेवों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है। मिथ्यामत के अनुसार जो लोकाचार है वह पाप उत्पन्न करने वाला है, उसका जो अज्ञानी लोक आचरण करते हैं उसको लोकमूढ़ता कहते हैं। अपनी अज्ञानता से बौद्ध मीमांसक आदि के शास्त्रों में वा अन्य मत में जो राग करना है उसको समय मूढ़ता कहते हैं।

मूढ़ताओं के त्याग की प्रेरणा—

एतन्मूढत्रयं निन्द्यं मूढलोकप्रतारकम्।
धर्मध्वंसकरं त्याज्यं श्वभ्रदं दूरतो बुधैः ॥१५७१॥

अर्थ—ये तीनों प्रकार की मूढ़ताएँ अत्यन्त निंद्य हैं, अज्ञानी लोगों को ठगने वाली हैं, धर्म को नाश करने वाली हैं और नरकादिक के दुःख देने वाली हैं, इसलिए बुद्धिमानों को दूर से ही इनका त्याग कर देना चाहिए।

आठ मदों के नाम—

महाजातिकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपोबलाः।
शिल्पित्वं दुर्मदा एतेऽष्टौ हन्तव्या गुणान्वितैः ॥१५७२॥

अर्थ—उत्तम जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्पित्व इन आठों का मद करना दुर्मद है गुणी पुरुषों को इनका अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

उत्तम जाति कुल के मद के त्याग की प्रेरणा हेतुपूर्वक—

भिन्नभिन्नादिजातीनां स्त्रीणां च तिर्यग्योनिषु।
भ्रमद्भिर्यत्पयः पीतमब्ध्यम्बोरधिकं हि तत् ॥१५७३॥
तिर्यग्मनुष्यनारीणां तुग्वियोगजशोकतः।
अनन्तानां यदश्र्यंबु तत्समुद्राम्भसोऽधिकम् ॥१५७४॥

इति स्वमातृपितृंश्च नीचोच्चान्तातिगान् भवे।
ज्ञात्वा दक्षैर्मदस्त्याज्यः सज्जातिकुलयोस्त्रिधा ॥१५७५॥

अर्थ—तिर्यंच योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण भी समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है। तिर्यंच और मनुष्यों की स्त्रियों की अनंत पर्यायों में अपने पुत्र के वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आँसू निकले हैं उनका प्रमाण भी समुद्रों के जल से बहुत अधिक है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को अपने माता-पिता के कुल को ऊँच-नीच से रहित समझकर मन-वचन-काय से उत्तम जाति और उत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिए।

ऐश्वर्य और रूप मद के त्याग की प्रेरणा हेतुपूर्वक—

क्षणविध्वंसि विज्ञायैश्वर्यं चक्र्यादिभूभृताम्।
अरिचौरादिभिः सार्द्धैर्हेयोऽत्रैश्वर्यजो मदः ॥१५७६॥
रोगक्लेशविषास्त्राद्यैः स्वरूपं क्षणभङ्गुरम्।
मत्वा न तत्कृतो गर्वो जातु कार्यो विचक्षणैः ॥१५७७॥

अर्थ—इस संसार में चक्रवर्ती आदि महाराजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर हैं, इसके सिवाय इस धन को चोर चुरा ले जाते हैं शत्रु ले जाते हैं। यही समझकर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह सुन्दर रूप, रोग, क्लेश, विष और शास्त्रादिक के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाता है। यही समझकर बुद्धिमानों को कभी भी अपने रूप का मद नहीं करना चाहिए।

ज्ञान, तप, बल, कलाओं के मद त्याग की प्रेरणा—

अङ्गपूर्वाम्बुधेः संख्यां विदित्वा श्रीजिनागमे।
किञ्चिच्छ्रुतंपरिज्ञाय नादेयस्तन्मदः क्वचित् ॥१५७८॥
उग्रोग्रयादिमहाघोरतपोविधीन् सुयोगिनाम् ।
प्राक्तनानां मुदा ज्ञात्वा हन्तव्यस्तत्कृतो मदः ॥१५७९॥
जिनचक्रिमहर्षीणामप्रमाणं महाबलम्।
विदित्वा स्वबलस्यात्र न कार्यो बलिभिर्मदः ॥१५८०॥
शिल्पित्वं विविधं ज्ञात्वा विज्ञानलेखनादिजम्।
जातु शिल्पमदो नाऽत्र विधेयो ज्ञानशालिभिः ॥१५८१॥

अर्थ—जैन शास्त्रों से ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों की संख्या समझकर थोड़े से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिए। पहले के मुनि उग्र-उग्र तप महाघोर तपश्चरण का मद नहीं करते थे यही समझकर तप का मद भी प्रसन्नतापूर्वक छोड़ देना चाहिए। भगवान् तीर्थंकर परमदेव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी बहुत है और महर्षियों का बल भी बहुत

है, यही समझकर बलवान् पुरुषों को अपने अधिक बल का मद कभी नहीं करना चाहिए। इस संसार में विज्ञान और लेखन आदि की कलाएँ भी अनेक प्रकार की हैं उन सबको जानकर ज्ञानी पुरुषों को उन कलाओं का मद भी कभी नहीं करना चाहिए।

मद करने से हानि और कण्ठगत प्राण रहने पर भी मद नहीं करने का उपदेश—

एतेऽत्राष्टौ मदा निन्द्या निन्द्यकर्मकरां भुवि।
दृग्धर्मध्वंसका हेयाः शत्रवोऽत्रैव पण्डितैः ॥१५८२॥
मदाष्टकमिदं योऽत्र विधत्ते मूढधीर्यतिः।
तेन हत्वादृगादीन् सः नीचयोनीश्चिरं भ्रमेत् ॥१५८३॥
विज्ञायेति न कर्तव्यो मदो जातु गुणान्वितैः।
सज्जात्यादिषु सर्वेषु सत्सु प्राणात्ययेप्यहो ॥१५८४॥

अर्थ—ये आठों मद अत्यन्त निंद्य हैं, निंद्यकर्म करने वाले हैं और सम्यग्दर्शनरूपी धर्म को नाश करने वाले शत्रु हैं, इसलिए विद्वान् लोगों को इन सबका त्याग कर देना चाहिए। जो अज्ञानी पुरुष इन आठों मदों को धारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को नष्ट कर चिरकाल तक नीच योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। यही समझकर गुणी पुरुषों को कंठगत प्राण होने पर भी जाति आदि का मद कभी नहीं करना चाहिए।

६ अनायतन और उनके त्याग की प्रेरणा—

मिथ्यासम्यक्त्वकुज्ञानकुचारित्राणि दुर्धियः।
तद्वन्तस्त्रय एतानि निन्द्यानायतनानि षट् ॥१५८५॥
श्वभ्रसंबलहेतूनि विश्वपापाकराणि च।
त्याज्यानि दृष्टिघातीनीमान्यनायतनानि षट् ॥१५८६॥

अर्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इन तीनों की धारण करने वाले अज्ञानी ये छह निंद्य अनायतन गिने जाते हैं। ये छहों अनायतन नरक के कारण हैं, समस्त पापों को करने वाले हैं और सम्यग्दर्शन का घात करने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमानों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए।

शंकादि दोष के त्याग की प्रेरणा—

दृष्टेः प्रागुक्तनिःशङ्कादिभ्यः शङ्कादयोऽशुभाः।
विपरीता बुधैर्ज्ञेया अष्टौ दोषा मलप्रदाः ॥१५८७॥

अर्थ—पहले सम्यग्दर्शन के जो निःशंकित आदि आठ अंग बतलाए हैं उनसे विपरीत शंका, कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं। ये दोष भी सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करने वाले हैं इसलिए बुद्धिमानों को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

२५ दोषों के त्यागने की पुनः प्रेरणा—

एते दोषा त्रिशुद्ध्या परिहर्तव्या दृगन्तकाः।
पञ्चविंशतिरात्मज्ञैर्दृग्विशुद्ध्यै कुमार्गदाः ॥१५८८॥

अर्थ—ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शन को नाश करने वाले हैं और कुमार्ग को देने वाले हैं इसलिए आत्मा के स्वरूप को जानने वाले विद्वानों को अपना सम्यग्दर्शन विशुद्ध रखने के लिए मन-वचन-काय से इनका त्याग कर देना चाहिए।

मलीन सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण नहीं—

मलिने दर्पणे यद्वत्प्रतिबिम्बं न दृश्यते।
सदोषे दर्शने तद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्बुजम् ॥१५८९॥
मत्वेति दर्शनं जातु स्वप्नेऽपि मलसन्निधिम्।
निर्मलं मुक्तिसोपानं न नेतव्यं शिवार्थिभिः ॥१५९०॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलिन वा सदोष सम्यग्दर्शन में मुक्तिस्त्री का मुखकमल दिखाई नहीं देता। यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को मोक्ष का कारणभूत अपना निर्मल सम्यग्दर्शन स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं करना चाहिए।

निर्मल सम्यग्दर्शन की महिमा—

धन्यास्त एव संसारे बुधैः पूज्याः सुरैः स्तुताः।
दृष्टिरत्नं न यैर्नीतं कदाचिन्मलसन्निधौ ॥१५९१॥
तस्यैव सफलं जन्म मन्येहं कृतिनो भुवि।
शशाङ्कनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥१५९२॥

अर्थ—जिन लोगों ने अपना सम्यग्दर्शनरूपी रत्न कभी भी मलिन नहीं किया है वे ही मनुष्य इस संसार में धन्य हैं विद्वान् लोग उनकी ही पूजा करते हैं और देव लोग उन्हीं की स्तुति करते हैं। जिस पुरुष ने चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यग्दर्शन स्वीकार कर लिया है उसी महा पुण्यवान् का जन्म मैं सफल मानता हूँ।

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्ति असम्भव है—

यतश्चारित्रतो भ्रष्टाः केचित्सम्यक्त्वशालिनः।
सिद्ध्यन्ति तपसा लोके स्वीकृत्य चरणं पुनः ॥१५९३॥
ये भ्रष्टा दर्शनात्ते च भ्रष्टा एव जगत्त्रये।
चारित्रे सत्यपि ज्ञाने मोक्षस्तेषां न जातुचित् ॥१५९४॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कितने ही सम्यग्दृष्टि ऐसे हैं जो चारित्र से भ्रष्ट हो जाते

हैं परन्तु वे फिर भी चारित्र को धारण कर तपश्चरण के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे चारित्र के होने पर भी तथा ज्ञान के होने पर भी तीनों लोकों में कहीं भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

सम्यग्दर्शन की महिमा दृष्टान्तपूर्वक—

यस्माच्च ज्ञानचारित्रे मिथ्यात्वविषदूषिते।
भवतो न क्वचित्काले परमेऽपि शिवाप्तये ॥१५९५॥
अतो विनाऽत्र सम्यक्त्वं ज्ञानमज्ञानमेव भोः।
दुश्चारित्रं च चारित्रं कुतपः सकलं तपः ॥१५९६॥
अन्यद्वा दुष्करं कायक्लेशमातपनादिकम्।
कथ्यते निष्फलं पुंसा तुषखंडन-वज्जिनैः ॥१५९७॥
यथा बीजादृृते जातु क्षेत्रे न प्रवरं फलम्।
दर्शनेन विना तद्वन्न चारित्रे शिवादि च ॥१५९८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित हुए ज्ञान और चारित्र कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों फिर भी उनसे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिए कहना चाहिए कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है, चारित्र मिथ्या चारित्र है और समस्त तप कुतप हैं। इनके सिवाय जो अत्यन्त कठिन आतपनादिक योग हैं वे भी सब बिना सम्यग्दर्शन के केवल शरीर को क्लेश पहुँचाने वाले हैं और चावल की भूसी को कूटने के समान सब निष्फल हैं ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जिस प्रकार बिना बीज के किसी भी खेत में कभी भी उत्तम फल उत्पन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के केवल चारित्र से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन का फल—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नं मातंगमपि भूतले।
भाविमुक्तिवधूकान्तं देवा देवं वदन्त्यहो ॥१५९९॥
सम्यग्दृग्रत्नकण्ठस्थो निर्धनोऽपि जगत्त्रये।
उच्यते पुण्यवान् सद्भिः स्तुत्यः पूज्यो महाधनी॥१६००॥
यतोत्रैकभवे सौख्यं दुःखं वा कुरुते धनम्।
इहामुत्र च सम्यक्त्वं केवलं सुखमूर्जितम् ॥१६०१॥
सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेऽपि वरं सताम्।
सम्यक्त्वेन विना नैव निवासो राजते दिवि ॥१६०२॥

यतः श्वभ्राद्विनिर्गत्य क्षिप्त्वाप्राक्तनाशुभम्।
सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात्तीर्थनाथो भवेत्सुधीः ॥१६०३॥
सम्यक्त्वेन विना देवा आर्तध्यानं विधाय भोः।
दिवश्च्युत्वा प्रजायन्ते स्थावरेष्वत्र तत् फलात् ॥१६०४॥
सम्यग्दृष्टिर्गृहस्थोपि कुर्वन्नारम्भमञ्जसा।
पूजनीयो भवेल्लोके नृनाकिपतिभिः स्तुतः ॥१६०५॥
दृष्टिहीनो भवेत्साधुः कुर्वन्नपि तपो महत्।
दृष्टिशुद्धैः सुरैर्मर्त्यै र्निंदनीयः पदे पदे ॥१६०६॥
इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेशलौकान्तिकमहात्मनाम् ।
बलादीनां पदान्यत्र महान्ति च सुरालये ॥१६०७॥
यानि तानि न लभ्यन्ते कुर्वद्भिः परमं तपः।
मुनिभिश्च विना दृष्टिं संयमाद्यखिलैः परैः ॥१६०८॥

अर्थ—यदि चांडाल भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो तो गणधरादिक देव उसको होनहार मुक्तिरूपी स्त्री का स्वामी और देव कहते हैं। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शनरूपी रत्न शोभायमान है वह यदि निर्धन हो तो भी सज्जन पुरुष उसको तीनों लोकों में पुण्यवान् कहते हैं, उसको पूज्य समझते हैं, उसकी स्तुति करते हैं और उसको महाधनी समझते हैं। इसका भी कारण यह है कि धन इसी एक भव में सुख वा दुःख देता है परंतु सम्यग्दर्शन इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट सुख देता है। सज्जन पुरुषों को इस सम्यग्दर्शन के साथ-साथ नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के बिना स्वर्ग में निवास करना भी सुशोभित नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष नरक में से निकलकर तथा उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से पहले के समस्त अशुभ कर्मों को नाशकर महा बुद्धिमान् तीर्थंकर हो सकता है परंतु बिना सम्यग्दर्शन देव आर्तध्यान धारण कर लेते हैं और फिर मिथ्यात्व के माहात्म्य से स्वर्ग से आकर स्थावरों में उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष गृहस्थ होकर भी तथा प्रारम्भ करता हुआ भी इन्द्र, नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूजनीय होता है और सब उसकी स्तुति करते हैं परंतु साधु होने पर भी जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह घोर तपश्चरण करता हुआ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले देव और मनुष्यों से पद-पद पर निंदनीय माना जाता है। इन्द्र, अहमिन्द्र, तीर्थंकर, लौकांतिक, बलभद्र आदि के जो-जो सर्वोत्कृष्ट पद हैं वे बिना सम्यग्दर्शन के परम तपश्चरण करते हुए भी तथा समस्त संयमादिकों को धारण करने पर भी मुनियों को भी कभी प्राप्त नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि के अशुभ संयोगों की प्राप्ति का अभाव—

नारकत्वं च तिर्यक्त्वं कुगतिं निन्दितं कुलम्।
स्त्रीत्वं च विकलाङ्गत्वं क्लीबत्वं च कुजन्मताम् ॥१६०९॥
अल्पायुस्त्वं दरिद्रत्वं कातरत्वममान्यताम् ।
धर्मार्थकामदूरत्वं शुभभावादिविच्युतिम् ॥१६१०॥
रोगित्वं बहुपापित्वं दुःखित्वं मूर्खतादिकान्।
अव्रतिनोऽपि दृष्ट्याढ्या न लभन्तेऽत्र जातुचित् ॥१६११॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे अव्रती ही क्यों न हों तथापि वे नरक गति में, तिर्यंचगति में, कुगति में, निंदित कुल में, स्त्री पर्याय में, नपुंसक पर्याय में उत्पन्न नहीं होते। वे विकल वा अंगभंग शरीर को भी धारण नहीं करते, उनका कुजन्म भी नहीं होता, वे अल्पायु भी नहीं होते, दरिद्री भी नहीं होते, कातर भी नहीं होते, अमाननीय भी नहीं होते, धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ से दूर भी नहीं रहते, शुभ भावों से रहित भी नहीं होते, वे रोगी भी नहीं होते, अधिक पापी भी नहीं होते, दुःखी भी नहीं होते और मूर्ख भी नहीं होते। सम्यग्दृष्टि पुरुष इन अशुभ संयोगों को कभी प्राप्त नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि के ज्योतिषी आदि निंद्य देवों में उत्पन्न होने का निषेध—

ज्योतिर्भावनभौमेषु दिवि किल्विषिकेषु च।
प्रकीर्णकाभियोग्येषु हीनेषु वाहनेषु च ॥१६१२॥
अन्येषु निन्द्यभोगेषु कुभूम्यादौ दृगन्विताः।
उत्पद्यन्ते कदाचिन्न व्रतादिरहिता अपि ॥१६१३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष व्रतरहित होने पर भी ज्योतिषी देवों में, भवनवासी देवों में, व्यंतर देवों में, वैमानिक देवों के किल्विषिक देवों में, प्रकीर्णक देवों में, आभियोग्य देवों में, वाहनादिक बनने वाले हीन देवों में उत्पन्न नहीं होते, जहाँ पर निंदनीय भोगोपभोग की सामग्री मिलती है वहाँ कहीं भी उत्पन्न नहीं होते तथा कुभोगभूमि में भी उत्पन्न नहीं होते। सम्यग्दृष्टि इन स्थानों में कभी उत्पन्न नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि को पूज्य पद की प्राप्ति—

किन्तु स्वर्गे प्रजायन्ते दृगाढ्या दृक्शुभोदयात् ।
इन्द्राः पूज्याः प्रतीन्द्राश्च लोकपाला महर्द्धिकाः ॥१६१४॥
लौकान्तिकाश्च देवार्च्याः सामानिकादयोऽमराः।
विश्वभोगोपभोगाढ्या जिनधर्मप्रभावकाः ॥१६१५॥
मनुजत्वेऽपि तीर्थेशा बलाः चक्रेश्वरादयः।
कामदेवा गणेशाश्च पूजिता नृसुरासुरैः ॥१६१६॥

ओजस्तेजःप्रतापाढ्याः महाविद्यायशोऽङ्किताः।
जिनभक्ताश्च जायन्ते चतुर्नरार्थसाधकाः ॥१६१७॥
किमत्र बहुनोक्तेन सम्यग्दृष्टिसतां क्वचित्।
सुदेवनृगती मुक्त्वाऽन्या गतिर्विद्यते न भोः ॥१६१८॥

अर्थ—किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्गों में पूज्य इन्द्र होते हैं, अहमिन्द्र होते हैं, प्रतीन्द्र होते हैं, बड़ी ऋद्धि को धारण करने वाले लोकपाल होते हैं, देवों के द्वारा पूज्य ऐसे लौकांतिक देव होते हैं अथवा समस्त भोगोपभोगों की सामग्री से सुशोभित और जैनधर्म की प्रभावना करने वाले सामानिक जाति के देव होते हैं। यदि वे मनुष्य होते हैं तो तीर्थंकर, बलभद्र, चक्रवर्ती, कामदेव और गणधर होते हैं जो मनुष्य, देव और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य होते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष बड़े ओजस्वी, तेजस्वी और प्रतापी होते हैं, अनेक महाविद्याओं तथा महायश से सुशोभित होते हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव के भक्त होते हैं और चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले होते हैं। बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि सज्जन पुरुषों को श्रेष्ठ देवगति और श्रेष्ठ मनुष्यगति को छोड़कर अन्य कोई गति नहीं होती।

सम्यग्दर्शन की उपसंहारादि विवरण—

इत्यादि प्रवरं ज्ञात्वा तन्माहात्म्यं सुखार्थिनः।
सर्वयत्नेन कुर्वीध्वं दृग्विशुद्धिं जगत्सुताम् ॥१६१९॥

(छन्द–मालिनी)

निखिलगुणनिधानं मुक्तिसोपानमाद्यं दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम्।
कुगतिगृहकपाटं धर्ममूलं सुखाब्धिं भजत परमयत्नाद्दर्शनं पुण्यभाजः ॥१६२०॥

अर्थ—इस प्रकार इस सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य समझकर सुख चाहने वाले पुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ-साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य ऐसी इस सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को धारण करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है, मोक्ष की प्रथम सीढ़ी है, पापरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुठार के समान है, पुण्य बढ़ाने के लिए तीर्थ है, सब में प्रधान है, कुगतिरूपी घर को बन्द करने के लिए कपाट के समान है, धर्म का मूल है और सुख का समुद्र है, इसलिए पुण्यवान् पुरुषों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धतापूर्वक धारण करना चाहिए।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्ति की भावना—

विश्वाभ्यर्चमनन्तशर्मजनकं स्वर्मोक्षमार्गं परं
विश्वानर्थहरं परार्थशिवदं पापारिनाशं करम्।
सद्धर्मामृतसागरं निरुपमं श्रीदर्शनं मे हृदि तिष्ठत्वत्र
शिवाप्तयेऽप्यनुदिनं संकीर्तितं क्षायिकम् ॥१६२१॥

(छन्द-स्रग्धरा)

तीर्थेशास्तीर्थभूता जिनवरवृषभाः क्षायिकैर्दृक्चिदाद्यै
रन्तातीतैर्गुणोघैस्त्रिभुवनमहिताभूषिताः संस्तुताश्च।
सिद्धा विश्वा ग्रभूस्था हतभववपुषो ज्ञानदेहा अमूर्ताः
सर्वे श्रीसाधवो मे त्रिपदगुणयुता दृग्विशुद्धिं प्रदद्युः॥१६२२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचारव्यावर्णने दर्शनाचारवर्णनो नाम पंचमोऽधिकारः॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में पूज्य है, अनंतसुख देने वाला है, स्वर्ग-मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करने वाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, सद्धर्मरूपी अमृत का समुद्र है और समस्त उपमाओं से रहित है। ऐसा यह ऊपर कहा हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन मेरे हृदय में विराजमान रहे। भगवान् तीर्थंकर परमदेव संसार भर में तीर्थभूत हैं, जिनवरों में भी श्रेष्ठ हैं तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों को धारण करने के कारण तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में सुशोभित हैं और तीनों लोक उनकी स्तुति करता है। इसी प्रकार भगवान् सिद्ध परमेष्ठी समस्त लोक के ऊपर विराजमान हैं, संसार तथा शरीर से रहित हैं, ज्ञान ही उनका शरीर है और वे अमूर्त हैं तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं। इस प्रकार के ये पाँचों परमेष्ठी मुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रदान करें।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में पंचाचार के वर्णन में दर्शनाचार को वर्णन करने वाला यह पाँचवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

षष्ठोऽधिकारः

मंगलाचरण और ज्ञानाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

ज्ञानाचारफलप्राप्तानर्हत्सिद्धत्रियोगिनः ।
नत्वा वक्ष्येऽष्टधा ज्ञानाचारं विश्वाग्रदीपकम् ॥१६२३॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच परमेष्ठी ज्ञानाचार के फल को प्राप्त हुए हैं इसलिए इनको नमस्कार कर समस्त लोक-अलोक को दिखलाने वाले आठ प्रकार के ज्ञानाचार का स्वरूप अब मैं कहता हूँ।

ज्ञानाचार का स्वरूप और उसके भेद—

येनात्मा बुध्यते तत्त्वं मनो येन निरुध्यते।
पापाद्विमुच्यते येन तज्ज्ञानं ज्ञानिनो विदुः ॥१६२४॥
येन रागादयो दोषाः प्रणश्यन्ति द्रुतं सताम्।
संवेगाद्याः प्रवर्द्धन्ते गुणा ज्ञानं तदूर्जितम् ॥१६२५॥
येनाक्षविषयेभ्योऽत्र विरज्य शिववर्त्मनि।
ज्ञानी प्रवर्तते नित्यं तज्ज्ञानं जिनशासने ॥१६२६॥
कालाख्यो विनयाचारः उपधानसमाह्वयः।
बहुमानाभिधो निह्नवाचारो व्यञ्जनाह्वयः ॥१६२७॥
अर्थाचाराभिधानश्च ततस्तदुभयाभिधः।
ज्ञानाचारस्य विज्ञेया अष्टौ भेदा इमे बुधैः ॥१६२८॥

अर्थ—जिस ज्ञान से आत्मा का स्वरूप जाना जाये, जिस ज्ञान से मन वश में हो जाये और जिस ज्ञान से समस्त पाप छूट जायें उसी को ज्ञानी पुरुष ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से सज्जनों के रागादिक दोष सब नष्ट हो जायें और संवेगादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हो जायें उसको उत्तम ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों से विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाता है जिनशासन में उसी को ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार। इस प्रकार विद्वान् लोग ज्ञानाचार के आठ भेद बतलाते हैं।

स्वाध्याय करने के अयोग्य काल—

पूर्वाह्णस्यापराह्णस्य पूर्वपश्चिमयामयोः।
रजन्यामध्यवेलायाः पूर्वपश्चिमभागयोः ॥१६२९॥
तथामध्याह्नकालस्य कालं द्विघटिकाप्रमम्।
प्रत्येकं विद्धि सिद्धान्तपाठाद्ययोग्यमेव च ॥१६३०॥

अर्थ—पूर्वाह्न के पूर्व प्रहर की एक घड़ी, बाद के प्रहर की एक घड़ी, मध्य की दो घड़ी, अपराह्न के अन्तिम की एक घड़ी, आगे के प्रहर की पूर्व घड़ी, मध्य की दो घड़ी। मध्यरात्रि में पूर्व और पश्चिम बाद की एक-एक दो घड़ी, मध्याह्न की भी पहले और बाद की एक-एक घड़ी ऐसे दो दो घड़ी का मध्यकाल में सिद्धान्त ग्रन्थों को पढ़ने के लिए अयोग्य काल है अथवा सन्धि काल के पहले और बाद की दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय का काल है। सन्धि काल के आगे और पीछे की दो-दो घड़ी (चारों सन्धियों की) स्वाध्याय के लिए अयोग्य है। विचार कर चिन्तन कर यही अर्थ लगाना है।

निर्दोष काल में स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

एतान् सदोषकालांश्च त्यक्त्वा स्वाध्याय ऊर्जितः।
ग्राह्य आगमपाठाद्याः कार्याः काले शुभे परे ॥१६३१॥

अर्थ—इन सदोष कालों को छोड़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिए तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिए।

स्वाध्याय प्रारम्भ और समाप्ति के काल का वर्णन आषाढ़ादि माह की अपेक्षा—

पूर्वाह्णेऽत्र यदा सप्तपादच्छाया भवेत्तदा।
स्वाध्यायो हि गृहीतव्यो निर्विकल्पेन चेतसा ॥१६३२॥
आषाढे द्विपदच्छाया पुष्यमासे चतुष्पदा।
यदावतिष्ठते शेषा निष्ठापनीय एव सः ॥१६३३॥
तयोर्मासद्वयोर्मध्ये कालः स्वाध्यायमोचने।
प्रत्येकं शेषमासानां वृद्धिहानियुतः स्फुटम् ॥१६३४॥
पादयोः षष्ठभागोऽत्र भवेज्ज्ञात्वेति योगिभिः।
कर्तव्यो मुक्तये काले स्वाध्यायस्तत्त्वपूरितः ॥१६३५॥
अपराह्णेऽत्रामध्याह्णाद्विमुच्यघटिकाद्वयम् ।
स्वाध्यायो ह्यपराह्णाख्यो ग्राह्यो दक्षैःप्रयत्नतः ॥१६३६॥
दिनस्य पश्चिमे भागे सप्तपादप्रमाणका।
यदावतिष्ठते छाया तदा मोक्तव्य एव सः ॥१६३७॥

पूर्वरात्रेः परित्यज्य किलाद्यं घटिकाद्वयम्।
गृह्णन्तु यतयः पूर्वरात्रिस्वाध्यायमञ्जसा ॥१६३८॥
त्यक्त्वामध्याह्नरात्रेश्च काले द्विघटिकामितम्।
स्वाध्यायोऽत्रविधेयः पश्चिमरात्रिसमाह्वयः ॥१६३९॥
आद्यमध्यावसानानां प्रत्येकं दिनरात्रयोः।
त्यक्त्वा द्विघटिकाकालं स्वाध्यायो योग्यमञ्जसा ॥१६४०॥
पूर्वपश्चिमभागोत्थं शेषकालेषु सर्वदा।
बुधा गृह्णन्तु मुञ्चन्तु सिद्ध्यै स्वाध्यायमूर्जितम् ॥१६४१॥

अर्थ—पूर्वाह्न के समय जब सात पैर छाया हो जाये तब मुनियों को अपने सब विकल्प छोड़कर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए। आषाढ़ महीने में जब छाया दो पद रह जाये तथा पौष मास में जब छाया चार पैर रह जाये तब मुनियों को स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिए यह आषाढ़ और पौष महीने में स्वाध्याय समाप्त करने का काल बतलाया। बाकी के महीनों में छाया की हानि-वृद्धि के अनुसार स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिए। प्रत्येक महीने में दो पैर का छठा भाग घटाना बढ़ाना चाहिए अर्थात् श्रावण में दो पैर और एक पैर का तीसरा भाग, भादों में दो पैर और एक पैर का दो भाग, आश्विन में तीन पैर, कार्तिक में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, मगसिर में तीन पैर एक पैर का दो भाग तथा पौष में चार पैर छाया रह जाये तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए। मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस प्रकार योग्य समय में तत्त्वों से भरा हुआ स्वाध्याय करना चाहिए। (माघ में तीन पैर एक पैर का दो भाग, फाल्गुन में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, चैत्र में तीन पैर, वैशाख में दो पैर और एक पैर का दो तिहाई भाग, जेठ में दो पैर एक पैर का तीसरा भाग और आषाढ़ में दो पैर छाया रहने पर स्वाध्याय की समाप्ति का काल समझना चाहिए।) मध्याह्न काल की दो घड़ी छोड़ चतुर पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक अपराह्न समय का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिए। दिन के पश्चिम भाग में जब छाया सात पैर बाकी रह जाये तब स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिए। पूर्व रात्रि की दो घड़ी छोड़कर मुनियों को पूर्व रात्रि का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिए तथा मध्य रात्रि की दो घड़ी छोड़कर पिछली रात्रि का स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए। दिन के आदि, मध्य, अंत में तथा रात्रि के आदि, मध्य, अंत में दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिए। दिन-रात का पूर्व भाग और अंतिम भाग स्वाध्याय के अयोग्य काल है उसको छोड़कर बाकी के समय में बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय का प्रारम्भ तथा समाप्ति करनी चाहिए।

उल्कापातादि समय में सिद्धान्त शास्त्र के स्वाध्याय का निषेध—

अग्निवर्णौ हि दिग्दाह उल्कापातो नभोऽङ्गणान्।
विद्युदिन्द्रधनुःसन्ध्यापीतलोहितवर्णभा ॥१६४२॥

दुर्दिनो भ्रमसंयुक्तो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः।
कलहादिर्धराकम्पो धूमाकारात्तमंबरम् ॥१६४३॥
मेघगर्जनमित्याद्या दोषा विघ्नादिहेतवः ।
त्याज्याः सिद्धान्तसूत्रे स्वाध्यायस्य पाठकादिभिः ॥१६४४॥

अर्थ—जिस समय अग्निवर्ण का दिशाओं का दाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल-पीले वर्ण की संध्या हो, भ्रमपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य वा चन्द्रमा का ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धुँए के आकार का कोहरा फैला हो वा बादल गरज रहा हो ये सब दोष सिद्धान्त सूत्रों के पढ़ने में विघ्न के कारण हैं, इसलिए पाठकों को इन समयों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

काल शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय करने का फल—

कालशुद्धिं विधायेमां ये पठन्ति जिनागमम्।
निर्जरा विपुला तेषां कर्मणामास्त्रवोऽन्यथा ॥१६४५॥

अर्थ—जो मुनि इस काल शुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिनागम का पठन-पाठन करते हैं उनके कर्मों की बहुत सी निर्जरा होती है। यदि वे अकाल में ही स्वाध्याय करते हैं तो उनके कर्मों का आस्त्रव ही होता है।

द्रव्य शुद्धि का स्वरूप, उसे रखने की प्रेरणा—

रुधिरं च व्रणादीनि मांसपूयविडादयः।
इत्याद्यन्याशुचिद्रव्या देहे स्वस्य परस्य वा ॥१६४६॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन पाठकैर्द्रव्यशुद्धये।
स्वाध्यायस्य समारम्भे द्रव्यशुद्धिरियं मता ॥१६४७॥

अर्थ—स्वाध्याय करने वालों को अपनी द्रव्य शुद्धि बनाये रखने के लिए अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मांस, पीव, विष्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हों तो उनका प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए तब स्वाध्याय को प्रारम्भ करना चाहिए। इसको द्रव्य शुद्धि कहते हैं।

क्षेत्र शुद्धि का स्वरूप, क्षेत्र शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय की प्रेरणा—

चतुर्दिक्षु शुभं क्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम्।
रक्तास्थिरहितं पूतं संशोध्य क्रियते बुधैः ॥१६४८॥
स्वाध्यायो योगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये।
कर्मणां निर्जरायैवा क्षेत्रशुद्धिर्मताऽत्र सा ॥१६४९॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए, अज्ञान को दूर करने के लिए और

कर्मों की निर्जरा करने के लिए अंग पूर्वों का स्वाध्याय करना चाहिए और उस समय चारों ओर का सौ-सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिए। सौ-सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिए, इसको क्षेत्र शुद्धि कहते हैं।

भाव शुद्धि का स्वरूप और इस पूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा–

क्रोधमानादिकान्सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोकदुर्मदान्।
हास्यारतिभयादींश्च त्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ॥१६५०॥
कृत्वा यो गृह्यते दक्षैः स्वाध्यायो जिनसूत्रजः।
त्रिशुद्ध्या सास्य विज्ञेया भावशुद्धिर्विशुद्धिदा ॥१६५१॥

अर्थ–चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति, भय आदि सबका त्यागकर तथा मन को प्रसन्नकर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जिनसूत्रों का स्वाध्याय करते हैं। इसको विशुद्धता उत्पन्न करने वाली भाव शुद्धि कहते हैं।

द्रव्यादिक शुद्धिपूर्वक स्वाध्याय का फल–

इति सत्कालसद्द्रव्यक्षेत्रभावाश्रितां पराम्।
कृत्वा चतुर्विधां शुद्धिं स्वाध्याये ये पठन्त्यहो ॥१६५२॥
वा पाठयन्ति सिद्धान्तं तेषामाविर्भवेत्स्वयम्।
ऋद्ध्यादिभिर्गुणैः सर्वैःसहाखिलं श्रुतं परम् ॥१६५३॥

अर्थ–जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, श्रेष्ठ द्रव्यशुद्धि, श्रेष्ठ क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर अर्थात् चारों प्रकार की शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धान्त शास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है।

स्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य शास्त्र–

अङ्गपूर्वाणि वस्तूनि प्राभृतादीनि यानि च।
भाषितानि गणाधीशैःप्रत्येकबुद्धियोगिभिः ॥१६५४॥
श्रुतकेवलिभिर्विद्भिः दशपूर्वधरैर्भुवि।
अप्रस्खलितसंवेगैस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥१६५५॥
उक्तस्वाध्यायवेलायां युज्यन्ते चार्यिकात्मनाम्।
पठितुं चोपदेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥१६५६॥

अर्थ–अंग, पूर्व, वस्तु तथा जो प्राभृत गणधरों के कहे हुए हैं। प्रत्येकबुद्ध योगियों के कहे हुए हैं, श्रुतकेवलियों के कहे हुए हैं, दशपूर्वधारी विद्वानों के कहे हुए हैं अथवा जिनका संवेग कभी प्रस्खलित नहीं हुआ ऐसे योगियों के द्वारा कहे हुए हैं वे सब मुनियों को ऊपर लिखे हुए स्वाध्याय के समय में ही पढ़ने चाहिए तथा अन्य सब मुनियों को उनका उपदेश देना चाहिए। स्वाध्याय के बिना उनको अन्य किसी प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिए।

अन्य काल में पढ़ने योग्य शास्त्र—

चतुराराधनाग्रन्था मृत्युसाधनसूचकाः।
पञ्चसङ्ग्रहग्रन्थाश्च प्रत्याख्यानस्तवोद्भवाः ॥१६५७॥
षडावश्यकसंदृब्धा महाधर्म-कथान्विताः।
शलाकापुरुषाणां चानुप्रेक्षादि गुणैर्भृताः ॥१६५८॥
इत्याद्या ये परे ग्रन्थाश्चरित्रादय एव ते।
सर्वदा पठितुं योग्याः सत्स्वाध्यायं विना सताम् ॥१६५९॥

अर्थ—मृत्यु के साधनों को सूचित करने वाले चारों आराधनाओं के ग्रन्थ, पंचसंग्रह (गोम्मटसार आदि), प्रत्याख्यान-स्तुति के ग्रन्थ, छहों आवश्यकों को कहने वाले ग्रन्थ, महाधर्म की कथाओं को कहने वाले ग्रन्थ, शलाका पुरुषों के ग्रन्थ, अनुप्रेक्षादिक गुणों से परिपूर्ण ग्रन्थ तथा चरित्र आदि जितने अन्य ग्रन्थ हैं उनको सज्जन पुरुष स्वाध्याय काल के बिना अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं।

अंग और पूर्वादि शास्त्र का प्रारम्भ उपवासादि पूर्वक करना चाहिए—

अङ्गानां सर्वपूर्वाणां वस्तूनां प्राभृतात्मनाम्।
प्रारम्भेऽत्र समाप्तौ चैकशो ह्यनुज्ञया गुरोः ॥१६६०॥
उपवासो विधातव्यो व्युत्सर्गाः पञ्च वा बुधैः।
अकालादिजदोषस्य विशुद्ध्यर्थं शिवाप्तये ॥१६६१॥

अर्थ—ग्यारह अंग, चौदह पूर्व, वस्तु और प्राभृत शास्त्रों का स्वाध्याय प्रारम्भ करने के समय तथा समाप्ति के समय गुरु की आज्ञा से एक-एक उपवास करना चाहिए अथवा बुद्धिमानों को पाँच कायोत्सर्ग करना चाहिए। ये उपवास वा कायोत्सर्ग अकाल से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए करने चाहिए।

विनयाचार का स्वरूप—

सुपर्यंकार्द्धपर्यंकवीरासनादिकान् बहून्।
विधाय हृदये धृत्वा प्रतिलेख्य करद्वयम् ॥१६६२॥
नत्वा सिद्धान्तसूत्राणि पठ्यन्ते यत्र योगिभिः।
सूत्रार्थयोगशुद्ध्या स ज्ञानस्य विनयो मतः ॥१६६३॥

अर्थ—मुनि लोग जो पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन आदि में से कोई एक आसन लगाकर, हाथों को शुद्धकर, सिद्धान्त सूत्रों को ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान कर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जो सूत्र वा सूत्र के अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञान का विनय वा विनयाचार कहते हैं।

उपधान ज्ञानाचार का स्वरूप—

आचाम्लनिर्विकृताद्यैः पक्वान्नादिरसोज्झनैः।
विधाय नियमं ग्रन्थसमाप्त्यन्तं श्रुतोत्सकैः ॥१६६४॥
सिद्धान्तं पठ्यते यत्राग्रहेण स्वार्थसिद्धये।
आचार उपधानाख्यः स ज्ञानस्य स्मृतो महान् ॥१६६५॥

अर्थ—शास्त्रज्ञान की उत्कट इच्छा रखने वाले मुनि ग्रन्थ की समाप्ति तक केवल भात मिला माड़ खाने का निर्विकृति (विकार रहित पौष्टिक रहित) आहार ग्रहण करने का वा पक्वान्न रस को त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिए आग्रह पूर्वक जो सिद्धान्तों का पठन-पाठन करते हैं उसको ज्ञान को उपधान नाम का आचार कहते हैं।

बहुमान नामक ज्ञानाचार का स्वरूप—

अङ्गपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम्।
तथैव चोच्चरन् वाण्या योऽन्येषां प्रतिपादयेत् ॥१६६६॥
कर्मक्षयाय कुर्यान्न सूरिश्रुतादियोगिनाम्।
क्वचित्परिभवं गर्वाद् बहुमानं लभेत सः ॥१६६७॥

अर्थ—अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों का सूत्र अर्थ जैसा है उसी प्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं उसी प्रकार दूसरों के लिए प्रतिपादन करते हैं। यह सब पठन-पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिए करते हैं तथा अभिमान से आचार्य शास्त्र वा किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमान नाम का ज्ञानाचार कहते हैं।

अनिह्नवाचार का स्वरूप—

सामान्यादि-यतिभ्योऽपि पठित्वा श्रुतमूर्जितम्।
महर्षिभ्यो मयाधीतं मानिभिर्यन्निगद्यते ॥१६६८॥
अधीत्य प्रवरं शास्त्रं पार्श्वे निर्ग्रन्थयोगिनाम्।
कुलिङ्गिनिकटेऽधीतमुच्यते यज्जडात्मभिः ॥१६६९॥
नाधीतं न श्रुतं वेद्मि नेत्यादि ब्रूयते च यत्।
पठितस्याऽपि शास्त्रस्य सर्वे निह्नवनं हि तत् ॥१६७०॥
इमं निह्नवदोषं च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम्।
गुरुपाठकशास्त्राणां श्रुतस्य पठितस्य वा ॥१६७१॥
गुणप्रकाशनं लोके ख्यातिश्च ब्रूयते तराम्।
मुमुक्षुभिः स सर्वोऽप्यनिह्नवाचार उच्यते ॥१६७२॥

अर्थ—कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महर्षि से पढ़ा है अथवा किसी उत्तम शास्त्र को किसी निर्ग्रन्थ मुनि के समीप पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से, कुलिंगी से पढ़ा है अथवा पढ़े हुए शास्त्र के लिए भी यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता इस प्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको निह्नव कहते हैं। इस निह्नव दोष का त्यागकर आचार्य आदि योगियों की, गुरु की, उपाध्याय की, शास्त्रों की और सुनने वा पढ़ने की प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य, गुरु, उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों के अनिह्नवाचार कहलाता है।

व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार का स्वरूप—

अक्षरस्वरमात्राद्यैर्यच्छुद्धं पठ्यते श्रुतम्।
दक्षैर्गुरूपदेशेन व्यंजनाचार एव सः ॥१६७३॥
अर्थेनात्र विशुद्धं यत्सदर्थालङ्कृतं श्रुतम्।
पठ्यते पाठ्यतेऽन्येषां सोऽर्थाचारः श्रुतस्य वै ॥१६७४॥
अर्थाक्षरविशुद्धं यदधीयते जिनागमम्।
विद्भिस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यते महान् ॥१६७५॥

अर्थ—चतुर पुरुष गुरु के उपदेश के अनुसार जो अक्षर स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं। अर्थ से अत्यन्त सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है। जो जिनागम को शब्द-अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञान का महान् उभयाचार कहते हैं।

विनयादि पूर्वक स्वाध्याय का फल—

एभिरष्टविधाचारैरधीतं यज्जिनागमम्।
तदिहैवाखिलं ज्ञानं जनयेद्वाशु केवलम् ॥१६७६॥
विनयाद्यैरधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतं श्रुतम्
तथाऽमुत्र च तज्ज्ञानं सूते च केवलोदयम् ॥१६७७॥
ज्ञानमष्टविधाचारैः पठितं यमिनां स्फुटम्।
अनन्तकर्महान्यै स्यात् कर्मबन्धाय चान्यथा ॥१६७८॥
विज्ञायेति विदो ज्ञानं कालेऽत्र विनयादिभिः।
पठन्तु योगशुद्ध्या वा पाठयन्तु सतां चिदे ॥१६७९॥

अर्थ—इस प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ-साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोक में पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता

है। जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोक में उसको केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियों के अनंत कर्मों को नाश कर देता है। यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है। यही समझकर विद्वान् पुरुषों को योग्य काल में विनयादिक के साथ मन-वचन-काय को शुद्धकर ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए तथा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार दूसरों को पढ़ाना चाहिए।

ज्ञानाचार की महिमा—

ज्ञानेन निर्मला कीर्तिः भ्रमत्येव जगत्त्रये।
ज्ञानेन त्रिजगन्मान्यं ज्ञानेनातिविवेकता ॥१६८०॥
ज्ञानेन केवलज्ञानं ज्ञानेन पूज्यतापदम्।
ज्ञानेन त्रिजगल्लक्ष्मीर्जिनशक्रादिसत्पदम् ॥१६८१॥
ज्ञानेनैव प्रभुत्वं च ज्ञानेन सकला कला।
जायते ज्ञानिनां नूनं विज्ञानादिगुणोत्करः ॥१६८२॥
ज्ञानेन ज्ञानिनां सर्वे शमाद्याः परमाः गुणाः।
आश्रयन्ति क्षयं यान्ति दोषाः क्रोधमदादयः ॥१६८३॥
स ज्ञानशृंखलाबद्धो मनोदन्ती भ्रमन् सदा।
दुर्धरो विषयारण्ये वशमायाति योगिनाम् ॥१६८४॥
ज्ञानपाशेन बद्धाः स्युः पञ्चेन्द्रियकुतस्कराः।
क्षमा न विक्रियां कर्तुं धर्मरत्नापहारिणः ॥१६८५॥
मदनाग्निमहाज्वाला जगद्दाहविधायिनी।
सिक्ता ज्ञानाम्बुना नूनं पुंसां शाम्यति तत्क्षणम् ॥१६८६॥
ज्ञानेन ज्ञायते विश्वं हस्तरेखेव निस्तुषम्।
लोकालोकं सुतत्त्वं च परतत्त्वं किलाखिलम् ॥१६८७॥
हेयोपादेयसर्वाणि हिताहितांश्च बोधतः।
कृत्स्नधर्मविचारादीन् ज्ञानी वेत्ति न चापरः ॥१६८८॥
विश्वज्ञोऽत्र समर्थः स्यात्तरितुं च भवाम्बुधिम्।
परांस्तारयितुं ज्ञानी ज्ञानपोतेन नापरः ॥१६८९॥
वीतरागस्त्रिगुप्तात्मान्तर्मुहूर्तेन कर्म यत्।
क्षिपेद् ज्ञानी न तच्चाज्ञस्तपसा भवकोटिभिः ॥१६९०॥

यतोऽज्ञो दुष्करं घोरं तपः कुर्वन्नपि क्वचित्।
आस्त्रवाद्यपरिज्ञानान्मुच्यते कर्मणा न हि ॥१६९१॥
हेयादेयं विचारं च तत्त्वातत्त्वं शुभाशुभम्।
सारासारास्त्रवादीनि ह्यज्ञानी जातु वेत्ति न ॥१६९२॥

अर्थ—इस ज्ञान से मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है। इस ज्ञान से ही तीनों लोकों में मान्यता बढ़ जाती है और ज्ञान से ही उत्कृष्ट विवेकशीलता आ जाती है। ज्ञान से ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, ज्ञान से ही पूज्यता के पद प्राप्त होते हैं, ज्ञान से ही तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और ज्ञान से ही तीर्थंकर और इन्द्र आदि के श्रेष्ठ पद प्राप्त होते हैं। ज्ञान से ही प्रभुत्व प्राप्त होता है, ज्ञान से ही समस्त कलाएँ प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के ही विज्ञान आदि गुणों के समूह प्रकट होते हैं। इस ज्ञान से ही ज्ञानी पुरुषों को उपशम आदि समस्त परम गुण अपने आप आ जाते हैं तथा ज्ञान से ही क्रोध-मद आदिक दोष सब नष्ट हो जाते हैं। अत्यन्त दुर्द्धर ऐसा यह मनरूपी हाथी विषयरूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करता है यदि उसको ज्ञानरूपी सांकल से बाँध लिया जाये तो फिर वह उन योगियों के वश में अवश्य हो जाता है। धर्मरूपी रत्न को अपहरण करने वाले ये पंचेन्द्रियरूपी दुष्ट चोर जब ज्ञान के पाश में (जाल में) बँध जाते हैं तब फिर वे किसी प्रकार का विकार करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह कामदेवरूपी महाज्वाला संसार भर में दाह उत्पन्न करने वाली है। यदि इसको ज्ञानरूपी जल से बुझा दिया जाये तो फिर वह मनुष्यों की मदनज्वाला उसी समय शांत हो जाती है। इस ज्ञान के ही द्वारा यह तीनों लोक हाथ की रेखा के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है तथा ज्ञान से ही लोक, अलोक अपने तत्त्व और समस्त दूसरों के तत्त्व जाने जाते हैं। हेयोपादेयरूप समस्त तत्त्वों को, हित-अहित को और समस्त धर्म के विचारों को ज्ञानी पुरुष ही अपने ज्ञान से जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता। समस्त तत्त्वों को जानने वाला सर्वज्ञ ही संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिए समर्थ हो सकता है तथा ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानरूपी जहाज के द्वारा अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार कर सकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय अन्य कोई भी संसार से पार नहीं कर सकता। तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला वीतराग ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों को नाश कर सकता है उतने कर्मों को अज्ञानी पुरुष करोड़ों भव के तपश्चरण से भी नहीं कर सकता। इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी पुरुष घोर दुष्कर तपश्चरण करता हुआ भी आस्त्रवादि के स्वरूप को न जानने के कारण कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। अज्ञानी पुरुष हेय-उपादेय को, विचार-अविचार को, तत्त्व-अतत्त्व को, शुभ-अशुभ को, सार-असार को और आस्त्रवादि को कभी नहीं जान सकता।

ज्ञानाभ्यास की प्रेरणा—

मत्वेति कृत्स्नयत्नेन प्रत्यहं श्रीजिनागमम्।
अधीध्वं मुक्तये दक्षा विश्वविज्ञानहेतवे ॥१६९३॥
ज्ञानाभ्यासं विना जातु न नेतव्या हितार्थिभिः।
एका कालकला लोके प्रमादेन शिवाप्तये ॥१६९४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आगम का अभ्यास करते रहना चाहिए। अपने आत्मा का हित करने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार में ज्ञान के अभ्यास के बिना प्रमाद से भी समय की एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

श्रुतज्ञान की महिमा—

अखिलगुणसमुद्रं चित्तमातंगसिंहं ।
विषयसफरजालं मुक्तिमार्गैकदीपम्।
सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलं ।
श्रुतनिखिलमदोषं धीधनाः संपठन्तु ॥१६९५॥
ज्ञानाचारमिमं सम्यगाख्याय ज्ञानशालिनाम्।
त्रयोदशविधं वक्ष्ये चारित्राचारमूर्जितम् ॥१६९६॥

अर्थ—यह श्रुतज्ञान समस्त गुणों का समुद्र है, मनरूपी हाथी को वश करने के लिए सिंह के समान है, विषयरूपी मछलियों के लिए जाल है, मोक्षमार्ग को दिखलाने वाला दीपक है, समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल है, इसलिए बुद्धिमानों को ऐसे इस समस्त श्रुतज्ञान का पठन-पाठन निर्दोष रीति से करते रहना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानियों के ज्ञानाचार का निरूपण अच्छी तरह किया। अब आगे तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्राचार का वर्णन करते हैं।

चारित्राचार के कथन की प्रतिज्ञा—

महाव्रतानि पञ्चैव तथा समितयः शुभाः।
पञ्चत्रिगुप्तयो भेदाश्चारित्रस्य त्रयोदश ॥१६९७॥

अर्थ—पाँच महाव्रत, पाँच शुभ समिति और तीन गुप्ति ये तेरह चारित्र के भेद हैं।

चारित्राचार के भेद और महाव्रतों का स्वरूप—

सर्वस्मात्प्राणिघाताच्च मृषावादाच्च सर्वथा ।
अदत्तादानतो नित्यं मैथुनाद्धि परिग्रहात् ॥१६९८॥

सामस्त्येन निवृत्तिर्या त्रिशुद्ध्याऽत्रकृतादिभिः।
महान्ति तानि कथ्यन्ते महाव्रतानि पञ्च वै ॥१६९९॥
अमीषां लक्षणं पूर्वं प्रोक्तं मूलगुणोऽधुना।
सप्रपञ्चं न वक्ष्यामि ग्रन्थविस्तरभीतितः ॥१७००॥

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक कृत-कारित-अनुमोदना से पूर्णरूप से समस्त हिंसा का त्याग कर देना, सर्वथा असत्य भाषण का त्याग कर देना, सर्वथा चोरी का त्याग कर देना, सदा के लिए अब्रह्म का—मैथुन सेवन का त्याग कर देना और समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। ये पाँचों व्रत सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिए इनको महाव्रत कहते हैं। इन सबका लक्षण विस्तार के साथ पहले मूलगुणों के वर्णन में कह चुके हैं अतएव ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं।

रात्रि भोजन त्याग और अष्ट प्रवचन मातृका पालन करने की प्रेरणा—

महाव्रतविशुद्ध्यर्थं त्याज्यं रात्रौ च भोजनम्।
सेव्याः प्रवचनाख्याष्टमातरो यतिभिः सदा ॥१७०१॥

अर्थ—इन महाव्रतों की विशुद्धि के लिए रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए तथा मुनियों को आठ प्रवचन मातृका का पालन करना चाहिए। (तीन गुप्ति और पाँच समितियों का पालन करना अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती है)।

रात्रि चर्या के दोष—

रात्रिचर्याटनेनैव सर्वव्रतपरिक्षयः।
शीलभङ्गोपवादश्च जायते यमिनां द्रुतम् ॥१७०२॥
रात्रिभिक्षाप्रविष्टानां चौरैश्चारक्षकादिभिः।
नाशः स्यान्महती शङ्का सर्वत्र च व्रतादिषु ॥१७०३॥

अर्थ—मुनियों को रात्रि में चर्या करने से समस्त व्रतों का नाश हो जाता है, शील का भंग हो जाता है और सर्वत्र अपवाद वा निंदा फैल जाती है। भिक्षा के लिए रात्रि में जाने से चोर, डाकू आदि के द्वारा नाश होने का डर रहता है तथा व्रतादिकों में सर्वत्र महाशंका बनी रहती है।

अयोग्य काल में आहार की वाञ्छा का निषेध—

विदित्वेति गतेऽयोग्यकाले जातु न भोजनम्।
चिन्तनीयं हृदा दक्षैः षष्ठाणुव्रतसिद्धये ॥१७०४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को छठे रात्रि भोजन त्याग व्रत की रक्षा करने के लिए हृदय से भी कभी अयोग्य काल में आहार की वांछा नहीं करनी चाहिए।

समिति के भेद—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपणसमाह्वयाः ।
उत्सर्गाख्याऽत्र पञ्चेमाः शुभाः समितयो मताः ॥१७०५॥
आसां सम्यक्पुराख्यातं लक्षणं विस्तरेण च।
इतो ब्रुवे न शिष्याणां ग्रन्थगौरवजाद्भयात् ॥१७०६।

अर्थ—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति ये पाँच शुभ समिति कहलाती हैं। शिष्यों के लिए विस्तार के साथ इनका वर्णन पहले अच्छी तरह कह चुके हैं, इसलिए अब ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं।

गुप्ति के भेद और मनोगुप्ति का स्वरूप—

मनोगुप्तिश्च वाग्गुप्तिः कायगुप्तिरिमाः पराः।
तिस्रोऽत्र गुप्तयो ज्ञेयाः सर्वास्त्रवनिरोधिकाः ॥१७०७॥
पञ्चाक्षविषयार्थेभ्यः समस्तबाह्यवस्तुषु।
सङ्कल्पेभ्यो विकल्पेभ्यः कषायादिभ्य एव च ॥१७०८॥
गच्छन् मनोनिरुध्याशु ध्यानाध्ययनकर्मसु।
यत्स्थिरं क्रियते लीनं सा मनोगुप्तिरद्भुता ॥१७०९॥

अर्थ—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं ये तीनों गुप्तियाँ समस्त आस्त्रवों को रोकने वाली हैं। यह मन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में गमन करता है, समस्त बाह्य पदार्थों के संकल्प विकल्पों में गमन करता है और समस्त कषायों में गमन करता है। अतएव इस मन को इन सबसे रोककर शीघ्र ही ध्यान-अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है।

मनोगुप्ति के पालने हेतु अशुभ ध्यान के त्याग की प्रेरणा—

मनोगुप्तौ प्रयत्नेन प्रणिधानं कुकर्मदम्।
अप्रशस्तं द्रुतं त्याज्यं ग्राह्यं प्रशस्तमञ्जसा ॥१७१०॥

अर्थ—इस मनोगुप्ति को पालन करने के लिए पापकर्मों को उत्पन्न करने वाले समस्त अशुभ ध्यानों का त्याग कर देना चाहिए और शुभध्यान धारण करना चाहिए।

इन्द्रिय प्रणिधान और नो इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

इन्द्रियप्रणिधानं च पञ्चाक्षविषयोद्भवम्।
नोइन्द्रियाभिधं चान्यदप्रशस्तमिति द्विधा ॥१७११॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाला ध्यान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है और नोइन्द्रिय (मन) से उत्पन्न होने वाला अशुभ ध्यान नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। इस प्रकार

प्रणिधान के दो भेद हैं।

अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

शब्दे रूपे रसे गन्धे स्पर्शे सारे मनोहरे।
मनोज्ञे वा मनोज्ञे च सुखदुःखविधायिनि ॥१७१२॥
रागद्वेषाक्षमोहाद्यैर्गमनं चिन्तनादि यत्।
इन्द्रियप्रणिधानं तदप्रशस्तं च पञ्चधा ॥१७१३॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं ये पाँचों विषय मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं तथा सुख देने वाले भी हैं और दुःख देने वाले भी हैं। इन मनोहर और सारभूत दिखने वाले विषयों में रागद्वेष इन्द्रियों की लंपटता और मोहादिक के कारण इन्द्रियों का प्राप्त होना वा इन विषयों में गमन करने के लिए इन्द्रियों की लंपटता होना अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है।

अप्रशस्त नोइन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

क्रोधे मानेऽखिले मायालोभेऽनर्थाकरेऽशुभे ।
रागद्वेषादिभावैश्च मनोव्यापार एव यः ॥१७१४॥
क्रूरो रक्तोऽथवा निन्द्योविश्वासातनिबन्धनः।
प्रणिधानाप्रशस्तं तन्नोइन्द्रियाभिधं मतम् ॥१७१५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के अनर्थ करने वाले और अशुभ क्रोध, मान, माया, लोभ में रागद्वेषमय परिणामों से मन का व्यापार होना नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। यह नोइन्द्रिय प्रणिधान भी अप्रशस्त है, क्रूर है, निंद्य है, समस्त दुःखों का कारण है और त्याज्य है।

अप्रशस्त प्रणिधान के त्याग की प्रेरणा—

प्रणिधानाप्रशस्तस्यैते भेदा बहवो परे।
परद्रव्यममत्वादिजास्त्याज्या गुप्तिधारिभिः ॥१७१६॥

अर्थ—इस अप्रशस्त प्रणिधान के अनेक भेद हैं और वे परद्रव्यों में ममत्व करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिए गुप्ति पालन करने वालों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए।

प्रशस्त मनःप्रणिधान का स्वरूप—

व्रतगुप्तिसमित्यादिशीलानां रक्षणादिषु।
दशलाक्षणिके धर्मे ध्याने च परमेष्ठिनाम् ॥१७१७॥
स्वात्मनः श्रुतपाठार्थे यन्मनःप्रापणं सदा।
प्रणिधानं प्रशस्तं तत्कार्यं यत्नात्मनोऽन्तकैः ॥१७१८॥

अर्थ—व्रत, गुप्ति और समितियों की रक्षा करने में, शीलों की रक्षा करने में, दशलाक्षणिक

धर्म में, परमेष्ठियों के ध्यान में, अपने आत्मा के शुद्ध ध्यान में और शास्त्रों के पठन-पाठन में जो मन को लगाता है उसको प्रशस्त मनःप्रणिधान कहते हैं। मन को वश में करने वाले मुनियों को यत्नपूर्वक प्रशस्त मनःप्रणिधान धारण करना चाहिए।

प्रशस्त प्रणिधान मनोगुप्ति की पूर्णता का कारण—

निर्विविकल्पं मनः कृत्वा निवेश्यते यथा यथा।
परमात्माविधे तत्त्वे चिदानन्दमयेऽथवा ॥१७१९॥
सिद्धार्हद्योगिनां ध्याने वाऽगमामृतसागरे।
तत्त्वरत्नाकरे पूर्णा मनोगुप्तिस्तथा तथा ॥१७२०॥

अर्थ—मुनिराज अपने मन के समस्त विकल्पों को हटाकर चिदानंदमय परमात्मतत्त्व में अथवा अरहंत,सिद्ध वा आचार्यों के ध्यान में अथवा रत्नों से परिपूर्ण ऐसे आगमरूपी अमृत के समुद्र में अपने मन को जैसे-जैसे लगाते हैं वैसे ही वैसे उनकी मनोगुप्ति पूर्णता को प्राप्त होती जाती है।

मनोगुप्ति पालन का फल—

सम्पूर्णा सन्मनोगुप्तिर्यस्यासीद्विमलात्मनः।
व्रतगुप्तिसमित्याद्यास्तस्य पूर्णा भवन्त्यहो ॥१७२१॥
यतो येन मनोरुद्धं संवेगादिगुणोत्करैः।
तेन कर्मास्त्रवः कृत्स्नो रुद्धः कृतश्च संवरः ॥१७२२॥
तस्मात्कर्मास्त्रवाभावाज्जायन्ते निर्मलागुणाः।
सर्वे व्रतसमित्याद्याः सम्पूर्णाश्च क्षमादयः ॥१७२३॥

अर्थ—निर्मल आत्मा को धारण करने वाले जिस मुनि की मनोगुप्ति पूर्ण हो जाती है उन्हीं के महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि सब पूर्ण हुए समझना चाहिए। जो मुनि संवेग आदि गुणों के समूह से अपने मन को रोक लेते हैं वे अपने समस्त कर्मों के आस्त्रव को रोक लेते हैं तथा पूर्ण संवर को धारण करते हैं। आस्त्रव के रुकने और संवर के होने से व्रत, समिति आदि समस्त निर्मल गुण प्रकट हो जाते हैं तथा उत्तम क्षमादिक भी समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं।

मनोगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति मनोगुप्तिस्तात्पर्येण सुखाकरा।
विधेया सर्वदा दक्षैः समस्तव्रतसिद्धये ॥१७२४॥
बाह्यार्थतो निरोद्धुं योऽसमर्थश्चञ्चलं मनः।
कुतस्तस्यापरे गुप्ती कथं शुद्धा व्रतादयः ॥१७२५॥
यतः कर्मप्रसूतेऽत्र वचः कायद्वयं क्वचित्।
सर्वदा चञ्चलं चित्तं घोरं श्वभ्रपदं नृणाम् ॥१७२६॥

अर्थ—अतएव चतुर पुरुषों को अपने समस्त व्रतों का पालन करने के लिए पूर्णरूप से सुख देने वाली इस मनोगुप्ति का पालन सर्वदा करते रहना चाहिए। जो मुनि अपने चंचल मन को बाह्य पदार्थों से नहीं रोक सकता उसके अन्य गुप्तियाँ भी कैसे हो सकती हैं तथा व्रत भी शुद्ध कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं क्योंकि वचन और काय से तो कभी-कभी कर्म आते हैं परन्तु मनुष्यों के चंचल मन से नरक देने वाले घोर कर्म सदा ही आते रहते हैं।

मनोगुप्ति की महिमा और उसका फल—

अतःकार्या मनोगुप्तिः सर्वसंवरदायिनी।
निर्जराकारिणी मुक्तिजननी सद्गुणाकरा ॥१७२७॥
मनोगुप्त्याक्षवाक्कायकषायाद्यखिलद्विषाम् ।
निरोधो जायते तस्मात्प्रशस्तं ध्यानमञ्जसा ॥१७२८॥
तेन स्यातां च सम्पूर्णे परे संवरनिर्जरे।
ताभ्यां घातिविधेर्नाशस्ततः प्रादुर्भवेत्सताम् ॥१७२९॥
केवलज्ञानमात्मोत्थं दिव्यैः सर्वैः गुणैः समम्।
ततो मुक्तिवधूसङ्गो ह्यनन्तसुखकारकः ॥१७३०॥
इत्यादि परमं ज्ञात्वा तत्फलं मोक्षकांक्षिभिः।
एकात्रैव मनोगुप्तिः कार्या सर्वार्थसिद्धये ॥१७३१॥

(छन्द-मालिनी)

अतुलसुखखनिर्या स्वर्गमोक्षैकमाता जिनगणधरसेव्या कृत्स्नकर्मारिहन्त्री।
व्रतसकलसुवीथीं चित्तगुप्तिं सदा तां श्रयत परमयत्नाद्योगिनो योगसिद्ध्यै ॥१७३२॥

अर्थ—अतएव मुनियों को मनोगुप्ति का पालन सदा करते रहना चाहिए। यह मनोगुप्ति पूर्ण संवर को उत्पन्न करने वाली है, निर्जरा को करने वाली है, मोक्ष की माता है और श्रेष्ठ गुणों की खानि है। इस मनोगुप्ति से ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन हो जाता है और कषायादिक समस्त शत्रुओं का निरोध हो जाता है तथा इन सबका निरोध होने से प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति हो जाती है, प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति होने से पूर्ण संवर और निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से समस्त दिव्य गुणों के साथ-साथ सज्जनों को आत्मा से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। तदनंतर केवलज्ञान प्रकट होने से अनंतसुख देने वाला मोक्षरूप वधू का समागम प्राप्त हो जाता है। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इस प्रकार इस मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझकर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिए। यह मनोगुप्ति अनुपम सुखों की खानि है, स्वर्ग-मोक्ष की माता है, तीर्थंकर और गणधरादिक देव भी इसका पालन करते हैं, यह

समस्त कर्मों को नाश करने वाली है और समस्त व्रतों के आने का मार्ग है अतएव मुनियों को ध्यान की सिद्धि के लिए प्रयत्नपूर्वक इस मनोगुप्ति का पालन करना चाहिए।

वचनगुप्ति का स्वरूप—

वार्तालापोत्तरादिभ्योऽशुभेभ्यो यन्निवर्तनम्।
वाचो विधाय सिद्ध्यर्थं स्थापनं क्रियतेऽन्वहम् ॥१७३३॥
सर्वार्थसाधके मौने सिद्धान्ताध्ययनेऽथवा ।
सा वाग्गुप्तिर्मतासर्वा वचोव्यापारदूरगा ॥१७३४॥

अर्थ—मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने वचनयोग को अशुभ बातचीत से तथा अशुभ उत्तर से हटाकर समस्त अर्थ को सिद्ध करने वाले मौन में अथवा सिद्धान्तों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं, उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति हेतु वचनगुप्ति पालने की प्रेरणा—

यथा यथा वचोगुप्तिर्वर्द्धते धीमतां तराम्।
तथा तथाऽखिलाविद्या विकथादिविवर्जनात् ॥१७३५॥
परिज्ञायेति वाग्गुप्तिर्विद्यार्थिभिः श्रुताप्तये।
विधेयालम्बनं कृत्वा सिद्धान्ताध्ययनेऽन्वहम् ॥१७३६॥
ज्ञातविश्वागमैर्नित्यं कर्त्तव्यं मौनमञ्जसा।
पाठनं वा स्वशिष्याणामागमस्य प्रयत्नतः ॥१७३७॥
क्वचिद्वाऽत्र विधातव्यं सतां धर्मोपदेशनम्।
अनुग्रहाय कारुण्यान्मोक्षमार्गप्रवृत्तये ॥१७३८॥

अर्थ—बुद्धिमानों की वचनगुप्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे विकथाओं का त्याग होता जाता है और समस्त विद्याएँ बढ़ती जाती हैं। यही समझकर विद्या की इच्छा करने वाले मुनियों को श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए अपने वचनों को प्रतिदिन सिद्धान्त के अध्ययन में लगाकर इस वाग्गुप्ति का पालन करना चाहिए। समस्त आगम को जानने वाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिए अथवा प्रयत्नपूर्वक अपने शिष्यों को आगम का पाठ पढ़ाना चाहिए अथवा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए करुणा बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिए कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिए।

मुनि को कैसे वचन नहीं बोलना चाहिए—

एहि गच्छ मुदा तिष्ठ कुरु कार्यमिदं द्रुतम्।
इत्यादि न वचो वाच्यं प्राणत्यागेऽपि संयतैः ॥१७३९॥

यतोऽत्रासंयतानां ये प्रेषणं कारयन्ति वा।
यातायातं कुतस्तेषां व्रताद्याः प्राणिघातनात् ॥१७४०॥

अर्थ—मुनियों को प्राणों के त्याग करने का समय आने पर भी ''आओ जाओ, प्रसन्न होकर बैठो, इस काम को शीघ्र करो'' इस प्रकार के वचन कभी नहीं बोलने चाहिए क्योंकि जो मुनि अन्य असंयमी लोगों को बाहर भेजते हैं अथवा उनसे आने-जाने का काम लेते हैं उनके कारितजन्य प्राणियों का घात होने से व्रतादिक निर्मल कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं।

श्रेष्ठ ध्यान के लिए मौन धारण करने की प्रेरणा—

यथा यथाऽत्रबाह्यार्थे ब्रूयते वाक् तथा तथा।
बध्यते कर्म लोकोक्तिरियं सत्या न चान्यथा ॥१७४१॥
वाचोऽप्यत्र निरोधं यो विधातुमक्षमोऽधमः।
स मनोक्षकषायाणां निग्रहं कुरुते कथम् ॥१७४२॥
विदित्वेति सदा कार्यं मौनं सद्ध्यानदीपकम्।
निहत्य सिद्धये निन्द्यं बाह्यं वाग्जालमञ्जसा ॥१७४३॥

अर्थ—''ये लौकिक प्राणी जैसे-जैसे बाह्य पदार्थों के लिए बातचीत करते हैं, वैसे ही वैसे उनके कर्म बँधते जाते हैं।'' यह जो लोकोक्ति है वह सत्य है इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता। जो नीच मनुष्य वचनों को रोकने में भी असमर्थ है वह भला मन, इन्द्रियाँ और कषायों का निग्रह कैसे कर सकता है? अर्थात् कभी नहीं कर सकता। यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अत्यन्त निंद्य ऐसे अपने बाह्य वाग्जाल को रोककर श्रेष्ठ ध्यान को प्रकट करने के लिए दीपक के समान ऐसे इस मौनव्रत को सदा धारण करते रहना चाहिए।

मौनव्रत की महिमा-

यतो मौनेन दक्षाणां स्वप्नेपि कलहोऽस्ति न।
मौनेनाशु म्रियन्तेऽहो रागद्वेषादयोऽरयः ॥१७४४॥
मौनेन गुणराशिश्च लभ्यते सकलागमम्।
मौनेन केवलज्ञानं मौनेन श्रुतमुत्तमम् ॥१७४५॥
मौनेन ज्ञानिनां नूनं सर्वेषां निर्जयो महान्।
परीषहोपसर्गाणां गुणाः सर्वेऽतिनिर्मलाः ॥१७४६॥
मौनेन मुक्तिकान्ताऽत्यासक्त्या वृणोति मौनिनम्।
स्वभार्येवाचिरादेत्य का कथाऽहो द्युयोषिताम् ॥१७४७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस मौन को धारण करने से चतुर पुरुषों को स्वप्न में भी

कभी कलह नहीं होता तथा इसी मौनव्रत से रागद्वेषादिक शत्रु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसी मौन से समस्त गुणों की राशि प्राप्त होती है, इसी मौन से समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है, इसी मौन से केवलज्ञान प्रकट होता है, इसी मौन से उत्तम श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। इसी मौनव्रत से ज्ञानी पुरुष समस्त परीषह और समस्त उपसर्गों का महान् विजय प्राप्त करते हैं और इसी मौनव्रत से समस्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं। इसी मौनव्रत से मुक्तिरूपी स्त्री अत्यन्त आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान बहुत शीघ्र मौनव्रती को स्वीकार करती है फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है।

असंख्यात गुणों के कारणभूत वाग्गुप्ति त्याग का निषेध—

इमान् मौनगुणान् ज्ञात्वा संख्यातीतान् विवेकिभिः।
शश्वद्विश्वार्थनिष्पत्यै तत्कार्यं च सुखाकरम् ॥१७४८॥
तथा मौनव्रतायोच्चैर्विधातव्याऽघनाशिनी।
वाग्गुप्तिः सर्वदा जातु न त्याज्या कार्यकोटिभिः ॥१७४९॥

अर्थ—विवेकी पुरुषों को इस प्रकार मौनव्रत के असंख्यात गुण समझकर समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए सुख की खानि ऐसा यह मौनव्रत अवश्य धारण करना चाहिए। इस मौनव्रत को पालन करने के लिए समस्त पापों को नाश करने वाली वाग्गुप्ति का पालन करना चाहिए तथा करोड़ों कार्य होने पर भी इस वाग्गुप्ति का त्याग नहीं करना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

पुनः वचनगुप्ति की महिमा और उसे धारण करने की प्रेरणा—

शुभगुणमणिखानिं स्वर्गमोक्षादिधात्रीं दुरिततिमिरहंत्रीमर्गलां पापगेहे।
वृषसुखजननीं वाग्गुप्तिमात्मार्थसिद्धयै कुरुत निखिलयत्नान्मौनमाधाय नित्यम् ॥१७५०॥

अर्थ—यह वचनगुति शुभ गुणरूपी मणियों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष को देनेवाली है, पापरूपी अंधकार को नाश करने वाली है, पापरूपी घर को बंद करने के लिए अर्गल वा वेंडा के समान है तथा धर्म और सुख की माता है। अतएव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिए समस्त यत्नों से सदा मौन धारण कर इस वचन गुप्ति का पालन करना चाहिए।

कायगुप्ति का स्वरूप

हस्तांघ्र्यवयवादींश्च स्वेच्छयावृत्तितो बलात्।
आहृत्य निखिलं देहं विक्रियातिगमूर्जितम् ॥१७५१॥
कृत्वा यत्स्थाप्यते धीरैर्व्युत्सर्गे वा दृढासने।
निष्पन्दं काष्ठवन्मुक्त्यै सा कायगुप्तिरुत्तमा ॥१७५२॥

अर्थ—जो मुनि अपने हाथ-पैर आदि शरीर के अवयवों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिलाते और अपने शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होने देते, वे धीर वीर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए

अपने शरीर को कायोत्सर्ग में वा किसी दृढ़ आसन पर काठ के समान निश्चल स्थापन करते हैं उसको उत्कृष्ट कायगुप्ति कहते हैं।

कायगुप्ति पालने का फल—

कायगुप्त्यात्र धीराणां सर्वप्राणिदया भवेत्।
निष्प्रकम्पं परं ध्यानं संवरो निर्जरा शिवम् ॥१७५३॥

अर्थ—इस कायगुप्ति को धारण करने से धीर वीर मुनियों के समस्त प्राणियों की दया पल जाती है, निश्चल ध्यान की प्राप्ति हो जाती है तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

शारीरिक चंचलता से हानि व उसे रोकने की प्रेरणा—

काय-चञ्चलयोगेन म्रियन्ते जन्तुराशयः।
तन्मृते व्रतभङ्गः स्यात्ततोऽनर्थपरम्परा ॥१७५४॥
मत्वेति विक्रियां सर्वां त्यक्त्वा नेत्रमुखादिजाम्।
निन्द्यां चपलतां रुद्ध्वा शाम्यं चित्रोपमं वपुः ॥१७५५॥
कृत्वा मोक्षाय संस्थाप्य कायोत्सर्गासनादिषु।
कायगुप्तिर्विधातव्या प्रत्यहं ध्यानमातृका ॥१७५६॥

अर्थ—शरीर की चंचलता के निमित्त से बहुत से जीवों की राशि मर जाती है, उनके मरने से व्रत का भंग हो जाता है और व्रत भंग होने से अनेक अनर्थों की परम्परा प्रकट हो जाती है। यही समझकर नेत्र वा मुख से होने वाले समस्त विकारों का त्याग कर, निंद्य चपलता को रोक कर और चित्र के समान शरीर को अत्यन्त शांत और निश्चल रखकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग में वा किसी आसन पर दृढ़ रख कर इस प्रकार ध्यान की माता के समान इस कायगुप्ति को प्रतिदिन पालन करना चाहिए।

(छन्द-मालिनी)

कायगुप्ति की महिमा—

सुरशिवगतिवीथीं दीपिकां ध्यानसौधे व्रतसकलवराम्बां कर्मवृक्षे कुठारीम्।
जिनमुनिगणसेव्यां कायगुप्तिं पवित्रां श्रयत जितकषाया यत्नतो मुक्तिसिद्ध्यै ॥१७५७॥

अर्थ—यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है, ध्यानरूपी राजभवन को दिखलाने के लिए दीपक के समान है, समस्त व्रतों की श्रेष्ठ माता है, कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी है, भगवान् जिनेन्द्रदेव और मुनियों के समूह सब इसको पालन करते हैं तथा यह अत्यन्त पवित्र है। अतएव कषायों को जीतने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इस कायगुप्ति का पालन करना चाहिए।

त्रिगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

त्रिस्रः सद्गुप्तयोऽत्रैता विधेया विधिना सदा।
विधिघ्नाः शिवशर्माम्बाः कृत्स्नकर्मान्तकारिकाः ॥१७५८॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियाँ कर्मों को नाश करने वाली हैं, मोक्ष के सुख की माता है और समस्त कर्मों को नाश करने वाली हैं अतएव मुनियों को विधिपूर्वक इनका पालन करना चाहिए।

गुप्तियों से सुरक्षित मुनि ही कर्म शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है—

बलवद्भिर्यथाविश्वैः शत्रुभिः स्वाश्रमान्नृपः।
न नेतुं शक्यते गुप्तः प्राकारखातिकाभटैः ॥१७५९॥
तथा मुनिवरो गुप्तौ मनोवाक्कायगुप्तिभिः।
न जातु विक्रियां नेतुं शक्यः कर्मारिसंचयैः ॥१७६०॥

अर्थ—जो राजा कोट, खाई और योद्धाओं से अत्यन्त सुरक्षित है उसको अत्यन्त बलवान् समस्त शत्रु भी उसके घर से बाहर नहीं ले जा सकते उसी प्रकार जो मुनि मन-वचन-काय की गुप्तियों से अत्यन्त सुरक्षित है उनकी आत्मा में कर्मरूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

कौन योगी असंयमादि बाणों से घायल नहीं होता—

वर्मितः सङ्गरे यद्वद्भटो बाणैर्न भिद्यते।
तथा योगी त्रिगुप्तात्मा रागाद्यसंयमेषुभिः ॥१७६१॥

अर्थ—जिस प्रकार युद्ध में कवच पहनने वाला योद्धा बाणों से घायल नहीं होता उसी प्रकार मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति को धारण करने वाला योगी असंयमादिक बाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता। (वर्मित-कवच पहिने हुए)

अष्ट प्रवचनमातृका किसे कहते—

सार्द्धं समितिभिः पञ्चभिरिमा गुप्तयः पराः।
प्रोक्ता प्रवचनाख्याष्टमातरो हितकारिकाः ॥१७६२॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियाँ तथा पाँचों समितियाँ मिलकर आठों प्रवचनमातृका कहलाती है। ये आठों ही माता के समान हित करने वाली हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं।

अष्ट प्रवचनमातृका नाम की सार्थकता—

रक्षन्ति मातरो यद्वन्मलादिस्पर्शनात्सुतान्।
तथेमा मुनिपुत्रांश्च दुष्कर्मास्त्रवपांशुतः ॥१७६३॥
विपत्तेः प्रतिपाल्याम्बाः पोषयन्ति यथात्मजान्।
तथैतांश्च यतीन् सर्वैर्हितैः स्वर्मुक्तिशर्मभिः ॥१७६४॥

यथाङ्गजान् जनन्यो न दद्युर्गन्तुं कुविक्रियाम् ।
तथा यमिसुतांश्चैताः पालयन्त्यः स्वशत्रुभिः ॥१७६५॥
शिवं कुर्वन्ति सूनोश्च यद्वदम्बा निवार्य भोः ।
दुःखक्लेशादिकांस्तद्वदेताः साधोः प्रपालिताः ॥१७६६॥
इत्यम्बा गुणसंयोगात्सार्थाख्या वरमातरः ।
उच्यन्ते श्रीजिनाधीशैर्मातृतुल्या महात्मनाम् ॥१७६७॥

अर्थ—जिस प्रकार माताएँ अपने पुत्रों को धूलि मिट्टी से बचाती हैं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएँ मुनियों को कर्मास्रवरूपी धूलि से बचाती हैं। जिस प्रकार माताएँ अपने पुत्रों को विपत्ति से बचाकर पालन-पोषण करती हैं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएँ मुनियों को सब तरह का हितकर तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुख देकर मुनियों का पालन पोषण करती हैं। जिस प्रकार माताएँ अपने पुत्रों को किसी भी आपत्ति में जाने नहीं देतीं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएँ भी अपने मुनिपुत्रों को रागद्वेषादिक समस्त शत्रुओं से रक्षा करती हैं। जिस प्रकार माताएँ अपने पुत्रों के समस्त दुःख और क्लेशों को दूर कर उनका कल्याण करती हैं उसी प्रकार ये गुप्ति-समितिरूप माताएँ भी साधुओं की रक्षा करती हैं दुःख देने वाले रागद्वेष वा कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देतीं। इस प्रकार इन गुप्ति-समितियों में माताके समस्त गुण विद्यमान हैं इसीलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अष्ट प्रवचनमातृकाएँ ऐसा इनका सार्थक नाम बतलाया है। वास्तव में महात्माओं के लिए ये माता के ही समान हैं।

चारित्र के भेद—

एष व्रतादिसम्पूर्णश्चारित्राचार ऊर्जितः ।
त्रयोदशविधो दक्षैर्विधातव्योऽतिनिर्मलः ॥१७६८॥

अर्थ—इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों से परिपूर्ण हुआ चारित्राचार तेरह प्रकार का है, इसीलिए चतुर मुनियों को अत्यन्त निर्मल और अत्यन्त उत्कृष्ट ऐसा यह चारित्राचार अवश्य धारण करना चाहिए।

निर्मल चारित्र पालने का फल—

सर्वातिचारनिर्मुक्तं चारित्रं शशिनिर्मलम्।
ये चरन्ति प्रयत्नेन तेषां मोक्षोऽन्त्यदेहिनाम् ॥१७६९॥
अन्ये ये मुनयो दक्षाश्चारित्राचार-भूषिताः ।
त्रिजगच्छर्म भुक्त्वा ते क्रमाद्यान्ति शिवालयम् ॥१७७०॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्र को प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरमशरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों लोकों के सुखों को भोगकर अनुक्रम से मोक्ष

में जा विराजमान होते हैं।

व्रतों के बिना जीवन की निष्फलता—

जीवितं प्रवरं मन्ये दिनैकं व्रतभूषितम्।
तद्विना विफलं पुंसां पूर्वं कोट्यादिगोचरम् ॥१७७१॥

अर्थ—व्रतों से सुशोभित होकर एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु व्रतों के बिना मनुष्यों का कोटि (करोड़) पूर्व तक जीवित रहना भी निष्फल है।

चारित्रवान् की महिमा—

नमन्ति त्रिजगन्नाथांश्चारित्रालङ्कृतात्मनाम्।
पादपद्मान् मुदा मूर्ध्ना प्रत्यहं किङ्करा इव ॥१७७२॥
महाचारित्र-भूषाणां प्रतापेन सुरेशिनाम्।
आसनानि प्रकम्पन्ते शाम्यन्ति क्रूरजन्तवः ॥१७७३॥
धन्यः स एव लोकेऽस्मिन् सफलं तस्य जीवितम्।
कदाचिच्चरणं येन न नीतं मलसन्निधौ ॥१७७४॥

अर्थ—जिनका आत्मा इस चारित्र से सुशोभित है उन मुनियों के चरण कमलों को तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नतापूर्वक मस्तक नवाकर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं। जो मुनि इस महा चारित्र से सुशोभित हैं उनके प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा उन्हीं मुनियों के प्रताप से सिंहादिक क्रूर घातक जन्तु भी शांत हो जाते हैं। जिन मुनियों ने अपने चारित्र को कभी भी मलिन नहीं किया है संसार में वे ही मुनि धन्य हैं और उन्हीं का जीवन सफल है।

चारित्र के बिना उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन मोक्ष का कारण नहीं—

चारित्रेण विना येनोत्कृष्टेऽपि ज्ञानदर्शने।
समर्थे न शिवं कर्तुं तत्कथं श्लाघ्यते न भोः ॥१७७५॥

अर्थ—इस चारित्र के बिना अत्यन्त उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते फिर भला इस ऐसे चारित्र की प्रशंसा क्यों नहीं करनी चाहिए, अवश्य करनी चाहिए।

चारित्र से शिथिल मुनि लंगड़े सदृश—

महाज्ञानदृगाढ्योऽपि चारित्रशिथिलो यतिः।
सन्मार्गगमनाशक्तः पङ्गुवद्भाति जातु न ॥१७७६॥

अर्थ—महाज्ञान और महा सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से शिथिल हो जाये तो वह लंगड़े के समान मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता तथा वह न कभी सुशोभित हो सकता है।

कौन निंदनीय और कौन वंदनीय—

वरं प्राणपरित्यागः संयतानां शुभप्रदः।
शैथिल्यं चरणे कर्तुं मनाग् योग्यं न निन्दितम् ॥१७७७॥
यथाऽत्रैव सुचारित्रो वन्द्यः पूज्यः स्तुतो भवेत्।
मान्यो विश्वजनैर्योगी तथाऽमुत्र जगत्त्रये ॥१७७८॥

अर्थ—मुनियों को कल्याणकारी प्राण त्याग कर देना अच्छा परन्तु चारित्र में शिथिलता धारण करना किंचित् भी योग्य नहीं है क्योंकि चारित्र में शिथिलता धारण करना निंदनीय है। जिस प्रकार श्रेष्ठ चारित्र को धारण करने वाला योगी इस लोक में भी समस्त लोगों के द्वारा वंदनीय, पूज्य, स्तुति करने योग्य और मान्य माना जाता है उसी प्रकार वह परलोक में भी तीनों लोकों में मान्य, पूज्य, वंदनीय माना जाता है।

शिथिल चारित्र उभय लोक में दुःख का कारण—

चारित्रशिथिलो यद्वन्निंद्योऽत्रैव पदे पदे।
विश्वापमाननीयः स्यात्तथाऽमुत्र च दुर्गतौ ॥१७७९॥

अर्थ—जिस प्रकार शिथिल चारित्र को धारण करने वाला मुनि इस लोक में भी पद-पद पर निंदनीय माना जाता है तथा सबके द्वारा अपमानित होता है उसी प्रकार परलोक में दुर्गतियों में पड़कर निंदनीय और अपमानित होता है।

प्राण जाने पर भी चारित्र मलिन नहीं करें—

मत्वेति धीधनैर्जातु चारित्रं निर्मलं महत्।
मलपार्श्वे न नेतव्यं प्राणान्तेऽपि विमुक्तये ॥१७८०॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्राणों के त्याग का समय आने पर भी अपने निर्मल और सर्वोत्कृष्ट चारित्र को कभी मलिन नहीं करना चाहिए।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

चारित्राचार की महिमा—

एषोऽनन्तगुणाकरोऽशुभहरः स्वर्मोक्षशर्माकरः
श्रीतीर्थेश्वरभाषितो मुनिगणैः संसेवितः प्रत्यहम्।
संसाराम्बुधितारकोऽतिविमलो [1]विश्वाग्रिमः
[2]सर्व चारित्राचार इहोर्जितः प्रतिदिनं मे मानसे तिष्ठतु ॥१७८१॥

अर्थ—यह चारित्राचार अनंत गुणों की खानि है, पापों को हरण करने वाला है, स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाला है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है, अनेक मुनिगण प्रतिदिन इसका सेवन

---
१. विश्वाग्रिमश्चोत्कटः २. सर्वाचार

करते हैं, यह संसाररूपी समुद्र से पार करने वाला है, अत्यन्त निर्मल है, सबमें मुख्य है और सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा यह पूर्ण चारित्राचार मेरे मन में विराजमान रहो।

तपाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

चारित्राचार एषोत्र वर्णितो हि महात्मनाम्।
इत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तप आचारमद्भुतम् ॥१७८२॥

अर्थ—इस प्रकार महात्माओं के इस चारित्राचार का वर्णन किया। अब आगे सर्वोत्कृष्ट तप आचार को कहता हूँ।

तपाचार का स्वरूप व उसके भेद—

स्वेच्छाया अक्षशर्मादौ निरोधो यो विधीयते।
तपोर्थिभिस्तपः सिद्ध्यै तदेव प्रवरं तपः ॥१७८३॥
बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां द्विधा सत्तप उच्यते।
तद्बाह्यं षड्विधं षोढाऽभ्यन्तरं च भवान्तकम् ॥१७८४॥

अर्थ—तपश्चरण करने वाले मुनि अपने तपश्चरण की सिद्धि के लिए जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं। इस तप के बाह्य-आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं, उसमें भी बाह्य तप के छह भेद हैं और संसार को नाश करने वाले अभ्यंतर तप के भी छह भेद हैं।

बाह्य तप का स्वरूप और उसके भेद—

यत्तपः प्रकटं लोकेऽन्येषां वात्र कुदृष्टिभिः।
कर्तुं च शक्यते बाह्यं तत्तपः सार्थकं भवेत् ॥१७८५॥
आद्यं चानशनं सारमवमोदर्यसंज्ञकम्।
द्वितीयं सत्तपोवृत्तिपरिसंख्यानमूर्जितम् ॥१७८६॥
ततो रसपरित्यागो विविक्तशयनासनम्।
कायक्लेशोऽत्र षोढेति तपो बाह्यं सुखाकरम् ॥१७८७॥

अर्थ—जो तप संसार में प्रकट दिखाई देता है अथवा अन्य मिथ्यादृष्टि भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नाम को धारण करने वाला बाह्य तप कहलाता है। अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश इस प्रकार सुख देने वाला बाह्य तप छह प्रकार है।

अनशन तप का स्वरूप व उसके भेद—

तत्साकाङ्क्षनिराकाङ्क्ष-भेदाभ्यां श्रीजिनाधिपैः।
द्विधाऽनशनमाम्नातं साकाङ्क्षं बहुधा भवेत् ॥१७८८॥

अन्नपानकसत्खाद्यस्वाद्यभेदैश्चतुर्विधः ।
आहारस्त्यज्यते मुक्त्यै यत्तपोऽनशनं हि तत् ॥१७८९॥

अर्थ—उसमें भी भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अनशन तप के दो भेद बतलाए हैं—एक साकांक्ष और दूसरा निराकांक्ष। इनमें से साकांक्ष तप के भी अनेक भेद बतलाए हैं। मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं।

साकांक्ष अनशन के भेद—

क्रियते चोपवासस्य धारणे पारणे बुधैः।
यदैकभक्तमाप्तैः स चतुर्थः कथ्यते बुधैः ॥१७९०॥
चतुर्भोजनसंत्यागाच्चतुर्थः सार्थको महान्।
षड्वेलाशनसंत्यागात् षष्ठो द्विप्रोषधात्मकः ॥१७९१॥
अष्टवेलाशनत्यागादष्टमस्त्रिचतुर्थजः ।
दशभोजनसंख्यागाद्दशमः कर्मनाशकः ॥१७९२॥
द्विषड्वेलाशनत्यागात्प्रोक्तो द्वादशमो जिनैः।
इत्याद्याः प्रोषधा ज्ञेया साकाङ्क्षानशनस्य च ॥१७९३॥
पक्षमासोपवासादि षण्मासान्तं तपोऽनघम्।
क्रियते यन्महाधीरैः सर्वं साकाङ्क्षमेव तत् ॥१७९४॥
कनकैकावलीसिंहनिःक्रीडितादयोऽखिलाः।
भद्रत्रैलोक्यसाराद्याः साकाङ्क्षेऽन्तर्भवा मताः ॥१७९५॥

अर्थ—जिस उपवास में धारणा-पारणा के दिन एकाशन किया जाता है उसको भगवान् सर्वज्ञदेव चतुर्थ नाम से कहते हैं। इस उपवास में चार समय के भोजन का त्याग किया जाता है इसलिए यह चतुर्थ नाम का महाउपवास सार्थक नाम को धारण करने वाला है। यदि छह समय के आहार का त्याग कर धारणा-पारणा के दिन एकाशन कर मध्य में जो उपवास किए जायें तो उसको षष्ठ नाम का उपवास कहते हैं। जिसमें आठ समय के आहार का त्याग किया जाये अर्थात् धारणा-पारणा के मध्य में तीन उपवास किए जायें उसको अष्टम उपवास कहते हैं तथा जिस उपवास में दस समय के आहार का त्याग किया जाये अर्थात् धारणा-पारणा के मध्य में चार उपवास किए जायें उसको कर्मों का नाश करने वाला दशम उपवास कहते हैं। जिस उपवास में बारह समय के आहार का त्याग किया जाये अर्थात् धारणा-पारणा के मध्य में पाँच उपवास किए जायें तथा धारणा-पारणा के दिन एकाशन किया जाये उसको द्वादशम उपवास कहते हैं। इस प्रकार के जो प्रोषधोपवास हैं वे

सब साकांक्ष अनशन के भेद हैं। इसी प्रकार महा धीर वीर पुरुष जो एक पक्ष का वा एक मास का उपवास करते हैं वा छह महीने तक का उपवास करते हैं तथा इस प्रकार जो पाप रहित तपश्चरण करते हैं उस सबको आकांक्ष अनशन कहते हैं। इसी प्रकार कनकावली, एकाबली, सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वा भद्र त्रैलोक्यसार आदि व्रतों के जितने उपवास हैं, वे सब साकांक्ष अनशन में ही अंतर्भूत होते हैं।

निराकांक्ष अनशन का स्वरूप व भेद—

मरणं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीसमाह्वयम्।
प्रायोपगमनं हीत्याद्यन्यानि मरणानि च ॥१७९६॥
यानि तानि समस्तानि यावज्जीवाश्रितान्यपि।
निराकाङ्क्षोपवासस्य बहुभेदानि विद्धि भोः ॥१७९७॥

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनी मरण, प्रायोपगमन संन्यास मरण इस प्रकार के जितने संन्यासमरण हैं उनमें जो जीवनपर्यंत आहार का त्याग कर दिया जाता है, उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं। उस निराकांक्ष उपवास के भी इस प्रकार के मरण के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं।

अनशन तप की महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

उपवासाग्निना पुंसां कायः संतप्यते तराम्।
दह्यन्ते सकलाक्षाणि कर्मेन्धनान्यनन्तशः ॥१७९८॥
ढौकते त्रिजगल्लक्ष्मीर्नाकश्रीश्च सुशर्मदा।
मुक्तिस्त्री सन्मुखं पश्येदुपवासफलात्सताम् ॥१७९९॥
इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं शक्त्या शिवाप्तये।
बहूपवासभेदांश्च प्रकुर्वन्तु तपोधनाः ॥१८००॥

अर्थ—इस उपवासरूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यन्त संतप्त हो जाता है और फिर उससे समस्त इन्द्रियाँ और अनंत कर्मरूपी ईंधन सब जल जाता है। इस उपवास के फल से सज्जनों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है और श्रेष्ठ कल्याण करने वाली मुक्तिस्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है। इस प्रकार इस उपवास का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार अनेक भेद रूप उपवासों को सदा करते रहना चाहिए।

अवमौदर्य तप का स्वरूप और उसके जघन्यादि भेद—

सहस्र-तण्डुलैरेकः कवलोऽत्रोदितो नृणाम्।
द्वात्रिंशत्कवलैः पूर्ण आहारश्चागमे जिनैः ॥१८०१॥

एकेन कवलेनैवोनाहारो योऽत्रभुज्यते।
तपोऽर्थं हि जघन्यं तदवमोदर्यसत्तप: ॥१८०२॥
अत्रैकग्रासमात्रो य आहारो गृह्यते चिदे।
तपस्विभिस्तपोर्थं तदवमोदर्यमुत्तमम् ॥१८०३॥
जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येऽत्रातृप्ति-भोजनं हि यत्।
बहुधा तपसे तच्चावमोदर्यसुमध्यमम् ॥१८०४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मनुष्यों के लिए एक हजार चावलों का एक ग्रास बतलाया है तथा जिनागम में बत्तीस ग्रासों का पूर्ण आहार बतलाया है। जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिए एक ग्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमौदर्य नाम का श्रेष्ठ तप कहते हैं। जो तपस्वी अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए वा आत्मा को शुद्ध करने के लिए केवल एक ही आहार का ग्रास लेते हैं, वह उत्तम अनेक तप कहलाता है। एक ग्रास से अधिक और इकतीस ग्रास से कम ग्रासों का आहार लेना मध्यम अनेक है। यह अवमौदर्य तपश्चरण के ही लिए किया है और इसमें उतना ही आहार लिया जाता है जिसमें पूरी तृप्ति न हो।

अवमौदर्य तप की महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

अनेन तपसा नृणां निद्राजय: स्थिरासनम्।
ग्लानिहानि: श्रुतं ध्यानं स्याच्चाभुक्तिश्रमात्यय: ॥१८०५॥
इत्यादींस्तद्गुणान् ज्ञात्वावमोदर्यं तपोधनम्।
ग्रासादिहापनैर्दक्षा: कुर्वन्तु ध्यानसिद्धये ॥१८०६॥

अर्थ—इस तपश्चरण से मनुष्यों का निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है, ध्यान की वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता। इस प्रकार इस तपश्चरण के गुणों को जानकर चतुर पुरुषों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिए अपने ग्रासों की संख्या घटाकर अवमौदर्य नाम के निर्दोष तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिए।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप—

चतु:पथाध्ववीथ्येकगृहादिपटिकै: परै:।
नानावग्रहसङ्कल्पैर्दातृभोजनभाजनै: ॥१८०७॥
दुष्प्राप्याहारसंप्राप्त्यै या प्रतिज्ञात्र गृह्यते।
तद्वृत्तिपरिसंख्यानं बहुभेदं तपो महत् ॥१८०८॥

अर्थ—मैं चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूँगा, इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो

आहार लूँगा, एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूँगा अथवा दाता ऐसा होगा उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूँगा नहीं तो नहीं। इस प्रकार कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पड़गाहन होगा तो आहार लूँगा नहीं तो नहीं, इस प्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह तप सर्वोत्कृष्ट है और इसके अनेक भेद हैं।

वृत्तिपरिसंख्यान तप का फल, उसे धारण करने की प्रेरणा—

तपसानेन जायेत धीरत्वं योगिनां परम्।
आशान्तरायकर्माणि प्रणश्यन्ति च लौल्यताः ॥१८०९॥
इत्याद्यस्य फलं मत्वा दुर्लभाहारसिद्धये।
चतुःपथादिभिर्धीराः प्रतिज्ञामाचरन्तु भोः ॥१८१०॥

अर्थ—इस तपश्चरण से योगियों में धीरवीरता उत्पन्न होती है, आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती हैं। इस प्रकार इस तप के फल को समझकर धीर वीर पुरुषों को कठिनता से आहार प्राप्त करने के लिए ऊपर कहे अनुसार चौराहे आदि पर आहार लेने की प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिए।

रस परित्याग तप का स्वरूप—

दधिदुग्धगुडानां च रसानां तैलसर्पिषोः।
लवणस्य कषायाम्लमधुराणां जितेन्द्रियैः ॥१८११॥
तिक्तस्य कटुकस्यापि त्यागो यः क्रियते जिनैः।
उक्तं रसपरित्यागं तत्तपोऽक्षमदान्तकम् ॥१८१२॥

अर्थ—इन्द्रियों को जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तेल, घी, लवण, कषायला, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको इन्द्रिय और मद को नाश करने वाला रस परित्याग नाम का तप भगवान् जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

मद्यादि त्याग की प्रेरणा—

मद्यमांसमधुन्येव नवनीतमिमाः सदा।
निन्द्या विकृतयस्त्याज्याश्चतस्त्रः पापखानयः ॥१८१३॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु और नवनीत ये चारों ही पदार्थ निंद्य हैं, विकार उत्पन्न करने वाले हैं और पाप की खानि है, इसलिए इन चारों का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

आचाम्ल और निर्विकृत आहार का स्वरूप तथा उसे लेने की प्रेरणा—

सदुष्णोकांजिके शुद्धमाप्लाव्य भुज्यतेऽशनम्।
जितेन्द्रियैस्तपोर्थं यदाचाम्ल उच्यतेऽत्र सः ॥१८१४॥

आहारो भुज्यते दुग्धादिकपञ्चरसातिग:।
दमनायाक्षशत्रूणां य: सा निर्विकृतिर्मता ॥१८१५॥
आचाम्लनिर्विकृत्याख्ये तपसे तेऽनघेऽन्वहम्।
पञ्चाक्षारातिघाताय कर्तव्ये विधिवद् बुधै: ॥१८१६॥

अर्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपना तपश्चरण बढ़ाने वाले जो गर्म कांजी में (भात के मांड में) शुद्ध आहार मिलाकर आहार लेते हैं उसको आचाम्ल कहते हैं। मुनिराज अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को दमन करने के लिए दूध, दही आदि पाँचों रसों से रहित नीरस आहार लेते हैं उसको निर्विकृति कहते हैं। बुद्धिमान् मुनियों को अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिए और पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिए विधिपूर्वक पापरहित ऐसे आचाम्ल और निर्विकृति नाम का आहार प्रतिदिन लेना चाहिए।

रस परित्याग तप का फल एवं उसे करने की प्रेरणा—

रसत्यागतपोभिश्च दुर्दान्तेन्द्रियनिर्जय: ।
रसर्द्ध्यादिमहद्वीर्यं जायते च शिवं सताम् ॥१८१७॥
विदित्वेति फलं चास्य महत्कुर्वन्तु संयता:।
एकद्व्यादिरसत्यागै रसत्यागतप: सदा ॥१८१८॥

अर्थ—इस रसपरित्याग नाम के तप से प्रबल इन्द्रियों का विजय होता है, रस ऋद्धि आदि महाशक्तियाँ प्रकट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस तप का फल समझकर मुनियों को एक, दो आदि रसों का त्यागकर इस रसपरित्याग तप को सदा धारण करते रहना चाहिए।

विविक्त शय्यासन तप का स्वरूप—

नारीदेवीपशुक्लीवगृहस्थादिविवर्जिते ।
शून्यागारे श्मशाने वा प्रदेशे निर्जनेवने ॥१८१९॥
विधीयते गुहादौ वा यत्सदा शयनासनम्।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यै तद्विविक्तशयनासनम् ॥१८२०॥

अर्थ—मुनिराज अपने ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिए स्त्री, देवी, पशु, नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहाँ निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसको विविक्त शय्यासन नाम का तप कहते हैं।

विविक्त शय्यासन तप का फल उसे पालन करने की प्रेरणा—

ध्यानाध्ययननिर्विघ्ना रागद्वेषादिहानय: ।
लभ्यन्ते तपसानेन साम्यताद्या महागुणा: ॥१८२१॥

मत्वेतीदं तपः कार्यं ध्यानादिसिद्धयेऽन्वहम्।
सरागस्थानकांस्त्यक्त्वा स्थित्वा शून्यगृहादिषु ॥१८२२॥

अर्थ—इस तपश्चरण से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा रागद्वेष आदि कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है। इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महागुण प्रकट हो जाते हैं। यही समझकर ध्यान-अध्ययन आदि की सिद्धि के लिए मुनियों को राग उत्पन्न करने वाले स्थानों का त्याग कर और निर्जन एकांत स्थान में निवास कर प्रतिदिन इस तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिए।

कायक्लेश तप का स्वरूप—

कायोत्सर्गैकपार्श्वादिशय्यावज्रासनादिभिः ।
आतपनादियोगैश्च त्रिकालगोचरैः परैः ॥१८२३॥
तपोबुद्ध्या मनःशुद्ध्या कायक्लेशो विधीयते।
यः कायशर्महान्यै तत्कायक्लेशतपो महत् ॥१८२४॥

अर्थ—मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिए तपबुद्धि से मन की शुद्धता के साथ-साथ कायोत्सर्ग धारण कर, एक कर्वट से सोकर, वज्रासन आदि कठिन आसन लगाकर व वर्षा-ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होने वाले उत्कृष्ट आतापनादिक कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट कायक्लेश नाम का तप कहते हैं।

कायक्लेश तप करने का फल एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

बलर्द्ध्याद्या महर्द्धीश्च सुखं त्रैलोक्यसंभवम्।
कायेन्द्रियजयादीनि लभन्तेऽस्य फलाद्बिदः ॥१८२५॥
विज्ञायेति सदा कार्यः कायक्लेशो गुणाकरः।
निजशक्त्यनुसारेण विद्वद्भिः शिवशर्मणे ॥१८२६॥

अर्थ—इस तपश्चरण के फल से विद्वानों को बल ऋद्धि आदि अनेक महाऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला सुख प्राप्त होता है और काय और इन्द्रियों पर विजय होती है। यही समझकर विद्वानों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार अनेक गुणों की खानि ऐसा यह कायक्लेश नाम का तप अवश्य धारण करना चाहिए।

बाह्य तप का स्वरूप—

येन नोत्पद्यते पुसां संक्लेशो मनसोऽशुभः।
वर्तते तपसां श्रद्धादुर्ध्यानादिपरिक्षयः ॥१८२७॥
न हीयन्ते महायोगा वर्द्धन्ते प्रवरा गुणाः।
आभ्यन्तरतपांस्यत्र तद्बाह्यं परमं तपः ॥१८२८॥

अर्थ—जिस तपश्चरण से मनुष्यों के मन में अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरण में श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभ ध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्म-शुक्लध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो, श्रेष्ठ गुण बढ़ते जायें और अभ्यन्तर तपश्चरण भी जिससे बढ़ते जायें उसको बाह्य परम तपश्चरण कहते हैं।

अभ्यन्तर तप की वृद्धि हेतु बाह्य तप करने की प्रेरणा—

अभ्यन्तरतपोवृद्ध्यर्थं बाह्यं निखिलं तपः।
कीर्तितं वीतरागेण ध्यानाध्ययनकारणम् ॥१८२९॥
मत्वेत्यन्तस्तपोवृद्ध्यै तपोबाह्यं तपोधनाः।
सर्वशक्त्या प्रकुर्वन्तु कर्महान्यै शिवाय च ॥१८३०॥

अर्थ—भगवान् सर्वज्ञदेव ने अभ्यन्तर तप को बढ़ाने के लिए ही ध्यान और अध्ययन का कारण ऐसा यह अनेक प्रकार का बाह्य तपश्चरण बतलाया है। यही समझकर तपस्वी लोगों को अपने अंतरंग तप की वृद्धि के लिए कर्मों को नाश करने के लिए और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगाकर इस बाह्य तपश्चरण को पालन करना चाहिए।

अभ्यन्तर के कथन की प्रतिज्ञा और उसका स्वरूप—

इति बाह्यं तपः सम्यग् व्याख्याय श्रीजिनागमात्।
इत ऊर्ध्वं सतां सिद्ध्यै वक्ष्याम्यभ्यन्तरं तपः ॥१८३१॥
व्यक्तं यन्नापरेषां वा तपः कर्तुं न शक्यते।
मिथ्यादृग्भिः शठैस्तच्चाभ्यन्तरं प्रवरं तपः ॥१८३२॥

अर्थ—इस प्रकार जैनशास्त्रों के अनुसार बाह्य तप का निरूपण अच्छी तरह से किया। अब आगे सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अभ्यन्तर तप का निरूपण करते हैं। जो तप दूसरों के द्वारा प्रकट दिखाई न दे तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिस तप को धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप कहते हैं।

अभ्यन्तर तप के भेद—

प्रायश्चित्तं च दोषघ्नं विनयं सद्गुणाकरम्।
वैयावृत्यं तपः सारं स्वाध्यायो धर्मसागरः ॥१८३३॥
कायोत्सर्गः शुभध्यानमित्यन्तःशुद्धिकारणम्।
अभ्यन्तरं तपः षोढा स्यादन्तःशत्रुघातकम् ॥१८३४॥

अर्थ—समस्त दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त, श्रेष्ठ गुणों की खानि ऐसा विनय, तपश्चरण का सारभूत तप वैयावृत्ति, धर्म का सागर स्वाध्याय तथा कायोत्सर्ग और अंतरंग को शुद्ध करने वाला शुभध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तप है यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अंतरंग

शत्रुओं को नाश करने वाला है।

प्रायश्चित्त तप का स्वरूप व उसके भेद—

कृतदोषो मुनिर्येन विशुद्ध्यतितरां व्रतैः।
सम्पूर्णं दशभेदं तत्प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ॥१८३५॥
आलोचनं च दोषघ्नं प्रतिक्रमणमूर्जितम्।
ततस्तदुभयं सारं विवेको गुणसागरः ॥१८३६॥
कायोत्सर्गस्तपश्छेदो मूलं दोषक्षयङ्करम्।
परिहारश्च श्रद्धानं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ॥१८३७॥

अर्थ—जिस ध्यान से मुनियों के व्रतों में लगे हुए दोष शुद्ध हो जायें उसको प्रायश्चित्त कहते हैं, इस प्रायश्चित्त के दस भेद हैं और यह समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाला है। दोषों को नाश करने वाली १. आलोचना, २. उत्कृष्ट प्रतिक्रमण, ३. सारभूत तदुभय, ४. गुणों का सागर ऐसा विवेक, ५. कायोत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. दोषों को क्षय करने वाला मूल, ९. परिहार और १०. श्रद्धान यह दस प्रकार का प्रायश्चित्त कहलाता है।

आलोचना प्रायश्चित्त का स्वरूप—

प्रायश्चित्तादिसिद्धान्तविदः सूरेः रहस्यपि।
पञ्चाचाररतस्यान्ते त्यक्त्वा मायां निवेदनम् ॥१८३८॥
यद्विशुद्ध्यै व्रतादीनां योगैः कृतादिकर्मभिः।
कृतातीचारकृत्स्नानां तदालोचनमुच्यते ॥१८३९॥

अर्थ—जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धान्त शास्त्रों के जानकार हैं और जो पंचाचार पालन करने में लीन हैं, उनके समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत-तप आदि की शुद्धि के लिए बिना किसी छल-कपट के मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से किए हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचना कहलाता है।

आकंपितादि दोष से रहित आलोचना करना चाहिए—

आकंपिताख्यो दोषोऽनुमानितो दृष्टसंज्ञकः।
बादरः सूक्ष्मदोषश्छन्नः शब्दाकुलिताह्वयः ॥१८४०॥
दोषो बहुजनो व्यक्तस्तत्सेवितसमाह्वयः।
दश दोषा अमी त्याज्या आलोचनस्य संयतैः ॥१८४१॥

अर्थ—इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवित ये दस दोष हैं। मुनियों को इन दस दोषों से रहित आलोचना करनी चाहिए।

आकंपित दोष का स्वरूप—

रम्योपकरणे दत्ते ज्ञानादौ सति चापरे।
तुष्टसूरिर्ममप्रायश्चित्तं स्तोकं हि दास्यति ॥१८४२॥
मत्वेति प्राक्प्रदायोच्चै ज्ञानोपकरणादिकम्।
सूरेरालोचनं यत्सदोष आकम्पिताह्वयः ॥१८४३॥

अर्थ—यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाये तो आचार्य सन्तुष्ट हो जायेंगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे। यही समझकर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादिक देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नाम का दोष कहते हैं।

अनुमानित दोष का स्वरूप—

पित्ताधिकः प्रकृत्याहं दुर्बलो ग्लान एव च।
नालं कर्तुं समर्थोऽस्म्युपवासादिकमुल्वणम् ॥१८४४॥
यदि मे दीयते स्वल्पं प्रायश्चित्तं ततः स्फुटम्।
करिष्ये स्वस्य दोषाणां सर्वेषां च निवेदनम् ॥१८४५॥
नान्यथेति वचोऽत्रोक्त्वा क्रियते सूरिसन्निधौ।
शिष्यैरालोचनं यत्स दोषोऽनुमानिताभिधः ॥१८४६॥

अर्थ—मेरे शरीर में पित्त प्रकृति का अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूँ अथवा मैं रोगी हूँ इसलिए मैं अधिक वा तीव्र उपवासादिक नहीं कर सकता। यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायेगा तो मैं अपने समस्त दोषों का निवेदन प्रकट रीति से कर दूँगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार कहकर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं।

दृष्ट दोष का स्वरूप—

अन्यैरदृष्ट-दोषाणां कृत्वोपगूहनं च यत्।
कथनं दृष्टदोषाणां दृष्टदोषः स उच्यते ॥१८४७॥

अर्थ—जो शिष्य दूसरों के द्वारा बिना देखे हुए दोषों को तो छिपा लेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर देता हैं उसके आलोचना का दृष्ट नाम का दोष लगता है।

बादर दोष का स्वरूप—

आलस्याच्च प्रमादाद्वाह्यज्ञानाद्वालसंयतैः ।
अल्पापराधराशीनां निवेदनादृते भुवि ॥१८४८॥
आचार्यनिकटे यच्च स्थूलदोषनिवेदनम् ।
विधीयते स दोषश्चतुर्थो बादरसंज्ञकः ॥१८४९॥

अर्थ—जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस, प्रमाद वा अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किन्तु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को निवेदन करता है उसको चौथा बादर नाम का दोष कहते हैं।

सूक्ष्म दोष का स्वरूप—

अयशो दुष्करप्रायश्चित्तादिभयतोऽथवा।
अयं सूक्ष्मातिचाराणां परिहारक ऊर्जितः ॥१८५०॥
अहो मत्वेति यन्मूढैः स्वगुणख्यापनेच्छया।
स्थूलदोषशतादीनां कृत्वा संवरणं महत् ॥१८५१॥
सूरेर्महाव्रतादीनां स्वल्पदोषनिवेदनम्।
मायया क्रियते यत्स दोषः सूक्ष्माभिधानकः ॥१८५२॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डर से अथवा ''देखो इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म दोषों को भी अच्छी तरह प्रकट कर देता है'' इस प्रकार के अपने गुणों के प्रकट होने की इच्छा से सैकड़ों बड़े-बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्य के सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषों को निवेदन कर देता है उसको पाँचवाँ सूक्ष्म नाम का दोष कहते हैं।

छन्न नामक दोष का स्वरूप—

ईदृशे सत्यतीचारे प्रायश्चित्तं हि कीदृशम्।
इत्युपायेन पृष्ट्वा स्वगुरुं शुश्रूषया ततः ॥१८५३॥
स्वदोषहानये शिष्यैः प्रायश्चित्तं विधीयते।
यदकीर्तिभयाल्लोके छन्नदोषः स दोषदः ॥१८५४॥

अर्थ—जो शिष्य लोक में फैलने वाली अपनी अपकीर्ति के भय से अपने दोषों को दूर करने के लिए शुश्रूषा करके गुरु से पूछता है कि हे स्वामिन् ''इस प्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिए'' इस प्रकार किसी भी उपाय से पूछकर वह जो प्रायश्चित्त लेता है, वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छन्न नाम का दोष कहलाता है।

शब्दाकुलित दोष का स्वरूप—

पाक्षिके दिवसे चातुर्मासिके शुभकर्मणि।
वा सांवत्सरिकेऽतीवसमवाये महात्मनाम् ॥१८५५॥
स्वस्वालोचन-संजाते बहुशब्दाकुले सति।
यद्दोषकथनं दोषः शब्दाकुलित एव स ॥१८५६॥

अर्थ—जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा दैवसिक वा चातुर्मासिक आलोचना

हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ काम के लिए महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो तथा सब इकट्ठे मिलकर अपनी-अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊँचे स्वर से निकल रहे हों, उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं।

बहुजन नामक दोष का स्वरूप—

गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तमिदं न वा।
प्रायश्चित्तादिसद्ग्रन्थे हीति शङ्कां विधाय यत् ॥१८५७॥
निकटेऽपरसूरीणां प्रश्नं विधीयते बुधैः।
दत्तदण्डस्य निन्द्यः स दोषो बहुजनाख्यकः ॥१८५८॥

अर्थ—आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रन्थों के अनुसार ठीक है वा नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेने वाले के बहुजन नाम का दोष लगता है।

अव्यक्त नामक दोष का स्वरूप—

स्वसमानयतेरन्ते यद्दोषालोचनं महत्।
जिनागमानभिज्ञस्य दोषोऽस्याव्यक्तसंज्ञकः ॥१८५९॥

अर्थ—जो मुनि जिनागम को न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है, आचार्य से आलोचना नहीं करता है उसके अव्यक्त नाम का दोष लगता है।

तत्सेवित नामक दोष का स्वरूप—

समानोऽस्यापराधेन मेऽतिचारो व्रतस्य वै।
अस्मै यद्गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तदेव हि ॥१८६०॥
ममाप्याचरितुं युक्तं मत्वेत्यालोचनं विना।
तपोभिः शोधनं यत्स दोषस्तत्सेविताभिधः ॥१८६१॥

अर्थ—जो मुनि यह समझकर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतों में अतिचार लगा है इसलिए आचार्य महाराज ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे ले लेना चाहिए। यही समझकर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतों को शुद्ध करता है उसके तत्सेवित नाम का दोष लगता है।

दोष सहित आलोचना से व्रतों की शुद्धि नहीं—

अमीषां केनचिद्दोषेणान्वितालोचनं कृतम्।
मायाविनां सशल्यानां मनाक् शुद्धिकरं न हि ॥१८६२॥

अर्थ—जो मायाचारी शल्यसहित मुनि इन दस दोषों में से किसी भी दोष के साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं होती।

दोष रहित आलोचना से ही व्रतों की शुद्धि—

दशदोषानिमांस्त्यक्त्वा बालकैरिव संयतैः।
स्वदोषकथनं यत्क्रियते शुद्धिकरं हि तत् ॥१८६३॥

अर्थ—जो मुनि इन दस दोषों को छोड़कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं।

मलीन दर्पण सदृश्य आलोचना बिना महाव्रत सार्थक नहीं—

महत्तपो व्रतं सर्वं वानालोचनपूर्वकम्।
न स्वकार्यकरं जातु मलिनादर्शवद्भुवि ॥१८६४॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महा तपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते अर्थात् उनसे कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती।

शुद्ध हृदय से दोषों को प्रकट करना चाहिए—

विदित्वेति चिरं चित्ते व्यवस्थाप्य स्वदूषणम्।
प्रकाशनीयमत्यर्थं गुरोरन्ते शुभाशयैः ॥१८६५॥

अर्थ—यही समझकर अपने हृदय में अपने दोषों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और फिर अपने शुद्ध हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रकट कर देना चाहिए।

दोषों की आलोचना कब किस विधि से करें—

सूरेरेकाकिनः पार्श्वे स्वदोषाणां प्रकाशनम्।
अद्वितीयस्य शिष्यस्यैकान्तेप्युक्तं न चान्यथा ॥१८६६॥
प्रकाशे दिवसे सूरेरन्ते स्वालोचनादिकम्।
आर्यिकायाः सतामिष्टं तृतीये सज्जने सति ॥१८६७॥

अर्थ—जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हों उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपने दोष कहने चाहिए किसी के सामने अपने दोष नहीं कहने चाहिए। आर्यिकाएँ दिन में ही प्रकाश में ही किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करती हैं ऐसा सज्जन लोग कहते हैं।

प्रायश्चित्त लेने में प्रमाद नहीं करना चाहिए—

कृतालोचनदोषो यो न तद्दोषापहं तपः।
कुर्यात्तस्य न जायेत मनाक्शुद्धिः प्रमादिनः ॥१८६८॥
विज्ञायेति द्रुतं कार्यं प्रायश्चित्तं मलापहम्।
न चास्याचरणे किञ्चिद्विधेयं काललङ्घनम् ॥१८६९॥

अर्थ—जो मुनि दोषों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोष को दूर करने वाले तपश्चरण को नहीं करता उस प्रमादी के दोषों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती। यही समझकर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोषों को दूर करने वाला प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त के लेने में थोड़ी सी भी देर नहीं करनी चाहिए।

प्रतिक्रमण का स्वरूप—

दिनादिजव्रतातीचाराणां निन्दनगर्हणैः।
विशोधनं त्रिशुद्ध्या यत्प्रतिक्रमणमेव तत् ॥१८७०॥

अर्थ—दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक निंदा, गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आलोचना सहित प्रतिक्रमण का स्वरूप—

कश्चिद्दोषो व्रतादीनां नश्यत्यालोचनाद् द्रुतम्।
दुःस्वप्नादिजकर्मा यः सत्प्रतिक्रमणेन च ॥१८७१॥
मत्वेत्यालोचनापूर्वं प्रतिक्रमणमञ्जसा।
पाक्षिकादौ गिरा यत्क्रियते तदुभयं हि तत् ॥१८७२॥

अर्थ—व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दुःस्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझकर पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक दोषों को दूर करने के लिए वचनपूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं।

विवेक नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषतः।
निर्वर्तनं हृदयात् स विवेको नेकधाऽथवा ॥१८७३॥
प्रत्याख्यानस्य वस्तोर्ग्रहणेविस्मरणात्सति।
स्मृत्वा पुनश्च तत्त्यागो यो विवेकः स कथ्यते ॥१८७४॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, अन्न, पान, उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है। यह विवेक अनेक प्रकार का है अथवा भूल से त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाये और स्मरण हो

आने पर फिर उसका त्याग कर दिया जाये उसको विवेक कहते हैं।

कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

दुश्चिन्तनार्त्त - दुःस्वप्नदुर्ध्यानाद्यैर्मलप्रदैः।
मार्गव्रजन - नद्याद्युत्तरणैरपरे दृशैः ॥१८७५॥
जातातीचारशुद्ध्यर्थमालम्ब्य ध्यानमुत्तमम् ।
कायस्य त्यजनं युक्त्या यत्स व्युत्सर्ग ऊर्जितः ॥१८७६॥

अर्थ—अशुभ चिंतन, आर्तध्यान, दुःस्वप्न, दुर्ध्यान आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिए अथवा मार्ग में चलना, नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिए उत्तम ध्यान को धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ कायोत्सर्ग कहते हैं।

तप नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

व्रतातीचारनाशायोपवासाचाम्लयोर्मुदा ।
तथा निर्विकृतेरेकस्थानादेः करणं तपः ॥१८७७॥

अर्थ—व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिए उपवास करना, आचाम्ल करना, निर्विकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि तप कहलाता है।

मुनि को उपर्युक्त ६ प्रकार के यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिए—

भयोन्मादप्रमादानवबोधाशक्तिकारणैः ।
अन्यैर्विस्मरणाद्यैश्च जातातीचारहानये ॥१८७८॥
व्रतादीनां प्रदातव्यं पूर्वोक्तं षड्विधं यतेः।
प्रायश्चित्तं यथायोग्यं शक्तस्येहेतरस्य च ॥१८७९॥

अर्थ—यदि किसी भय से, उन्माद से, प्रमाद से, अज्ञानता से वा असमर्थता से अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतों में अतिचार लगे हों तो उनको दूर करने के लिए समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिए।

छेद नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

चिरप्रव्रजितस्यैव शूरस्य-गर्वितस्य वा।
कृतदोषस्य मासादिविभागेन च योगिनः ॥१८८०॥
छित्वा प्रव्रजनं तद्दीक्षया लघुमहात्मनाम्।
अधोभागे किलावस्थापनं यच्छेद एव सः ॥१८८१॥

अर्थ—यदि कोई मुनि चिरकाल का दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने

व्रतों में दोष लगाए तो उसको एक महीना, दो महीना, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी (उसके बाद दीक्षित हुए मुनियों से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त कहलाता है।

मूल नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

पार्श्वस्थादिकपञ्चानां महादोषकृतां पुनः।
अब्रह्मसेविनां दीक्षादानं मूलमिहोच्यते ॥१८८२॥

अर्थ—जो महादोष उत्पन्न करने वाले पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के मुनि है अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है, ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित्त है।

परिहार नाम के प्रायश्चित्त का स्वरूप व उसके भेद—

परिहारोनुपस्थापनपारंचिक - प्रभेदतः।
द्विविधः प्रोदितोऽत्रादि-त्रिक-संहननस्य वै ॥१८८३॥

अर्थ—परिहार प्रायश्चित्त के दो भेद हैं एक अनुपस्थान और दूसरा पारंचिक। यही परिहार नाम का प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है।

अनुस्थापन प्रायश्चित्त का भेद—

स्वस्यापरस्यभेदाभ्यां गणस्य श्रीगणाधिपैः।
अनुपस्थापनं द्वेधा कीर्तितं श्रीजिनागमे ॥१८८४॥

अर्थ—भगवान् गणधरदेव ने अपने जिनागम में अनुस्थापन के भी दो भेद कहे हैं, एक तो अपने ही संघ में अपने ही आचार्य से परिहार नाम का प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना।

स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे दें—

अन्यसंयतसम्बन्धिनं यतिं चार्यिकां शुभम्।
छात्रं बालं गृहस्थं वा परस्त्री-चेतनेतरम् ॥१८८५॥
द्रव्यं पाषंडिनां वा योऽपहरेच्चौर्यकर्मणा।
मुनीन् हन्ति तथेत्यादि-विरुद्धाचरणं चरेत् ॥१८८६॥
नवानां वा दशानां वा पूर्वाणां धारको महान्।
चिरप्रव्रजितः शूरो जिताशेषपरीषहः ॥१८८७॥
दृढधर्मी च तस्यैव प्रायश्चित्तं जिनै-र्मतम्।
अनुस्थापनं स्वस्य गणाख्यं नापरस्य वै ॥१८८८॥

अर्थ—जो मुनि चोरी करके अन्य मुनि के साथ रहने वाले किसी मुनि को, अच्छी आर्यिका

को, विद्यार्थी को, बालक को, गृहस्थ को वा परस्त्री को अथवा द्रव्य पाखंडियों के अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण कर ले अथवा किसी मुनि को मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा दस पूर्व का धारी हो, उत्कृष्ट हो, चिरकाल का दीक्षित हो, शूर हो, समस्त परीषहों को जीतने वाला हो और दृढ़ धर्मी हो ऐसे मुनि को भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने ही गण का अनुस्थापन प्रायश्चित्त बतलाया है, उसके लिए परगण सम्बन्धी अनुस्थापन प्रायश्चित्त नहीं बतलाया।

स्वगण अनुपस्थापन प्रायश्चित्त की विधि—

तेन शिष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरभूतलम्।
विहरेत वंदते नित्यं दीक्षया लघुसंयतान् ॥१८८९॥
लभते नहि तेभ्यः प्रतिवन्दनां सहाखिलम्।
गुरूणां लोचनं कुर्यान्मौनं सार्द्धं च योगिभिः ॥१८९०॥
धृत्वा पराङ्मुखां पिच्छिकां चरेत्पारणं सदा।
पञ्च पञ्चोपवासैर्जघन्येनोत्कृष्टतो मुदा ॥१८९१॥
षण्मासैर्मध्यमैः शक्त्या बहुभेदैर्महाबलः।
प्रायश्चित्तं करोत्येवं द्विषड्वर्षान्तमद्भुतम् ॥१८९२॥

अर्थ—इस स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को धारण करने वाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दंड दूर रहता है, जो अन्य मुनि दीक्षा से छोटे हैं उनको भी वंदना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रतिवंदना नहीं करते। वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियों के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों की आलोचना करता है और अपनी पिच्छिका को उलटी रखता है। कम से कम पाँच-पाँच उपवास करके पारणा करता है तथा अधिक से अधिक छह महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन, पन्द्रह दिन, एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है। इस प्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इस प्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्त को वह बारह वर्ष तक करता है।

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे दें—

स एव दर्पतो दोषान्प्रागुक्तान् नाचरेद्यदि।
श्रयेत्परगणोपस्थापनं दोष-क्षयङ्करम् ॥१८९३॥

अर्थ—यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगाए तो उसके लिए आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करने वाला परगणोपस्थापन नाम का परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है।

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त की विधि—

सापराधः प्रहेतव्यः सूरिणा गणिनं प्रति।
सोऽप्याचार्यो गिराकर्ण्य तस्यालोचनमञ्जसा ॥१८९४॥
प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तरं प्रापयेच्च तम्।
इत्येवं स प्रहेतव्यो यावत्सूरिश्चसप्तमः ॥१८९५॥
प्रेषितः पश्चिमेनैष पूर्वाचार्यं प्रतिस्फुटम्।
प्रायश्चित्तं चरेत्सर्वं प्रागुक्तं स बलान्वितः ॥१८९६॥

अर्थ—उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघ के आचार्य के पास भेजते हैं। वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही हुई सब आलोचना को सुनते हैं तथा बिना प्रायश्चित्त दिए उसको तीसरे आचार्य के पास भेज देते हैं। वे भी आलोचना सुनकर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं। इस प्रकार वह सात आचार्यों के पास भेजा जाता है। सातवें आचार्य आलोचना सुनकर उसको उसके ही गुरु के पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते हैं। तदनन्तर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नाम का प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित्त को धारण करता है।

पारंचिक प्रायश्चित्त कहने की प्रतिज्ञा—

परिहारस्य भेदोयं द्विधा प्रोक्तो जिनागमात्।
पारंचिकमितो वक्ष्ये प्रायश्चित्तं सुदुष्करम् ॥१८९७॥

अर्थ—इस प्रकार जैनशास्त्रों के अनुसार परिहार प्रायश्चित्त के दोनों भेद बतलाए। अब आगे अत्यंत कठिन ऐसे पारंचिक नाम के प्रायश्चित्त को कहते हैं।

पारंचिक अनुपस्थान प्रायश्चित्त का स्वरूप—

तीर्थकृद्गणभृत्सङ्घजिनसूत्रादिधर्मिणाम् ।
करोत्यासादनं राजाननुमत्या ददाति यः ॥१८९८॥
जिनमुद्राममात्यादीनां भजेद्राजयोषितः।
इत्याद्यन्यैर्दुराचारैः कुर्याद्धर्मस्य दूषणम् ॥१८९९॥
तस्य पारंचिकप्रायश्चित्तं भवति निश्चितम्।
चातुर्वर्णस्वसङ्घस्थाः संभूय श्रमणा भुवि ॥१९००॥
एषोऽवन्द्यो महापापी बाह्यः श्रीजिनशासनात्।
घोषयित्वेति दत्त्वानुपस्थापनं सुदुष्करम् ॥१९०१॥
प्रायश्चित्तं स्वदेशात्तं निर्घाटयन्ति दोषिणम्।
स्वधर्मरहिते क्षेत्रे सोऽपि गत्वा महाबलः ॥१९०२॥

दृढसंहननो धीरः प्रागुक्तक्रमतश्चरेत्।
प्रदत्तं गुरुणा सर्वं प्रायश्चितं विशुद्धिदम् ॥१९०३॥

अर्थ—जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्र की निंदा करता है धर्मात्माओं की निंदा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिनदीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्म को दूषित करता है उसके लिए आचार्यों ने पारंचिक नाम का प्रायश्चित्त निश्चित किया है। उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघ के चारों प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिलकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है, इसलिए अवंदनीय है और श्री जिनशासन से बाहर है। तदनंतर वे आचार्य उसको अत्यन्त कठिन अनुपस्थापन नाम का प्रायश्चित्त देते हैं तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं। मजबूत संहनन को धारण करने वाला धीर वीर महाबलवान् वह मुनि भी जिस देश में जिनधर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिए हुए समस्त दोषों को शुद्ध करने वाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है इसको पारंचिक अनुस्थापन प्रायश्चित्त कहते हैं।

श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

मिथ्यादृष्ट्युपदेशाद्यैर्मिथ्यात्वं च गतस्य या।
दृग्विशुद्धै रुचिस्तत्त्वादौ श्रद्धानं तदद्भुतम् ॥१९०४॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिए तत्त्वों में वा देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं।

१० प्रकार के प्रायश्चित्त पालन करने की प्रेरणा—

एतद्दशविधं प्रायश्चित्तं तद्व्रतशुद्धये।
युक्त्या कालानुसारेण कर्तव्यं मुनिभिः सदा ॥१९०५॥

अर्थ—श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिए यह दस प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने-अपने समय के अनुसार युक्तिपूर्वक इनका पालन करना चाहिए।

प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि का वर्णन दृष्टान्तपूर्वक—

यो महत्स्वतपो मत्वा प्रायश्चित्तं करोति न।
व्रतादिदोषशुद्ध्यर्थं शठात्मा गर्विताशयः ॥१९०६॥
तस्य सर्वं तपोवृत्तं तद्दोषो नाशयेद् द्रुतम्।
सहाखिलैर्गुणौघैः कुथितताम्बूलपत्रवत् ॥१९०७॥

अर्थ—जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरण को महा तपश्चरण समझकर व्रतादिक के दोषों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण

को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तप के नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है। उसी प्रकार एक ही दोष से सब व्रत, तप, गुण नष्ट हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त पालन करने का फल—

प्रायश्चित्तेन निःशल्यं मनो भवति निर्मलाः।
दृग्ज्ञानाद्यागुणौघाः स्युश्चारित्रं शशिनिर्मलम् ॥१९०८॥
सङ्घमान्यमभीतिः स्यान्निःशल्यं मरणोत्तमम्।
इत्याद्या बहवोऽन्येऽत्र जायन्ते सद्गुणाः सताम् ॥१९०९॥

अर्थ—इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रकट हो जाते हैं।

पुनः प्रायश्चित्त धारण करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति यदा कश्चिद्दोषः उत्पद्यते व्रते।
प्रायश्चित्तं तदैवात्र कर्तव्यं तद्विशुद्धये ॥१९१०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने व्रतों में जब कभी दोष लग जाये उसी समय में अपने व्रतों को शुद्ध करने के लिए प्रायश्चित्त धारण करना चाहिए।

विनय का स्वरूप और उसके भेद—

कषायेन्द्रिय-चौराणां शक्त्या विजयं बलात्।
विनयो वा सतां नीचैर्वृत्ती रत्नत्रयस्य यः ॥१९११॥
तद्वतां सज्जनैः प्रोक्तो विनयोऽनिष्टधातकः।
विश्वविद्याकरीभूतः पञ्चधागुणसागरः ॥१९१२॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयो महान्।
उपचाराभिधश्चेति विनयः पञ्चधा मतः ॥१९१३॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रियरूपी चोरों को अपनी शक्ति के अनुसार बलपूर्वक जीतना विनय है अथवा सज्जनों के प्रति नम्रता धारण करना वा रत्नत्रय की विनय करना रत्नत्रय को धारण करने वालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है। यह विनय समस्त अनिष्टों को दूर करने वाला है, समस्त विद्याओं की खानि है और गुणों का समुद्र है। ऐसा यह विनय तप पाँच प्रकार का है। दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और सर्वोत्कृष्ट उपचारविनय इस प्रकार विनय के पाँच भेद हैं।

दर्शन विनय का स्वरूप उसका फल—

ये पदार्थाः जिनैः प्रोक्तास्तथ्या त एव नान्यथा।
वीतरागाश्च सर्वज्ञा यतो नासत्यवादिनः ॥१९१४॥
इति युक्तिविचाराद्यैस्तत्त्वादौ निश्चयोऽचलः।
क्रियते योऽखिले जैनागमेऽर्हद्धर्मयोगिषु ॥१९१५॥
निःशङ्कितादिसर्वेषामङ्गानां यच्च धारणम्।
शङ्कादि-त्यजनं कृत्स्नं सूक्ष्मतत्त्वविचारणे ॥१९१६॥
भक्तिर्दृढतरायैकाश्रुतार्हन्मुनिधर्मिषु ।
सम्यग्दृष्टिजनादौ च रुचिर्मुक्तिपथे वृषे ॥१९१७॥
इत्यादि यच्छुभाचारमपरं वा विधीयते।
विनयो दर्शनाख्यः स सर्वो गुणाकरोऽघहृत् ॥१९१८॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व बतलाए हैं तथा जिस प्रकार बतलाए हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिए वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते। इस प्रकार युक्ति और विचारपूर्वक तत्त्वादिकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना, देव, धर्म, गुरु में अचल श्रद्धान करना, निःशंकित आदि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वों का विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना, देव-शास्त्र-गुरु और धर्म में अत्यन्त दृढ़ भक्ति धारण करना, सम्यग्दृष्टि पुरुषों में, मोक्ष के मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाचार धारण करना है उसको दर्शनविनय कहते हैं। यह दर्शनविनय समस्त गुणों की खानि है और समस्त पापों को नाश करने वाला है।

ज्ञान विनय के स्वरूप का वर्णन—

कालाद्यैरष्टधाचारैर्विनयेनार्चनादिभिः ।
कृत्स्नानामङ्गपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये ॥१९१९॥
त्रिशुद्ध्या पठनं शुद्धं पाठनं यच्च योगिनाम्।
चिन्तनं हृदयेऽत्यर्थं परिवर्तनमञ्जसा ॥१९२०॥
ख्यापनं कीर्तनं लोके प्रकाशनमनारतम्।
ज्ञानिनां भक्तिसन्मानं ज्ञानादिगुणभाषणम् ॥१९२१॥
इत्याद्यन्यच्छ्रुतज्ञानगुणग्रहणमूर्जितम् ।
क्रियते स समस्तोऽपि ज्ञानाख्यो विनयोऽद्भुतः ॥१९२२॥

अर्थ—अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिए और अज्ञान को दूर करने के लिए विनय के साथ तथा कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ-साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना, मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक अंग पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिंतन करना, हृदय में बार-बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरन्तर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और उनका सम्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञानविनय कहलाता है। यह समस्त ज्ञानविनय बहुत ही अद्भुत है।

चारित्र विनय के स्वरूप का वर्णन—

कषायेन्द्रियचौराणां प्रमादानां च वर्जनम्।
व्रतगुप्तिसमित्याद्याचरणे यत्नमन्वहम् ॥१९२३॥
महातपोधनानां च श्रुत्वाचरणमद्भुतम्।
अंजली-करणं भक्त्या प्रणामं वृत्तशालिनाम् ॥१९२४॥
इत्याद्यन्यत्सुचारित्रमाहात्म्यस्य प्रकाशनम्।
लोके विधीयते यत्स चारित्रविनयोऽखिलः ॥१९२५॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रियरूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, व्रत, समिति, गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणों को सुनकर उनके लिए भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र पालन करने वालों को भक्तिपूर्वक प्रणाम करना तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के माहात्म्य को प्रकट करना चारित्रविनय कहलाता है।

तप विनय के स्वरूप का वर्णन—

आतापनादि-सद्योगे ह्युत्तराख्ये गुणेऽद्भुते।
दुष्करे च द्विषड्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥१९२६॥
श्रद्धोत्साहानुरागाकाङ्क्षादीनां करणं महत्।
तपोधिकयतीनां च प्रणामस्तवनादिकम् ॥१९२७॥
षडावश्यकसम्पूर्णश्चित्तक्लेशादिवर्जनम् ।
तपसा करणे वीर्यादानं पञ्चाक्षनिर्जयः ॥१९२८॥
इत्याद्यन्यत्तपोऽनर्घ्यगुणानां यत्प्रकीर्तनम्।
सत्तपोजमहर्द्धीनां स तपो विनयोऽखिलः ॥१९२९॥

अर्थ—आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्द्धर

और कठिन तपश्चरण में श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, छहों आवश्यकों को पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिए अपनी शक्ति को प्रकट करना, पाँचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय कहलाती है।

उपचार विनय के भेद—

सत्कायवाङ्मनोभेदैरुपचारो जिनागमे।
विनयस्त्रिविधः प्रोक्तः कायवाक्चित्तशुद्धिदः॥१९३०॥
स प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां प्रत्येकं द्विविधः स्मृतः।
इत्येते षट्प्रकारा उपचारविनये मताः ॥१९३१॥

अर्थ—जैन शास्त्रों में मन-वचन-काय को शुद्ध करने वाला उपचार विनय तीन प्रकार का बतलाया है—काय से होने वाला विनय, वचन से होने वाला विनय और मन से होने वाला विनय। यह मन-वचन-काय से होने वाला तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो-दो प्रकार है। इस प्रकार उपचार विनय छह प्रकार का हो जाता है।

शारीरिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानं क्रियाकर्म मुदा भक्तित्रयाङ्कितम्।
प्रणामः शिरसा भाले स्वाञ्जलीकरणं सदा ॥१९३२॥
गुरोरागच्छतश्चाभिमुखयानां प्रगच्छतः।
अनुव्रजनमत्यर्थं भक्तिरागप्रकाशनम् ॥१९३३॥
नीचं स्थानं कियन्नीचं गमनं शयनासनम्।
आसनज्ञानशौचोपकरणादिसमर्पणम् ॥१९३४॥
शून्यागारगुहादीनामन्विष्य च निवेदनम्।
गुरुकायक्रमादीनां स्पर्शनं मर्दनं करैः ॥१९३५॥
आदेशकरणं संस्तरादिप्रस्तारणं निशि।
ज्ञानोपकरणादीनां प्रतिलेखनमन्वहम् ॥१९३६॥
इत्याद्यन्यो यथायोग्य उपकारो विधीयते।
कायेन सद्गुरोर्यः स विनयः कायिकोऽखिलः ॥१९३७॥

अर्थ—गुरु को देखकर उठकर खड़े होना, प्रसन्नतापूर्वक श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियों को पढ़कर क्रियाकर्म वा वंदना करना, उनको प्रणाम करना, दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर रखना, गुरु के आने पर उनके सामने जाना, गुरु के गमन करने पर उनके पीछे चलना, उनके प्रति अत्यन्त भक्ति

और अनुराग प्रकट करना, नीचा स्थान हो तो कितना नीचा है यह बताना, गमन, शयन, आसन आदि का ज्ञान कराना, आसन देना, ज्ञान और शौच के उपकरण समर्पण करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूँढ़कर बतलाना, गुरु के शरीर को वा उनके चरणों को स्पर्श करना वा हाथों से दबाना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके लिए संस्तर बिछाना, रात के समय प्रतिदिन ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना (पिच्छिका से झाड़कर शुद्ध करना) तथा अपने शरीर से इसी प्रकार के गुरु वा आचार्य के अन्य उपकार करना यथायोग्य रीति से उपकार करना शारीरिक विनय कहलाती है।

वाचनिक विनय का स्वरूप—

आचार्यभगवत्पूज्यपाद - भट्टारकादिभिः।
नामभिःप्रवरं पूज्यवचनं मधुरं वचः ॥१९३८॥
हिततथ्यमितादीनां वचसां भाषणं गिरा।
जिनसूत्रानुसारेण भाषणं पापदूरगम् ॥१९३९॥
उपशान्त - वचोवाच्यमगृहस्थवचः शुभम्।
अकर्कशं वचःसारं सुखस्पृष्टमनिष्ठुरम् ॥१९४०॥
इत्यादिनिरवद्यं यद् ब्रूयते वचनं वरम्।
गुरोरन्ते स सर्वोपि वाचिको विनयो महान् ॥१९४१॥

अर्थ—गुरु के समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान् पूज्यपाद भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को सम्बोधन करना, वचन से सदा हित-मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदा जैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना, मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों सारभूत हों स्पष्ट हों कठिन न हों उत्तम और अनिंद्य हों। इस प्रकार गुरु के समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है।

मानसिक विनय का स्वरूप—

दुष्कर्मागमनद्वारसन्मुखं स्वसुखावृतम्।
दुर्ध्यानद्वेषरागादिलीनं चिन्ताशताकुलम् ॥१९४२॥
त्यक्त्वा स्वपरिणामं सुतत्त्ववैराग्यवासितम्।
सदर्थधर्मसद्भावागमचिन्तादितत्परम् ॥१९४३॥
स्वान्येषां हितकृच्छुद्धं धार्यते यन्निजं मनः।
गुरोः पार्श्वे स विश्वो मानसिको विनयो वरः ॥१९४४॥

अर्थ—जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुख को चाहने वाले हों, अशुभ

ध्यान वा रागद्वेष में लीन हों और सैकड़ों चिताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मन में श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चिंतन में ही अपने मन को सदा लगाए रखना, अपने मन को सदा अपने और दूसरे के हित में लगाना, तथा अपने मन को अत्यन्त शुद्ध रखना, इस प्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता रखना उत्तम मानसिक विनय है।

प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप—

प्रत्यक्षे सद्गुरूणां यो विनयः क्रियते बुधैः।
त्रिशुद्ध्या त्रिविधः सोऽत्र प्रत्यक्षविनयो मतः ॥१९४५॥

अर्थ—विद्वान् लोग मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक मन-वचन-काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं।

परोक्ष विनय का स्वरूप—

परोक्षे सद्गुरूणां यत् प्रणामकरणादिकम्।
कायेन वचसा नित्यं स्तवादिगुण-कीर्तनम् ॥१९४६॥
हृदाज्ञापालनं सम्यक् सद्गुणग्रामचिन्तनम्।
इत्यादिक्रियतेऽन्यत्स परोक्षविनयोऽखिलः ॥१९४७॥

अर्थ—इसी प्रकार गुरुओं के परोक्ष में शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनको प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूह को अच्छी तरह चिंतन करना तथा और भी उनकी परोक्ष में उनकी विनय करना परोक्ष विनय कहलाती है।

शारीरिक, वाचनिक एवं मानसिक विनय के भेद—

अथवा सप्तधा प्रोक्तः कायिको विनयो जिनैः।
चतुर्धा वाचिकः सारो द्विधा मानसिको महत् ॥१९४८॥

अर्थ—अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने शरीर से होनेवाली विनय के सात भेद बतलाए हैं। वाचनिक विनय चार प्रकार की बतलाई है और मानसिक विनय दो प्रकार बतलाई है।

७ प्रकार के कायिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानं प्रणामो ह्यासनदानं महागुरोः।
पुस्तकादिप्रदानं च क्रियाकर्मत्रिभक्तिजम् ॥१९४९॥
स्वोच्चासनपरित्यागः पृष्ठोऽनुव्रजनं कियत्।
विनयाः कायिका एते सप्तभेदा वपुर्भवाः ॥१९५०॥

अर्थ—महागुरुओं के आने पर उठकर खड़े हो जाना, उनको प्रणाम करना, उनको आसन देना,

पुस्तक देना, सिद्ध-श्रुत-आचार्य तीनों भक्तियाँ पढ़कर उनकी वंदना करना उनके सामने अपने आसन को छोड़ देना और उनके जाते समय थोड़ी दूर तक उनके पीछे जाना यह शरीर से होनेवाली सात प्रकार की कायिक विनय है।

४ प्रकार के वाचनिक विनय का स्वरूप और धर्म वृद्धि का कारण—

हितभाषणमेकं च द्वितीयं मितभाषणम्।
वचः परिमितं सूत्रानुवीचीभाषणं स्फुटम् ॥१९५१॥
वाचिका विनया एते चतुर्भेदा वचोभवाः।
निरवद्या विधातारः स्वान्येषां धर्ममूर्जितम् ॥१९५२॥

अर्थ—हितरूप भाषण अर्थात् धर्मरूप वचन कहना, मित भाषण अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत सा अर्थ हो ऐसे वचन कहना, परिमित भाषण अर्थात् कारण सहित वचन कहना और सूत्रानुवीची भाषण अर्थात् आगम के अविरुद्ध वचन कहना यह चार प्रकार की वाचनिक विनय है। जो मुनि इन चारों प्रकार की विनयों को निरवद्य (पापरहित) रीति से पालन करता है वह अपने और दूसरों के श्रेष्ठ धर्म को बढ़ाता है।

२ प्रकार के मानसिक विनय का स्वरूप—

पापादानमनोरोधो - धर्मध्यानप्रवर्तनम्।
हृदेति विनयो ज्ञेयो द्विधा मानसिकोऽमलः ॥१९५३॥

अर्थ—जिस मन से पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे मन को रोकना और अपने मन को धर्मध्यान में लगाना दो प्रकार की मानसिक विनय है। यह मानसिक विनय अत्यन्त निर्मल है।

प्रणाम आदि के द्वारा अपने से बड़े का विनय करना चाहिए—

दीक्षाधिकयतीनां च तपोधिकमहात्मनाम्।
श्रुताधिकमुनीनां च सद्गुणाधिकयोगिनाम् ॥१९५४॥
दीक्षाशिक्षाश्रुतज्ञानगुरूणां यत्नतोऽनिशम्।
कार्यः सर्वः प्रणामाद्यैः विनयोऽत्रैष संयतैः ॥१९५५॥

अर्थ—जो मुनि अपने से अधिक काल के दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु हैं, शिक्षा के गुरु हैं वा श्रुतज्ञान के गुरु हैं, उनके लिए प्रणाम आदि करके मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करनी चाहिए।

अपने से छोटे को भी यथायोग्य विनय करना चाहिए—

दीक्षालघुतपोहीनस्वल्पश्रुताढ्ययोगिनाम् ।
यथायोग्यं सदा कार्यो विनयो मुनिपुगवैः ॥१९५६॥

अर्थ—जो मुनि दीक्षा से छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञान को धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिए भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना चाहिए।

आर्यिका और श्रावक की भी यथायोग्य विनय करनी चाहिए—

आर्यिका श्राविकादीनां ज्ञानधर्मादिदेशनैः।
जिनमार्गानुरागेण यथार्हः कार्य एव सः ॥१९५७॥

अर्थ—इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिन मार्ग में अनुराग कर आर्यिका और श्रावकों की विनय भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिए।

चतुःसंघ का यथायोग्य विनय की प्रेरणा—

सर्वदा विनयो दक्षैः कर्तव्यः कार्यसाधकः।
चातुर्वर्णस्वसङ्घानां यथायोग्यो हितङ्करः ॥१९५८॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को चारों प्रकार के संघ का विनय यथायोग्य रीति से सर्वथा करते रहना चाहिए क्योंकि यह विनय समस्त कार्यों को सिद्ध करने वाला और सबका हित करने वाला है।

विनय रहित जीव के शिक्षा निरर्थक है—

यतो विनयहीनानां शिक्षा निरर्थिकाखिला।
श्रुतादिपठनं व्यर्थमकीर्तिर्वर्द्धतेतराम् ॥१९५९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिए तथा उनका शास्त्रादिक का पढ़ना भी व्यर्थ समझना चाहिए, इसके सिवाय अविनयी पुरुषों की अपकीर्ति सदा बढ़ती रहती है।

विनय रूपी जहाज पर बैठकर ही आगमरूपी महासागर को पार करते हैं।

महाविनयपोतेन गम्भीरमागमार्णवम् ।
भवाम्बुधिं च दुस्तीरं तरन्ति यमिनोऽचिरात् ॥१९६०॥

अर्थ—मुनि लोग इस महाविनयरूपी जहाज पर बैठकर अत्यन्त गम्भीर ऐसे आगमरूपी महासागर को बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं तथा अत्यन्त कठिन ऐसे संसाररूपी समुद्र को भी बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं।

विनय से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है—

विद्याविवेक-कौशल्यशमाद्याः प्रवरा गुणाः।
विनायासेन जायन्ते विश्वे विनयशालिनाम् ॥१९६१॥
विनयोत्था महाकीर्तिःप्रसर्पति जगत्त्रयम्।

उत्पद्यते परा बुद्धिः सतां विश्वार्थदीपिका ॥१९६२॥
स्वसङ्घे मान्यतां पूजां ख्यातिं च स्तवनादिकान्।
तपोरत्नत्रयं शुद्धं लभन्ते विनयाङ्किताः ॥१९६३॥
चतुराराधनां मैत्रीं क्षान्त्यार्जवादिलक्षणान्।
मनोवाक्कायसंशुद्धीः श्रयन्ति विनयाद् बुधाः ॥१९६४॥
विनयाचारिणां नूनं शत्रुर्गच्छेत्सुमित्रताम्।
उपसर्गा विलीयन्ते ढौकन्ते त्रिजगच्छ्रियः ॥१९६५॥
अहो सद्विनयाकृष्टा मुक्तिस्त्री योगिनां स्वयम्।
एत्यात्रालिङ्गनं दत्ते का कथामरयोषिताम् ॥१९६६॥
इत्यादिप्रवरं ज्ञात्वा विनयस्य फलं विदः।
कुर्वन्तु सर्वसङ्घानां मुक्तये विनयं सदा ॥१९६७॥

अर्थ—विनय धारण करने वाले पुरुषों के विद्या, विवेक, कुशलता और उपशम आदि अनेक उत्तम गुण बिना ही परिश्रम के अपने आप आ जाते हैं। इस विनय से उत्पन्न होनेवाली महाकीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है तथा इसी विनय से सज्जनों के समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। विनय धारण करने वाले मुनियों को अपने संघ में भी मान वा आदर सत्कार मिलता है, बड़प्पन मिलता है, कीर्ति मिलती है, सब लोग उनकी स्तुति करते हैं तथा विनय से मुनियों को शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। विद्वान् पुरुषों को इस विनय से ही चारों आराधनाओं की प्राप्ति होती है, मैत्री, प्रमोद आदि गुण प्रकट होते हैं, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुण प्रकट होते हैं और मन-वचन-काय की शुद्धता प्राप्त होती है। विनय करने वालों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, उपसर्ग सब उनके नष्ट हो जाते हैं और उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर प्राप्त हो जाती है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह हैं कि इस श्रेष्ठ विनय से अपने आप खिंची हुई मुक्तिरूपी स्त्री स्वयं आकर मुनियों को आलिंगन देती है। फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है। इस प्रकार इस विनय का अत्यन्त श्रेष्ठ फल जानकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त संघ की सदा विनय करते रहना चाहिए।

वैयावृत्य का स्वरूप—

आचार्यपाठकेषु स्थविरप्रवर्तकेषु च।
शक्त्या गणधरेष्वत्र गच्छे बालेतराकुले ॥१९६८॥
कायपिण्डादिदुर्ध्यानहान्यै सद्ध्यानवृद्धये।
शुश्रूषाक्रियते योऽन्येर्वैयावृत्यं तदुच्यते ॥१९६९॥

अर्थ—जो मुनि अशुभ ध्यान को नाश करने के लिए और श्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि के लिए आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध मुनि, प्रवर्तक और गणधर आदि महामुनियों को तथा बाल मुनि वा वृद्ध मुनियों के व्याकुल रहने वाले गच्छ वा संघ को आहार-औषधि आदि देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है।

दस प्रकार के मुनि का स्वरूप और १० प्रकार की वैयावृत्य का स्वरूप—

षट्त्रिंशद्गुणपञ्चाचारान्विताः सूरयोऽद्भुताः।
पाठकाः सर्वपूर्वांगपारगाः पाठनोद्यताः ॥१९७०॥
सर्वतोभद्रघोरादि - तपसश्च तपस्विनः ।
सिद्धान्तशिक्षणोद्युक्ताः शिष्यकाः मुक्तिमार्गगाः ॥१९७१॥
रुजादिव्याप्तसर्वांगा ग्लाना व्रतगुणाच्युताः।
समवायो गणोऽभ्यर्च्यो बालवृद्धादियोगिनाम् ॥१९७२॥
आचार्यस्य च शिष्यस्य स्वाम्नायः कुलमुत्तमम्।
ऋष्यादिश्रमणानां निवहः सङ्घश्चतुर्विधः ॥१९७३॥
त्रिकालयोगधातारः साधवो मुक्तिसाधकाः।
आचार्यसाधुसङ्घानां प्रियो मनोज्ञ ऊर्जितः ॥१९७४॥
अमीषां दशभेदानां रोगक्लेशादिकारणे।
संजाते सति कर्तव्यं वैयावृत्यं दशात्मकम् ॥१९७५॥

अर्थ—जो आचार्यों के छत्तीस गुण और पंचाचारों का पालन करते हैं उनको उत्कृष्ट आचार्य कहते हैं। जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी हैं तथा शिष्यों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं। जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं। जो सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं उनको शैक्ष्य कहते हैं। जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रतरूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते हैं। बाल और वृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं। आचार्यों के शिष्यों की परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चारों प्रकार के मुनियों के समुदाय को संघ कहते हैं। जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्ष की सिद्धि में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं। जो आचार्य, साधु और संघ को प्रिय हों उनको उत्तम मनोज्ञ कहते हैं। ये दश प्रकार के मुनि होते हैं। इनके लिए रोग-क्लेश आदि का कारण आ जाने पर उन सबका वैयावृत्य करना सेवा सुश्रूषा करना दश प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है।

अनेक प्रकार की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

पादादिमर्दनैर्दक्षैः शुश्रूषाकरणादिभिः।
धर्मोपदेशनैश्चान्यैर्विण्मूत्राद्यपकर्षणैः ॥१९७६॥

दुर्मार्गश्रमखिन्नानां चौरभूपारिदुर्जनैः।
सिंहादिजोपसर्गैश्च पीडितानां सुयोगिनाम् ॥१९७७॥
सङ्ग्रहानुग्रहैर्दानैर्रक्षणैःपालनादिभिः ।
वैयावृत्यं विधातव्यं धर्मबुद्ध्या समाधये ॥१९७८॥

अर्थ—जो मुनि कंकरीले वा ऊँचे-नीचे मार्ग में चलने के कारण खेद खिन्न हो रहे हैं अथवा जो किसी चोर वा राजा वा शत्रु वा दुष्ट अथवा सिंह आदि के उपसर्ग से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, ऐसे मुनियों के पाँव दबाना, सेवा सुश्रूषा करना, उनको धर्मोपदेश देना, उनकी विष्ठा, मूत्र, कफ आदि हटाना उनको अपने पास रखना उनका अनुग्रह करना, उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर देना आदि अनेक प्रकार का वैयावृत्य चतुर पुरुषों को ध्यान की प्राप्ति के लिए केवल धर्मबुद्धि से सदा करते रहना चाहिए।

पुनः वैयावृत्य का स्वरूप—

तपोदृग्ज्ञान-चारित्रध्यानाध्ययनकर्मसु ।
पुस्तकादिसुदानैश्च व्याख्याधर्मोपदेशनैः ॥१९७९॥
यत्साह्यकरणं युक्त्यै साधर्मिणां विधीयते।
निराकाङ्क्षतया सर्वं वैयावृत्यं तदुच्यते ॥१९८०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, ध्यान, अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य के लिए पुस्तक आदि उपकरणों को देना, शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्तिपूर्वक और भी साधर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है।

वैयावृत्य करने का फल—

वैयावृत्यविधातॄणां विचिकित्सापरीक्षयः।
तीर्थंकरादिसत्पुण्यं यशःस्वसङ्घमान्यता ॥१९८१॥
रत्नत्रयविशुद्धिः प्रवचनस्य च जायते।
वत्सलत्वं तपोवृद्धिः परोपकार ऊर्जितः ॥१९८२॥
आचार्यपाठकादीनां वैयावृत्येन संभवेत्।
धर्मध्यानं मनः स्वस्थं पीडादुर्ध्याननाशनम् ॥१९८३॥

अर्थ—वैयावृत्य करने वालों के विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् निर्विचिकित्सा अंग का पूर्ण पालन होता है, तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है, समस्त संसार में यश फैलता है, अपने संघ में मान्यता बढ़ती है, रत्नत्रय की विशुद्धि होती है, साधर्मी जनों के साथ अत्यन्त प्रेम बढ़ता है, तपश्चरण की वृद्धि होती है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है। आचार्य वा

उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है, मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है।

वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

इत्यत्र स्वान्ययोर्मत्वा वैयावृत्यं हितं महत्।
सबलाः सर्वशक्ता स्वेनान्यैः कुर्वन्तु शुद्धये ॥१९८४॥

अर्थ—इस प्रकार वैयावृत्य के करने से अपना भी महाहित होता है और अन्य जीवों का भी महाहित होता है। यही समझकर बलवान् और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिए स्वयं वैयावृत्य करना चाहिए और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिए।

स्वाध्याय तप का स्वरूप उसके भेद—

स्वस्य वा परभव्यानां हितोध्यायो विधीयते।
ज्ञानिभिर्योऽघघाताय स स्वाध्यायो गुणाकरः ॥१९८५॥
वाचना पृच्छनाख्योऽनुप्रेक्षाथाम्नाय ऊर्जितः ।
धर्मोपदेश एवेति स्वाध्यायः पञ्चधा मतः ॥१९८६॥

अर्थ—जो ज्ञानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिए अपने आत्मा का हित करने के लिए तथा अन्य भव्यजीवों का हित करने के लिए सिद्धान्त आदि ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं।

वाचना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

अङ्गपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये।
व्याख्यानं क्रियते यस्य यत्सतां वाचनाऽत्र सा ॥१९८७॥

अर्थ—जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नाम का स्वाध्याय कहते हैं।

पृच्छना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

सन्देह-हानयेऽन्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते।
सिद्धान्तार्थं महागूढं श्रूयते पृच्छनाऽत्र सा ॥१९८८॥

अर्थ—अपना सन्देह दूर करने के लिए किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धान्त शास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है।

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

तप्तायः पिण्डसादृश्येनैकाग्रार्पित-चेतसा।
अभ्यासोऽधीतशास्त्राणां योऽनुप्रेक्षात्र सोत्तमा॥१९८९॥

अर्थ—तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्रचित्त से पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय कहलाता है।

आम्नाय नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

द्रुतलंबितमात्रादिच्युतदोषातिगं च यत्।
परिवर्तनमभ्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ॥१९९०॥

अर्थ—पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न तो धीरे-धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर-मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहते हैं।

धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

ख्यातिपूजादिलाभादीन् विना तीर्थकृतां सताम्।
सत्कथाख्यापनं यच्च धर्मोपदेश एव सः ॥१९९१॥

अर्थ—अपनी कीर्ति बड़प्पन वा लाभ आदि की इच्छा के बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषों की कथा का कहना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय कहलाता है।

५ प्रकार के स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

इत्येवं पञ्चधा दक्षैः स्वाध्यायो विश्वदीपकः।
कर्तव्यः प्रत्यहं सिद्ध्यै स्वान्येषां हितकारकः ॥१९९२॥

अर्थ—इस प्रकार यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाला है और समस्त तत्त्वों के स्वरूप को दिखलाने के लिए दीपक के समान है। इसलिए चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

स्वाध्याय ही परम तप और इसके फल का निरूपण—

समस्ततपसां मध्ये स्वाध्यायेन समं तपः।
परं नास्ति न भूतं न भविष्यति विदां क्वचित् ॥१९९३॥
यतः स्वाध्यायमत्यर्थं कुर्वतां निग्रहो भवेत्।
पञ्चाक्षाणां त्रिगुप्तश्च संवरो निर्जरा शिवम् ॥१९९४॥
स्वाध्यायेनात्र जायेत योगशुद्धिश्चयोगिनाम्।
तथा शुक्लं महाध्यानं ध्यानाद्याति विधिक्षयः ॥१९९५॥
तद्घातात्केवलज्ञानं लोकालोकार्थदीपकम्।
शक्रादिपूजनं तस्माद्गमनं मुक्ति-धामनि ॥१९९६॥
इत्यादि परमं ज्ञात्वा फलमस्य विदोऽन्वहम्।
निष्प्रमादेन कुर्वन्तु स्वाध्यायं शिवशर्मणे ॥१९९७॥

अर्थ—समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है और न आगे होगा। इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है, तथा महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है, शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता है, घातिया कर्मों के नाश होने से लोक-अलोक सबको प्रकट करने वाला केवलज्ञान प्रकट होता है, केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अंत में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष के सुख प्राप्त करने के लिए प्रमाद छोड़कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए।

उत्तम कायोत्सर्ग का स्वरूप—

बाह्याभ्यन्तरसङ्गांश्च त्यक्त्वाऽमा वपुषा सताम्।
ध्यानपूर्वा स्थितिर्यात्र कायोत्सर्गः स उत्तमः ॥१९९८॥
आवश्यकाधिकारे प्राक् तस्य लक्षणमञ्जसा।
गुणदोषादिकं प्रोक्तं व्यासेन न ब्रुवेऽधुना ॥१९९९॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़कर सज्जन पुरुष जो ध्यानपूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं। आवश्यकों के अधिकार में पहले विस्तार के साथ इसका लक्षण तथा इसके गुण-दोष आदि सब कह चुके हैं। इसलिए अब यहाँ पर पृथक् रूप से नहीं कहते हैं।

ध्यान का स्वरूप और उसके भेद—

एकाग्रचेतसा योऽत्र चिन्त्यते द्रव्यसङ्ग्रहः।
बहिश्चिन्ताविनिष्क्रान्तस्तद्ध्यानमुच्यते बुधैः ॥२०००॥
अप्रशस्तप्रशस्ताभ्यां द्विधा ध्यानं तदिष्यते।
आर्तरौद्रद्विभेदाभ्यामप्रशस्तं द्विधा मतम् ॥२००१॥
धर्मशुक्लप्रकाराभ्यां प्रशस्तमपि धर्मिणाम्।
ध्यानं जिनैर्द्विधाम्नातं नानाभेदयुतं च तत् ॥२००२॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष जो अन्य समस्त चिंतनों को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिंतन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं। उस ध्यान के दो भेद हैं एक अप्रशस्त वा अशुभ ध्यान और दूसरा प्रशस्त वा शुभध्यान। उसमें भी अप्रशस्त ध्यान के भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के भेद से दो भेद कहे जाते हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने धर्मात्माओं के लिए शुभध्यान के भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो भेद बतलाए हैं तथा इनके भी फिर अनेक भेद होते हैं।

अप्रशस्त आर्तध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद—

बाह्याध्यात्मिकभेदाभ्यामार्तध्यानं द्विधा भवेत्।
शोचनाक्रन्दनम्लानमुखादिबाह्यमुच्यते ॥२००३॥
अन्तस्तीव्राधिं कालुष्यकरमाध्यात्मिकं च तत्।
आद्यमनिष्टसंयोगसंज्ञमिष्टवियोगजम् ॥२००४॥
पीडाचिन्तननामाथ निदानकरणाभिधम् ।
इत्यार्त्तध्यानमाप्तैश्च चतुर्भेदमुदाहृतम् ॥२००५॥

अर्थ—इनमें से आर्तध्यान के भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद होते हैं। शोक करना, रोना, मुख को मलिन करना आदि बाह्य आर्तध्यान कहलाता है। जो अंतरंग में तीव्र आधि, कलुषता करने वाला है उसको अभ्यंतर आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्ट संयोग से होने वाला, इष्ट वियोग से होने वाला, रोग वा दुःख के चिंतन से होने वाला और निदान करना इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने आर्तध्यान के चार भेद बतलाए हैं।

प्रथम अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान का स्वरूप—

सर्पसिंहारि - चौरादिकण्टकाग्निदुरात्मनाम्।
अन्येषां चामनोज्ञानां संयोगे सति भूतले ॥२००६॥
तद्वियोगाय संक्लेशमनसा चिन्तनं मुहुः ।
क्रियते क्लेशिभिर्यत्तदार्तमाद्यमघाकरम् ॥२००७॥

अर्थ—सर्प, सिंह, शत्रु, चोर, काँटा, अग्नि, दुष्ट तथा और अच्छे न लगने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर मन में संक्लेश परिणाम धारण कर उसको दूर करने के लिए बार-बार चिंतन करना अनिष्ट संयोगज नाम का पहला आर्तध्यान है। यह दुःखी लोगों के होता है और पाप उत्पन्न करने वाला है।

द्वितीय इष्ट वियोगज आर्तध्यान का स्वरूप—

इष्टपुत्रकलत्रादिराज्यबन्धुजनात्मनाम् ।
मनोज्ञानां वियोगेऽत्र सति क्लेशात्तमानसैः ॥२००८॥
तत्संयोगाय यच्चाध्यवसानं हि विधीयते।
लोभिभिः प्रत्यहं तत्स्यादार्तमिष्टवियोगजम् ॥२००९॥

अर्थ—इष्ट पुत्र, स्त्री, राज्य, भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर लोभी पुरुष जो मन में क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग के लिए प्रतिदिन बार-बार चिंतन करते हैं उसको इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्तध्यान कहते हैं।

तीसरे पीड़ा चिन्तन नामक आर्तध्यान का स्वरूप—

वातपित्तज्वरादीनां कुष्ठशूलरुजां सति।
प्रादुर्भावे प्रतीकारशतैः क्लेशार्त्तचेतसा ॥२०१०॥
दुःखिभिस्तद्विनाशं यदन्वहं चिन्त्यते भुवि।
आरोग्यं च तदार्त्तः स्यात्पीडाचिन्तनसंज्ञकम् ॥२०११॥

अर्थ—पित्तज्वर, वातज्वर, कोढ़, शूल आदि रोगों के उत्पन्न होने पर दुःखी पुरुष अपने चित्त में क्लेश उत्पन्न कर सैकड़ों उपायों के द्वारा प्रतिदिन जो उन रोगों के नाश होने का चिंतन करते हैं अथवा नीरोग होने का चिंतन करते हैं उसको पीड़ा चिंतन नाम का आर्तध्यान कहते हैं।

चौथे निदान नामक आर्तध्यान का स्वरूप—

तपश्चारित्रदानार्चाधर्मध्यानादिकान् बहून्।
कृत्वा तेषां फलेनाऽत्र पुत्रनार्यादिसम्पदाम् ॥२०१२॥
अमुत्र स्वर्गराज्यादिभोगानां स्वस्य रागिभिः ।
आकाङ्क्षाकरणं यत्तदार्त्तं निदाननामकम् ॥२०१३॥

अर्थ—जो रागी पुरुष तप, चारित्र, दान, पूजा, धर्मध्यान आदि बहुत सा धर्म सेवन कर उसके फल से इस लोक में पुत्र, स्त्री, धन आदि संपदाओं की इच्छा करते हैं तथा भविष्य में स्वर्ग, राज्य आदि के भोगों की आकांक्षा करते हैं उसको निदान नाम का आर्तध्यान कहते हैं।

ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल के भेद से आर्तध्यान के चार भेद एवं उनका स्वरूप—

ध्यानं ध्येयं तथा ध्याता फलमस्य भवेद्भुवि।
अप्रशस्तमनोवृत्ति-ध्यानं निन्द्यं चतुर्विधम् ॥२०१४॥
अप्रशस्तजगद्वस्तु ध्येयमस्याशुभाकरम्।
कषायकलुषीभूतो ध्याता क्लेशशताकुलः ॥२०१५॥
विश्वसंक्लेशसंपूर्णं तिर्यग्गतिकरं फलम्।
मिथ्यादृशा मति-क्लेशात्सदृष्टीनां च तद्व्ययात् ॥२०१६॥
त्रिदुर्लेश्याबलाधानमन्तर्मुहूर्तकालजम् ।
अयत्नजनितं चैतन्नृणां दुःखादिकारणम् ॥२०१७॥

अर्थ—यह ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल के भेद से चार प्रकार का होता है। इस चारों प्रकार के आर्तध्यान में मन की प्रवृत्ति अत्यन्त अशुभ होती है, इसलिए यह ध्यान निंद्य कहलाता है। अशुभ करने वाली संसार की अशुभ वस्तु ही इसका ध्येय है, सैकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कषायों से कलुषित हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है और समस्त क्लेशों से भरा हुआ, तिर्यंचगति का प्राप्त होना ही इसका फल है। मिथ्यादृष्टियों के अत्यन्त क्लेश से यह ध्यान होता है तथा सम्यग्दृष्टियों के

बिना क्लेश के होता है। यह आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अंतर्मुहूर्त इसका समय है, मनुष्यों के बिना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दु:खादिक का कारण है।

आर्तध्यान का स्वामी एवं उससे उत्पन्न दोष का वर्णन—

क्षायोपशमिको भावो दुष्प्रमादावलम्बनम्।
दुर्ध्यानानाममीषां स्याद्भवभ्रमणकारिणाम् ॥१२१८॥
उत्कृष्टं ध्यानमेतद्गुणस्थाने प्रथमे भवेत्।
प्रमत्ताख्ये जघन्यं च तयोर्मध्येषु मध्यमम् ॥२०१९॥
निसर्गजनितं निन्द्यं पूर्वसंस्कारयोगतः।
विश्वदु:खाकरीभूतं-कृत्स्नपापनिबन्धनम् ॥२०२०॥
समाधि-धर्मशुक्लादिहंतृदुर्ध्यानमञ्जसा ।
त्यजन्तु दुस्त्यजं दक्षा धर्मध्यानबलात्सदा ॥२०२१॥

अर्थ—संसार में परिभ्रमण कराने वाले इन सब दुर्ध्यानों में क्षायोपशमिक भाव होता है और अशुभ प्रमाद ही इनका अवलंबन होता है। यह आर्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है, प्रमत्त नाम के छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और बाकी के गुणस्थानों में मध्यम होता है। यह आर्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निंद्य है, समस्त दु:खों की खानि है और समस्त पापों का कारण है। यह आर्तध्यान, अशुभ ध्यान है और समाधि, धर्मध्यान, शुक्लध्यान को नाश करने वाला है, अतएव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के बल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्तध्यान को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

रौद्रध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद—

रौद्रध्यानमपि द्वेधा बाह्याध्यात्मिकभेदतः।
रक्ताक्षनिष्ठुराक्रोशनिर्भत्सनादिलक्षणम् ॥२०२२॥
वधबन्धान्यपीडादिकरं बाह्यमनेकधा।
अन्तर्मथनशीलं स्वसंवेद्याध्यात्मिकं मतम् ॥२०२३॥

अर्थ—आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं, लाल नेत्र होना, कठिन वचन कहना, किसी की निंदा करना, किसी का तिरस्कार करना, किसी को मारना वा बाँधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना बाह्य रौद्रध्यान है और वह अनेक प्रकार का है। जो अंतरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको अभ्यन्तर रौद्रध्यान कहते हैं।

रौद्रध्यान के अन्य ४ भेद—

हिंसानन्दं मृषानन्दं स्तेयानन्दं समाह्वयम्।
विषयाद्यन्तसंरक्षणानन्दं तच्चतुर्विधम् ॥२०२४॥

अर्थ—हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंद और विषय संरक्षणानंद के भेद से इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं।

हिंसानन्द रौद्रध्यान स्वरूप—

हिंसायां परपीडायां संरम्भाद्यैः कदर्थनैः।
सङ्कल्पकरणं यद्वा बाधितेष्वङ्गिराशिषु ॥२०२५॥
कलौ हर्षश्च सङ्ग्रामे जयाजयादिचिन्तनम्।
तद्दुर्धियां समस्तं च हिंसानन्दं प्ररूपितम् ॥२०२६॥

अर्थ—हिंसा में आनंद मानना, दूसरे की पीड़ा में आनंद मानना, जीवों के छिन्न-भिन्न करने का संकल्प करना अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता हो अथवा जीवों की राशि के घात होने पर आनंद मानना, कलह में आनंद मानना, युद्ध में जीत-हार का चिंतन करना आदि रूप से जो दुर्बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिसानंद नाम का ध्यान कहते हैं।

मृषानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

दुर्बुद्धिकल्पनायुक्त्या परवञ्चनहेतवे ।
ब्रूयते यन्मृषावादं परवञ्चनपण्डितैः ॥२०२७॥
मृषावादेऽथवा प्रोक्ते केनचित्कटुकाक्षरैः।
हृदानुमननं यत्तन्मृषानन्दं किलाखिलम् ॥२०२८॥

अर्थ—दूसरों को ठगने में अत्यन्त चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिए अपनी दुर्बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्या वचन कहते हैं, उसमें जो हृदय से अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं।

स्तेयानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

परश्रीः स्त्रीसुवस्त्वादिहरणे लोभिभिर्भृशम्।
सङ्कल्पः क्रियते चित्ते योऽशुभो वाऽत्र तस्करैः ॥२०२९॥
नीते सति परद्रव्ये घने वृथानुमोदनम्।
रौद्रध्यानं च तत्सर्वं स्तेयानन्दमघप्रदम् ॥२०३०॥

अर्थ—जो लोभी वा चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री वा अच्छी वस्तुओं के हरण करने के लिए अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई बहुत सा द्रव्य मार लाया हो उसकी अनुमोदना

करते हैं उस सबको पाप उत्पन्न करने वाला स्तेयानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं।

विषय संरक्षणानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

मदीया वस्तुसद्राज्यरामासेनादिसम्पदः।
यो हरेत्तं दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ॥२०३१॥
इति स्ववस्तुरक्षायां सङ्कल्पकरणं हृदि ।
दुर्धियां तत्समस्तं विषयसंरक्षणाभिधम् ॥२०३२॥

अर्थ—''ये पदार्थ, यह राज्य, यह स्त्री, यह सेना और यह सम्पत्ति सब मेरी है, जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूँगा'' इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिए अपने हृदय में संकल्प करते हैं, वह सब विषयसंरक्षणानंद नाम का रौद्रध्यान कहलाता है।

रौद्रध्यान के ध्यानादि के भेद से चार प्रकार एवं उनका लक्षण—

ध्यानं ध्येयं भवेद् ध्याता फलमस्य शठात्मनाम्।
ध्यानमध्यवसानं च रौद्रं वाक्चित्तकायजम् ॥२०३३॥
ध्येयं लोकत्रयोद्भूतं रौद्रवस्तुकदम्बकम्।
रौद्रस्तीव्रकषायी स्याद् ध्याता स्याद्रक्तलोचनः ॥२०३४॥
अनन्तदुःखसन्तापपूरितं नरकप्रदम्।
बहुसागरपर्यन्तं फलमस्य दुरात्मनाम् ॥२०३५॥

अर्थ—इस रौद्रध्यान के भी ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से चार भेद होते हैं। मूर्ख लोगों के रुद्ररूप मन-वचन-काय से जो चिंतन होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। तीनों लोकों में उत्पन्न हुए रौद्र पदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं तथा तीव्र कषाय और लाल नेत्रों को धारण करने वाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है। उन दुष्टों को अत्यन्त दुःख और संताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है।

रौद्रध्यान की सामग्री और उसके स्वामी का कथन

उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रय बलाधानमस्य च।
भाव औदयिको निन्द्यः क्षायोपशमिकोऽथवा ॥२०३६॥
दशपञ्चप्रमादाधिष्ठानं कषायजृम्भणम्।
अन्तर्मुहूर्तकालश्च चतुर्विधस्य नान्यथा ॥२०३७॥
आदिमे च गुणस्थानेऽत्रैतदुत्कृष्टमञ्जसा।
जघन्यं पञ्चमे स्याद्द्वित्रिचतुर्थे च मध्यमम् ॥२०३८॥

अर्थ—इस ध्यान में निमित्त कारण उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएँ होती हैं। इसका समय अंतर्मुहूर्त है, भाव निंद्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पन्द्रह प्रमाद ही इनका आधार है, कषायों से यह

उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन चारों प्रकार के रौद्रध्यान की सामग्री है। पहले गुणस्थान में उत्कृष्ट और पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे, तीसरे, चौथे में मध्यम होता है।

रौद्रध्यान से उत्पन्न दोष और इसे त्यागने की प्रेरणा—

रौद्रकर्मभवं रौद्रकर्मभावनिबन्धनम्।
रौद्रदुःखकरं रौद्रगतिदं रौद्रयोगजम् ॥२०३९॥
रौद्रपापारिसन्तानं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।
त्याज्यं सर्वत्र यत्नेन धर्मध्यानेन धर्मिभिः ॥२०४०॥

अर्थ—यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है, रौद्र वा भयानक दुःख उत्पन्न करने वाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न कराने वाला है, रौद्ररूप मन-वचन-काय से उत्पन्न होता है और रौद्ररूप पाप शत्रुओं को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर बड़े प्रयत्न से सर्वत्र छोड़ देना चाहिए। सब जगह इसका त्याग कर देना चाहिए।

धर्मध्यान का स्वरूप और उसके बाह्य-अभ्यन्तर भेदों का लक्षण—

बाह्याध्यात्मिकभेदेन धर्मध्यानमपि द्विधा।
दृढव्रतसदाचारतत्त्वचिन्तादिलक्षणम् ॥२०४१॥
मनोवाक्कायनिःस्पन्दं बाह्यं व्यक्तं सतां भुवि।
आध्यात्मिकस्वसंवेद्यमन्तःशुद्धिकरं परम् ॥२०४२॥

अर्थ—व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतन करना धर्मध्यान का लक्षण है। इस धर्मध्यान के भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं। ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन-वचन-काय की क्रियाओं का जो बंद हो जाना है उसको बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला है उसको अंतरंग धर्मध्यान कहते हैं।

धर्मध्यान के १० भेदों का कथन—

अपायविचयं ध्यानमुपायविचयं ततः।
जीवादिविचयं ध्यानमजीवविचयाह्वयम् ॥२०४३॥
विपाकविचयं ध्यानं विरागविचयं महत्।
भवादिविचयं ध्यानं संस्थानविचयाभिधम् ॥२०४४॥
तथाज्ञाविचयं हेतुविचयाख्यमिति स्फुटम्।
धर्मध्यानं महाधर्माकरं दशविधं महत् ॥२०४५॥

अर्थ—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय इस प्रकार इस धर्मध्यान के महाधर्म उत्पन्न करने वाले दस भेद हैं।

अपायविचय धर्मध्यान का लक्षण—

दुःखार्णवे भवेऽनादौ यथेष्ट-चारिणो मम।
अन्यस्य वा वपुर्वाक्यमनोर्जितकुकर्मणाम् ॥२०४६॥
विनाशः स्यात्कथं शीघ्रं ध्यानेन तपसाथवा।
इति चिन्ताप्रबन्धो योऽत्रापायविचयं हि तत् ॥२०४७॥

अर्थ—अनेक दुःखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसार में मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते चले आ रहे हैं, इसलिए ध्यान से अथवा तपश्चरण से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन-वचन-काय से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कब नष्ट होंगे, इस प्रकार का चिंतन करते रहना अपायविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है।

उपायविचय धर्मध्यान का क्षण—

मनोवाक्काययोगादिप्रशस्तं मे भवेत्कथम्।
कर्मास्त्रवविनिष्क्रान्तं ध्यानेनाध्ययनेन वा ॥२०४८॥
इत्युपायोऽत्र तच्छुद्ध्यै चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः।
नानोपायैः श्रुताभ्यासैरुपायविचयं हि तत् ॥२०४९॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष अपने मन-वचन-काय को शुद्ध करने के लिए यह चिंतन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन-वचन-काय शुभ हो जायेंगे अथवा मेरे मन-वचन-काय से कर्मों का आस्त्रव कब रुक जायेगा, इस प्रकार के चिंतन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपायविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है।

जीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

उपयोगमयोजीवो मूर्तो मूर्तोगुणी महान्।
शुभाशुभविर्धेभोक्ता मोक्षगामी च तत्क्षयात् ॥२०५०॥
सूक्ष्मोऽसंख्यप्रदेशोऽत्रपराधीनोऽनिशं भ्रमेत् ।
इत्याद्यङ्गिस्वभावानां चिन्तनं तृतीयं हि तत् ॥२०५१॥

अर्थ—यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्म के सम्बन्ध से मूर्त है, गुणी है, समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मों के नाश होने से उसी समय में मोक्ष में जा विराजमान होता है। यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, असंख्यात प्रदेशी है और कर्मों के अधीन होकर

इस जन्म-मरणरूप संसार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है। इस प्रकार जीवों के स्वरूप का चिंतन करना जीवविचय नाम का धर्मध्यान कहलाता है।

अजीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

धर्माधर्मनभःकालपुद्गलानां जिनागमे।
अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ॥२०५२॥
अनेकगुणपर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हृदि।
ध्रौव्योत्पादव्ययैर्यत्तदजीवविचयं परम् ॥२०५३॥

अर्थ—योगी लोग अपने धर्मध्यान की प्राप्ति के लिए अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गलरूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण-पर्यायों के द्वारा चिंतन करते अथवा उनके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिंतन करते हैं उसको अजीवविचय नाम का उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं।

विपाकविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सत्पुण्यप्रकृतीनां गुडखंडशर्करामृतैः।
समोऽघप्रकृतीनां च निम्बादिसदृशोऽशुभः ॥२०५४॥
विपाको बहुधा दक्षैश्चिन्त्यते यत्र मानसे।
तद्विपाकजयायोच्चैर्विपाकविचयं हि तत् ॥२०५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों का विपाक गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर शुभ होता है तथा पाप प्रकृतियों का विपाक नीम, कांजी, विष, हलाहल आदि के समान अत्यन्त अशुभ होता है। इस प्रकार चतुर पुरुष कर्मों के विपाक को जीतने के लिए बार-बार चिंतन करते हैं उसको विपाकविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं।

विरागविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सप्तधातुमयान्निन्द्यात् कायादमेध्यमन्दिरात्।
अतृप्तिजनकाच्छ्वभ्रकारणाद्भोगसंचयात् ॥२०५६॥
अनन्तदुःखसम्पूर्णात्संसाराच्च सुखच्युतात्।
विरक्तिर्या सतां चित्ते विरागविचयं हि तत् ॥२०५७॥

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है, अत्यन्त निंद्य है और विष्ठा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नहीं होती और यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुख से सर्वथा दूर है, इस प्रकार चिंतन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विरागविचय धर्मध्यान कहते हैं।

भवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनन्तदु:खसंकीर्णे भवेऽनादौ सुखातिगे।
सचित्ताचित्तमिश्रादिनानायोनिषु कर्मभिः ॥२०५८॥
भ्रमन्ति प्राणिनोश्रान्तं कर्मपाशावृता इति।
भवभ्रमणदु:खानुचिन्तनं ध्यानसप्तमम् ॥२०५९॥

अर्थ—यह संसार अनादि है, सुख से सर्वथा रहित है और अनंत दु:खों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जाल में फँसे हुए ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से सचित्त-अचित्त, मिश्र आदि अनेक प्रकार की योनियों में निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार संसार के परिभ्रमण के दु:खों का बार-बार चिंतन करना भवविचय नाम का धर्मध्यान है।

संस्थानविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मदा:।
वैराग्यमातरो रागनाशिन्यो मुक्तिमातृका: ॥२०६०॥
चिन्त्यते रागनाशाय यत्र वैराग्यवृद्धये।
योगिभिर्योगसंसिद्ध्यै संस्थानविचयं हि तत् ॥२०६१॥

अर्थ—योगी पुरुष अपने योग की सिद्धि के लिए, वैराग्य की वृद्धि के लिए और रागद्वेष को नष्ट करने के लिए, मोक्ष को देने वाली, रागद्वेष को नाश करने वाली, वैराग्य को उत्पन्न करने वाली और अनंत सुख को देने वाली ऐसी अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतन करते हैं उसको संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं।

आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण—

प्रमाणीकृत्य तीर्थेशान् सर्वज्ञान् दोषदूरगान्।
तत्प्रणीतेषु सूक्ष्मेषु विश्वदृग्गोचरेषु च ॥२०६२॥
लोकालोकादितत्त्वेषु धर्मेषु मुक्तिवर्त्मसु।
रुचि: श्रद्धा प्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयं सताम् ॥२०६३॥

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ हैं और समस्त दोषों से रहित हैं, इसलिए भगवान् तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मानकर उनके कहे हुए केवलज्ञान वा केवलदर्शन के गोचर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों में, लोक-अलोक आदि तत्त्वों में, उनके कहे हुए धर्म में वा मोक्षमार्ग में जो रुचि, श्रद्धा वा प्रतीति करना है वह सज्जनों के लिए आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान कहा जाता है।

हेतुविचय धर्मध्यान का लक्षण—

स्याद्वादनयमालम्ब्य हेतुदृष्टान्तयुक्तिभि: ।
पूर्वापराविरोधेन तर्कानुसारि-धीधनै: ॥२०६४॥

सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थाप्यन्ते यत्र भूतले।
यथातथ्येन चित्ते वा तद्धेतुविचयाभिधम् ॥२०६५॥

अर्थ—स्याद्वाद नय को आलंबन कर हेतु, दृष्टांत और युक्तियों से अथवा तर्क वा अनुमान से बुद्धिमान् लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसारभर में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतुविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं।

१० प्रकार के ध्यान करने की प्रेरणा—

एतद्दशविधं धर्मध्यानं शुक्लनिबन्धनम्।
ध्यातव्यं ध्यानिभिर्नित्यं विश्वश्रेयस्करं परम् ॥२०६६॥

अर्थ—इस प्रकार यह दस प्रकार का धर्मध्यान मोक्ष का कारण है, समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है और परम उत्कृष्ट है, इसलिए ध्यान करने वालों को सदा इसका ध्यान करते रहना चाहिए।

ध्यानादि के भेद से चार प्रकार के धर्मध्यान का स्वरूप—

ध्यानं ध्येयं बुधैर्ध्याता फलमस्य निगद्यते।
ध्यानं प्रशस्तसङ्कल्पं परमानन्दकारकम् ॥२०६७॥
विश्वद्रव्यपदार्थादिश्रीजिनागममूर्जितम् ।
परमेष्ठिस्वरूपं च ध्येयमस्याखिलं मतम् ॥२०६८॥
व्रतशीलगुणैःपूर्णो विरागो विश्वतत्त्ववित्।
एकान्तवाससन्तुष्टो धीमान्ध्यातास्य कथ्यते ॥२०६९॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सर्वाभीष्टार्थसाधकम्।
तीर्थकृतादिसत्पुण्यकरं ध्यानस्य सत्फलम् ॥२०७०॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से इसके भी चार भेद हैं। जो परमानंद उत्पन्न करने वाला शुभ संकल्प है, उसको बुद्धिमान् लोग ध्यान कहते हैं। श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीवाजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यान का ध्येय समझना चाहिए। जो व्रत, शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है, समस्त तत्त्वों को जानने वाला है, बुद्धिमान् है और एकांतवास में सदा संतुष्ट रहता है, वह इस ध्यान का ध्याता कहलाता है। तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों को उत्पन्न करने वाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करने वाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यंत स्वर्गों का सुख प्राप्त होना, इस ध्यान का फल समझना चाहिए।

धर्मध्यान के स्वामी का निरूपण—

पीतादित्रिकलेश्योत्थं बलाधानं किलास्य च।
क्षायोपशमिको भावः काल आन्तर्मुहूर्तिकः ॥२०७१॥
गुणस्थानेषु तत्स्याच्चाविरतादिषु निश्चितम्।
सरागेषु कुरागघ्नं धर्मध्यानं शुभाकरम् ॥२०७२॥

अर्थ—पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएँ इस ध्यान का आलंबन है, इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं और इसका काल अंतर्मुहूर्त है। यह अशुभ राग को नाश करने वाला और शुभ को कल्याण करने वाला धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक रहता है।

धर्मध्यान का फल एवं उसे करने की प्रेरणा—

मोहप्रकृतिसप्तानां ध्यानमेतत्क्षयङ्करम्।
एकविंशतिमोहप्रकृतीनां शमकारणम् ॥२०७३॥
यत्नेन महता जातमेतद्ध्यानं सुखाकरम्।
कुर्वन्तु ध्यानिनो नित्यं शुक्लं विश्वर्द्धिधर्मदम् ॥२०७४॥

अर्थ—यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन को नाश करने वाली मोहनीय की सातों प्रकृतियों को नाश करने वाला है और बाकी की मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों को उपशम करने का कारण है। यह धर्मध्यान बड़े प्रयत्न से उत्पन्न होता है, सुख की खानि है तथा शुक्लध्यान समस्त ऋद्धियाँ और उत्तम धर्म को देने वाला है, इसलिए ध्यान करने वालों को सदा इस ध्यान को धारण करना चाहिए।

शुक्लध्यान के भेद, प्रभेदों का वर्णन—

शुक्लं परमशुक्लं च शुक्लध्यानमिति द्विधा।
सपृथक्त्वं वितर्काढ्यं वीचारं शुक्लमादिमम् ॥२०७५॥
तथैकत्ववितर्कावीचारशुक्लं द्वितीयकम्।
इति शुक्लं द्विधा ध्यानं केवलज्ञाननेत्रदम् ॥२०७६॥
प्रतिपातिविनिष्क्रान्तं शुक्लं सूक्ष्मक्रियाह्वयम्।
समुच्छिन्नक्रियं शुक्लं द्विधेति परमं स्मृतम् ॥२०७७॥
तद्बाह्याध्यात्मिकाभ्यां च शुक्लध्यानमपि द्विधा।
अत्यन्तसाम्यतापन्नं नेत्रस्पन्दादिवर्जितम् ॥२०७८॥
सर्वद्वन्द्वातिगं बाह्यं शुक्लं व्यक्तं सतां भुवि।
मनःशुद्धिकरं तत्स्वसंवेद्यात्मिकं महत् ॥२०७९॥

अर्थ—शुक्लध्यान के दो भेद हैं—एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान। उसमें भी

पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं–एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्क अवीचार। इस प्रकार पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं और दोनों केवलज्ञानरूपी नेत्रों को प्रकट करने वाले हैं। पहले शुक्लध्यान के समान दूसरे परम शुक्लध्यान के भी दो भेद हैं–एक सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृति। इसके सिवाय बाह्य और अभ्यंतर के भेद से भी इस शुक्लध्यान के दो भेद हैं। जिस ध्यान में अत्यन्त उत्कृष्ट साम्यभाव प्रकट हो जाये, नेत्रों का स्पंदन आदि सब छूट जाये, सज्जनों के सब संकल्प-विकल्प छूट जाये और जो सज्जनों को प्रकट मालूम हो उसको बाह्य शुक्लध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और मन को शुद्ध करने वाला है, उस महान् शुक्लध्यान को अभ्यंतर शुक्लध्यान कहते हैं।

पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप–

नानाभेदं पृथक्त्वं च वितर्कश्चाखिलं श्रुतम्।
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो भवेत् ॥२०८०॥
यत्पृथक्त्ववितर्काभ्यां वीचारेण मुनीश्वराः।
ध्यायन्ति ध्यानमात्मज्ञाः शुक्लं तत्प्रथमं मतम् ॥२०८१॥

अर्थ–पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान में अनेक द्रव्यों का वा अनेक प्रकार के द्रव्यों का ध्यान होता है तथा मन-वचन-काय तीनों योगों से होता है इसलिए इस ध्यान को पृथक्त्व कहते हैं। वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है, इस ध्यान को नौ, दस वा चौदह पूर्व को जानने वाला ही प्रारम्भ करता है। अर्थ, शब्द और योगों के संक्रमण को वीचार कहते हैं। इस पहले ध्यान में शब्दों से शब्दांतर, योग से योगांतर और अर्थ से अर्थांतर का चिंतन होता है इसलिए यह ध्यान सवीचार है। आत्मा को जानने वाले जो मुनिराज पृथक्त्व वितर्क और वीचार के साथ-साथ ध्यान करते हैं उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का पहला शुक्लध्यान कहते हैं।

एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप–

एकत्वेन वितर्केण वीचारेणातिनिश्चलम्।
ध्यायन्ति क्षीणमोहाय ध्यानं द्वितीयमेव तत् ॥२०८२॥

अर्थ–मोहनीय कर्म को क्षय करने वाले जो मुनिराज शब्द, अर्थ और योग के संक्रमण से रहित तथा नौ, दस व चौदह पूर्व श्रुतज्ञान के साथ-साथ किसी एक ही द्रव्य का निश्चल ध्यान करते हैं उसको एकत्ववितर्क अवीचार नाम का शुक्लध्यान कहते हैं।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान का स्वरूप–

काययोगेति सूक्ष्मे संस्थितस्य यत्सयोगिनः।
कथ्यतेऽत्रोपचारेण तृतीयं निश्चलं हि तत् ॥२०८३॥

अर्थ–जिस समय सयोगकेवली भगवान् अत्यन्त सूक्ष्म काययोग में निश्चल विराजमान होते

हैं, उस समय उनके निश्चल होने को उपचार से ध्यान कहते हैं। यह तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान है ।

व्युपरतक्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप—

येन ध्यानेन चायोगी निष्क्रियो योगवर्जितः।
यातिमुक्तिपदं शुक्लं तच्चतुर्थं क्रियातिगम् ॥२०८४॥

अर्थ—अयोगकेवली भगवान् क्रियारहित और योगरहित होकर जिस ध्यान से मोक्ष पद प्राप्त करते हैं उसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान कहते हैं।

ध्यानादि के भेद से शुक्लध्यान के भेद व स्वरूप—

ध्यानं ध्येयमथास्यापि ध्याता ध्यानफलं भवेत्।
सर्वसङ्कल्पनिष्क्रान्तं ध्यानं स्वात्मानुचिन्तनम् ॥२०८५॥
स्वात्मतत्त्वं परं ध्येयं ध्याताद्वयोश्च पूर्ववित्।
अन्तयोः केवली प्रोक्तः उपचाराज्जिनाधिपैः ॥२०८६॥
त्र्यादिसंहननस्याद्यं शुक्लमेकस्य तत्त्रयम्।
फलं सर्वार्थसिद्ध्यन्तमाद्यशुक्लस्य कथ्यते ॥२०८७॥
केवलज्ञानसाम्राज्यं द्वितीयस्य परं फलम्।
कृत्स्नकर्मक्षयो यस्यान्त्यस्य मुक्तिपदं ध्रुवम् ॥२०८८॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से इस ध्यान के भी चार भेद होते हैं। समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर अपने आत्मा का चिंतन करना शुक्लध्यान है। अपना आत्मतत्त्व ही इस ध्यान का ध्येय है। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पहले के दो शुक्लध्यानों से ध्यान करने वाला ध्याता ग्यारह अंग, चौदह पूर्वों का जानकार बतलाया है तथा अंत के दो शुक्लध्यानों के ध्याता उपचार से केवली भगवान् बतलाए हैं। पहले के तीन संहनन वालों के पहला शुक्लध्यान होता है तथा प्रथम संहनन वालों के शेष के तीन शुक्लध्यान होते हैं। प्रथम शुक्लध्यान का फल सर्वार्थसिद्धि पर्यंत गमन करना है। दूसरे शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति होना है। तीसरे शुक्लध्यान का फल समस्त कर्मों का क्षय होना है और चौथे शुक्लध्यान का फल मोक्ष की प्राप्ति होना है।

शुक्लध्यान के स्वामी आदि की अपेक्षा कथन—

उपशान्तकषायस्य शुक्लमाद्यं जिनोदितम्।
तथा क्षीणकषायस्य निःकषायस्य चापरम् ॥२०८९॥
शुक्ललेश्या बलाधानं स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी।
क्षायोपशमिकोभाव आद्यशुक्लस्य कथ्यते ॥२०९०॥

एतच्चतुर्विधं ध्यानं दृढसंहनना भुवि।
यथातथ्येन कुर्वन्तु विकलातीतचेतसः ॥२०९१॥
भावनां भावयन्त्वत्र शुक्लानां स्वात्मता समम्।
हीनसंहनना दक्षाः शुक्लध्यानाप्तयेऽनिशम् ॥२०९२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने उपशांत कषाय वाले के पहला शुक्लध्यान बतलाया है तथा क्षीण कषाय वा अकषाय वाले के बाकी के तीनों शुक्लध्यान होते हैं। शुक्ललेश्या इस ध्यान का आलंबन है। इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त है, तथा पहले शुक्लध्यान में क्षायोपशमिक भाव रहते हैं। जिनके हृदय में किसी भी प्रकार की विकलता नहीं है और जो दृढ़ संहनन को धारण करने वाले हैं उनको यह चारों प्रकार का शुक्लध्यान यथार्थ रीति से धारण करना चाहिए। जो हीन संहनन को धारण करने वाले चतुर पुरुष हैं उनको इस शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिए अपनी आत्मा के साथ-साथ निरन्तर शुक्लध्यान की भावना का चिंतन करते रहना चाहिए।

ध्यान की महिमा—

यादृशं सिद्धसादृश्यं स्वात्मानं ध्यायति स्फुटम्।
तादृशं निर्मलं योगी निश्चितं लभतेऽचिरात् ॥२०९३॥
निजात्मध्यानमात्रेणानन्तदुष्कर्मपुद्गलाः ।
क्षीयन्ते ध्यानिनां नूनं यथा वज्रेण चाद्रयः ॥२०९४॥
ध्यानप्रदीपयोगेन मोहाज्ञानतमोऽखिलम्।
प्रणश्यति सतां शीघ्रं जायन्ते ज्ञानसम्पदः ॥२०९५॥
योगशुद्धिः प्रजायेत सद्ध्यानेन यथा यथा।
पुंसां महर्द्धयः सर्वा उत्पद्यन्ते तथा तथा ॥२०९६॥

अर्थ—योगी पुरुष सिद्ध के समान अपने निर्मल आत्मा का जैसा ध्यान करते हैं वैसे ही शीघ्र निर्मल आत्मा की प्राप्ति उन्हें अवश्य हो जाती है। जिस प्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं, उसी प्रकार अपने आत्मा का ध्यान करने मात्र से ध्यानी पुरुषों के अनन्त अशुभ कर्मों के पुद्गल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। इस ध्यानरूपी दीपक के सम्बन्ध से सज्जन पुरुषों का मोह और अज्ञानरूपी समस्त अंधकार बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और बहुत ही शीघ्र ज्ञानरूपी संपत्ति प्रकट हो जाती है। इस श्रेष्ठ ध्यान के द्वारा जैसे-जैसे मनुष्यों के योगों की शुद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे उनको समस्त बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त होती जाती है।

ध्यान के प्रभाव में कार्यसिद्धि का प्रभाव—

भग्नदन्तो यथाहस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः।
स्वकार्यसाधनेऽशक्तो ध्यानहीनस्तथा यतिः ॥२०९७॥

अर्थ—जिस प्रकार बिना दाँत का हाथी और बिना दाढ़ का सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार मुनि भी बिना ध्यान के अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता।

ध्यान करने की प्रेरणा—

मत्वेति प्रवरं ध्यानं कर्मारातिनिकन्दनम्।
ध्यायन्तु योगिनो नित्यं मनः कृत्वातिनिश्चलम् ॥२०९८॥

अर्थ—इस प्रकार इस ध्यान को अत्यन्त उत्तम और कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने वाला समझकर योगियों को अपना मन निश्चल कर सदा इस ध्यान को धारण करते रहना चाहिए।

अतः १२ प्रकार के तप को धारण करने की प्रेरणा—

षोढेत्यभ्यन्तरं प्रोक्तं तपोन्तःशत्रुघातकम्।
विधेयं परया भक्त्यान्तःस्थारिहानये बुधैः ॥२०९९॥
एतद्द्वादशधा प्रोक्तं समासेन मया तपः।
सर्वयत्नेन मुक्त्यर्थमाचरन्तु तपोधनाः ॥२१००॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अंतरंग शत्रुओं को नाश करने वाला यह अभ्यन्तर तप छह प्रकार का बतलाया है। अतएव बुद्धिमानों को अपने अंतरंग शत्रुओं को नाश करने के लिए परम भक्ति से इस तपश्चरण को धारण करना चाहिए। इस प्रकार बारह प्रकार का यह तपश्चरण हमने अत्यन्त संक्षेप से कहा है। तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न कर इन तपश्चरणों को पालन करना चाहिए।

यह तप स्वर्ण के लिए अग्नि, मलिन वस्त्र के लिए जल
एवं जन्मादि रोग के लिए औषध सदृश्य—

यथाग्निविधिना तप्तं द्रुतं शुद्ध्यति काञ्चनम्
तथा कर्मकलङ्की च स्वात्मा तपोऽग्निना भृशम् ॥२१०१॥
वस्त्राद्याः समला द्रव्या यद्वद्धौताश्च वारिणा।
भवन्ति निर्मलास्तद्वद्योगी तपोच्छवारिणा ॥२१०२॥
तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरारुजः।
पञ्चाक्षारातिभिःसार्द्धं विलीयन्ते धराशयः ॥२१०३॥
चतुर्ज्ञानधरो मुक्तिगामी शक्रगणार्चितः ।
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य करोत्येव परं तपः ॥२१०४॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि से तपाया हुआ सोना शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह कर्ममल से कलंकित हुआ आत्मा तपश्चरण रूपी अग्नि से बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र पानी से धोने पर निर्मल हो जाते हैं उसी प्रकार योगी पुरुष भी तपश्चरणरूपी स्वच्छ

जल से अत्यन्त निर्मल हो जाते हैं। इस तपश्चरणरूपी औषधि से जन्म-मरण-बुढ़ापा आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापों की राशि नष्ट हो जाती है। जो मोक्षगामी पुरुष चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं और समस्त इन्द्र जिनकी पूजा करते हैं ऐसे योगी पुरुष अपनी शक्ति को प्रकट कर सदा उत्कृष्ट तपश्चरण करते हैं।

तीर्थंकरादि के तपों का वर्णन—

आदिदेवोऽपि वर्षान्ते पारणं कृतवान् भुवि।
अन्यैरपि जिनाधीशैः सर्वैः कृतं तपो महत् ॥२१०५॥
धीरो बाहुबलिः कृत्वा वर्षेकप्रोषधान् परान्।
व्युत्सर्गस्थः सुयोगेन केवलज्ञानमाप भोः ॥२१०६॥
इत्याद्याः प्रवराः सर्वे पुराणपुरुषा अहो।
बलाद्यन्ये तपः कृत्वा घोरं मुक्तिपदं ययुः ॥२१०७॥

अर्थ—देखो भगवान् वृषभदेव ने एक वर्ष के बाद पारणा किया था तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण किया था। अत्यन्त धीरवीर बाहुबली ने भी एक वर्ष का उत्कृष्ट उपवास किया था तथा श्रेष्ठ योग धारण कर कायोत्सर्ग से विराजमान होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। इस प्रकार समस्त श्रेष्ठ महापुरुष अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपश्चरण करके ही मोक्ष पद में जा विराजमान हुए हैं।

तप से ही जीव तीनों काल में सिद्ध हुए हैं—

गता यान्ति च यास्यन्ति मुक्तिं येऽत्र मुमुक्षवः।
कर्मारीन् केवलं हत्वा तपोभिस्ते न चान्यथा ॥२१०८॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले जो पुरुष आज तक मोक्ष गए हैं, अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर मोक्ष गए हैं वा जायेंगे। बिना तप के न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है।

तप का महात्म्य—

मुक्तिमार्गे प्रवृत्तानां त्रिरत्नश्रीयुतात्मनाम्।
विघटन्तेऽक्षचौराद्यास्तपःसुभटताडिताः ॥२१०९॥
सहायीकृत्य यो धीमान् तपःसुभटमूर्जितम्।
व्रजेन्मुक्तिपथेऽक्षाद्यैर्विघ्नं तस्य न जातुचित् ॥२११०॥
तपोऽलङ्कारिणो नूनमत्यासक्ता शिवात्मजा।
वृणोत्यत्र न संदेहः का वार्ता शक्रयोषिताम् ॥२१११॥

अहमिन्द्रपदं पूज्यं देवराजपदं महत्।
चक्रनाथपदं चान्यद्बलदेवादिसत्पदम् ॥२११२॥
लौकान्तिकपदं सारं गणेशादिपदं परम्।
तपःफलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुतम् ॥२११३॥
अनन्तमहिमोपेतास्तीर्थनाथविभूतयः ।
तपसा धीमतां सर्वा जायन्ते मुक्तिमातृकाः ॥२११४॥
त्रिजगन्नाथसंसेव्यान् भोगान् पञ्चाक्षपोषकान्।
तपोधना लभन्ते च सौख्यं वाचामगोचरम् ॥२११५॥
तपोमन्त्रवराकृष्टासम्पल्लोकत्रयोद्भवा ।
तपोमाहात्म्यतो गुर्वी संपद्येत तपस्विनाम् ॥२११६॥
तपश्चिन्तामणिर्दिव्यस्तपः कल्पद्रुमो महान्।
तपो नित्यं निधानं तपः कामधेनुरूर्जिता ॥२११७॥
यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम्।
अनर्घ्यं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसा चिरात् ॥२११८॥

अर्थ—जो पुरुष मोक्षमार्ग में लग रहे हैं और रत्नत्रय की लक्ष्मी से सुशोभित है, उनके इन्द्रियरूपी चोर तपश्चरणरूपी सुभट से ताड़ित होकर अपने आप भाग जाते हैं। जो बुद्धिमान् इस तपश्चरण रूपी उत्कृष्ट योद्धा को साथ लेकर मोक्षमार्ग में गमन करता है उसके लिए इन्द्रियाँ आदि कभी भी विघ्न नहीं कर सकतीं। जो पुरुष तपश्चरणरूपी अलंकार से सुशोभित हैं उनको मोक्षरूपी कन्या अत्यन्त आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है फिर भला इन्द्र की इन्द्राणियों की तो बात ही क्या है। तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही फल से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसा पूज्य अहमिन्द्र पद उत्कृष्ट इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद, श्रेष्ठ बलभद्र का पद, सारभूत लौकान्तिक का पद और उत्कृष्ट गणधर का पद प्राप्त होता है। इस तपश्चरण से ही बुद्धिमानों को अनंत चतुष्टय की महिमा से सुशोभित सबको सुख देने वाली और मोक्ष की जननी ऐसी तीर्थंकर की उत्कृष्ट विभूति प्राप्त होती है। तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवन करने योग्य और पाँचों इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले ऐसे भोग प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर ऐसे सुख प्राप्त होते हैं। तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही माहात्म्य से तपश्चरणरूपी श्रेष्ठ मंत्र से आकृष्ट हुई तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट संपत्तियां प्राप्त हो जाती है। यह तपश्चरण ही चिंतामणि रत्न है, तपश्चरण ही महान् कल्पद्रुम है, तप ही सदा रहने वाला निधान वा खजाना है और तप ही उत्कृष्ट कामधेनु है। तीनों लोकों में रहने वाले जो बहुमूल्य

पदार्थ अत्यन्त दूर हैं और जो कठिनता से प्राप्त हो सकते हैं वे सब पदार्थ इस तपश्चरण से बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।

तप के अभाव में हानि—

ये तपः कुर्वते नाहो सत्त्वहीनाः खलम्पटाः।
भवेद्रोग-व्रजस्तेषामत्र लङ्घनराशिदः ॥२११९॥
ततस्तीव्रमहादुःखक्लेशादिशतसंकुलम् ।
अक्षोत्थपापपाकेन जन्मश्वभ्रादिदुर्गतौ ॥२१२०॥

अर्थ—इन्द्रियों में लंपटी और शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते हैं उन्हें अनेक लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त हो जाते हैं। उन इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महापाप के फल से उन लंपटियों का जन्म नरकादिक दुर्गतियों में होता है, जहाँ कि तीव्र महा दुःख और सैकड़ों महा क्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं।

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

इति मत्वा बुधा नित्यं जित्वा पञ्चाक्षतस्करान्।
स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य चरन्त्वत्र तपोऽनघम् ॥२१२१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को अपने पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों को जीतकर और अपनी शक्ति को प्रकट कर निरंतर पापों से सर्वथा रहित ऐसा तपश्चरण करते रहना चाहिए।

वीर्याचार का स्वरूप—

बलं वीर्यं निजं सर्वं प्रकटीकृत्य योगिनाम्।
संयमाचरणं यत्स वीर्याचारो जिनैर्मतः ॥२१२२॥

अर्थ—योगी लोग जो अपना बल-वीर्य आदि सब प्रकट करके संयमाचरण का पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव वीर्याचार कहते हैं।

बल और वीर्य का स्वरूप—

रसाहारौषधाद्यैश्च जनितं बलमुच्यते।
वीर्यं वीर्यान्तरायस्य क्षयोपशमसम्भवम् ॥२१२३॥

अर्थ—सरस आहार और औषधि आदि से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं तथा वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वीर्य कहते हैं।

तपादि ग्रहण करने की प्रेरणा—

अनयोः प्राप्य सामर्थ्यं तपोयोगादिसंयमान्।
व्युत्सर्गादींश्च कुर्वन्त्वनिगूहितपराक्रमाः ॥२१२४॥

अर्थ—इन दोनों की सामर्थ्य प्राप्त कर तथा अपनी शक्ति को न छिपाकर मुनियों को तप, योग, संयम और कायोत्सर्ग आदि धारण करना चाहिए।

संयम के भेद का कथन—

प्राणीन्द्रियद्विभेदाभ्यां संयमो द्विविधो मतः।
सप्राणिसंयमः सप्तदशप्रकार एव हि ॥२१२५॥

अर्थ—यह संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं।

काय, त्रस एवं अजीव संयम का स्वरूप—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कायानां वनस्पतिदेहिनाम्।
यत्नेन रक्षणं यत्स पञ्चधा कायसंयमः ॥२१२६॥
द्वित्रितुर्याक्षपञ्चेन्द्रियाणां यत्प्रतिपालनम्।
त्रसभेदेन सप्रोक्तश्चतुर्द्धा संयमः सताम् ॥२१२७॥
अजीवानां तृणादीनामच्छेदनं नखादिभिः।
यत्स संयमिनां प्रोक्तः संयमोऽजीवसंज्ञकः ॥२१२८॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पाँच प्रकार का कायसंयम है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सज्जन लोगों के लिए चार प्रकार का त्रस संयम कहलाता है। संयमी लोग जो तृण आदि अजीव पदार्थों को भी नाखून आदि से भी कभी नहीं छेदते उसको अजीवसंयम कहते हैं।

प्रतिलेखन एवं दुःप्रतिलेखन संयम का स्वरूप—

ज्ञानोपकरणादीनां यच्चासत्प्रतिलेखनम्।
नेत्रेणादर्शनं तस्य यत्नात्संयमनं महत् ॥२१२९॥
मृदुपिच्छिकया बारं बारं यत्प्रतिलेखनम्।
दर्शनं नयनाभ्यां सः प्रतिलेखन संयमः ॥२१३०॥
जीवमर्दनबाधादिकरं दुष्प्रतिलेखनम् ।
तस्य संयमनं सर्वप्रमादमन्तरेण यत् ॥२१३१॥
सूक्ष्मप्राणिदयाहेतु प्रमार्जनं मुहुर्मुहुः।
उक्तः स जिननाथैर्दुष्प्रतिलेखनसंयमः ॥२१३२॥

अर्थ—ज्ञानादिक के उपकरणों का ठीक-ठीक अच्छी तरह प्रतिलेखन न हुआ हो वा वे उपकरण नेत्रों से अच्छी तरह न देखे गए हों ऐसे पदार्थों को कोमल पिच्छिका से प्रतिलेखन करना

बार-बार प्रतिलेखन करना और बार-बार नेत्रों से देखना इस प्रकार प्राणियों की रक्षा करना प्रतिलेखन संयम कहलाता है। जीवों को मर्दन करने वाला वा जीवों को बाधा देने वाला जो किसी ने प्रतिलेखन किया है उसके लिए संयम पालन करना, सब तरह के प्रमाद छोड़कर सूक्ष्म प्राणियों की दया पालन करने के लिए उन पदार्थों को बार-बार प्रमार्जन करना पिच्छिका से शोधना भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा दु:प्रतिलेखन नाम का संयम कहा जाता है।

उपेक्षा संयम एवं अपहरण संयम का स्वरूप—

उपेक्षणमुपेक्षा च धर्मोपकरणादिकम्।
व्यवस्थाप्यातिकालेनादर्शनं तत्र जन्मिनाम् ॥२१३३॥
सम्मूर्च्छनं विलोक्योपेक्षायाः संयमनं मुहुः।
प्रत्यहं दर्शनं यत्किलोपेक्षासंयमोऽत्र सः ॥२१३४॥
अथापहरणं पिच्छिकयैकाक्षादिदेहिनाम्।
अन्यत्र क्षेपणं तस्मात्तस्य संयमनं परम् ॥२१३५॥
अनिराकरणं यत्नात्तत्रैव परिरक्षणम्।
यत्सोऽपहरणाख्योऽत्रसंयमो यमिनां स्मृतः ॥२१३६॥

अर्थ—संयम में मन न लगाना उपेक्षा है। धर्मोपकरणों को रखकर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्च्छन जीवों को देखकर उपेक्षा का संयमन वा निग्रह करना, प्रतिदिन बार-बार उसे देखना उपेक्षासंयम कहलाता है। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय आदि जीवों को पिच्छिका से हटाकर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों को न तो अन्यत्र स्थापन करना, न जाने से रोकना प्रयत्नपूर्वक वहीं पर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नाम का संयम कहलाता है।

तीन प्रकार के योग संयम का स्वरूप—

मनो - वचनकायानां निसर्गचञ्चलात्मनाम्।
ध्यानाद्यैर्निग्रहो यः स त्रिविधो योगसंयमः ॥२१३७॥

अर्थ—मन-वचन-काय ये तीनों स्वभाव से ही चंचल हैं उनको ध्यानादिक द्वारा निग्रह करना तीन प्रकार का योगसंयम कहलाता है।

गणधरादिक देव ने संयम के १७ भेद कहे हैं—

एतेऽत्र योगिनां सप्तदशभेदाः प्ररूपिताः।
संयमस्य गणाधीशैरागमे व्रतशुद्धिदाः ॥२१३८॥

अर्थ—भगवान् गणधरदेव ने अपने आगम में योगियों के लिए व्रतों को शुद्ध करने वाले ये

संयम के सत्रह भेद बतलाए हैं।

इन्द्रिय संयम का स्वरूप—

पञ्चाक्षव्रजतां स्वस्वविषयेषु विरागिभिः।
व्रताद्यैर्दमनं यत्स पञ्चधेन्द्रियसंयमः ॥२१३९॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियाँ जो अपने-अपने विषयों में गमन करती हैं, उनको रागरहित व्रती पुरुष जो दमन करते हैं, उसको पाँच प्रकार का इन्द्रियसंयम कहते हैं।

मन संयम का स्वरूप—

स्वेच्छया गच्छतो लोके मनसो यन्निरोधनम्।
ध्यानाध्ययनकर्माद्यैर्मनःसंयम एव सः ॥२१४०॥

अर्थ—इस प्रकार यह मन भी तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करता है उसको ध्यान-अध्ययन आदि कार्यों से निग्रह करना मनसंयम कहलाता है।

उत्कृष्ट प्राणी संयम का स्वरूप—

चतुर्दशविधा जीवसमासा यत्र यत्नतः।
रक्ष्यन्ते योगिभिर्मुक्त्यै स प्राणिसंयमोऽद्भुतः ॥२१४१॥

अर्थ—योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो जीवसमासों के भेद से चौदह प्रकार के जीवों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं उसको भी उत्कृष्ट प्राणिसंयम कहते हैं।

संयम पालन करने की प्रेरणा—

इत्येते संयमाः सर्वे प्राणीन्द्रियाभिधा बुधैः।
विधेया बलवीर्याभ्यां संवराय शिवाय च ॥२१४२॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को कर्मों का संवर करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपना बल और वीर्य प्रकट कर ऊपर लिखे हुए प्राणी और इन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के संयमों का सदा पालन करते रहना चाहिए।

तपश्चरण करने में शक्ति नहीं छिपानी चाहिए—

अनुगूहितवीर्याणां स्युर्विश्वे संयमाः पराः।
सत्तपांसि च सर्वाणि गुणा ज्येष्ठाः शिवादयः ॥२१४३॥
मत्वेति संयमाचारे तपसां करणेऽखिले।
योगाद्यन्यत्र वा कार्यं न वीर्याच्छादनं मनाक् ॥२१४४॥

अर्थ—जो संयमी अपनी शक्ति को नहीं छिपाते हैं उन्हीं के समस्त उत्कृष्ट संयम होते हैं, उत्कृष्ट समस्त तपश्चरण होते हैं, उत्तम गुण प्रकट होते हैं और उन्हीं को मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही समझकर संयमों के पालन करने में, समस्त तपश्चरणों के करने में वा आतापनादि योग धारण

करने में अथवा और ऐसे ही कार्यों में अपनी शक्ति को कभी नहीं छिपाना चाहिए। अपने वीर्य को कभी ढकना नहीं चाहिए।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

पञ्चाचार पालन करने की प्रेरणा और उसकी महिमा—

एवं पञ्चविधाञ्जिनेन्द्रगदितानाचारभेदान् परान्
मुक्त्यै ये निपुणा भजन्ति परया भक्त्या त्रिशुद्ध्याऽखिलान्।
हत्वा घातिरिपून् समाप्य परमं ज्ञानं सुरैः पूजनं
तेऽन्त्याङ्गाश्च निहत्यकर्मवपुषोयान्त्येव मुक्त्यालयम् ॥२१४५॥
येन्येश्रीमुनिनायकाः सुरनताः शक्त्या चरन्त्युर्जितान्
एतान् पञ्चविधान्विमुक्तिजनकान् आचारसारान् सदा।
ते भुक्त्वा त्रिजगद्भवं वरसुखं सर्वार्थसिद्ध्यादिजं
राज्यं चानुसमाप्य संयममतो गच्छन्तिमोक्षं क्रमात् ॥२१४६॥

(छन्द-मालिनी)

इति विदिततदर्थाः पञ्चधाचारसारान् शिवसुखगतिहेतून् कर्ममातंगसिंहान्।
कुगतिगृहकपाटांस्तीर्थनाथैः निषेव्यान् भजत शिवसुखाप्त्यै मोहशत्रुं निहत्य ॥२१४७॥

अर्थ—ये पाँचों प्रकार के आचार भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं, इसलिए जो चरम शरीरी चतुर पुरुष मन-वचन-काय को शुद्धकर परमभक्ति से मोक्ष प्राप्त करने के लिए इन पाँचों आचारों का पालन करते हैं वे महापुरुष घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नाशकर परम केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय वे देवों के द्वारा पूजे जाते हैं और अंत में समस्त कर्म और शरीर को नाशकर परम मोक्ष स्थान में जा विराजमान होते हैं। अनेक देव जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे और भी अनेक मुनिराज जो अपनी शक्ति के अनुसार मोक्ष देने वाले सर्वोत्कृष्ट इन सारभूत पाँचों आचारों का पालन करते हैं, वे तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले सर्वार्थसिद्धि आदि के श्रेष्ठ सुख भोगते हैं, श्रेष्ठ राज्य का अनुभव करते हैं और अंत में संयम पालन कर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। ये पाँचों आचार सारभूत हैं, स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं, कर्मरूपी हाथियों के लिए सिंह के समान हैं, कुगतिरूपी घर को बंद करने के लिए कपाट के समान हैं और तीर्थंकर परमदेव भी इनका पालन करते हैं। अतएव इन पंचाचारों के अर्थ को समझने वाले पुरुषों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए मोहरूपी शत्रु को नाश कर इन पाँचों आचारों का पालन करना चाहिए।

(छन्द-स्रग्धरा)

तीर्थंकर देव प्ररूपित पञ्चाचार का फल—

नाभेयाद्यैर्जिनेशैस्त्रिभुवनमहितैर्यैः प्रणीताधरित्र्या
माचारामुक्तिसिद्ध्यैगणधरसहितैस्तत्फलेनात्र लब्धः।

मोक्षो यैः सिद्धनाथैस्त्रिविधमुनिगणैरादृता येऽत्र यत्नात्
ते सर्वे धर्मनाथास्त्रिजगति गुरवो मे प्रदद्युः स्वभूतीः ॥२१४८॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार-व्यावर्णने ज्ञानचारित्रतपो वीर्याचारवर्णनो नाम षष्ठोधिकारः।

अर्थ—तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे जिन वृषभदेव आदि तीर्थंकरों ने वा जिन गणधर देवों ने मोक्ष की सिद्धि के लिए इन पाँचों आचारों का इस लोक में निरूपण किया है तथा जिन सिद्ध भगवान् ने इन पंचाचारों के फल से मोक्ष की प्राप्ति की है और जिन आचार्य, उपाध्याय, साधुओं ने प्रयत्नपूर्वक इन आचारों का पालन किया है, वे सब धर्म के स्वामी और तीनों लोकों के गुरु भगवान् पंचपरमेष्ठी मेरे लिए अपनी-अपनी विभूति प्रदान करें।

इस प्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में पंचाचार के वर्णन में ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्याचार को निरूपण करने वाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

सप्तमोऽधिकारः

मंगलाचरण—

श्रीमतस्तीर्थनाथांश्चसमाचारप्ररूपकान् ।
सिद्धान्साधून्जगत्पूज्यान् गुणाब्धीन्नौमि सिद्धये ॥२१४९॥

अर्थ—मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिए अंतरंग-बहिरंग विभूति से सुशोभित और समाचार नीति को प्ररूपण करने वाले तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार करता हूँ, जगत्पूज्य सिद्धों को नमस्कार करता हूँ और गुणों के समुद्र ऐसे साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

समाचार के स्वरूप का निर्देश—

अथ यः सम्यगाचारः समानः सर्वयोगिनाम्।
समजातोऽथवा वक्ष्ये समाचाराख्यमेव तम् ॥२१५०॥

अर्थ—जो समस्त मुनियों को समान रीति से पालन करने पड़े ऐसे श्रेष्ठ आचरणों को समाचार कहते हैं। ऐसे समाचारों को अब आगे इस अध्याय में निरूपण करते हैं।

समाचार के मूल उत्तर भेद का कथन—

एकः औघिकः संज्ञो द्वितीयः पदविभागिकः।
इत्यत्र स समाचारो द्विधोक्तः श्रीजिनागमे ॥२१५१॥
औघिकोऽपि समाचारो दशभेदो जिनाधिपैः।
मतोऽनेकविधो मूलाचारे पदविभागिकः ॥२१५२॥

अर्थ—यह समाचार भगवान् जिनेन्द्रदेव के आगम में दो प्रकार का बतलाया है। एक औघिक और दूसरा पदविभागिक। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने औघिक समाचार के दस भेद बतलाए हैं और मूलाचार ग्रन्थों में पदविभागिक के अनेक भेद बतलाए हैं।

औघिक समाचार के इच्छाकारादि भेद—

इच्छाकारो हि मिथ्याकारस्तथाकार आसिका।
निषेधिका किलापृच्छा प्रतिपृच्छा च छन्दनम् ॥२१५३॥
सन्निमन्त्रण एव वाथोपसम्पद्योगिनामिमे।
दशभेदाःसमाख्याता औघिकस्य समासतः ॥२१५४॥

अर्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सन्निमंत्रण और उपसंपत् ये औघिक समाचार के संक्षेप से दश भेद कहलाते हैं।

इच्छाकारादि भेदों के स्वरूप का निर्देश—

इष्टे रत्नत्रयादौ वेच्छाकारः शुभकर्मणि।
अपराधेऽखिले मिथ्याकारो व्रताद्यतिक्रमे ॥२१५५॥
प्रतिश्रवणयोगे सिद्धान्तार्थानां तथैव हि।
गुहाशून्यगृहादेर्निगमनेत्रासिका स्मृता ॥२१५६॥
देवगेहगुहाद्यंतः प्रवेशे च निषेधिका।
स्वकार्यारम्भने कार्या पृच्छा गुर्वादियोगिनाम् ॥२१५७॥
गुरुसाधर्मिकाद्यन्यैः पूर्वं निःसृष्टवस्तुनि।
पुनस्तद्ग्रहणे युक्त्या प्रतिपृच्छा शुभप्रदा ॥२१५८॥
सूरिसाधर्मिकादीनां गृहीते पुस्तकादिके।
सेवनं तदभिप्रायेण यच्छन्दनमेव तत् ॥२१५९॥
गुरूपाध्यायसाधूनां धर्मोपकरणे शुभे।
अगृहीते तदर्थं या याञ्चा सा सन्निमन्त्रणा ॥२१६०॥
युष्माकमहमेवेति निजे गुरुकुले शुभे ।
निसर्गःस्वात्मनस्त्याग उपसम्पत्सुवाक् व्रजा ॥२१६१॥

अर्थ—रत्नत्रयादिक इष्ट पदार्थों में वा शुभ कामों में इच्छाकार किया जाता है। व्रतों के अतिचारों में वा अपराध हो जाने पर मिथ्याकार किया जाता है। सिद्धान्त-शास्त्र के अर्थ सुनने पर वा ग्रहण करने पर तथाकार किया जाता है। किसी गुफा वा सूने मकान में से जाते समय आसिका की जाती है। किसी देव के मंदिर में वा गुफादिक में प्रवेश करते समय निषेधिका की जाती है। अपने किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय गुरु आदि योगियों से आपृच्छा की जाती है। किसी गुरु वा साधर्मी मुनि के पास पहले कोई वस्तु रख दी हो और फिर उसके लेने की इच्छा हो तो शुभ देने वाली प्रतिपृच्छा युक्तिपूर्वक की जाती है। किसी आचार्य वा अन्य साधर्मी मुनि की पुस्तक आदि वस्तु उनकी इच्छानुसार अपने काम के लिए लेनी हो तो छंदन नाम का समाचार किया जाता है। आचार्य, उपाध्याय वा साधु के शुभ धर्मोपकरण अपने काम के लिए लेने हों तो उसके लिए जो याचना करना है, उस समय सन्निमंत्रण नाम का समाचार किया जाता है। मैं आपका हूँ इस प्रकार कहकर अपने शुभ गुरुकुल में स्वभाव से अपने आत्मा को समर्पण कर देना, श्रेष्ठ वचनों को कहलाने वाला उपसंपत् नाम का समाचार कहलाता है।

पदविभागी समाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

एष उक्तः समाचारो दशधौघिक आगमे।
समासेन ततश्चोर्द्ध्वं वक्ष्ये पदविभागिनम् ॥२१६२॥

अर्थ—इस प्रकार जिनागम में संक्षेप से औघिक समाचार के दश भेद बतलाए हैं। अब आगे पदविभागी नाम के समाचार को कहते हैं।

पदविभागी समाचार का स्वरूप—

सूर्यस्योद्गममारभ्य कृत्स्नेऽहोरात्रमंडले।
यन्नियमादिकं सर्वमाचरन्ति निरन्तरम् ॥२१६३॥
आचाराङ्गभवं यत्नाच्छ्रमणा भवहानये ।
समाचारो जिनैः सोऽत्र प्रोक्तः पदविभागिकः ॥२१६४॥

अर्थ—मुनि लोग अपने संसार को नाश करने के लिए सूर्योदय से लेकर समस्त दिन और रात में आचारांग सूत्र के अनुसार जो यत्नपूर्वक समस्त नियमों का पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव पदविभागिक नाम का समाचार कहते हैं।

पुनः इच्छाकार समाचार का स्वरूप निर्देश—

पुनर्ये प्रोदिताःपूर्वमिच्छाकारादयो दश।
संक्षेपाद्विस्तरेणात्र वक्ष्ये तेषां सुलक्षणम् ॥२१६५॥
संयमज्ञानधर्मोपकरणादिकयाचने ।
आतापनादियोगानां ग्रहणे तपसां सताम् ॥२१६६॥
करणे पठनेऽङ्गानां सर्वत्र शुभकर्मणि।
इच्छाकारश्च कर्तव्यः परिणामो मुमुक्षुभिः ॥२१६७॥

अर्थ—ऊपर औघिक समाचार के जो संक्षेप से दस भेद बतलाए हैं। अब आगे विस्तार के साथ उन्हीं का लक्षण कहते हैं। संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण वा धर्मोपकरण की याचना करते समय, आतापन आदि योगों को ग्रहण करते समय, किसी तपश्चरण को ग्रहण करते समय, अंगों का पठन-पाठन करते समय वा अन्य समस्त शुभ कार्यों में मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपने इच्छाकार रूप परिणाम रखने चाहिए।

मिथ्याकार समाचार का स्वरूप—

अतीचारे व्रतादीनां जातेङ्गवाक्यमानसैः।
अशुभैश्च प्रमादाक्षैरेतन्मे दुष्कृतं कृतम् ॥२१६८॥
मिथ्याऽस्तु निष्फलं सर्वं करिष्ये जातु नेदृशम्।
त्रिशुद्ध्येत्यपराधस्य मिथ्याकारः सतां मतः ॥२१६९॥

अर्थ—अशुभ मन-वचन-काय से, प्रमाद से वा इन्द्रियों से व्रतादिकों में अतिचार लग जाये तो यह मैंने बुरा किया वा पाप किया यह सब मिथ्या हो, निष्फल हो, अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूँगा। इस प्रकार मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक अपराध का पश्चाताप करना सज्जनों के द्वारा

मिथ्याकार कहलाता है।

तथाकार का स्वरूप—

सिद्धान्तादिमहार्थानां श्रवणे चोपदेशने।
गुरुणा क्रियमाणेऽत्रावितथे यन्निरूपितम् ॥२१७०॥
भवद्भिः सकलार्थं तदेवमेव न चान्यथा।
इत्युक्त्वा श्रवणं तेषां यत्तथाकार एव सः ॥२१७१॥

अर्थ—सिद्धान्त आदि महाशास्त्रों के अर्थ सुनने पर अथवा गुरु के यथार्थ उपदेश देने पर यह कहना कि ''आपने जो कहा है सो सब यथार्थ कहा है वह अन्यथा नहीं'' इस प्रकार कहकर उन शास्त्रों का सुनना तथाकार कहलाता है।

निषेधिका एवं आसिका का स्वरूप—

गिरिकन्दरजीर्णोद्यानगुहापुलिनादिषु ।
प्रवेशसमये कार्यांग्यबाधायै निषेधिका ॥२१७२॥
तेभ्योऽद्र्यादि प्रदेशेभ्योऽन्ये निर्गमने सदा ।
विधातव्यासिका व्यन्तरादिप्रीत्यैविचक्षणैः ॥२१७३॥

अर्थ—किसी पहाड़ की गुफा में, पुराने वन में, कंदरा में किसी नदी के किनारे पर प्रवेश करना हो तो उस समय जीवों का बाधा न हो इसलिए मुनियों को निषेधिका करनी चाहिए। णिसही-णिसही ऐसा उच्चारण करना चाहिए। चतुर मुनियों को व्यंतरादिक देवों को प्रसन्न करने के लिए पर्वत की गुफा-सूने मकान आदि से बाहर जाते समय असही-असही ऐसा कहकर आसिका करनी चाहिए।

आपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

आतापनादियोगानां ग्रहणे तपसां भुवि।
करणे कायसंस्थित्यै चर्यादिव्रजने परे ॥२१७४॥
ग्रामादिगमने चान्याखिले कार्ये शुभे निजे।
सूर्यादीन् विनयेनेत्यापृच्छा कार्या सुशैक्ष्यकैः ॥२१७५॥

अर्थ—शिष्य मुनियों को आतापन आदि योग के धारण करते समय, तपश्चरण धारण करते समय, शरीर को स्थिर रखने के लिए चर्या आदि करने को जाते समय, दूसरे गाँव को जाते समय तथा और भी अपने शुभ समस्त कार्यों के करने पर विनयपूर्वक आचार्यों से पूछना चाहिए, इसी को आपृच्छा नाम का समाचार कहते हैं।

प्रतिपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

यत्किञ्चिच्च महत्कार्यं दुष्करं धर्मसम्भवम्।
करणीयं प्रणम्यात्मगुर्वाचार्यादिकाखिलान् ॥२१७६॥
पृष्ट्वा पुनर्मुदा साधून् साधु पृच्छति सिद्धये।
निजकार्यस्य तां विद्धि प्रतिपृच्छां शुभप्रदाम् ॥२१७७॥

अर्थ—यदि किसी साधु को धर्म सम्बन्धी कोई अत्यन्त कठिन और बहुत बड़ा कार्य करना हो तो वह पहले अपने गुरु आचार्य वा वृद्ध मुनि आदि सबको पूछ लेता है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिए फिर भी वह साधु अन्य साधुओं को भी पूछता है, इस कल्याण करने वाले समाचार को प्रतिपृच्छा कहते हैं।

छंदन नामक समाचार का स्वरूप—

पुस्तकादिगृहीतेषु विनये वन्दनादिके।
जैनागमपदार्थानां प्रश्नेऽन्यधर्मकर्मणि ॥२१७८॥
गणेशवृषभादीनां विश्वभव्यहितात्मनाम्।
दक्षैरिच्छानुवृत्तिर्याचार्य ते छन्दनं च तत् ॥२१७९॥

अर्थ—चतुर मुनि किसी आचार्य आदि से पुस्तकादि के ग्रहण करते समय, विनय करते समय, वंदना आदि करते समय अथवा जैन शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों के स्वरूप को पूछते समय अथवा और भी किसी शुभ कार्यों के करते समय समस्त भव्यजीवों का हित करने वाले वृषभसेन आदि गणधरों की वा आचार्य आदि की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति करना अथवा उस उपकरण के स्वामी की इच्छानुसार उस उपकरण को लेना छंदन नाम का समाचार कहलाता है।

निमंत्रण नामक समाचार का स्वरूप—

गुरुसाधर्मिकान्येषां पुस्तकादिपरिग्रहम् ।
धर्मोपकरणं वान्यदिच्छन्गृहीतुमात्मवान् ॥२१८०॥
तदानीं विनयेनैत्य तेषां नत्वा पदाम्बुजान्।
कुर्यान्निमन्त्रणां योगी याचनां कार्यसिद्धये ॥२१८१॥

अर्थ—यदि किसी साधु को अपने गुरु से वा अन्य साधर्मी मुनियों से कोई पुस्तक वा कोई धर्मोपकरण लेने की इच्छा हो तो लेते समय उस साधु को उन गुरु वा अन्य साधर्मी साधुओं के समीप विनयपूर्वक जाना चाहिए, उनके चरण कमलों को नमस्कार करना चाहिए और फिर अपने कार्य की सिद्धि के लिए उनसे याचना करनी चाहिए इसको निमंत्रण नाम का समाचार कहते हैं।

उपसम्पत् समाचार के भेद—

उपसम्पज्जिनैः प्रोक्ता पञ्चधा विनये सताम्।
क्षेत्रे मार्गे तथा सौख्ये दुःखे सूत्रे महात्मनाम् ॥२१८२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने सज्जन पुरुषों के लिए उपसंपत् नाम का समाचार पाँच प्रकार का बतलाया है। विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुख-दुःख और सूत्र के विषय में महात्माओं के लिए अपनी सेवा का निवेदन करना पाँच प्रकार की उपसंपत् है।

विनयोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

प्राघूर्णकयतीनां विनयोपचार ऊर्जितः।
अङ्गांघ्रिमर्दनैःसंस्तरासनादिनिवेदनम् ॥२१८३॥
आवासभूमिसंपृच्छापुस्तकादिसमर्पणम् ।
इत्यादिकरणं यद्विनयोपसम्पदेव सा ॥२१८४॥

अर्थ—जो मुनि बाहर से आए हैं और अपने स्थान में आकर ठहरे हैं उनका उत्कृष्ट विनय और उपचार करना, उनके शरीर को दबाना, पैरों को दबाना, उनके लिए सोने तथा बैठने का आसन देना, उनके स्थान को वा उनके गुरु के स्थान को पूछना तथा उनके मार्ग को पूछना (कहाँ से आए कहाँ जायेंगे आदि पूछना) उनके लिए पुस्तक उपकरण आदि देना आदि कार्यों के करने को विनयोपसंपत् कहते हैं।

क्षेत्रसम्पत् समाचार का स्वरूप—

दृग्ज्ञानसंयमाद्याश्च सत्तपोनियमादयः।
यमशीलव्रताचाराः क्षमादिगुणराशयः ॥२१८५॥
यस्मिन् साम्ये शुभे क्षेत्रे वर्द्धन्ते धीमतां सताम्।
तस्मिन् क्षेत्रे निवासो यः क्षेत्रोपसम्पदेव सा ॥२१८६॥

अर्थ—जिस शुभ और समान शीतोष्ण क्षेत्र में बुद्धिमान् सज्जनों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, श्रेष्ठ तप, यम, नियम, शील, व्रत, आचार, क्षमा आदि अनेक गुण बढ़ते जायें ऐसे क्षेत्र में निवास करना क्षेत्रसंपत् कहलाता है।

मार्गोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

पादोष्णागतवास्तव्यमुनीनां योगधारिणाम्।
तपःसंयमयुक्तानां गमनागमनादिकैः ॥२१८७॥
परस्परं सुखप्रश्ने व्रतदृग्ज्ञानवृद्धये।
यो जिनैर्गदिता शास्त्रे मार्गोपसम्पदेव सा ॥२१८८॥

अर्थ—जो मुनि तप और संयम को धारण करने वाले हैं और योग को धारण करने वाले हैं

तथा बाहर से आकर अपने स्थान में ठहरे हैं अथवा अपने ही संघ के मुनि बाहर जाकर आए हैं उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रतों की वृद्धि के लिए आने जाने के समय की कुशल वार्ता पूछना, परस्पर सुख का प्रश्न करना भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने शास्त्रों में मार्गोपसंपत् बतलाई है।

सुखदुःखोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

उपचारो मुनीन्द्राणां निमित्ते सुखदुःखयोः।
मठपुस्तकधर्मोपदेशदानादिभिः परैः ॥२१८९॥
युष्माकमहमत्राशु करिष्ये निखिलं वचः।
इत्यादि कथनं शर्मदुःखोपसम्पदेव च ॥२१९०॥

अर्थ—यदि किसी मुनि पर कोई सुख वा दुःख आ पड़े तो उस समय मठ, पुस्तक, धर्मोपदेश वा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थों को (आहार-औषधि आदि को) देकर उनका उपचार वा उपकार करना अथवा हम सब आपके हैं, हम लोग आपके कहे हुए सब वचनों का पालन करेंगे इस प्रकार उनसे कहना सुखदुःखोपसंपत् कहलाती है।

सूत्रसम्पत् समाचार के भेद एवं उनका स्वरूप—

सूत्रोपसम्पदेकान्यार्थोपसम्पत्समाह्वया।
तदा तदुभया त्रेधा सूत्रोपसम्पदित्यपि ॥२१९१॥
यः सूत्रपठने यत्नःसूत्रोपसम्पदत्र सा।
अर्थादानेऽत्र यो यत्नः सार्थोपसम्पदूर्जिता ॥२१९२॥
यत्नस्तदुभये योऽत्रसोपसम्पद्द्वयात्मिका।
अधुना लक्षणं किञ्चिद् ब्रुवे पदऽविभागिनः ॥२१९३॥

अर्थ—सूत्रसंपत् के तीन भेद हैं-सूत्रसंपत्, अर्थसंपत् और उभयसंपत्। सूत्रों के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रसंपत् है। अर्थ के पढ़ने में प्रयत्न करना श्रेष्ठ अर्थसंपत् है। सूत्र और अर्थ दोनों के पढ़ने में प्रयत्न करना तदुभयसंपत् है। अब आगे पदविभागी समाचार का थोड़ा सा लक्षण कहते है।

पदविभागी समाचार का लक्षण—

अथ कश्चिन् महाप्राज्ञः समर्थः सकलैर्गुणैः।
वीर्यधैर्यतपोयोगोत्साहाद्यैः संयताग्रणीः ॥२१९४॥
स्वगुर्वादिगतं सर्वं श्रुतं ज्ञात्वा परागमम्।
ज्ञातुमिच्छन् प्रणम्योच्चैः पृच्छतीति निजं गुरुम् ॥२१९५॥
युष्मत्पादप्रसादेन[१] भगवन् सूरिमूर्जितम्।
सर्वागमपरिज्ञानकुशलं चापरं प्रति ॥२१९६॥

१. विख्यातं।

गन्तुमिच्छामि शक्त्यान्यागमाध्ययनहेतवे।
इति तिस्रोऽथवा पञ्च षट् वापृच्छाः करोति सः ॥२१९७॥

अर्थ—जो कोई उत्तम मुनि अत्यन्त बुद्धिमान् हो, समस्त गुणों से, वीर्य, धैर्य, तप, योग और उत्साह आदि समस्त गुणों से सुशोभित हो और उसने अपने गुरु से उनके जाने हुए समस्त शास्त्र पढ़ लिए हों तथा फिर अन्य शास्त्रों के पढ़ने की उसकी इच्छा हो तो वह अपने गुरु को प्रणाम कर पूछता है कि हे प्रभो! अब मैं आपके चरणों की आज्ञानुसार किसी ऐसे उत्तम और पूज्य आचार्य के पास जाना चाहता हूँ जो समस्त आगम के ज्ञान में कुशल हों तथा वहाँ जाकर अपनी शक्ति के अनुसार अन्य आगमों का अध्ययन करना चाहता हूँ। इस प्रकार वह शिष्य तीन बार, पाँच बार वा छह बार पूछता है।

अन्य संघ में मुनि को अकेला नहीं जाना चाहिए—

एवमापृच्छ्य योगीन्द्रं प्रेक्षितो गुरुणा यतिः।
आत्मचतुर्थ एवात्मतृतीयो वा जितेन्द्रियः ॥२१९८॥
अथवात्मद्वितीयोऽसौ नत्वाचार्यादिपाठकान्।
निर्गच्छति ततः सङ्घादेकाकी न तु जातुचित् ॥२१९९॥

अर्थ—इस प्रकार वह अपने गुरु से पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो वह मुनि अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक अन्य मुनि को अपने साथ लेकर अत्यन्त जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य और उपाध्यायों को नमस्कार कर तथा वृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है। किसी भी मुनि को अकेले कभी नहीं निकलना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान् प्ररूपित गृहीतार्थ विहार एवं गृहीतार्थाश्रित विहार का स्वरूप—

यतः एको गृहीतार्थो विहारोऽखिलसद्गुणैः।
समर्थानां द्वितीयोऽन्यो गृहीतार्थेन संश्रितः ॥२२००॥
सामान्ययोगिनां युक्त्या त्रैताभ्यां नापरः क्वचित्।
विहारस्तृतीयःसर्वैरनुज्ञातो जिनेश्वरैः ॥२२०१॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का ही विहार बतलाया है—एक गृहीतार्थ विहार और दूसरा गृहीतार्थ के आश्रय होने वाला विहार। जो समर्थ मुनि हैं, समस्त तत्त्वों के जानकार हैं, अपने मार्ग का चरणानुष्ठान अच्छी तरह कर सकते हैं ऐसे मुनियों का समस्त गुणों से सुशोभित होने वाला विहार गृहीतार्थ विहार कहलाता है। यदि ऐसी सामर्थ्य न हो फिर समस्त मार्गानुष्ठान को जानने वाले किसी मुनि के साथ विहार करना चाहिए। इसको गृहीतार्थाश्रित विहार कहते हैं। यह विहार सामान्य मुनियों के लिए निरूपण किया गया है। इन दो विहारों के

सिवाय तीसरा कोई भी विहार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने नहीं बतलाया है।

कैसे गुणों से युक्त मुनि एकल विहार करने योग्य हैं—

सर्वोत्कृष्टतया द्वादशाङ्गपूर्वाखिलार्थवित्।
सद्वीर्यधृतिसत्त्वाद्यस्त्र्यादिसंहननो बली ॥२२०२॥
एकत्वभावनापन्नः शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
चिरप्रव्रजितो धीमान् जिताशेषपरीषहः ॥२२०३॥
इत्याद्यन्यगुणग्रामो मुनिः स मतो जिनैः।
श्रुतेऽत्रैकविहारी हि नान्यस्तद्गुणवर्जितः ॥२२०४॥

अर्थ—जो मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठ वीर्य, श्रेष्ठ धैर्य और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते हैं, जो पहले के तीन संहननों में से किसी एक संहनन को धारण करने वाले हैं, बलवान् हैं, जो सदा एकत्व भावना में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, चिरकाल के दीक्षित हैं, बुद्धिमान् हैं, समस्त परीषहों को जीतने वाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित हैं, ऐसे मुनियों को शास्त्रों में एकलविहारी (अकेले विहार करने वाले) होने की आज्ञा है। जो इन गुणों से रहित है उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने एकलविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है।

मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिए—

भिक्षोत्सर्गादिकालेषु गमनागमनादिकम्।
अकाले शयनं निन्द्य मुपवेशनमात्मनः ॥२२०५॥
विकथाकरणं यस्य स्वेच्छया जल्पनं स च।
मा भूदीदृश एकाकी मे शत्रुरपि भूतले ॥२२०६॥

अर्थ—जो मुनि भिक्षा के समय में वा मल-मूत्रादिक के समय में गमन-आगमन करते हैं, असमय में सोते हैं वा निंदनीय आसन लगाकर बैठते हैं, जो विकथाएँ कहते हैं और अपनी इच्छानुसार बहुत बोलते हैं, ऐसे मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिए फिर भला मुनियों की तो बात ही क्या है।

अकेले विहार करने से हानि—

गुरोः परिभवः शास्त्रव्युच्छेदो जडता भुवि।
मलिनत्वं च तीर्थस्य विह्वलत्वं कुशीलता ॥२२०७॥
पार्श्वस्थताप्यनाचार इत्याद्यन्यागुणव्रजः।
स्वेच्छया स्वगुणं त्यक्त्वा जायेतैकविहारिणः ॥२२०८॥

अर्थ—अकेले विहार करने से गुरु का तिरस्कार वा उनकी निंदा होती है, श्रुतज्ञान का विच्छेद

होता है, मूर्खता वा अज्ञानता बढ़ती है, जिनशासन मलिन होता है, विह्वलता तथा कुशीलता बढ़ती है, पार्श्वस्थ आदि मुनियों में रहने वाले अवगुण आ जाते हैं और अनाचार बढ़ जाते हैं। इस प्रकार अकेले विहार करने से गुण सब चले जाते हैं और अवगुणों का समूह सब आ जाता है।

अकेला विहार अनेक आपत्ति का कारण—

कंटकप्रत्यनीकश्चगवादिसर्पभूरिभिः ।
म्लेच्छाद्यैर्दुर्जनैर्दुष्टैर्विसूचिकाविषादिकैः ॥२२०९॥
अन्यैरुपद्रवैर्घो-रैरेकाकी विहरन् भुविः।
प्राप्नोत्यात्मविपत्तिं च दृगादिसद्गुणैः समा ॥२२१०॥

अर्थ—इसके सिवाय अकेले विहार करने से आपत्तियाँ भी बहुत आती हैं, काँटे, शत्रु, कुत्ते, पशु, सर्प, बिच्छू, म्लेच्छ आदि दुर्जन, दुष्ट आदि अनेक जीवों के द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगों के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी अनेक घोर उपद्रवों के द्वारा अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं तथा सम्यग्दर्शनादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं।

शिथिल मुनि अन्य की सहायता नहीं चाहता—

कश्चिद्गौरवको मन्दो गृद्धिकः कुटिलाशयः।
दृक्च्युतो विषयासक्तो मायावी शिथिलोऽधमः ॥२२११॥
आलस्यग्रसितो लुब्धो निर्धर्मः पापधीः शठः।
स्वेच्छाचारणशीलोऽत्र संवेगादिगुणातिगः ॥२२१२॥
कुशीलः कुत्सिताचारो जिनाज्ञा दूरगो निजे।
संवसन्नपि गच्छे नेच्छति सङ्घाटकं परम् ॥२२१३॥

अर्थ—जो मुनि गौरव सहित है अर्थात् किसी ऋद्धि आदि का जिसको अभिमान है, जो मंदबुद्धि है, लोभी है, हृदय का कुटिल है, सम्यग्दर्शन से रहित है, विषयासक्त है, मायाचारी है, शिथिल है, नीच है, आलसी है, लंपटी है, धर्महीन है, पापी है, मूर्ख है, जो इच्छानुसार अपने आचरण करता है, संवेग आदि गुणों से रहित है, कुशील है, कुत्सित आचरणों को पालन करने वाला है और भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा से दूर रहता है, ऐसा कोई मुनि अपने गच्छ में[१] रह जाये वा निवास करता हो तो वह अन्य किसी की भी सहायता नहीं चाहता क्योंकि वह स्वयं शिथिल है।

अकेले विहार करना पाँच पाप के स्थान का कारण—

जिनाज्ञोल्लंघनं चैकमनवस्था स्वशासने ।
मिथ्यात्वाराधनं स्वात्मनाशःसार्द्धं दृगादिभिः ॥२२१४॥

---

१. तीन मुनियों का गण और सात मुनियों का गच्छ कहलाता है।

समस्तसंयमस्याऽत्र विराधना ह्यमूनि भोः।
निकाचितानि पञ्चस्युः स्थानान्येकविहारिणः ॥२२१५॥

अर्थ—अकेले विहार करने वाले मुनि के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। एक तो भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, दूसरे जिन शासन में अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं, तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ-साथ अपने आत्मा का ज्ञान-चारित्र आदि सब गुणों का नाश हो जाता है और पाँचवें समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार एकलविहारी के पाँच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं।

किस गुरुकुल में सज्जन मुनि निवास नहीं करें—

न तत्र कल्पते वासः सतां गुरुकुले भुवि।
यत्रैते गुणवृद्ध्यै न पञ्चाधारा भवन्त्यहो ॥२२१६॥
महान् सूरिरुपाध्यायः प्रवर्तको गुणाकरः।
स्थविरश्च गणाधीशः पञ्चाधाराः परा इमे ॥२२१७॥

अर्थ—जिस गुरुकुल में गुणों की वृद्धि के लिए महान् आचार्य, उपाध्याय, गुणों के समुद्र प्रवर्तक, स्थविर और गणाधीश ये पाँच उत्कृष्ट आधार न हों उस गुरुकुल में सज्जन मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिए।

आचार्य एवं उपाध्याय का लक्षण—

पञ्चाचाररतःशिष्यानुग्रहे कुशलो महान्।
दीक्षाशिक्षादिसंस्कारैराचार्यः स्याद् गुणार्णवः ॥२२१८॥
धर्मोपदेशको धीमान् धीमतां पाठनोद्यतः।
अङ्गपूर्वप्रकीर्णानां योऽत्र तं विद्धि पाठकम् ॥२२१९॥

अर्थ—जो पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, जो शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों, जो दीक्षा-शिक्षा आदि संस्कारों से सर्वोत्कृष्ट हों और जो गुणों के समुद्र हों, उनको आचार्य कहते हैं। जो सदा धर्म का उपदेश देते हों, अत्यन्त बुद्धिमान् हों और बुद्धिमान् शिष्यों के लिए जो अंग पूर्व वा प्रकीर्णक शास्त्रों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हों उनको पाठक वा उपाध्याय कहते हैं।

प्रवर्तक एवं स्थविर मुनि का लक्षण—

चतुःश्रमणसङ्घानां चर्यादिमार्गदेशने ।
प्रवृत्याद्युपकारान् यः करोति स प्रवर्तकः ॥२२२०॥
बालवृद्धादिशिष्याणां सन्मार्गस्योपदेशकः।
यः सर्वज्ञाज्ञया युक्त्या स्थविरः सोऽन्यमानितः ॥२२२१॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ मुनि चारों प्रकार के मुनियों को चर्या आदि के मार्ग को दिखलाने में वा प्रवृत्ति कराने में उपकार करते हों उनको प्रवर्तक साधु कहते हैं। जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञा के अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यों को श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश देते हैं तथा जिन्हें सब मानते हैं उनको स्थविर कहते हैं।

गणधर मुनि का लक्षण—

गणस्य सर्वसङ्घस्य पालकः परिरक्षकः।
यो नानोपायशिक्षाद्यैर्ज्ञेयो गणधरोऽत्र सः ॥२२२२॥

अर्थ—जो शिक्षा आदि अनेक उपायों से समस्त संघ की रक्षा करते हों, सबका पालन करते हों, उनको गणधर कहते हैं।

कैसे आचार्य का सामीप्य ही गुण वृद्धि का कारण है—

अमीषां निकटे नूनं वसतां गुणराशयः।
वर्द्धन्ते साह्यचर्येण यथाब्धौ वायुनोर्मयः ॥२२२३॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु से समुद्र की लहरें बढ़ती हैं, उसी प्रकार इन आचार्य आदि के समीप निवास करने से उनके सहवास से अनेक गुणों के समूह बढ़ते हैं।

इच्छानुसार विहार करोड़ों दोषों का कारण है—

स्वेच्छावासविहारादिकृतामेकाकिनां भुवि।
हीयन्ते सद्गुणा नित्यं वर्द्धन्ते दोषकोटयः ॥२२२४॥

अर्थ—जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ निवास करते हैं, चाहे जहाँ विहार करते हों उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोष प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं।

पञ्चमकाल में २-३ साधु सहित विहार ही कल्याणकारी है—

अद्याहो पञ्चमे काले मिथ्यादृग्दुष्टपूरिते।
हीनसंहनननानां च मुनीनां चञ्चलात्मनाम् ॥२२२५॥
द्वित्रितुर्यादिसंख्येन समुदायेन क्षेमकृत्।
प्रोक्तो वासो विहारश्च व्युत्सर्गकरणादिकः ॥२२२६॥

अर्थ—यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से ही भरा हुआ है तथा इस काल में जो मुनि होते हैं वे हीन संहनन को धारण करने वाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचमकाल में दो, तीन, चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना, समुदाय से ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहाँ है ?

आगम विरुद्ध अन्यथा प्रवृत्ति करने का निषेध—

सर्वो यतिशुभाचारो यत्याचारे जिनेश्वरैः।
आचारगुणचिद्वृद्ध्यै नान्यथाकार्यकोटिभिः ॥२२२७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने यत्याचार ग्रन्थों में यतियों के समस्त शुभ आचार गुण और आत्मा की शुद्धता की वृद्धि के लिए कहे हैं, इसलिए करोड़ों कार्यों के होने पर भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

पुनः संघ सहित विहार करने की प्रेरणा—

यतोऽत्रविषमे काले शरीरे चान्नकीटके।
निसर्गचंचले चित्ते सत्त्वहीनेऽखिले जने ॥२२२८॥
जायेतैकाकिनां नैव निर्विघ्नेन व्रतादिकः।
स्वप्नेऽपि न मनःशुद्धिः निष्कलङ्कं न दीक्षणम् ॥२२२९॥
विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः सङ्घाटकेन संयतैः।
विहारस्थितियोगाद्यास्तन्निर्विघ्नाय शुद्धये ॥२२३०॥

अर्थ—क्योंकि यह पंचमकाल विषम काल है, इसमें मनुष्यों के शरीर अन्न के कीड़े होते हैं तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सभी मनुष्य शक्तिहीन होते हैं। अतएव एकाकी विहार करने वालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न नहीं पल सकते तथा उनके मन की शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है। इन सब बातों को समझकर मुनियों को अपने विहार निवास वा योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिए तथा उनको शुद्ध रखने के लिए संघ के साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिए, अकेले नहीं।

तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा उल्लंघन से हानि—

इमां तीर्थकृतामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमार्गगाः।
स्वेच्छावासविहारादीन् कुर्वते दृष्टिदूरगाः ॥२२३१॥
तेषामिहैव नूनं स्याद् दृग्ज्ञानचरणक्षयः।
कलङ्किता च दुस्त्याज्या ह्यपमानः पदे पदे ॥२२३२॥
परलोके सर्वज्ञाज्ञोल्लङ्घनाद्यतिपापतः ।
श्वभ्रादिदुर्गतौ घोरं भ्रमणं च चिरं महत् ॥२२३३॥

अर्थ—जो कुमार्गगामी इस तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार विहार वा निवास आदि करते हैं उनको सम्यग्दर्शन से ही रहित समझना चाहिए। ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं, इसी लोक में वे कलंकित हो जाते हैं, संघ

के बाहर करने योग्य हो जाते हैं और पद-पद पर उनका अपमान होता है। भगवान् सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करने रूप महापाप से वे लोक-परलोक में भी नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक महाघोर परिभ्रमण किया करते हैं।

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा उल्लंघन का निषेध—

इत्यपायं विदित्वाऽत्रामुत्र चैकविहारिणाम्।
अनुल्लंघ्यां जिनेन्द्राज्ञां प्रमाणीकृत्य मानसे ॥२२३४॥

अर्थ—इस प्रकार अकेले विहार करने वाले मुनियों का इस लोक में नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है, यही समझकर अपने मन में भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को ही प्रमाण मानना चाहिए और उसको प्रमाण मानकर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए।

पुनः अकेले रहने का एवं विहार करने का निषेध—

स्थितिस्थानविहारादीन् समुदायेन संयताः ।
कुर्वन्तु स्वगुणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ॥२२३५॥

अर्थ—मुनियों को अपने गुणों की वृद्धि करने के लिए तथा विघ्नों को शांत करने के लिए अपना निवास वा विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिए अकेले न रहना चाहिए, न विहार करना चाहिए।

विद्या प्राप्ति हेतु मुनि कैसे आचार्य के निकट जायें—

गच्छता तेन यल्लब्धंकिञ्चिद्विद्यार्थिना यदि।
सचित्ताचित्तमिश्रं च द्रव्यं सत्पुस्तकादिकम् ॥२२३६॥
अन्तरालेऽत्र तस्यार्हः एष सूरिर्न चापरः।
एवं गुणविशिष्टः स्यात्सोऽपि विश्वहितङ्करः ॥२२३७॥
सङ्ग्रहानुग्रहाभ्यां च कुशलो धर्मप्रभावकः।
सतां विख्यातकीर्तिर्जिनसूत्रार्थविशारदः ॥२२३८॥
सत्क्रियाचरणाधारः षट्त्रिंशद्गुणभूषितः।
गम्भीरोऽब्धिरिवाक्षोभ्यः क्षमया क्ष्मासमोमहान् ॥२२३९॥
सौम्येन चन्द्रसादृश्यः स्वच्छाम्बुवत्प्रशान्तवान्।
पञ्चाक्षारि-जये शूरो मिथ्यात्वशत्रुघातकः ॥२२४०॥
इत्याद्यन्यगुणाधारोऽयोऽत्राचार्यो जगद्धितः ।
अजय्यः प्राप्तवान् शिष्यः स विद्याप्त्यै क्रमेण तम् ॥२२४१॥

अर्थ—मार्ग में चलते हुए उस विद्यार्थी मुनि को पुस्तक आदि अचित्त वा विद्यार्थी आदि सचित्त अथवा मिले हुए पदार्थ मिले तो उसको ग्रहण करने के अधिकारी आचार्य ही होते हैं तथा वे

आचार्य भी ऐसे होने चाहिए। जो समस्त जीवों का हित करने वाले हों, संग्रह (दीक्षा देकर अपना बनाना वा संघ बढ़ाना) और अनुग्रह (संस्कारों से दीक्षितों के गुण बढ़ाना) करने में कुशल हों, धर्म की प्रभावना करने वाले हों, सज्जनों में जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध हो, जो जिनसूत्रों के अर्थ कहने में निपुण हों, श्रेष्ठ क्रिया और आचरणों के आधार हों, छत्तीस गुणों से विभूषित हों, समुद्र के समान गंभीर हों परंतु जो कभी भी क्षुब्ध न होते हों, क्षमा गुण के कारण जो पृथ्वी के समान सर्वोत्कृष्ट हों, सौम्यता गुण से जो चन्द्रमा के समान हों, निर्मल जल के समान अत्यन्त शांत वा शीतल हों, पंचेन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने में जो अत्यन्त शूरवीर हों, मिथ्यात्वरूपी शत्रुओं को घात करने वाले हों तथा और भी अनेक गुणों के आधार हों, तीनों लोकों का हित करने वाले हों और जो किसी से भी नहीं जीते जा सकते हों, उनको आचार्य कहते हैं। वह शिष्य अपनी विद्या की प्राप्ति के लिए अनुक्रम से चलता हुआ ऐसे आचार्य के समीप पहुँचता है।

पर संघ से आए मुनि को देखकर संघ के मुनि किस प्रकार उसकी विनय करें—

आगच्छन्तं निजास्थानं प्राघूर्णकं सुसंयतम्।
तं वीक्ष्य सहसा सर्वे समुत्तिष्ठन्ति संयताः ॥२२४२॥
वात्सल्यहेतवे दक्षाजिनाज्ञापालनाय च।
परस्परं प्रणामाय ह्यात्मीयकरणाय वा ॥२२४३॥

अर्थ—उस शिष्य के वहाँ पहुँचने पर उस संघ के सब मुनि अपने स्थान में आए हुए उन अभ्यागत मुनि को देखकर अपना वात्सल्य दिखलाने के लिए, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने के लिए उनके साथ परस्पर नमस्कार करने के लिए और उनको अपना बनाने के लिए एक साथ उठकर खड़े हो जाते हैं।

वन्दना प्रतिवन्दना योग्यता अनुसार करते हैं—

ततः सप्तपदान् गत्वा भक्त्या तत्सम्मुखं च ते।
प्रकुर्वन्ति यथायोग्यं वन्दनां प्रतिवन्दनाम् ॥२२४४॥

अर्थ—तदनन्तर वे सब मुनि भक्तिपूर्वक सात पेंड तक उनके सन्मुख जाते हैं तथा अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वंदना अथवा प्रतिवंदना करते हैं।

तदनन्तर आगन्तुक मुनि की रत्नत्रय विशुद्धि पूछें—

यस्यागतस्य यत्कृत्यं कृत्वांघ्रिमर्दनादि तत्।
रत्नत्रयपरिप्रश्नं प्रीत्यै कुर्युस्तपोधनाः ॥२२४५॥

अर्थ—फिर संघ के वे सब मुनि उन आए हुए मुनि के पादमर्दन (पैर दबाना) आदि करने योग्य कार्य करते हैं और फिर अपना प्रेम दिखलाने के लिए रत्नत्रय की विशुद्धि पूछते हैं ।

तीन रात-दिन तक आगन्तुक मुनि की सहायता करते हैं—

आयातस्य त्रिरात्रं सत्परीक्षाकरणाय च।
सङ्घाटकः प्रदातव्यो नियमात्तेन सूरिणा ॥२२४६॥

अर्थ—तदनंतर उस संघ के आचार्य आए हुए उन मुनि की परीक्षा करने के लिए तीन रात तक नियम से उनकी सहायता करते हैं। रहने, चर्या करने, साथ रहने आदि में सहायता करते हैं।

आगन्तुक मुनि के चारित्रादि की परीक्षा करना चाहिए—

आगन्तुकाश्च वास्तव्याः परीक्षन्ते परस्परम्।
अवबोधाय वृत्तानां यत्नेनाचरणाय च ॥२२४७॥
आवश्यकतनूत्सर्गस्वाध्यायकरणादिषु ।
भिक्षाकाले मलोत्सर्गे समित्यादि प्रपालने ॥२२४८॥

अर्थ—उन आये हुए मुनियों को अपने यहाँ निवास कराना चाहिए और उनके चारित्र का ज्ञान तथा परस्पर का ज्ञान करने के लिए प्रयत्नपूर्वक आचरण कराने के लिए आवश्यक करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, स्वाध्याय करते समय, भिक्षा करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय और समितियों के पालन करते समय उनकी परीक्षा करनी चाहिए।

आगन्तुक मुनि भी आचार्य की परीक्षा कर अपने प्रयोजन का निवेदन करें—

विश्रान्तस्तद्दिनं स्थित्वा परीक्ष्याचार्यमुत्तमम्।
स्वस्यागमनकार्यं स विनयेन निवेदयेत् ॥२२४९॥

अर्थ—वे आए हुए मुनि उस दिन ठहर कर विश्राम लेते हैं अथवा दो-तीन दिन तक विश्राम करते हैं और फिर उत्तम आचार्य की परीक्षा कर बड़ी विनय के साथ उनसे अपने आने का प्रयोजन निवेदन करते हैं।

आचार्य आगन्तुक मुनि से नाम आदि पूछते हैं—

ततस्तस्य कुलं नाम गुरुं दीक्षादिनानि च।
श्रुतागमनकष्टादीन् गणी पृच्छति चादरात् ॥२२५०॥

अर्थ—तदनंतर वे आचार्य आदर के साथ उनसे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है, तुम किस गुरु के शिष्य हो, दीक्षा किससे ली है, दीक्षा लिए कितने दिन हो गए, तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और किस दिशा से कहाँ से आए हो। ये सब बातें आचार्य उनसे पूछते हैं।

आगन्तुक मुनि परीक्षा में शुद्ध हृदय वाला सिद्ध हो जाने पर श्रुत के पठनादि करने की आज्ञा देते—

इति प्रश्नपरीक्षाद्यैर्यद्यसौ शुद्धमानसः ।
विनीत उद्यमी धीमान् व्रतशीलापरिच्युतः ॥२२५१॥

तदास्य सूरिणा तेन निजशक्त्या समीहितम्।
श्रुतादिपाठनं सर्वं विधेयं विधिपूर्वकम् ॥२२५२॥

अर्थ—इस प्रकार के प्रश्नों से तथा परीक्षा आदि से यदि वे मुनि शुद्ध हृदय वाले सिद्ध हो जाते हैं तथा वे मुनि विनयवान् उद्यमी बुद्धिमान् हैं, व्रतशील से परिपूर्ण हैं तो वे आचार्य उनसे कह देते हैं कि तुम जो अपनी इच्छानुसार श्रुतादि का पठन-पाठन करना चाहते तो वह अपनी शक्ति के अनुसार विधिपूर्वक करो।

व्रताचरण से अशुद्ध आगन्तुक मुनि को छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण [प्रायश्चित्त] देते हैं—

यद्यशुद्धो व्रताचारैरागन्तुकस्ततोऽस्य च।
दातव्यं गणिना छेदोपस्थापनादिकं तपः ॥२२५३॥

अर्थ—यदि उस परीक्षा में आचार्य यह समझते हैं कि इनके व्रत, आचरण आदि शुद्ध नहीं है तो वे आचार्य उनको व्रतों की शुद्धि के लिए छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण करने के लिए कहते हैं।

प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करने वाले मुनि को संघ में नहीं रखते—

यदीच्छति न शिष्योऽसौ तत्प्रायश्चित्तमञ्जसा।
वर्जनीयस्ततस्तेन स्वसङ्गाच्छिथिलो द्रुतम् ॥२२५४॥

अर्थ—यदि वे आए हुए शिष्य मुनि उन आचार्यों के दिए प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो वे आचार्य ऐसे शिथिलाचारियों को शीघ्र ही छोड़ देते हैं अपने संघ में नहीं रखते।

शिथिलाचारियों को संघ में रखने से आचार्य छेद प्रायश्चित्त के भागी होते हैं—

व्यामोहेनाथवाचार्योऽशुद्धं गृह्णाति तादृशम्।
ततः सोऽपि गणी नूनं छेदार्हःस्यान्न चान्यथा ॥२२५५॥

अर्थ—यदि वे आचार्य किसी मोह वा अज्ञानता के कारण उस अशुद्ध आचरण वाले शिथिलाचारी को अपने संघ में रख लेते हैं तो फिर वे आचार्य भी छेद नाम के प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं। फिर बिना छेद प्रायश्चित्त के वे आचार्य भी शुद्ध नहीं हो सकते।

आगन्तुक मुनि को आत्मशुद्धि के लिए द्रव्यादि शुद्धिपूर्वक आगम का अभ्यास करना चाहिए—

एवमुक्तक्रमेणैष प्राघूर्णक उपस्थितः ।
गृहीतो विधिनानेन कुर्यादेवं ततश्चिदे ॥२२५६॥
सम्यग्द्रव्यधराङ्गाद्यान् प्रतिलेख्य प्रयत्नतः।
क्षेत्रकालविशुद्धीं च भावशुद्धिं श्रुताम्बिकाम् ॥२२५७॥

विधाय सूरिमानम्योपचारविनयादिभिः ।
शिष्येणाऽत्र त्रिशुद्ध्या सदाध्येतव्यं जिनागमम् ॥२२५८॥

अर्थ—यदि आचार्य ने विधिपूर्वक उन आए हुए मुनियों को ग्रहण कर लिया हो तो फिर उन आए हुए शिष्यों को अपनी आत्मशुद्धि के लिए नीचे लिखे अनुसार कार्य करने चाहिए। सबसे पहले उपकरण आदि द्रव्यों को, पृथ्वी को, अपने शरीर आदि को प्रतिलेखन करना चाहिए फिर क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि धारण कर आचार्य और जिनवाणी माता को नमस्कार करना चाहिए और उस शिष्य को उपचारादिक विनय के साथ मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जिनागम का सदा अभ्यास करते रहना चाहिए।

अविनय पूर्वक जिनागम अभ्यास का निषेध एवं उससे होने वाली हानि का निर्देश—

सुसूत्रार्थात्मसंस्कारशिक्षालोभादिभिर्न सः।
कुर्यात्परिभवं शास्त्राणां द्रव्यादिव्यतिक्रमैः ॥२२५९॥
यतः परिभवान्नूनं ज्ञानस्याचार्यशिष्ययोः।
अप्रीतिर्बुद्धिनाशश्च ज्ञानावरणकर्म च ॥२२६०॥
असमाधिर्जिनेन्द्राज्ञोल्लंघनं दृग्विनाशनम् ।
कलहः श्रुतहानिश्च रुग्वियोगादिकं भवेत् ॥२२६१॥

अर्थ—उस शिष्य को सूत्र और अर्थ के ज्ञान के लोभ से द्रव्य, क्षेत्र आदि के अविनय से शास्त्रों का अविनय वा तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि ज्ञान की अविनय करने से आचार्य और शिष्यों में प्रेम नहीं रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है, ज्ञानावरण कर्म का आस्रव होता है, समाधि का नाश होता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है, परस्पर गुरु शिष्यों में कलह हो जाती है, श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है, अनेक रोगादिक हो जाते हैं और इष्ट वियोग हो जाता है।

कालशुद्धिपूर्वक आगम अभ्यास करने की प्रेरणा—

विज्ञायेत्याखिलैर्दक्षैः कालादिशुद्धमञ्जसा।
कृत्वा जिनागमं नित्यमध्येतव्यं विशुद्धये ॥२२६२॥

अर्थ—यही समझकर समस्त चतुर पुरुषों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए कालशुद्धि आदि को धारण कर प्रतिदिन जिनागम का अभ्यास करते रहना चाहिए।

संस्तर शुद्धि की प्रेरणा—

संस्तरावासकादीनामुभयोः कालयोः सदा।
प्रकाशे वसता तत्र कर्तव्यं प्रतिलेखनम् ॥२२६३॥

अर्थ—वहाँ पर रहते हुए उस शिष्य को प्रातःकाल और संध्याकाल दोनों समय अपने संस्तर

और रहने के आवास को प्रकाश में ही प्रतिलेखन कर लेना चाहिए अर्थात् पिच्छिका से शोध लेना और नेत्रों से देख लेना चाहिए।

परगण में भी आचार्य से पूछकर ही भिक्षादि चर्या करनी चाहिए—

ग्रामादिगमने भिक्षादाने कार्येशुभेऽखिले ।
उत्तरादिसुयोगे च पृच्छाकार्याऽत्रपूर्ववत् ॥२२६४॥

अर्थ—किसी गाँव को जाते समय, भिक्षार्थ चर्या के लिए जाते समय वा और भी समस्त शुभ कार्यों के करते समय उस आए हुए शिष्य को पहले के समान आचार्य से वा अन्य साधुओं से पूछना चाहिए। जिस प्रकार अपने गण में रहकर आचार्य आदि से पूछकर कार्य करता था उसी प्रकार परगण में रहते हुए भी आचार्य आदि से पूछकर ही सब काम करना चाहिए।

आचार्यादि की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

वसतान्यगणेऽतेनात्र चर्यादितपोभृताम्।
वैयावृत्यं यथायोग्यं कर्तव्यं दशधादरात् ॥२२६५॥

अर्थ—दूसरे के गण में रहते हुए भी उस शिष्य मुनि को आचार्य, तपस्वी आदि दस प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य यथायोग्य रीति से आदर के साथ करते रहना चाहिए।

प्रतिक्रमणादि एवं मिथ्याकारादि द्वारा व्रत शुद्धि करने की प्रेरणा—

अहोरात्रभवाः पक्षचतुर्मासाब्दगोचराः ।
सर्वाःक्रिया विधातव्यास्तेन तैर्योगिभिः समम् ॥२२६६॥
यस्मिन् गच्छेऽतिचारोत्र जातो वाक्कायमानसैः ।
मिथ्याकारादिभिस्तत्र कार्यं तस्य विशोधनम् ॥२२६७॥

अर्थ—उस समय आए हुए शिष्य को उस संघ के मुनियों के साथ ही दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक चातुर्मासिक वा वार्षिक प्रतिक्रमण-आलोचना आदि समस्त क्रियाएँ करनी चाहिए। जिस गण वा गच्छ में अतिचार लगा हो उसको मन-वचन-काय से होने वाले मिथ्याकारादिक के द्वारा उसी गण वा गच्छ में शुद्ध करना चाहिए।

अकेले मुनि को आर्यिका के साथ ठहरने का निषेध—

आर्यिकाद्यखिलस्त्रीणां काले चागमनेक्वचित्।
स्थातव्यं विजने नैव मुनिनैकाकिना भुवि ॥२२६८॥

अर्थ—आर्यिका आदि समस्त स्त्रियाँ यदि आने के समय भी आएँ तो भी निर्जन स्थान में अकेले मुनि को कभी नहीं ठहरना चाहिए।

अकेली आर्यिका से बातचीत करने से उत्पन्न दोषों का कथन—

ताभिरार्यादियोषिद्भिः सहालापोऽतिदोषकृत्।
अकार्येण न कर्तव्यो मुनिभिर्निर्मलाशयैः ॥२२६९॥

अर्थ—उन आर्यिका आदि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है। अतएव निर्मल हृदय को धारण करने वाले मुनियों को बिना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिए।

मुनि आर्यिका को कब प्रश्न का उत्तर दें और कब नहीं दें—

एकाकिन्यार्यिकायाश्च कृतं प्रश्नं सुसूत्रजम्।
मुनिनैकाकिना जातु कथनीयं न शुद्धये ॥२२७०॥
गणिनीमग्रतः कृत्वा यदि प्रश्नं करोति सा।
तदास्याः कथयेन्नूनं तदर्थं संयमी स्फुटम् ॥२२७१॥

अर्थ—यदि कोई अकेली आर्यिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिए कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिए। यदि वह आर्यिका अपनी गणिनी को (गुरुणी को) आगे कर कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्र का अर्थ समझा देना चाहिए वा प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिए।

तरुण मुनि को तरुण आर्यिका से बातचीत करने से पाँच दोष लगते हैं उसका वर्णन—

तरुणो यदि सद्योगी तरुण्यार्यिकयासमम् ।
कथालापादिकं कुर्यात्तस्येदं दोषपञ्चकः ॥२२७२॥
आज्ञाभङ्गो जिनेन्द्रस्यानवस्था जिनशासने ।
मिथ्यात्वाराधना सार्द्धमात्मनाशो गुणव्रतैः ॥२२७३॥
समस्तसंयमस्यैव विराधना निकाचिताः ।
इमे पञ्च महादोषाः कृतास्तेन वृथात्मनः ॥२२७४॥

अर्थ—यदि कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी आर्यिका के साथ कथा वा बातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पाँचों दोष लगते हैं। पहले तो भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग होता है। दूसरे जिनशासन में अव्यवस्था हो जाती है, सब लोग ऐसा ही करने लग जाते हैं। तीसरे मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है। चौथे गुण और व्रतों के साथ-साथ उसके आत्मा का नाश हो जाता है और पाँचवें उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इस प्रकार महापापों के स्थान ऐसे पाँचों दोष उस मुनि को व्यर्थ ही लग जाते हैं।

मुनि को आर्यिका की एवं आर्यिका को मुनि की वसतिका में स्वाध्यायादि क्रियाएँ नहीं करना चाहिए—

मुनीनामार्यिकास्थाने स्थातुं जातु न युज्यते।
स्वाध्यायश्च तनूत्सर्गो गृहीतुं शयनासनम् ॥२२७५॥
विधातुं नोचितं कर्तुं प्रतिक्रमणसत्क्रिया।
अन्यद्वा श्रुतपाठादिरोगक्लेशादिकारणैः ॥२२७६॥
एताः सर्वाः क्रियाश्चान्ये पादप्रक्षालनादयः।
जातु कर्तुं न युज्यन्तेऽत्रार्याणां संयताश्रमे ॥२२७७॥

अर्थ—मुनियों को आर्यिकाओं के स्थान में कभी नहीं ठहरना चाहिए, न वहाँ स्वाध्याय करना चाहिए, न कायोत्सर्ग करना चाहिए, न शयन वा आसन ग्रहण करना चाहिए, प्रतिक्रमण आदि श्रेष्ठ क्रियाएँ भी वहाँ नहीं करनी चाहिए अथवा शास्त्रों का पठन-पाठन भी वहाँ पर नहीं करना चाहिए। किसी रोग वा क्लेश हो जाने के कारण भी ये सब क्रियाएँ आर्यिकाओं के आश्रम में मुनियों को नहीं करनी चाहिए तथा इनके सिवाय पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएँ भी मुनियों को आर्यिकाओं के आश्रम में नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार आर्यिकाओं को भी मुनियों के आश्रम में ये सब क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए।

कामविकार से मलिन मुनि सबका तिरस्कार कर गुणों को नष्ट कर देता है—

यतःस्थविरमात्मानं चिरप्रव्रजितं गुरुम् ।
बहुश्रुतागमज्ञं चाचार्यं पूज्यं तपस्विनम् ॥२२७८॥
महागुणपदारूढं वन्द्यं न गणयेद् यमी।
कामार्तः मलिनः शीघ्रं कुलं चापि विनाशयेत् ॥२२७९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिसका हृदय काम के विकार के दुःख से मलिन हो रहा है, ऐसा मुनि न तो किसी वृद्ध मुनि को समझता है, न अपने आत्मा को समझता है, न चिरकाल के दीक्षित मुनि को गिनता है, न गुरु को गिनता है, न महा श्रुतज्ञान और आगम को जानने वाले उपाध्याय को गिनता है, न आचार्य को गिनता है, न किसी पूज्य को समझता है, न घोर तपस्वी को गिनता है, न महा गुण और महा पदों पर आरूढ़ हुए महामुनियों को गिनता है और न किसी वंदनीय मुनि को गिनता है। वह कामसेवन की इच्छा करने वाला मुनि शीघ्र ही अपने कुल तक को नाश कर देता है। भावार्थ—वह मुनि सबका तिरस्कार करता है और अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है।

स्त्रियों के साथ बातचीत निंदा का कारण है—

कन्यकां विधवां वृद्धां स्वैरिणीं यौवनात्मिकाम्।
राज्ञीं विलासिनीं दासीं लिङ्गिनीं वा तपस्विनीम् ॥२२८०॥

वार्तादिजल्पनैरेषो लीयमानो चिरादपि।
अपवादमवाप्नोति संयमी विश्वनिन्दितम् ॥२२८१॥

अर्थ—जो संयमी किसी कन्या, विधवा, वृद्धा, इच्छानुसार घूमने वाली, यौवनवती, रानी, वेश्या, दासी, तपस्विनी, स्वमत वा अन्य मत की दीक्षिता आदि किसी भी प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत कर उनके साथ संलग्न होता है वह मुनि बहुत ही शीघ्र संसारभर में अत्यन्त निंदनीय अपवाद को प्राप्त होता है अर्थात् तीनों लोकों में उसकी निंदा फैल जाती है।

आर्यिकाओं को प्रतिक्रमणादि करवाने वाले आचार्य का लक्षण—

दृढधर्मोऽतिसंविग्नोऽवद्यभीरुमहातपाः ।
धीरःस्थिरमनाः शुद्धो विक्रियाकौतुकातिगः ॥२२८२॥
सङ्ग्रहानुग्रहादौ च कुशलः सङ्घयोगिनाम्।
गम्भीरो मितवादी च ज्येष्ठो दीक्षाश्रुतादिभिः ॥२२८३॥
इत्याद्यन्यगुणैःपूर्णो योऽजय्यःसूरिरुत्तमः ।
सः स्याद् गणधरोऽत्रार्याणां प्रतिक्रमणादिषु ॥२२८४॥

अर्थ—अतएव जो अपने धर्म में दृढ़ हैं, जो धर्म और धर्म के फल में हर्ष मनाने वाले हैं, जो पापों से भयभीत हैं, महातपस्वी हैं, धीर वीर हैं, जिनका मन अत्यन्त स्थिर है, जो अत्यन्त शुद्ध हैं, जो विकार और कौतुक से सर्वथा दूर रहते हैं, जो संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं, गम्भीर हैं, आवश्यकता के अनुसार उतना ही भाषण करते हैं, जो दीक्षा और श्रुतज्ञान से सबसे बड़े हैं, जो अजेय हैं तथा जो ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक गुणों से परिपूर्ण हैं, ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनको गणधर कहते हैं। समस्त संघ के मुनि और आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कार्यों को ऐसे गणधर ही कराते हैं।

गुणरहित आचार्य चार उत्तम कालों की विराधना करता है—

एवं सूरिगुणैःसारैर्व्यतिरिक्तः करोति यः।
मुधा गणधरत्वं संयतीनां सत्क्रियादिषु ॥२२८५॥
गणपोषणमेवात्मसंस्कारकाल ऊर्जितः।
सल्लेखना तथैवोत्तमार्थकाल इमे पराः ॥२२८६॥
चत्वारः उत्तमाः कालाः परमार्थविधायिनः।
विराधिता निजास्तेन गुणरिक्तेन सूरिणा ॥२२८७॥

अर्थ—इस प्रकार उत्तम आचार्यों के सारभूत गुणों से रहित जो आचार्य आर्यिकाओं के प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में गणधर बनकर बैठता है वह आचार्य गणपोषण काल, उत्तम आत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन परमार्थ को सिद्ध करने वाले चारों उत्तम कालों की

विराधना करता है। गुणरहित आचार्य इन सबका नाश कर देता है।

आगन्तुक साधु को परगण के आचार्य की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना चाहिए—

बहुनोक्तेन किं साध्यं येच्छाचार्यस्य साऽखिला।
कर्तव्या वसता तत्र तेन पुण्या करोचिता ॥२२८८॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिए कि वहाँ रहते हुए उस शिष्य को पुण्य को बढ़ाने वाली और उचित ऐसी आचार्य की जो-जो इच्छाएँ हैं वे सब करनी चाहिए।

पुनः परगण के आचार्य की वन्दना, सुश्रूषा करने की प्रेरणा—

सुश्रूषावन्दनाभक्त्यनुकूलाचरणादिभिः ।
एष एव विधिः कार्यस्तच्छिष्यापरयोगिभिः ॥२२८९॥

अर्थ—उन बाहर से आए हुए शिष्यों को तथा अन्य योगियों को अपनी-अपनी भक्ति के अनुसार आचरणादि करके आचार्य की सुश्रूषा और वंदना करनी चाहिए।

आर्यिका समाचार विवरण नीति—

अयमेव समाचारो यथाख्यातस्तपस्विनाम्।
तथैव संयतीनां च यथायोग्यं विचक्षणैः ॥२२९०॥
अहोरात्रेऽखिलो मुक्त्यै विज्ञेयो हितकारकः।
वृक्षमूलादिसद्योगरहितो जिनभाषितः ॥२२९१॥
परस्परानुकूलाः सदाऽन्योन्यरक्षणोद्यताः।
लज्जामर्यादसंयुक्ता मायारागादिदूरगाः ॥२२९२॥
आचारादिसुशास्त्राणां पठने परिवर्तने।
तदर्थकथने विश्वानुप्रेक्षा-गुणचिन्तने ॥२२९३॥
सारार्थश्रवणे शुद्धध्याने संयमपालने ।
तपोविनयसद्योगे सदाकृतमहोद्यमाः ॥२२९४॥

अर्थ—यह जो समाचार मुनियों के लिए कहा है उसी प्रकार चतुर पुरुषों ने आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रीति से यही समाचार बतलाया है। आर्यिकाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिए हित करने वाला यही समाचार दिन-रात करना चाहिए। वृक्ष के नीचे योग धारण करना आदि कठिन योग आर्यिकाओं को नहीं करने चाहिए ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है। आर्यिकाओं को परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल रहना चाहिए, परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए, लज्जा और मर्यादा के साथ रहना चाहिए, मायाचारी, लोभ, राग आदि से अलग रहना चाहिए, आचारादिक शास्त्रों के पढ़ने में, पाठ करने में, उसके अर्थ कहने में, समस्त अनुप्रेक्षाओं के तथा

गुणों के चिंतन करने में, उन शास्त्रों के श्रेष्ठ अर्थ सुनने में, शुद्धध्यान में, संयम के पालन करने में, तप और विनय के करने में और योग धारण करने में सदा महाउद्यम करते रहना चाहिए।

आर्यिका को शरीर संस्कार त्याग, विकार जनित वस्त्रों के धारण करने का निषेध, संवेदादि भावना में तत्पर रहने की प्रेरणा—

मलजल्लविलिप्ताङ्गा वपुः संस्कारवर्जिताः।
विक्रियातिगवस्त्रैकावृताः शान्ताचलासनाः ॥२२९५॥
संवेगतत्परा दक्षाः धर्मध्यानपरायणाः।
कुलकीर्तिजिनेन्द्राज्ञारक्षणोद्यतमानसाः ॥२२९६॥
दुर्बलीकृतसर्वाङ्गास्तपसा सकलार्यिकाः ।
द्वित्र्यादिगणनायुक्ता निवसन्ति शुभाशयाः ॥२२९७॥

अर्थ—यदि उनके शरीर पर पसीना आ गया हो वा उस पसीना पर धूल जम गई हो तो कोई हानि नहीं परन्तु उन आर्यिकाओं को अपने शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिए, जिनसे विकार उत्पन्न न हों ऐसे वस्त्रो से अपना शरीर ढकना चाहिए, शांत और अचल आसन से बैठना चाहिए, संसार से भयभीत रहने रूप संवेग में सदा तत्पर रहना चाहिए, चतुरता से रहना चाहिए, धर्मध्यान में लीन रहना चाहिए, अपने मन में कुल, कीर्ति और भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना चाहिए, उनको इतना तपश्चरण करना चाहिए जिससे उनका शरीर भी दुर्बल हो जाए। उन आर्यिकाओं को दो-तीन वा अधिक दस-बीस आदि आर्यिकाओं के साथ रहना चाहिए अर्थात् दो से कम नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार अपने हृदय को शुद्धकर उन आर्यिकाओं को निवास करना चाहिए।

आर्यिका कैसी वसतिका में निवास करे—

असंयतजनातीते गृहस्थपशुवर्जिते ।
एकान्तस्थे गृहे गूढे मलोत्सर्गार्हभूयुते ॥२२९८॥

अर्थ—उन आर्यिकाओं को ऐसे एकांत और गूढ़ वा छिपे हुए घर में रहना चाहिए जो असंयमी लोगों से दूर हो, गृहस्थ और पशुओं के स्थान से दूर हो और मलमूत्र के लिए योग्य स्थान की जहाँ व्यवस्था हो।

धर्मकार्य बिना मुनि आदि के आश्रम में जाने का निषेध—

स्वकार्यमन्तरेणैव जातु गच्छन्ति नायिकाः।
गृहस्थनिलयं वा कुलिंग्यन्तं संयताश्रमम् ॥२२९९॥

अर्थ—आर्यिकाओं को बिना अपने काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिए, न किसी कुलिंगिनी के घर जाना चाहिए और न मुनियों के आश्रम में कभी जाना चाहिए।

धर्मकार्य के लिए भी गणिनी की आज्ञा लेकर २-३ आर्यिका के साथ जायँ—

अवश्यं गमने कार्ये सति भिक्षादिगोचरे।
सिद्धान्तार्थादिपृच्छादौ प्रायश्चित्तादियाचने ॥२३००॥
आपृच्छ्यगणिनीं नत्वा सङ्घाटकेन तद्गृहे।
गन्तव्यमार्यिकाभिश्च धर्मकार्याय नान्यथा ॥२३०१॥

अर्थ—भिक्षा लेने के लिए किसी शास्त्र के अर्थ आदि को पूछने के लिए वा प्रायश्चित्त लेने के लिए जाना आवश्यक हो तो अपनी गणिनी को पूछकर उनको नमस्कार कर दो-चार आर्यिकाओं के साथ ही जाना चाहिए, सो भी धर्म कार्य के लिए ही जाना चाहिए, अन्य किसी काम के लिए कभी नहीं जाना चाहिए।

निरंकुश घूमने में दोष—

याऽहो निरङ्कुशा नार्यो भ्रमन्ति स्वेच्छया भुवि।
गृहियत्याश्रमादौ क्व तासां शीलं शुभा क्रिया ॥२३०२॥

अर्थ—जो निरंकुश स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार गृहस्थों के घर वा मुनियों के आश्रम में घूमती फिरती हैं, उनका शील और उनकी शुभ क्रियाएँ कभी नहीं फल सकतीं।

अकेली आर्यिका को इच्छानुसार घूमने का निषेध एवं उससे होने वाली हानि का निर्देश—

यतो यथाऽत्रसिद्धान्नं भोक्तुं सुखेन शक्यते
तथा चास्वामिकां नारीं स्वाश्रमे स्वयमागताम् ॥२३०३॥
अतो जातु न विद्येत क्वचित्काले निजेच्छया।
एकाकिन्यार्यिकायाश्च विहारो गमनादिकः ॥२३०४॥

अर्थ—जिस प्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में वा घर में आ जाये तो वह आसानी से भोगी जा सकती है, इसलिए अकेली आर्यिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिए।

मुनि को बिना प्रयोजन आर्यिका के आश्रम में जाने का निषेध—

संयता वा गृहस्थानामार्यिकाणां च मन्दिरम्।
कलङ्कशङ्कया जातु विना कार्यं न यान्ति भोः ॥२३०५॥

अर्थ—इसी प्रकार संयमी मुनियों को भी कलंक के डर से बिना काम के न तो गृहस्थों के घर जाना चाहिए और न आर्यिकाओं के आश्रम में ही कभी जाना चाहिए।

मुनि, आर्यिकाओं को घर-घर घूमने का निषेध—

यतो रंडासमा येऽत्र ते वानस्थवृषोपमाः।
स्त्रीवृन्दसंकुलं रागाद्गेहं गेहमटन्ति च ॥२३०६॥

अर्थ—क्योंकि जो साधु रागपूर्वक स्त्रियों के समूह से भरे हुए घरों में घूमते रहते हैं उन्हें जंगली बैलों के समान समझना चाहिए। इसी प्रकार घर-घर घूमने वाली आर्यिकाओं को भी रंडाओं के समान समझना चाहिए।

घर-घर घूमने से मुनि का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है—

निर्विकारं स्थिरं चित्तं क्व स्त्रीशृङ्गारदर्शनात्।
ब्रह्मचर्यं न नश्येत्किं तेषां कुटिलचेतसाम् ॥२३०७॥

अर्थ—जो साधु बिना काम के घर-घर फिरते हैं उनका चित्त स्त्रियों के शृंगार देखने से विकार रहित और स्थिर कभी नहीं रह सकता तथा कुटिल हृदय को धारण करने वाले उन साधुओं का ब्रह्मचर्य भी अवश्य नष्ट हो जाता है।

आर्यिका को दूसरे घर जाकर हीन क्रिया नहीं करना चाहिए—

स्नपनं रोदनं श्रेष्ठान्नादिपाकनिवर्तनम् ।
सत्सूत्रकरणं गीतगानं वादित्रवादनम् ॥२३०८॥
षड्विधारम्भकर्माणि पदप्रक्षालनादिकान्।
संयतानां च बालानां स्नेहलोभादिकारणैः ॥२३०९॥
दुर्गोष्ठीर्विकथादीनि हीत्याद्याअपरा क्रियाः ।
परगेहं गता जातु न कुर्युरार्यिकाःशुभाः ॥२३१०॥

अर्थ—श्रेष्ठ आर्यिकाओं को दूसरे के घर जाकर स्नान नहीं करना चाहिए, रोना नहीं चाहिए, श्रेष्ठ अन्न-पान के बनाने का काम वा पकाने का काम नहीं करना चाहिए, सूत नहीं कातना चाहिए, गीत नहीं गाना चाहिए, बाजे नहीं बजाना चाहिए, असि, मसि आदि छहों प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिए, किसी के स्नेह वा लोभादिक के कारण भी किसी संयमी वा बालक के पाद प्रक्षालन (पैर धोना) आदि कार्य नहीं करने चाहिए, शृंगारादिक की कथाएँ वा विकथाएँ वा और भी ऐसी ही ऐसी हीन क्रियाएँ कभी नहीं करनी चाहिए।

आर्यिका की भिक्षा एवं वन्दना विधि का वर्णन—

तिस्रः पञ्चाथवा सप्त स्थविरान्तरिता भुवि।
अन्योन्यरक्षणोद्युक्ताः शुद्धाहारगवेषिकाः ॥२३११॥
पर्यटन्ति प्रयत्नेन भिक्षायै गृहपंक्तिषु ।
वा व्रजन्ति मुनीन्द्राणां वन्दनायैव क्षान्तिकाः ॥२३१२॥

अर्थ—वे आर्यिकाएँ शुद्ध आहार ढूँढ़ने के लिए जब भिक्षा के लिए जाती हैं तब तीन, पाँच या सात वृद्ध आर्यिकाओं के बीच में चलती हैं अर्थात् कुछ आर्यिकाएँ आगे-पीछे कुछ अंतर से रहती हैं उस समय में भी वे सब एक-दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं। इस प्रकार वे आर्यिकाएँ प्रयत्नपूर्वक पंक्तिबद्ध घरों में भिक्षा के लिए जाती हैं अथवा मुनियों की वंदना के लिए भी वे इसी प्रकार जाती हैं।

आर्यिका आचार्य, उपाध्याय एवं साधु की वन्दना कितनी दूर बैठकर करें—

पञ्चषट्सप्तहस्तान्तमन्तराले महीतलम् ।
सूरिपाठकसाधूनां भक्तिपूर्वकमर्जिकाः ॥२३१३॥
मूर्ध्ना गवासनेनैव प्रणामं कुर्वतेऽन्वहम् ।
विनये योग्यकाले वा श्रुतार्थश्रवणादिके ॥२३१४॥

अर्थ—वे आर्यिकाएँ प्रतिदिन वंदना करने के लिए वा शास्त्रों के अर्थ को सुनने आदि के लिए योग्य समय पर जब मुनियों के पास जाती हैं तब वे आचार्य से पाँच हाथ दूर, उपाध्याय से छह हाथ दूर और साधुओं से सात हाथ दूर गवासन से बैठकर मस्तक झुकाकर उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करती हैं।

समाचार की महिमा एवं उसको पालन करने का फल—

एवमुक्तः समाचारः समासेन तपस्विनाम्।
बहुभेदो बुधैर्ज्ञेयो विस्तरेण जिनागमात् ॥२३१५॥

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

विश्वं सर्वगुणाकरं शिवकरं चेमं मया वर्णितं
ह्याचारं च चरन्ति येऽत्र निपुणाः सद्योगिनो चार्यिकाः।
ते ता दिव्यसुखं जगत्त्रयभुवं भुक्त्वा पुनःसंयम-
मासाद्यानु च केवलं सुतपसा यान्त्येव मोक्षं क्रमात् ॥२३१६॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से मुनियों का समाचार बतलाया। बुद्धिमानों को इसके विस्तारपूर्वक बहुत से भेद जिनागम से जान लेना चाहिए। यह समाचार जो मैंने बतलाया है वह सब समस्त गुणों की खानि है और मोक्ष प्राप्त कराने वाला है। जो चतुर और उद्योगी मुनि वा आर्यिकाएँ इन समाचारों का पालन करते हैं वे मुनि वा आर्यिकाएँ पहले तो तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले दिव्य सुखों का अनुभव करते हैं और फिर संयम धारण कर अनुक्रम से केवल श्रेष्ठ तपश्चरण से ही मोक्षपद प्राप्त करते हैं।

(छन्द–मालिनी)

समाचार की उपसंहारात्मक महिमा एवं उसे धारण करने की प्रेरणा–

असमगुणनिधानं नाकनिर्वाणहेतुं जिनवरमुखजातं धारितं सर्वशक्त्या।
गणधरमुनिवृन्दैर्मुक्तिकामाः प्रयत्नात् चरत शिवसुखाप्त्यै कृत्स्नमाचारसारम् ॥२३१७॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते समाचारवर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः।

अर्थ–ये समस्त समाचार अनुपम गुणों के निधान हैं, स्वर्ग–मोक्ष के कारण हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुए हैं और गणधरदेव वा मुनियों के समूह ही अपनी शक्ति के अनुसार इनको धारण करते हैं। इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को वा आर्यिकाओं को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इन समस्त सारभूत समाचारों का पालन करना चाहिए ।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में समाचारों को वर्णन करने वाला यह सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

अष्टमोऽधिकारः

मंगलाचरण—

त्रैलोक्यतिलकान् सर्वान् जगन्मङ्गलकारिणः।
लोकोत्तमान् शरण्याश्चार्हतः सिद्धान्नमाम्यहम् ॥२३१८॥

अर्थ—जो अरहंत वा सिद्ध भगवान् तीनों लोकों के तिलक हैं, तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं, तीनों लोकों में उत्तम हैं और तीनों लोकों में शरणभूत हैं ऐसे समस्त अरहंत और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

दस प्रकार की शुद्धि के लिए आचार्यादि की स्तुति—

दशधा शुद्धिमापन्नास्त्रिजगच्छुद्धिदायिनः ।
सूरींश्च पाठकान्साधून् मङ्गलादिकरान् स्तुवे ॥२३१९॥

अर्थ—जो आचार्य, उपाध्याय, साधु दस प्रकार की शुद्धि को प्राप्त हुए हैं, तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले हैं और तीनों लोकों में मंगल करने वाले हैं ऐसे समस्त आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ।

सरस्वती देवी की हृदय में स्थापना—

श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नां वाग्देवीं भुवनाम्बिकाम्।
विश्वशुद्धिकरांश्चित्ते स्थापयाम्यर्थसिद्धये ॥२३२०॥

अर्थ—जो सरस्वती देवी भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई है, जो तीनों लोकों की माता है और समस्त भव्यजीवों को शुद्ध करने वाली है ऐसी सरस्वती देवी को मैं अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अपने हृदय में स्थापन करता हूँ।

मुनि भावना के निरूपक अध्याय के निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यर्हत्सिद्धगुर्वादीन्नत्वा माङ्गल्यहेतवे ।
अनागारमहर्षीणामिन्द्रनागेन्द्रचक्रिभिः ॥२३२१॥
भव्यैर्वंद्यार्च्यसंसेव्यपादाब्जानां हिताप्तये ।
वक्ष्याम्यहमनागारभावनाग्रन्थमुत्तमम् ॥२३२२॥

अर्थ—इस प्रकार मैं अपनी मंगल कामना के लिए अरहंत, सिद्ध और गुरुओं को नमस्कार करता हूँ और फिर इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती और समस्त भव्य जिनके चरण कमलों की पूजा करते हैं, वंदना करते हैं और सेवा करते हैं, ऐसे महाऋषि महामुनियों का हित करने के लिए मुनियों की भावनाओं को निरूपण करने वाला उत्तम ग्रन्थ (अध्याय) निरूपण करता हूँ।

ग्रन्थ सुनने मात्र का फल—

श्रुतेन येन भव्यौघामहापापकलङ्किताः।
अग्निना कनकानीव शुद्ध्यन्ति श्रद्धया भृशम् ॥२३२३॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि से सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से महापाप से कलंकित हुए समस्त भव्यजीव शुद्ध हो जाते हैं।

भावनाओं के आचरण का फल—

यदाचरणयोगेन हत्वा कर्मकदम्बकम्।
यान्ति धीरा हि निर्वाणं तस्य का वर्णनाऽपरा ॥२३२४॥

अर्थ—जिन भावनाओं के आचरण करने से धीर वीर मुनि अपने समस्त कर्मों के समूह को नाशकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन भावनाओं की प्रशंसा भला क्या करनी चाहिए।

दस प्रकार की शुद्धि के नाम निर्देश—

लिङ्गसद्व्रतशुद्धी वसतिकाशुद्धिरूर्जिता ।
विहारशुद्धिसंज्ञाथ भिक्षाज्ञानसमाह्वये ॥२३२५॥
शुद्धिरुज्झननाम्नी वाक्तपः ध्यानाख्यशुद्धयः।
इमा दशविधाः प्रोक्ताः शुद्धयोऽत्र महात्मनाम् ॥२३२६॥

अर्थ—लिंगशुद्धि, श्रेष्ठ व्रतशुद्धि, वसतिकाशुद्धि, उत्तम विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वचनशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि। इस प्रकार मुनियों के लिए ये दस शुद्धियाँ कही गई हैं।

लिंगशुद्धि का स्वरूप—

विद्युत्स्फुरणसादृश्यं जीवितं धनयौवनम्।
स्वजनादिकमन्यद्वा ज्ञात्वा हत्वा जगद्द्विषम् ॥२३२७॥
तद्गतं मोहमात्मज्ञैर्धीरै र्यद्धार्यते मुदा ।
विशुद्धं जिनलिङ्गं सा लिङ्गशुद्धिः सुयोगिनाम् ॥२३२८॥

अर्थ—यह धन, जीवन, यौवन, कुटुम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है यही समझकर और इस जगत्‌रूपी शत्रु को मारकर जो आत्मा को जानने वाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन-यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जिनलिंग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिंगशुद्धि कहलाती है।

जिनलिंग शुद्धि का स्वामी कौन होता है—

प्रस्वेदलग्नसर्वाङ्गमलाः कर्ममलातिगाः।
तीव्रशीतोष्णतापादिदग्धवृक्षोपमा विदः ॥२३२९॥

निर्विण्णाः कामभोगादौ वपुःसंस्कारदूरगाः।
दिगम्बरधरा धीराः कृत्स्नसङ्गपराङ्मुखाः ॥२३३०॥
जन्ममृत्युजरोद्विग्नाभवाब्धिपातभीरवः ।
निर्विकारमनोनेत्रमुखाः सत्पिच्छिकाङ्किताः ॥२३३१॥
लिङ्गशुद्धिं विधायोच्चैः प्रवर्तन्ते महर्षयः।
निर्ममा निरहंकारा धर्मशुक्लपरायणाः ॥२३३२॥
अङ्गपूर्वामृतैःपूर्णं स्वान्तः-कर्ममलापहम्।
जगच्छुद्धिकरं धर्मतीर्थं तीर्थकृतां परम् ॥२३३३॥
भावयन्ति त्रिशुद्ध्या ते भवाग्निदाहशान्तये।
अस्मान्नान्यद्धितं श्रेष्ठं मत्वेति त्रिजगत्यपि ॥२३३४॥
द्विषड्भेदे महाघोरे तपस्युत्साहकारिणः।
पञ्चाक्षशर्मजेच्छायाः सर्वदा निग्रहोद्यताः ॥२३३५॥
क्षमादिलक्षणैः साध्यं दशभिर्धर्ममुत्तमैः।
चारित्राचरणैः शुद्धैर्निष्प्रमादाश्चरन्ति च ॥२३३६॥
इत्याद्यैर्निर्मलैश्चान्यैः शुद्धाचारान् भजन्ति ये।
लिङ्गशुद्धिर्मता तेषां धृतार्हल्लिङ्गयोगिनाम् ॥२३३७॥

अर्थ—जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का वा पसीने में मिली हुई धूलि का मल लगा हुआ है परन्तु जो कर्ममल से सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, अत्यन्त तीव्र शीत वा उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का संस्कार कभी नहीं करते, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर रक्खी है, जो धीर वीर हैं, समस्त परिग्रह से रहित हैं, जन्म-मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुःखी हैं, जो संसाररूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं, जिनके नेत्र, मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, जो श्रेष्ठ पिच्छिका धारण करते हैं, जो महा ऋषि हैं, जो लिंगशुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित हैं, अहंकार रहित हैं, जो धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसाररूपी अग्नि के दाह को शांत करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूपी अमृत से भरे हुए, अपने अंतःकरण के कर्ममल को दूर करने वाले तीनों लोकों को शुद्ध करने वाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चिंतन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करने वाला नहीं है यही समझकर जो बारह प्रकार के महाघोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पंचेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न

हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमादरहित होकर शुद्ध चारित्राचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं। ऐसे भगवान् अरहंतदेव के लिंग को (निर्ग्रन्थ अवस्था को) धारण करने वाले महामुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पालन करते हैं उनके ही लिंगशुद्धि मानी गई है।

व्रतशुद्धि का स्वरूप—

अष्टप्रवचनाख्याभिर्मातृभिर्यतिमातृभिः ।
त्रिशुद्ध्या सार्द्धमादाय महाव्रतानि पञ्च च ॥२३३८॥
यत्नेन प्रतिपाल्यन्ते यत्र रागातिगैर्बुधैः ।
अप्रमत्तैः सदा मुक्त्यै व्रतशुद्धिः स्मृताऽत्र सा ॥२३३९॥

अर्थ—रागद्वेष रहित, प्रमाद रहित जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक मुनियों की माता के समान अष्ट प्रवचन मातृकाओं के साथ-साथ (पाँच समिति और तीन गुप्तियों के साथ-साथ) पंच महाव्रतों को धारण करते हैं और फिर प्रयत्नपूर्वक उनका पालन करते हैं उनके ही व्रतशुद्धि आचार्यों ने बतलाई है।

व्रतशुद्धि का स्वामी कौन होता है—

समस्तग्रन्थनिर्मुक्तास्त्रिरत्नग्रन्थभूषिताः।
त्यक्तदेहप्रतीकाराः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥२३४०॥
मौनव्रतधराः सत्यधर्मसूचनतत्पराः।
अदत्तं तृणमात्रं न गृह्णन्ति शीलमण्डिताः ॥२३४१॥
बालाग्रकोटिमात्रं श्रामण्यायोग्यं परिग्रहम्।
स्वप्नेऽपि जातु नेच्छन्ति सन्तोषिणो दिगम्बराः ॥२३४२॥
काये वा तत्प्रतीकारे ममतां जातु न कुर्वते।
न निस्पृहा ये यथाजातरूपालङ्कृतविग्रहाः ॥२३४३॥
यत्रारण्ये श्मशाने वा रविरस्तं प्रयाति भोः।
तत्रैवाप्रतिबद्धास्ते वसन्ति व्रतशुद्धये ॥२३४४॥
इत्याद्यैर्निर्मलाचारै निर्मलानि व्रतानि ये।
चरन्ति सर्वथा तेषां व्रतशुद्धिर्मतागमे ॥२३४५॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित हैं किन्तु रत्नत्रयरूपी परिग्रह से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते, जो समस्त आरम्भों से रहित हैं, सदा मौनव्रत धारण करते

हैं, जो सत्यधर्म का उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं जो बिना दिया हुआ तृणमात्र भी कभी ग्रहण नहीं करते और जो शीलों से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नहीं करते, जो अत्यन्त संतोषी हैं, दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं, जो अपना निस्पृहत्व गुण धारण करने के लिए शरीर में वा शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी भी मोह वा ममता नहीं करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं, जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिए जिस वन में वा जिस श्मशान में सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं। इस प्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतों को निर्मल रीति से पालन करते हैं उनके ही जैन शास्त्रों में व्रतशुद्धि बतलाई है।

वसतिका शुद्धि का स्वरूप निर्देश—

अरण्ये निर्जने स्थाने शून्यगेहगुहादिषु।
निरवद्यप्रदेशे वा श्मशानेऽतिभयङ्करे ॥२३४६॥
वासो यः क्रियते धीरैर्निःसङ्गैर्निर्मलाशयैः।
एकान्ते ध्यानसिद्ध्यै सा शुद्धिर्वसतिकाह्वया ॥२३४७॥

अर्थ—जो समस्त परिग्रहों से रहित, शुद्ध हृदय को धारण करने वाले धीर-वीर मुनि अपने ध्यान की सिद्धि के लिए किसी वन में, निर्जन स्थान में, सूने घर में, किसी गुफा में वा अन्य किसी एकान्त स्थान में वा अत्यन्त भयंकर श्मशान में निवास करते हैं उसको वसतिका शुद्धि कहते हैं।

वसतिका शुद्धि के स्वामी कैसे मुनिराज होते हैं—

ग्रामेऽत्रैकमहोरात्रं नगरे दिनपञ्चकम्।
वसन्ति प्रासुकावासा विविक्तैकान्तवासिनः ॥२३४८॥
अन्वेषयन्त एकान्तं शुक्लध्यानार्पिताशयाः।
लभन्तेऽत्रैव गन्धेभा ध्यानानन्दसुखं महत् ॥२३४९॥
अहीनमानसा धीरा एकाकिनो ह्यविह्वलाः।
वपुरादौ न कुर्वन्तो ममत्वं वनवासिनः ॥२३५०॥
सर्वत्राप्रतिबद्धाश्च भीमाद्रिकन्दरादिषु।
तिष्ठन्ति रममाणास्ते श्रीवीरवचनेऽन्वहम् ॥२३५१॥
सिंहव्याघ्राहिचौराद्यैः श्मशानकन्दरादिषु।
भीतिदेषु प्रदेशेषु नृणां कापुरुषात्मनाम् ॥२३५२॥
सदा वसतिकां वीरमहापुरुषसेविताम्।
महापुरुषसिंहाश्च सेवन्ते ध्यानसिद्धये ॥२३५३॥

एकान्तेऽद्रिगुहादौ ते वसन्तो निशिभीषणम्।
शृण्वन्तः शब्दसङ्घातमत्यासन्नं भयानकम् ॥२३५४॥
सिंहव्याघ्रादिदुष्टानां नरसिंहाश्च निर्भयाः।
चलन्ति न मनाग्ध्यानादचला इव संस्थिताः ॥२३५५॥
अनुद्विग्नाशया दक्षा महोपद्रवकोटिभिः।
श्रद्दधाना जिनेन्द्राज्ञां वसन्त्यद्रिगुहादिषु ॥२३५६॥
ध्यानाध्ययनसंयुक्ताजागरूका अहर्निशम्।
अप्रमादा जिताक्षास्ते यान्ति निद्रावशं न च ॥२३५७॥
पर्यंकेणार्द्धपर्यंकेण सद्वीरासनेन च।
उत्कटेन तथा हस्तिशौंडेन च निषद्यया ॥२३५८॥
आसनैर्मकरास्याद्यैः कायोत्सर्गेण चापरैः।
रात्रिं नयन्ति तेऽद्र्यादावेकपार्श्वादिशय्यया ॥२३५९॥
उपसर्गाग्निसंपाते महापरीषहाऽऽकुले।
रौद्रसत्त्वभृते भीमे वनादौ सुष्टु दुष्करे ॥२३६०॥
वसन्ति मोक्षमार्गस्था वज्रसंहनना अहो।
शुद्धिं वसतिकाख्यां चापन्नाः सद्ध्यानसिद्धये ॥२३६१॥
इत्याद्यामसमां शुद्धां वसतिं ये श्रयन्ति भोः।
तेषां वसतिकाशुद्धिर्भवेद् विरागयोगिनाम् ॥२३६२॥

अर्थ—प्रासुक स्थान में रहने वाले और विविक्त एकांत स्थान में निवास करने वाले मुनि किसी गाँव में एक दिन रहते हैं और नगर में पाँच दिन रहते हैं। सर्वथा एकांत स्थान को ढूँढ़ने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गंध गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यान के आनन्द का महासुख प्राप्त करते हैं। जिन मुनियों का हृदय विशाल है, जो धीर वीर हैं, एकलविहारी हैं, अत्यन्त निर्भय हैं, जो वन में ही निवास करते हैं, अपने शरीर आदि से कभी ममत्व नहीं करते और जो सर्वत्र विहार करते हैं, कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान् महावीर स्वामी के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओं में वा कंदराओं में ही निवास करते हैं। वे महापुरुषरूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यान की सिद्धि के लिए सिंह, बाघ, सर्प और चोर आदि के द्वारा पुरुष वा भयभीत मनुष्यों को अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले श्मशान, कंदरा आदि प्रदेशों में धीर वीर महापुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका को ही सदा सेवन करते हैं अर्थात् सदा ऐसी ही वसतिका में ठहरते हैं। अत्यन्त निर्भय और नरसिंह वृत्ति को धारण करने वाले वे

महामुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफा आदि अत्यन्त एकान्त स्थान में रहते हुए तथा सिंह, बाघ आदि अत्यन्त दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यन्त समीप ही सुनते हुए भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं, पर्वत के समान वे निश्चल ही बने रहते हैं। करोड़ों महा उपद्रव होने पर भी जो अपने मन में कभी चंचलता धारण नहीं करते ऐसे चतुर मुनिराज भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओं में ही निवास करते हैं। सदा ध्यान और अध्ययन में लगे रहने वाले तथा रात-दिन जगने वाले और प्रमादरहित जितेन्द्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में कभी नहीं होते। वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन वा उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूँड़ के समान आसन लगाकर अथवा मगर के मुख का सा आसन लगाकर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से बैठकर अथवा एक कर्वट से लेटकर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं। वसतिका शुद्धि को धारण करने वाले, वज्रवृषभनाराच संहनन को धारण करने वाले और मोक्षमार्ग में निवास करने वाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यान की सिद्धि के लिए सैकड़ों उपसर्ग आ जाने पर, अग्नि लग जाने पर तथा महा परीषहों के समूह आ जाने पर भी भयानक जीवों से भरे हुए भयङ्कर और अत्यन्त घोर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं। इस प्रकार जो वीतराग मुनि अत्यन्त शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसतिका का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्धि होती है।

उत्तम विहार शुद्धि का स्वरूप—

उदये सति सूर्यस्य प्रासुके पथ्यनस्तमे ।
धर्मप्रवृतये लोके गमनं यद्विधीयते ॥२३६३॥
महीतले मुनीन्द्रौघैः सत्स्वच्छन्दविहारिभिः।
युगान्तरेऽक्षणाभ्यां सा विहारे शुद्धिरुत्तमा ॥२३६४॥

अर्थ—स्वतंत्र विहार करने वाले एकलविहारी मुनिराज सूर्य उदय होने के बाद तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्ग में केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिए गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं। उन मुनियों के ऐसे शुद्ध गमन करने की उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं।

उत्तम विहार शुद्धि के धारक मुनि नवकोटि से समस्त जीवों की विराधना नहीं करते—

जीवयोनिसमासादीन् सूक्ष्मबादरकायिकान्।
ज्ञानेन सुष्ठु विज्ञाय विश्वजन्तुकृपापराः ॥२३६५॥
ज्ञाननेत्रो मरुत्तुल्या सावद्यं त्रिविधेन च।
यत्नात्परिहरन्तस्ते कस्यचित्कारणादिभिः ॥२३६६॥

एकेन्द्रियादिजन्तूनां बाधां वाऽत्रविराधनम्।
विहरन्तोऽपि भूभागे न कुर्युः कारयन्ति न ॥२३६७॥
तृणपत्रप्रवालादिहरिताङ्कुरजन्मिनाम् ।
कन्दबीजफलादीनां वनस्पत्यखिलाङ्गिनाम् ॥२३६८॥
पादाद्यैर्मर्दनं नूनं छेदनं वातिपीडनम्।
स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न संयताः ॥२३६९॥
पृथिव्याः खननाद्यैर्जलानां प्रक्षालनादिभिः।
अग्नेर्विध्यापनाद्यैश्च वातक्षेपादिभिः क्वचित् ॥२३७०॥
वायोस्त्रसात्मनां स्थाननिषद्यागमनादिभिः ।
पीडाविराधनां दक्षाः कृताद्यै र्न च कुर्वते ॥२३७१॥

अर्थ—जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय, बादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञान से जानकर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायु के समान परिग्रह रहित हैं, ऐसे मुनि मन-वचन-काय से प्रयत्नपूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं। वे मुनि समस्त पृथ्वी पर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रियादिक जीवों की बाधा वा विराधना न तो कभी स्वयं करते हैं और न कभी किसी से कराते हैं। वे मुनिराज तृण, पत्र, प्रवाल (कोमल पत्ते), हरे अंकुर, कंद, बीज, फल आदि समस्त वनस्पतिकायिक जीवों को पैर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं, न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदते हैं, न छिदवाते हैं, न स्पर्श करते हैं, न स्पर्श कराते हैं और न उनको पीड़ा पहुँचाते हैं वा पहुँचवाते हैं। वे चतुर मुनि न तो खोद पीटकर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न बुझाकर वा जलाकर अग्निकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं, न पंखादिक से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुँचाते हैं और न गमन करने, बैठने वा सोने में त्रस जीवों को बाधा पहुँचाते हैं। वे चतुर मुनि मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा वा विराधना नहीं पहुँचाते।

वे मुनि शस्त्र रहित निःशंक होकर विहार करते हैं—

दण्डादिसर्वहिंसोपकरणातीतसत्कराः ।
निर्ममा भवभीमाब्धेः पतनाच्छंकिताशयाः ॥२३७२॥

अर्थ—उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में दंडा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता, वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसाररूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं।

चर्या परीषह को जीतते हुए आत्मा के परिभ्रमण का चिंतन करते हैं—

तीक्ष्णैः पाषाणखण्डैश्च कण्टकाद्यैः क्रमादिषु।
पीड्यमाना अपि आज्ञा मनःक्लेशादिदूरगाः ॥२३७३॥
चर्यापरीषहारातेर्विजये कृतसूद्यमाः।
चतुर्गतिषु रौद्रासु रौद्रश्वभ्रादियोनिषु ॥२३७४॥
भ्रमणं सुचिरं निन्द्यं कृत्स्नदुःखभराकरम्।
पराधीनं विधेः स्वेषां चिन्तयन्तो निरन्तरम् ॥२३७५॥

अर्थ—यदि उनके पैर में काँटा लग जाये वा तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार छिद जाये और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान् मुनि अपने मन में कभी क्लेश नहीं करते हैं। क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं। वे मुनिराज चर्या परीषहरूपी शत्रुओं को जीतने के लिए सदा उद्यम करते रहते हैं तथा मेरा यह आत्मा भयानकरूप चारों गतियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकाल से परिभ्रमण करता रहा है, यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यन्त निंद्य है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के आधीन है। इस प्रकार वे मुनिराज अपने आत्मा के परिभ्रमण को निरंतर चिंतन करते रहते हैं।

परीषहों को जीतने के लिए मुनिराज पृथ्वी पर विहार करते हैं—

संवेगं त्रिविधं चित्ते भावयन्तोऽखिलागमम्।
ज्ञानध्यानसुधापानं कुर्वन्तोऽतिनिराकुलाः ॥२३७६॥
पुरपत्तनखेटाद्रिग्रामाटवी-वनादिषु।
रम्यारम्येषु सर्वत्र विहरन्तो निजेच्छया ॥२३७७॥
पश्यन्तोऽपि पथं चान्धा रामारूपादिवीक्षणे।
व्रजन्तोऽपि सुतीर्थादौ कुतीर्थे पङ्गवो विदः ॥२३७८॥
सुकथाः कथयन्तोऽपि मूका दुर्विकथादिषु।
उपसर्गजये शूराः कातराः कर्मबन्धने ॥२३७९॥
निस्पृहा निजदेहादौ सस्पृहा मुक्तिसाधने।
सर्वत्राप्रतिबद्धाः प्रतिबद्धा जिनशासने ॥२३८०॥
निर्ममत्वाय दुष्कर्मपरीषहजयाय च।
विहरन्ति महीं वह्वीमतन्द्रा मुनिनायकाः ॥२३८१॥

अर्थ—अत्यन्त निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में संसार, शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं, समस्त आगम का चिंतन करते रहते हैं और ज्ञान तथा ध्यानरूपी अमृत का पान

सदा करते रहते हैं। वे मुनिराज अपनी इच्छानुसार नगर, पत्तन, खेट, पर्वत, गाँव, जंगल, वन आदि सुन्दर-असुन्दर समस्त स्थानों में विहार करते रहते हैं, उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में वे अंधे ही बने रहते हैं। यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना के लिए विहार करते हैं, चलते हैं तथापि कुतीर्थों के लिए वे लंगड़े ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिए वे गूँगे बन जाते हैं। यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिए वे शूरवीर हैं तथापि कर्मबंधन करने के लिए वे कायर बन जाते हैं। यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यन्त निस्पृह हैं तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिए वे तीव्र लालसा रखते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र अप्रतिबद्ध हैं, किसी के बँधे हुए वा किसी के आधीन नहीं हैं तथापि वे जिनशासन के सदा आधीन रहते हैं। ऐसे वे प्रमादरहित मुनिराज मोह का-ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिए तथा अशुभ कर्म और परीषहों को जीतने के लिए बहुत सी पृथ्वी पर विहार करते हैं।

यत्नाचार रहित चलने वाले मुनि के विहार शुद्धि नहीं होती—

सिंहसादृश्यवृत्तीनां निष्पापमार्गचारिणाम्।
विहारशुद्धिरेवात्रामीषां नायत्नचारिणाम् ॥२३८२॥

अर्थ—इस प्रकार सिंह के समान अपनी निर्भय वृत्ति रखनेवाले और पापरहित मार्ग में चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है। जो मुनि यत्नाचारपूर्वक नहीं चलते उनके विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

भिक्षाशुद्धि का स्वरूप—

कृताद्यैः सकलैर्दोषैस्त्यक्तः शुद्धो मलातिगः।
भुज्यते भिक्षयाहारो योग्यगेहे जितेन्द्रियैः।२३८३॥
तपोयोगवपुःस्थित्यै षष्ठाष्ठमादिपारणे ।
पक्षमासोपवासादौ वा भिक्षाशुद्धिरेव सा ॥२३८४॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण, योग और शरीर की स्थिति के लिए बेला, तेला के बाद के पारणा के दिन, एक पक्ष के उपवास के बाद के पारणा के दिन अथवा महीना-दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घर में जाकर कृत-कारित-अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित वा अपना समस्त दोषों से रहित अत्यन्त शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको भिक्षाशुद्धि कहते हैं।

वे मुनि नवकोटि से शुद्ध ४६ दोषों को टालकर आहार लेते हैं—

नवकोटिविशुद्धं द्वयैकविंशद्दोषवर्जितम्।
संयोजनाप्रमाणाख्यधूमाङ्गारमलोज्झितम् ॥२३८५॥

अशनं विधिना दत्तं योग्यकाले सुगेहिभिः।
पाणिपात्रे स्थितिं कृत्वा ते भजन्ति शिवाप्तये ॥२३८६॥

अर्थ—वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए सद्गृहस्थों के द्वारा योग्य काल में विधिपूर्वक पाणिपात्र में दिया हुआ मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना की शुद्धता पूर्वक ब्यालीस दोषों से रहित, संयोजना, प्रमाण, धूम, अंगार नाम के दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं।

कैसे आहार को मुनिराज छोड़ देते हैं—

उद्देशकं तथा ज्ञातं कृतमन्नं स्वशंकितम्।
दूरागतं सदोषं ते वर्जयन्ति विषान्नवत् ॥२३८७॥

अर्थ—वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं, दूर से आए हुए आहार को छोड़ देते हैं, जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हो गई हो उसको भी छोड़ देते हैं, उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्न को भी छोड़ देते हैं।

मुनिराज भोजन की चर्या में छोटे-बड़े का भेद नहीं करते—

विज्ञातानुमतातीतं नीचोच्चगृहपंक्तिषु।
मौनेनैव व्रजन्तोऽत्र भिक्षां गृह्णन्ति निस्पृहाः ॥२३८८॥

अर्थ—वे निस्पृह मुनि जाने हुए और अनुमोदना किए हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे-बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं।

रसना इन्द्रियजयी मुनि अयाचक वृत्ति से शुद्ध आहार लेते हैं—

उष्णं वा शीतलं शुष्कं रुक्षं शुद्धं रसान्वितम्।
क्षारं वा लवणातीतं सुस्वादं स्वाददूरगम् ॥२३८९॥
अयाचितं यथालब्धमाहारं पारणादिषु।
स्वादं त्यक्त्वा च भुञ्जन्ति जिह्वाहिकीलनोद्यताः ॥२३९०॥

अर्थ—जिह्वा आदि समस्त इन्द्रियों को कीलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहने वाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना याचना किया हुआ ठंडा, गर्म, सूखा, रूखा, सरस, लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट, स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं।

मुनिराज स्वाद के लिए आहार नहीं लेते हैं। प्राणों की रक्षा के लिए आहार लेते हैं—

अक्षम्रक्षणमात्रान्नं प्राणस्थित्यै भजन्ति ते।
प्राणान् रक्षन्ति धर्मार्थं धर्मं चरन्ति मुक्तये ॥२३९१॥

इत्यादिलाभसंसिद्ध्यै तत्परंपरया विदः।
श्रयन्त्यशनमात्मार्थं न च स्वादादिहेतवे ॥२३९२॥

अर्थ—जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए पहिया ओंगते हैं, उसमें तेल देते हैं, उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिए वे मुनिराज थोड़ा सा आहार लेते हैं। वे मुनिराज धर्म के लिए प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिए धर्म का साधन करते हैं। वे मुनिराज परम्परा से चले आए इस प्रकार के लाभ की सिद्धि के लिए तथा आत्मा शुद्ध करने के लिए आहार लेते हैं, स्वाद के लिए आहार नहीं लेते।

सुन्दर-असुन्दर आहार मिलने पर मुनि सन्तुष्ट और खेद खिन्न नहीं होते—

आहारे शोभने लब्धे सन्तुष्टास्ते भवन्ति न।
अलाभे वाशुभान्नाप्तेदुर्मनस्का न जातुचित् ॥२३९३॥

अर्थ—यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाये तो वे सन्तुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले वा मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो भी वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं।

प्राण जाने पर भी मुनिराज भोजन की याचना नहीं करते—

देहीति दीनवाक्यं ते प्राणान्तेऽपि वदन्ति न।
स्तुवन्त्यन्यं न दानाय सन्मौनव्रतधारिणः ॥२३९४॥

अर्थ—'मुझे दो' इस प्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होने पर भी कभी नहीं करते हैं तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करने वाले वे मुनिराज दान के लिए कभी किसी की स्तुति भी नहीं करते।

मुनि अयोग्य आहार की इच्छा नहीं करते—

अनशनीयमाहारं कन्दबीजफलादिकम्।
अपक्वमग्निना किञ्चिद्वीरा नेच्छन्ति दोषदम् ॥२३९५॥

अर्थ—जो आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे अग्नि में बिना पके हुए और इसीलिए अत्यन्त दोष उत्पन्न करने वाले कंद, बीज, फल आदि को ग्रहण करने की कभी वीर मुनि इच्छा भी नहीं करते है।

मुनि कैसा भोजन ग्रहण नहीं करते—

रात्रौ स्थितं यदन्नादिसुस्वादचलितं तथा।
तद्दिनोत्थं न गृह्णन्ति तत्सर्वं मुनयः क्वचित् ॥२३९६॥

अर्थ—वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रखे हुए अन्न को कभी ग्रहण नहीं करते तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुए अन्न को भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं।

निर्दोष आहार करके भी मुनि प्रतिक्रमण करते हैं—

निर्दोषाशनमप्यत्र भुक्त्वा तद्दोषशंकिताः।
प्रतिक्रमणमात्मज्ञाः कुर्वन्ति व्रतशुद्धये ॥२३९७॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के लिए आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण करके भी प्रतिक्रमण करते हैं।

भिक्षाशुद्धि किस मुनि के होती है?

इत्यादि यत्नजां भिक्षामेषणाशुद्धिपूर्विकाम्।
ये श्रयन्ति सदा तेषां भिक्षाशुद्धिर्न चान्यथा ॥२३९८॥

अर्थ—इस प्रकार जो मुनिराज एषणाशुद्धि पूर्वक, यत्नाचारपूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षाशुद्धि होती है, अन्य किसी के नहीं।

ज्ञानशुद्धि का स्वरूप—

कालक्षेत्रादिशुद्ध्या विनयेनैकाग्रचेतसा।
अङ्गपूर्वादिसूत्राणां पठनं परिवर्तनम् ॥२३९९॥
पाठनं व सतां मुक्त्यै क्रियते यन्मुनीश्वरैः।
ज्ञाननेत्रैर्मदातीतैर्ज्ञानशुद्धिःस्मृताऽत्र सा ॥२४००॥

अर्थ—ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करने वाले और ज्ञान के अभिमान से सर्वथा रहित ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ-साथ विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से अंग-पूर्व वा सूत्रों का जो पठन-पाठन करते हैं वा पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञानशुद्धि कहते हैं।

ज्ञानशुद्धि धारी मुनिराज की प्रवृत्ति—

महातपोभराक्रान्ता दृढचारित्रधारिणः।
शुष्कचर्मास्थिसर्वाङ्गा विश्वाशाख्यातिवर्जिताः ॥२४०१॥
महाष्टाङ्गनिमित्तज्ञाः सर्वाङ्गमाब्धिपारगाः।
द्वादशाङ्गार्थवेत्तारः परार्थार्पितचेतसः ॥२४०२॥
धारणे ग्रहणे शक्ता अङ्गार्थानां मतेर्बलात्।
पादानुसारिणो बीजबुद्धयः कोष्ठबुद्धयः ॥२४०३॥
संभिन्नबुद्धयो दक्षाः सप्तर्द्धिभूषिता विदः।
श्रुतामृतात्तसत्कर्णा महाबुद्धिविशारदाः ॥२४०४॥
मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययमण्डिताः।
ज्ञातविश्वार्थसाराश्च सद्ध्यानलीनमानसाः ॥२४०५॥

त्रिशुद्ध्या निखिलाङ्गानां पठनैः पाठनैः सताम्।
तदर्थचिन्तनैर्लोके वर्तन्ते ज्ञानिनोऽन्वहम् ॥२४०६॥

अर्थ—जो मुनिराज महातपश्चरण के बोझ से दबे हुए हैं, दृढ़ चारित्र को धारण करने वाले हैं, जिनका चमड़ा, हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है, जो अपने मन में विश्वास और प्रसिद्धि आदि को कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्तशास्त्रों के जानकार हैं, समस्त आगमरूपी समुद्र के पारगामी हैं, द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं, अपने मन को सदा दूसरे के उपकार में ही लगाते रहते हैं, जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, पादानुसारीबीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, संभिन्नबुद्धि आदि सातों प्रकार की ऋद्धियों से सुशोभित हैं, जो महाज्ञानी हैं, शास्त्ररूपी अमृत के पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लिया है, जो महा बुद्धिमान् और महा चतुर हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं, जो समस्त पदार्थों के सार को जानते हैं और जो अपने मन को सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं, ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों को चिंतन करते रहते हैं। इस प्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है।

वे मुनिराज जिनवाणीरूपी अमृत का पान करते एवं करवाते हैं—

विदोऽपि सकलाङ्गानां तद्गतं न मनाग्मदम्।
कुर्वन्ति न समीहन्ते ख्यातिं पूजादिकं क्वचित् ॥२४०७॥
जिनवाक्यसुधापानं जन्ममृत्युविषापहम्।
विश्वक्लेशहरं पञ्चेन्द्रियतृष्णाग्निवारिदम् ॥२४०८॥
विज्ञाय जन्मदाहार्त्तिशान्तये शिवशर्मणे।
कुर्वन्ति कारयन्त्यन्यान् विस्तारयन्ति ते भुवि ॥२४०९॥

अर्थ—मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित् भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्धि वा बड़प्पन-पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते। यह जिनवाणीरूपी अमृत का पान करना जन्म-मृत्युरूपी विष को नाश करने वाला है, समस्त क्लेशों को दूर करने वाला है और पंचेन्द्रियों की तृष्णारूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ के समान है। यही समझकर वे मुनिराज जन्म-मरणरूपी दाह को शांत करने के लिए और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए स्वयं जिनवाणीरूपी अमृत का पान करते रहते हैं, दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और इस लोक में उस जिनवाणीरूपी अमृत का विस्तार करते रहते हैं।

ज्ञानशुद्धि के स्वामी कौन मुनि होते हैं—

अत्यभीक्ष्णमहाज्ञानोपयोगवशवर्तिनाम् ।
ज्ञानशुद्धिर्मतासद्भिर्नान्येषां च प्रमादिनाम् ॥२४१०॥

अर्थ—जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञानमय अपने उपयोग के वशीभूत हैं अर्थात् जो निरंतर ज्ञान में ही अपना उपयोग लगाये रहते हैं, उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञानशुद्धि कही जाती है, अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञानशुद्धि कभी नहीं हो सकती।

उज्झन शुद्धि का स्वरूप—

आत्मीये यः शरीरेऽपि संस्कारः क्षालनादिभिः।
वध्वादिविषये स्नेहो मोहारिजनकोऽशुभः ॥२४११॥
सङ्गे ममत्वभावो वा निर्ग्रन्थैः क्रियते न च।
क्वचित्काले मतादक्षैः शुद्धिः साऽत्रोज्झनाभिधा ॥२४१२॥

अर्थ—अपने शरीर में प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है, मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है और अत्यन्त अशुभ है, इसलिए चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्व भाव धारण नहीं करते इसको आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं।

उज्झन शुद्धिधारी मुनिराज शरीर संस्कार नहीं करते—

धावनं मुखदन्तानामुद्वर्तनं च मर्दनम्।
पादप्रक्षालनं नेत्राञ्जनं च कायधूपनम् ॥२४१३॥
मज्जनं मंडनं जातु वमनं च विरेचनं।
इत्याद्यपरसंस्कारं निर्ममास्ते न कुर्वते ॥२४१४॥

अर्थ—मोहरहित वे मुनिराज मुख और दाँतों को न कभी धोते हैं, न कुल्ला करते हैं, न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अंजन लगाते हैं, न शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं, न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, न वमन-विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते।

वे मुनिराज रोग के प्रतिकार के लिए औषध की इच्छा नहीं करते—

कुष्ठज्वरमरुत्पित्ताद्यसाध्यरुक्शतादिषु।
दुस्सहेष्वत्र जातेषु पूर्वासातोदयेन भोः ॥२४१५॥
स्वकर्मपाकवेत्तारःऔषधाद्यै र्न जातुचित्।
तच्छान्तये प्रतीकारमिच्छन्ति पापहानये ॥२४१६॥

अर्थ—अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्म के उदय से अत्यन्त असह्य और असाध्य ऐसे कोढ़, ज्वर, वायु का विकार वा पित्त का विकार आदि सैकड़ों रोग उत्पन्न हो जायें तो वे मुनि अपने पापों को नाश करने के लिए उस दुःख को सहते रहते हैं, उन रोगों को दूर करने के लिए औषधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते तथा न कभी प्रतिकार करने की इच्छा ही करते हैं।

वे मुनिराज रोग के होने पर भी खेदखिन्न नहीं होते—

दुर्व्याधिवेदनाव्याप्तसर्वाङ्गा अपि निस्पृहाः।
भवन्ति दुर्मनस्का न स्वस्थाः प्राग्वन्नचान्यथा ॥२४१७॥

अर्थ—निस्पृह वृत्ति को धारण करने वाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा हो तो भी वे अपने मन में खेदखिन्न नहीं होते वे पहले के ही समान स्वस्थ बने रहते हैं उन रोगों से उनके मन में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता है।

वे मुनिराज सदा रत्नत्रय औषध का ही सेवन करते—

तपोरत्नत्रयं जन्ममृत्युकृत्स्नरुजान्तकम्।
विश्वक्लेशहरं चैकं सेवन्ते ते न चापरम् ॥२४१८॥

अर्थ—वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करने वाले और जन्म-मरणरूपी समस्त रोगों को नाश करने वाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं, रत्नत्रय और तप के सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते।

वे मुनिराज सदा शरीर के स्वरूप का विचार करते हुए उसे आत्मा से भिन्न मानते हैं—

रोगोरगविलं निन्द्यं कृतान्तमुखमध्यगम्।
शुक्रशोणितबीजोत्थं सप्तधातुकुलालयम् ॥२४१९॥
कृमिकोटिशताकीर्णं वीभत्सं च घृणास्पदम्।
विष्ठादिनिचितासारं मलमूत्रादिभाजनम् ॥२४२०॥
पञ्चाक्षतस्करावासं विश्वदुःखनिबन्धनम्।
कृत्स्नाशुच्याकरीभूतं शुचिद्रव्याशुचिप्रदम् ॥२४२१॥
क्षुत्तृषाकामकोपाग्निदीपितं भववर्द्धकम्।
रागादिपूरितं पूतिगन्धदुष्कर्मकारणम् ॥२४२२॥
इत्याद्यन्यमहादोषमूलं कायकलेवरम्।
पश्यन्तश्चिन्तयन्तस्ते भावयन्तो निरन्तरम् ॥२४२३॥
तस्मात्सदा पृथग्भूतं स्वात्मानं सद्गुणार्णवम्।
कथं कुर्वन्ति रागादीन्निर्विण्णाः कायशर्मणि ॥२४२४॥

अर्थ—यह शरीर रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निंद्य है, यमराज के मुख में ही उसका सदा निवास है, यह शुक्र-रुधिररूपी बीज से उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं से भरा हुआ है, करोड़ों अरबों कीड़ों से भरा हुआ है, अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त घृणित है, मल-मूत्र आदि असार पदार्थों से भरा हुआ है, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है, पाँचों इन्द्रियरूपी चोर इसमें निवास करते हैं, समस्त दुःखों का यह कारण है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है, पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करने वाला है, भूख, प्यास, काम, क्रोधरूपी अग्नि से सदा जलता रहता है, जन्म-मरणरूप संसार को बढ़ाने वाला है। रागद्वेष से भरा हुआ है, दुर्गन्ध और अशुभ कर्मों का कारण है तथा और भी अनेक महा दोषों का मूल कारण ऐसे शरीर को देखते हुए वे मुनिराज निरंतर उसी रूप से चिंतन करते हैं तथा अनन्त गुणों का समुद्र ऐसे अपने आत्मा को उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं। इस प्रकार शरीर के सुख से विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं।

भोगों की असारता का चिन्तन करते हुए वे मुनिराज भोगों की इच्छा नहीं करते—

स्वान्याङ्गजनितान् भोगांश्चतुर्गतिनिबन्धनान्।
जगद्दुःखाकरीभूतान् महापापकरान् बुधैः ॥२४२५॥
निन्द्यान् दाहार्तरुग्हेतून् पशुम्लेच्छादिसेवितान्।
निन्द्यकर्मभवान् शत्रूनिवेहन्ते न ते क्वचित् ॥२४२६॥

अर्थ—अपने शरीर से वा अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए ये भोग चारों गति के कारण हैं, संसार के समस्त दुःखों की खानि हैं, महापाप उत्पन्न करने वाले हैं, विद्वान् लोग सदा इनकी निंदा करते रहते हैं, दाह दुःख और अनेक रोगों के ये कारण हैं, पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं और निंद्य कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं।

बन्धुवर्ग में भी स्नेह नहीं करते—

मोहशात्रवसन्ताने बन्धुवर्गेऽतिदुस्त्यजे।
धर्मघ्ने पापबीजे ते स्नेहं जातु न कुर्वते ॥२४२७॥

अर्थ—ये बंधुवर्ग भी मोहरूपी शत्रु की संतान हैं, पाप के कारण हैं, धर्म को नाश करने वाले हैं और अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, ऐसे बंधुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते।

कौन मुनिराज उज्झन शुद्धि के धारी होते हैं—

इत्यादिनिर्मलाचारः स्वतो विश्वान्यवस्तुषु।
त्यक्तरागाश्च ये तेषां स्याच्छुद्धिरुज्झनाह्वया ॥२४२८॥

अर्थ—जो मुनिराज इस प्रकार स्वयं निर्मल आचरणों का पालन करते हैं और अन्य समस्त पदार्थों में कभी राग नहीं करते ऐसे मुनियों के उज्झन नाम की शुद्धि होती है।

वाक्य शुद्धि का स्वरूप—

जिनसूत्राविरुद्धं यदनेकांतमताश्रितम्।
एकान्तदूरगं तथ्यं विश्वजन्तुहितावहम् ॥२४२९॥
मितं च ब्रूयते सारं वचनं धर्मसिद्धये।
उन्मार्गहानये दक्षैः सा वाक्यशुद्धिरुत्तमा ॥२४३०॥

अर्थ—चतुर मुनि कुमार्ग को नाश करने के लिए और धर्म की सिद्धि के लिए सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिनशास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकांत मत के आश्रय हों, एकांत मत से सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करने वाले हों, परिमित हों और सारभूत हों ऐसे वचनों का कहना उत्तम वाक्यशुद्धि कहलाती है।

कैसे वचन मुनिराज नहीं बोलते—

वाक्यं च विनयातीतं धर्महीनमकारणम्।
विरुद्धं ते परैः पृष्टा अपृष्टा वा वदन्ति न ॥२४३१॥

अर्थ—जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं और जिनके कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा बिना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं।

वे मुनिराज दूसरों की निंदा स्तुति में गूँगे समान होते हैं—

पश्यन्तो विविधानर्थान्नेत्रैः शृण्वन्त ऊर्जितान्।
कर्णैश्च ते हि जानन्तश्चित्ते सारेतरान् भुवि ॥२४३२॥
मूकीभूता इवात्यर्थं लोके तिष्ठन्ति साधवः।
कुर्वन्त्यन्यस्य निन्दां न वार्तां स्तुत्यकारणम् ॥२४३३॥

अर्थ—यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं, कानों से बड़े-बड़े अनर्थ सुनते हैं और अपने हृदय में सार-असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोक में गूँगे के समान सदा बने रहते हैं, वे कभी किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की अकारण स्तुति करने वाली बात कहते हैं।

वे मुनिराज विकथा नहीं तो करते हैं एवं न ही सुनते हैं—

स्त्रीकथार्थकथाभक्तराजचौरमृषाकथाः ।
खेटकर्वटदेशाद्रिपुराकरादिजाः कथाः ॥२४३४॥
नटानां सुभटानां च मल्लानामिन्द्रजालिनाम्।
द्यूतकारकुशीलानां दुष्टम्लेच्छादिपापिनाम् ॥२४३५॥
वैरिणां पिशुनानां च मिथ्यादृशां कुलिङ्गिनाम्।
रागिणां द्वेषिणां मोहार्तादीनां विकथा वृथा ॥२४३६॥

इत्याद्या अपरा बह्वीः कथाः पापखनीर्विदः।
कथयन्ति न मौनाढ्याः जातु शृण्वन्ति नाशुभाः॥२४३७॥

अर्थ—मौन धारण करने वाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा वा मिथ्या कथाएँ कभी नहीं कहते हैं। इसी प्रकार खेट, कर्वट, देश, पर्वत, नगर, खानि आदि की कथाएँ भी कभी नहीं कहते हैं तथा वे मुनिराज नट, सुभट, मल्ल, इन्द्रजालिया, जुआ खेलने वाले, कुशील सेवन करने वाले, दुष्ट, म्लेच्छ, पापी, शत्रु, चुगलखोर, मिथ्यादृष्टि, कुलिंगी, रागी-द्वेषी, मोही और दुःखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएँ कभी नहीं कहते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएँ कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं।

विकथा करने वाले की मुनिराज संगति भी नहीं करते हैं—

विकथाचारिणां स्वान्यवृथाजन्मविधायिनाम्।
दुर्धियां क्षणमात्रं न सङ्गमिच्छन्ति धीधनाः ॥२४३८॥

अर्थ—जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों का जन्म व्यर्थ ही खोते हैं, ऐसे मूर्ख लोगों की संगति वे बुद्धिमान् मुनिराज एक क्षणभर भी नहीं चाहते।

मुनिराज कैसे वचन नहीं कहते—

कौत्कुच्यमथ कन्दर्पं मौखर्यं साधुनिन्दितम्।
हास्यादिप्रेरकं जातु दुर्वचो न ब्रुवन्ति ते ॥२४३९॥

अर्थ—वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले वचन कभी नहीं कहते, कामवासना को बढ़ाने वाले वचन कभी नहीं कहते, साधुओं के द्वारा निंदनीय ऐसी बकवाद कभी नहीं करतेऔर हँसी को उत्पन्न करने वाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं।

वे मुनिराज धर्मोपदेश एवं श्रेष्ठ कथा ही कहते हैं—

निर्विकारा विचारज्ञाः शिवश्रीसाधनोद्यताः।
शिवाय धीमतां नित्यं दिशन्ति धर्मदेशनाम् ॥२४४०॥
श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्ना महापुरुषसम्भवाः ।
संवेगजननीः सारास्तत्त्वगर्भाः शिवङ्कराः ॥२४४१॥
रागारिनाशिनीश्चित्तपञ्चेन्द्रियनिरोधिनीः ।
सत्कथाः धर्मसंबद्धाः कथयन्ति सतां विदः ॥२४४२॥

अर्थ—विकार रहित, विचारशील और मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं। जो धर्म संबंधी श्रेष्ठ कथा भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई है, जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है, जो

संवेग को उत्पन्न करने वाली है, सारभूत है, तत्त्वों के स्वरूप को कहने वाली है, मोक्ष देने वाली है, रागद्वेषरूपी शत्रु को नाश करने वाली है तथा मन और पंचेन्द्रियों को रोकने वाली है, ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिए कहते हैं।

कैसे मुनिराज वाक्यशुद्धि धारी होते हैं—

सत्त्वाधिका अनागारभावनारतमानसाः।
स्वात्मध्यानपरास्ते स्युस्तत्त्वचिन्तावलम्बिनः ॥२४४३॥
इत्याद्यन्यगुणग्रामाः ये मौनव्रतधारिणः।
मूका इवात्र तिष्ठन्ति ते वाक्यशुद्धिधारकाः ॥२४४४॥

अर्थ—जो मुनिराज समर्थशाली हैं, अपने मन को सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते हैं, जो अपने आत्मध्यान में सदा तत्पर रहते हैं और तत्त्वों के चिंतन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है। इस प्रकार के और भी अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूँगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती है।

तपशुद्धि का स्वरूप—

द्विषड्भेदं तपः सारं सर्वशक्त्या जिनोदितम्।
दुष्कर्मारातिसन्तानोन्मूलनं शिवकारणम् ॥२४४५॥
अप्रमत्तैर्महायोगव्रतगुप्त्यादिमण्डितैः ।
क्रियते ज्ञानपूर्वं यत्सा तपःशुद्धिरद्भुता ॥२४४६॥

अर्थ—महायोग, व्रत और गुप्ति, समिति आदि से सुशोभित रहने वाले और प्रमाद रहित जो मुनि अपनी शक्ति के अनुसार अशुभ कर्मरूप शत्रुओं की संतान को भी जड़मूल से उखाड़ देने वाले तथा मोक्ष के कारण, भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं उसको उत्तम तप शुद्धि कहते हैं।

वे मुनिराज अनेक उपवास धारण कर तप करते हैं

तपोग्निशुष्ककर्माङ्गाः प्रादुर्भूतास्थिसंचयाः।
सात्त्विका निष्कषायास्ते क्षीणगात्रा धृतेर्बलात् ॥२४४७॥
बहून् षष्ठाष्टमादींश्च पक्षमासादिगोचरान्।
उपवासांश्चरन्त्यत्र निःशक्ता अपि मुक्तये ॥२४४८॥

अर्थ—तपरूपी अग्नि से जिनके कर्म सब सूख गए हैं, जिनके शरीर में हड्डी मात्र रह गई हैं, जो कषाय रहित हैं तथापि जो शक्तिशाली हैं, ऐसे शरीर से अशक्त मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने धैर्य के बल से बेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास, एक महीने का उपवास, दो महीने का उपवास इस प्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं।

वे मुनिराज तपशुद्धि के लिए ऊनोदर एवं वृत्तिपरिसंख्यान तप करते हैं—

पक्षमासोपवासादि - पारणाहनि निस्पृहाः।
ग्रासमात्रादिकाहारं भुञ्जन्ति शिवशर्मणे ॥२४४९॥
कृत्वा मासोपवासादीन् पारणे चत्वरादिभिः।
गृह्णन्त्यवग्रहं धीरा भिक्षालाभाय दुर्घटम् ॥२४५०॥

अर्थ—वे निस्पृह मुनिराज मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए पंद्रह दिन का वा एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास करके पारणा के दिन एक ग्रास वा दो ग्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं इस प्रकार ऊनोदर तप को करते हैं। वे धीर वीर मुनि मासोपवास आदि करके भी पारणा के भिक्षा लेने के लिए ''आज चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं'' अथवा ''पहले घर में आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं'' इस प्रकार पड़गाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं।

वे मुनिराज रस परित्याग एवं विविक्त शय्यासन तप करते हैं—

त्यक्त्वा पञ्चरसान् षड्वा धौतान्नमुष्णवारिणा।
पञ्चाक्षसुखहान्यै ते भजन्ति पारणे मुदा ॥२४५१॥
भीमारण्ये श्मशाने वा मांसाशिक्रूरसंकुले।
स्त्र्यादिदूरे भयातीताः श्रयन्ति शयनासनम् ॥२४५२॥

अर्थ—अथवा वे मुनिराज पाँचों इन्द्रियों के सुख नष्ट करने के लिए पारणा के दिन छहों रसों का त्यागकर अथवा पाँचों रसों का त्यागकर आहार लेते हैं अथवा गर्म जल से धोये हुए अन्न को ही वे ग्रहण करते हैं। वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यन्त दूर तथा हड्डी, मांस वा क्रूर जीवों से भरे हुए श्मशान में वा भयानक वन में अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन वा आसन ग्रहण करते हैं।

शीतकाल में चौराहे पर खड़े होकर ध्यान करते हैं—

हेमन्ते चत्वरे घोरे शीतदग्धद्रुमे निशि।
ध्यानोष्मणाष्टदिग्वस्त्राः शीतबाधां जयन्ति ते ॥२४५३॥

अर्थ—वे मुनिराज, जिसकी ठंड से वृक्ष भी जल जाते हैं, ऐसे जाड़े के दिनों में रात के समय आठों दिशारूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यानरूपी गर्मी से तपते हुए घोर चौराहे पर खड़े होकर शीतबाधा को जीतते हैं।

उष्णकाल में पर्वत के शिखर पर ध्यान करते हैं—

ग्रीष्मे सूर्यांशु-संतप्ते तुङ्गाद्रिस्थशिलातले।
तापक्लेशासहा धीरास्तिष्ठन्ति भानुसन्मुखाः ॥२४५४॥

अर्थ—गर्मी के क्लेश को सहन करने में अत्यन्त धीर वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में सूर्य

की किरणों से तप्तायमान ऐसे ऊँचे पर्वतों की शिला पर सूर्य के सामने खड़े होते हैं।

वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए उपद्रव सहते हैं—

स्त्रवद्विन्दूत्करे वृक्षमूले सर्पादिवेष्टिते ।
प्रावृट्काले स्थिताः शक्त्याश्रयन्त्युपद्रवान् बहून् ॥२४५५॥

अर्थ—वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहाँ पर बहुत देर तक पानी की बूँदें भरती रहती हैं और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे हुए हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहाँ पर अपनी शक्ति के अनुसार अनेक उपद्रवों को सहन करते रहते हैं।

तीनों कालों में योग धारण करते हुए उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करते हैं—

एवं त्रिकालयोगस्था ऋतुजोपद्रवान् परान्।
क्षुत्तृट्शीतोष्णदंशाहि-वृश्चिकादिपरीषहान् ॥२४५६॥
देवतिर्यग्नराचेतनोत्थोपसर्गदुर्जयान् ।
सहन्ते सर्वशक्त्या च मनाक् क्लेशं व्रजन्ति न ॥२४५७॥

अर्थ—इस प्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करने वाले वे मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं, क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण की परीषह सहन करते हैं, साँप, बिच्छुओं के काटने की परीषह सहन करते हैं, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनों से उत्पन्न हुए घोर दुर्जय उपसर्गों को सहन करते हैं। वे मुनिराज अपनी पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं, अपने मन में रंचमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते।

अन्तरंग तपों को कौन मुनि धारण करने में समर्थ होते हैं—

इति बाह्यं तपो घोरमाचरन्तस्तपोधनाः।
प्रायश्चित्तादि सर्वेषां षडन्तस्तपसां क्रमात् ॥२४५८॥
आरोहन्ति परां कोटिं निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः।
द्विधा रत्नत्रयाशक्ताः बाह्यान्तःसङ्गदूरगाः ॥२४५९॥

अर्थ—व्यवहार-निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने में लीन रहने वाले, बाह्य-अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह से सर्वथा दूर तथा जितेन्द्रिय और प्रमाद रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार बाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुए भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अंतरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूप से धारण करते हैं।

वे मुनिराज दुर्जनों के दुष्ट वचनों से क्षुब्ध नहीं होते—

मिथ्यादृग्दुर्जनादीनां दुर्वाक्यादन्तकोपमात् ।
ताडनात्तर्जनाद् घाताद्यान्ति क्षोभं न ते क्वचित् ॥२४६०॥

अर्थ—वे मुनिराज (यमराज के समान) मिथ्यादृष्टि और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से, तर्जना से वा उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं।

इन्द्रियों को वैराग्य जाल से बाँधते हैं—

पञ्चाक्षविषयाकाङ्क्षाविश्वानर्थखनी नृणाम्।
या तां वैराग्यपाशेन ते बध्नन्ति मृगीमिव ॥२४६१॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी जाल से हिरण को बाँध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों की खानि ऐसी मनुष्यों की पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्यरूपी जाल से बहुत शीघ्र बाँध लेते हैं।

तपशुद्धि का अधिकारी कौन होता है—

इत्याद्यन्यमहाघोरोग्रतपश्चरितात्मनाम् ।
जिताक्षाणां तपः शुद्धिः केवलं विद्यतेऽनघा ॥२४६२॥

अर्थ—जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महाघोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इन्द्रियों को जीतते हैं, उन्हीं मुनियों के पापरहित निर्दोष तपःशुद्धि होती है।

ध्यान शुद्धि का स्वरूप—

निर्विकल्पं मनः कृत्वा त्यक्त्वार्त्तरौद्रमञ्जसा।
स्थित्वा गिरिगुहादौ सद्ध्यानमेकाग्रचेतसा ॥२४६३॥
धर्मशुक्लाभिधं दक्षैः सिद्धये यद्विधीयते।
कर्मारण्ये ज्वलज्ज्वालाध्यानशुद्धिरिहास्ति सा ॥२४६४॥

अर्थ—जो चतुर मुनि अपने मन के समस्त संकल्प-विकल्पों को दूर कर तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिए धारण करते हैं, उनके कर्मरूपी वन को जलाने के लिए अग्नि की ज्वाला के समान ध्यानशुद्धि कही जाती है।

बुद्धिमान लोग मनरूपी हाथी को किससे वश करते हैं—

भ्रमति विषयारण्ये दुर्द्धरं स्वमनोगजम्।
ध्यानाङ्कुशेन चाहृत्यानयन्ति स्ववशं बुधाः ॥२४६५॥

अर्थ—यह अपना मनरूपी दुर्द्धर हाथी विषयरूपी वन में घूमता रहता है। इसको ध्यानरूपी अंकुश से पकड़कर बुद्धिमान् लोग ही अपने वश में कर लेते हैं।

योगीजन इन्द्रिय और कषायरूपी सेना को किसके द्वारा जीतते हैं—

चञ्चलान् कुर्वतः क्रीडां पञ्चेन्द्रियजलोद्भवान्।
रत्यब्धौ ध्यानजालेन वध्नन्ति ध्यानिनो द्रुतम् ॥२४६६॥
कषायतस्करानीकं मनोभूपेन्द्रपालितम्।
विश्वसन्तापिनं घ्नन्ति ध्यानखड्गेन योगिनः ॥२४६७॥

अर्थ—पंचेन्द्रियरूपी जलसे उत्पन्न हुई और रतिरूप समुद्र में क्रीड़ा करती हुई चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष ही ध्यानरूपी जाल में शीघ्र बाँध लेते हैं। मनरूपी उत्कृष्ट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुःख देने वाली ऐसी इस कषायरूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यानरूपी तलवार से मारते हैं।

योगीजन ध्यान के द्वारा क्या-क्या करते हैं—

ध्यानेन निखिलान् योगान् मूलोत्तरगुणान् परान्।
शमेन्द्रियदमादींश्च नयन्ति पूर्णतां विदः ॥२४६८॥

अर्थ—चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को, उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तरगुणों को, उपशम परिणामों को और इन्द्रियों के दमन को पूर्णरूप से प्राप्त करते हैं।

योगीजन ध्यान के द्वारा अशुभ कर्मपर्वतों को चूर्ण करते हैं—

सद्ध्यानवज्रघातेन द्रुतं दुष्कर्मपर्वतान्।
सार्द्धं मोहादिवृक्षैः प्रापयन्ति शतचूर्णताम् ॥२४६९॥

अर्थ—वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यानरूपी वज्र की चोट से मोहादिक वृक्षों के साथ-साथ अशुभ कर्मरूपी पर्वतों के सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं।

मुनिराज किसी भी अवस्था में ध्यान नहीं छोड़ते—

गच्छन्ता वा सुखासीना बह्वीः सुखासुखादिकाः।
अवस्था मुनयः प्राप्ताः क्वचिद्ध्यानं त्यजन्ति न ॥२४७०॥

अर्थ—वे मुनि चाहे चल रहे हों, चाहे आराम से बैठे हों वा सुख-दुःख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हों तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं।

शुभध्यान को करने वाले मुनि अशुभ ध्यान के वश नहीं होते—

आर्तरौद्रकुलेश्यानां धर्मशुक्लार्पिताशयाः।
स्वप्नेऽपि न वशं यान्ति शुक्ललेश्या महोदयाः ॥२४७१॥

अर्थ—शुक्ललेश्या को धारण करने वाले और अपने मन में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को चिंतन करने वाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वश में नहीं होते हैं।

परीषहादिकों के आने पर भी ध्यान से च्युत नहीं होते—

परीषहमहासेन्यैरुपसर्गव्रजैः क्वचित्।
चलन्ति न मनाग्ध्यानादद्रीन्द्रा इव निश्चलाः ॥२४७२॥

अर्थ—मेरुपर्वत के समान निश्चल रहने वाले वे मुनिराज परीषहों की महासेना तथा उपसर्गों के समूह आ जाने पर भी अपने ध्यान से रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं।

ध्यानरूपी रथ में कौन से घोड़े जोतते हैं—

रागद्वेषहयौ दुष्टौ नयन्तावुत्पथं बलात्।
सद्ध्यानरथमात्मध्यानरज्वा स्थापयन्ति ते ॥२४७३॥

अर्थ—ये रागद्वेषरूपी घोड़े बड़े ही दुष्ट हैं, ये मनुष्यों को जबरदस्ती कुमार्ग में ले जाते हैं, ऐसे इन घोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ में जोत देते हैं।

ध्यानरूप परमानन्द को पीने से क्षुधा-तृषा को नहीं जानते—

पिबन्तः परमात्मोत्थं ध्यानानन्दामृतं सदा।
मुख्यवृत्या न जानन्ति क्षुत्तृषादिपरीषहान् ॥२४७४॥

अर्थ—वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यानरूपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं, इसलिए वे क्षुधा-तृषा आदि की परीषहों को मुख्यवृत्ति से कभी नहीं जानते।

श्रेष्ठ ध्यानरूपी नगर एवं उसके स्वामी का वर्णन—

जिनशासनभूमिस्थं चारित्रशीलवेष्ठितम्।
विवेकगोपुराकीर्णं जिनाज्ञाखातिकाऽऽवृतम् ॥२४७५॥
गुप्तिवज्रकपाटं सत्तपः सुभटपूरितम्।
क्षमादिमन्त्रिवर्गाढ्यं सद्ज्ञानतलरक्षकम् ॥२४७६॥
संयमारामसीमान्तं ह्यगम्यं भङ्गवर्जितम्।
कषायमदनारातिव्रजैः पञ्चाक्षतस्करैः ॥२४७७॥
साधुलोक-भृतं रम्यं सद्ध्याननगरं परम्।
अधिष्ठितामहाशीलसन्नाहाखिलवर्मिताः ॥२४७८॥
समतुङ्गगजारूढा धैर्यचापकराङ्किताः।
रत्नत्रयशरोपेता मुनीन्द्रसुभटोत्तमाः ॥२४७९॥

अर्थ—देखो! यह श्रेष्ठ ध्यान एक उत्कृष्ट नगर है, यह नगर जिनशासन की भूमि पर बसा हुआ है, चारित्ररूपी परकोट से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञारूपी खाई से वेष्ठित है, इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड़ हैं, श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी योद्धाओं से यह भर रहा है, उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है, सम्यग्ज्ञानरूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं, इसकी सीमा के अंत में संयमरूपी बगीचे लग रहे हैं, कषाय और कामरूपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रियरूपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते, न इस नगर का भंग कभी हो सकता है, यह ध्यानरूपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है, इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते हैं जो महाशीलरूपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं, जो समतारूपी ऊँचे हाथी पर चढ़े रहते हैं, जिनके हाथ में धैर्यरूपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो

रत्नत्रयरूपी बाणों को धारण करते रहते हैं, ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठध्यानरूपी नगर के राजा होते हैं।

वे ध्यानरूपी नगरी के स्वामी मोहरूपी शत्रु को जीतकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करते हैं—

निःशङ्क गुणमाकृष्य दृगादिशरवर्षणैः ।
मोक्षराज्याय निघ्नन्ति ससैन्यं मोहविद्विषम् ॥२४८०॥
ततो हतमहामोहा निर्द्धूतकर्मशत्रवाः ।
व्रजन्ति मुक्तिसाम्राज्यं शाश्वतं ते सुरार्चिताः ॥२४८१॥

अर्थ—वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकितरूपी डोरी को खींचकर रत्नत्रयरूपी बाणों की वर्षा करते हैं और मोक्षरूपी राज्य को प्राप्त करने के लिए समस्त सेना के साथ मोहरूपी शत्रु को मार डालते हैं। तदनंतर मोहरूपी महाशत्रु के मर जाने पर उन मुनियों के कर्मरूपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य वे मुनिराज सदाकाल रहने वाले मोक्षरूपी साम्राज्य को प्राप्त कर लेते हैं।

मुनिराज को श्रमण आदि अनेक सार्थक नामों का स्वरूप—

श्रमयन्ति तपोभिर्ये स्वात्मानं श्रमणा हि ते।
शमयन्ति कषायान् वा खानि ये तेऽत्रसंयताः ॥२४८२॥
अर्पयन्ति स्वकर्माणि गमयन्ति किलर्षयः।
वार्द्धयन्ति च सप्तर्द्धिं प्राप्नुवन्ति महर्षयः॥२४८३॥
मन्यन्ते स्वपरार्थानां सिद्धिं ये मुनयोऽत्र ते ।
मत्याद्यैः पञ्चसद्ज्ञानैर्युता वा मुनयोद्धुताः ॥२४८४॥
साधयन्ति दृगादीनि त्रीणि ये तेऽत्र साधवः।
येषां न विद्यतेऽगारमनागारास्त एव हि ॥२४८५॥
येषां वीतो विनष्टो हि रागो दोषाखिलैः समम्।
वीतरागास्ते एवात्र त्रिजगन्नाथपूजिताः ॥२४८६॥

अर्थ—वे मुनिराज तपश्चरण करके अपने आत्मा को श्रम वा परिश्रम पहुँचाते हैं इसलिए वे श्रमण कहलाते हैं। वे कषाय तथा इन्द्रियों को शांत करते हैं इसलिए संयत कहलाते हैं। वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं, भगा देते हैं वा नष्ट कर देते हैं, इसलिए ऋषि कहे जाते हैं। वे सप्त ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं इसलिए महर्षि कहे जाते हैं। वे मुनिराज अपने आत्मा का अथवा अन्य पदार्थों का मनन करते हैं इसलिए मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों से वे सुशोभित रहते हैं इसलिए भी वे मुनि कहलाते हैं। वे मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध

करते हैं इसलिए साधु कहे जाते हैं। उनके रहने का कोई नियत स्थान नहीं रहता इसलिए वे अनगार कहलाते हैं। उनके रागद्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिए वे वीतराग कहलाते हैं और तीनों लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं।

वीतरागी के ध्यान की सिद्धि एवं रागी के ध्यान की सिद्धि का अभाव—

इति सार्थकनामाप्तवीतरागतपस्विनाम् ।
ध्यानिनां परमाध्यानशुद्धिर्न रागियोगिनाम् ॥२४८७॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करने वाले वीतराग-ध्यानी-तपस्वियों के परम ध्यान की शुद्धि होती है, रागी मुनियों के ध्यान की सिद्धि कभी नहीं हो सकती।

(छन्द-मालिनी)

दसों शुद्धियों की उपसंहारात्मक महिमा—

इति जिनमुखजाता येऽत्र शुद्धीर्दशैव ह्यशुभसकलहन्त्रीः स्वर्गमोक्षादिकत्रीः।
परमचरणयत्नैः पालयन्त्यात्मशुद्ध्यै रहितविधिमलाङ्गास्तेऽचिरात्स्युर्महान्तः ॥२४८८॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रकट हुई ये दस शुद्धियाँ समस्त अशुभों को नाश करने वाली हैं और स्वर्ग-मोक्ष की देने वाली हैं। जो महापुरुष अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिए प्रयत्नपूर्वक धारण किए हुए परम चारित्र के द्वारा इन दसों शुद्धियों को पालन करते हैं, वे बहुत ही शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

मुनियों की श्रेष्ठ भावनाओं की महिमा—

एता मुक्तिवधूसखीश्च परमानागारसद्भावना
ये शृण्वन्ति च भावयन्ति निपुणाः शक्त्या चरन्त्युद्यताः।
ते तद्धर्मवशाज्जगत्त्रयवरं सर्वार्थसिद्ध्यादिजं
भुक्त्वा सौख्यमनारतं सुतपसा मुक्तिं प्रयान्ति क्रमात् ॥२४८९॥

अर्थ—ये मुनियों की श्रेष्ठ भावनाएँ सर्वोत्कृष्ट हैं और मोक्षरूपी स्त्री की सखी हैं। जो चतुर मुनि इनको सुनते हैं, इनका चिंतन करते हैं और उद्योगी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते हैं, वे उस धर्म के निमित्त से तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि आदि के सुखों को निरंतर भोगते रहते हैं और फिर अंत में श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं।

अन्त में सम्पूर्ण भावनाएँ एवं आत्मशुद्धि प्राप्ति की याचना—

ये सर्वे जिननायकाश्च परया शुद्ध्या बभूवुः पुराः
सिद्धा अन्तविवर्जिता निरुपमाः प्राप्ताः शिवस्त्रीं पराम्।
येऽनागारसुभावनारतमहायोगास्त्रिधा साधवः
ते स्तुत्या मम भावनाश्च सकलाः शुद्धीः प्रदद्युर्निजाः ॥२४९०॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते अनगारभावना वर्णनो नामाष्टमोऽधिकारः।

अर्थ—पहले समय में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं, वे सब इन परम शुद्धियों से ही हुए हैं तथा उपमारहित अनंत सिद्ध हुए हैं और उन्होंने जो सर्वोत्कृष्ट मोक्षस्त्री प्राप्त की है, वह भी सब इन परम शुद्धियों का ही फल समझना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधु भी जो महायोगीश्वर कहलाते हैं, वे भी मुनियों की इन भावनाओं में लीन होने से ही महायोगीश्वर कहलाए हैं, इसलिए मैं इन अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की स्तुति करता हूँ, ये पाँचों परमेष्ठी अपनी सब भावनाएँ मुझे प्रदान करें तथा अपनी समस्त आत्मशुद्धि प्रदान करें।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में मुनियों की भावनाओं को निरूपण करने वाला यह आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

नवमोऽधिकारः

मंगलाचरण—

सिद्धान्तसमयादीनां प्रणेतॄन्परमेष्ठिनः।
त्रिजगन्नाथपूज्यांघ्रीन् वन्दे तद्गुणसिद्धये ॥२४९१॥

अर्थ—जो पाँचों परमेष्ठी सिद्धान्त और समय आदि को निरूपण करने वाले हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे पाँचों परमेष्ठियों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

समयसार अध्याय के कथन की प्रतिज्ञा—

अथाखिलागमस्यात्रदर्शनज्ञानयोः परः।
चारित्रतपसोः सारभूतः श्रीजिनभाषितः ॥२४९२॥
महान् यो ग्रन्थसारः समयसाराभिधः सताम्।
सर्वार्थसिद्धिदो वक्ष्ये समासेन तमूर्जितम् ॥२४९३॥

अर्थ—यह समयसार नाम का महा ग्रन्थ (अध्याय) सब ग्रन्थों का सारभूत है, समस्त आगम का सार है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सार है, चारित्र और तपश्चरण का सार है, सबका सारभूत है, भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, सर्वोत्कृष्ट है और सज्जनों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाला है इसलिए अब मैं उसको संक्षेप से कहता हूँ।

कौन मुनि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है—

द्रव्यशुद्धिं परां क्षेत्रकालशुद्धी च निर्मले।
भावशुद्धिं समाश्रित्य दृढं संहननं परम् ॥२४९४॥
चारित्रे यतते नित्यं दर्शनज्ञानपूर्वके।
यस्तपस्वी विरागी स निर्वाणं लभते चिरात् ॥२४९५॥

अर्थ—जो वीतराग तपस्वी निर्मल द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का आश्रय लेकर तथा उत्कृष्ट दृढ़ संहननों का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र के धारण करने में सदा प्रयत्न करता रहता है, वह मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

चारित्र के बिना कोई शुद्ध नहीं हो सकता—

धीरो वैराग्यसम्पन्नः शिक्षित्वा स्तोकमागमम्।
चारित्राचरणात्सम्यग्दृष्टिः शुद्ध्यति नापरः ॥२४९६॥

वैराग्यवर्जितो ज्ञानी पठित्वा सकलागमम्।
चारित्रविकलो जातु न शुद्ध्यति विधेर्वशात् ॥२४९७॥

अर्थ—जो धीर वीर और वैराग्य को धारण करने वाला सम्यग्दृष्टि थोड़ा सा आगम भी पढ़कर चारित्र का पालन करता है वह पुरुष उस चारित्र को पालन करने से ही शुद्ध होता है, बिना चारित्र के कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता। जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य से रहित है, वह समस्त आगम को पढ़कर भी यदि चारित्र धारण न करे तो वह कर्म के बंधन से कभी शुद्ध नहीं हो सकता।

मुनि धर्म के पालने योग्य क्रियाओं की प्रेरणा—

भिक्षां चर वसारण्ये स्तोकं स्वादातिगं जिम।
मा विधेहि वृथा सारं बहुजल्पनमात्मवान् ॥२४९८॥
सहस्व सकलं दुःखं जयनिद्रां च भावय।
मैत्रीं च सुष्ठु वैराग्यं कुरु कृत्यं वृषाप्तये ॥२४९९॥
एकाकी ध्यानसंलीनो निष्कषायोऽपरिग्रहः।
निष्प्रमादो निरालम्बो जिताक्षो भव सन्मुने ॥२५००॥

अर्थ—अतएव हे मुने! तू भिक्षावृत्ति धारण कर, वन में निवास कर, स्वादरहित थोड़ा भोजन कर तथा व्यर्थ और असारभूत बहुत सी बकवाद मत कर। हे आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तू सब दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना को चिंतन कर, उत्कृष्ट वैराग्य धारण कर, जो कुछ कर वह धर्म की प्राप्ति के लिए कर, एकाकी होकर ध्यान में लीन हो, कषायरहित हो, परिग्रह रहित हो, प्रमाद रहित हो, आलंबन वा किसी के आश्रय से रहित हो और जितेन्द्रिय बन।

चित्त की एकाग्रता धारण करने की प्रेरणा—

निस्सङ्गस्तत्त्वविल्लोकव्यवहारातिगो यते ।
भवैकाग्रस्थचित्तस्त्वं वृथा सत्कल्पनैश्च किम् ॥२५०१॥

अर्थ—हे मुने! तू समस्त परिग्रहों से रहित हो, तत्त्वों का जानकार बन, लोकव्यवहार से दूर रह और चित्त की एकाग्रता धारण कर क्योंकि व्यर्थ की अनेक कल्पनाएँ करने से क्या लाभ है? अर्थात् कुछ भी नहीं।

चारित्रसहित अल्पज्ञान सिद्धि का कारण एवं चारित्ररहित बहुज्ञान भी मुक्ति प्रदाता नहीं—

यो योगी दृढचारित्रः पठित्वाल्पजिनागमम्।
दशपूर्वधरं सोऽन्यं जयेन्मुक्त्यादिसाधनात् ॥२५०२॥
चारित्ररहितो योऽत्र श्रुतेन बहुनाऽपि किम्।
साध्यं तस्य यतो नूनं मज्जनं भववारिधौ ॥२५०३॥

अर्थ—जो योगी दृढ़ चारित्र को धारण करता है वह थोड़े से आगम को भी पढ़कर, जानकर

ऐसे अन्य मुनि को स्वर्ग–मोक्ष को सिद्ध करने के कारण दस पूर्व के जानकार को भी जीत लेता है। जो पुरुष चारित्र रहित है वह यदि बहुत से श्रुतज्ञान को पढ़ ले तो भी उससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि बिना चारित्र के वह संसाररूपी समुद्र में ही डूबता है।

मुनिराज कैसे संसार समुद्र से पार होते हैं—

ज्ञाननिर्जीविकेनात्र ध्यानवातेन धीधनाः।
चारित्रपोतमारूढास्तरन्त्याशुभवार्णवम् ॥२५०४॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जाते हैं वे ज्ञानरूपी पतवार से और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं।

ज्ञान, ध्यान, संयम के कार्य का निर्देश—

ज्ञानं प्रकाशकं विश्वतत्त्वातत्त्वादिकर्मणाम्।
दुष्कर्मनाशकं ध्यानं संयमः संवरप्रदः ॥२५०५॥

अर्थ—ज्ञान समस्त तत्त्वों को, अतत्त्वों को और कर्मों को प्रकाशित करता है तथा ध्यान अशुभ कर्मों का नाश करता है और संयम आते हुए कर्मों को रोकता है।

ज्ञान, ध्यान, संयम की एकता होने पर नियम से मोक्ष होता है—

संयोगे सत्यमीषां च त्रयाणां स्यान्महामुनेः।
जिनेन्द्रशासने मोक्षो नान्यथा भवकोटिभिः ॥२५०६॥

अर्थ—यदि किसी महामुनि के ज्ञान, ध्यान और संयम इन तीनों का एक साथ संयोग हो जाये तो भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन में उसी मुनि को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, बिना इन तीनों के मिले करोड़ों भवों में भी कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

चारित्रादिक के बिना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है—

चारित्रवर्जितं ज्ञानं लिङ्गग्रहणमूर्जितम्।
द्विधा संयमहीनं च तपोदर्शनदूरगम् ॥२५०७॥
योऽज्ञः करोति कुर्यात् स केवलं हि निरर्थकम्।
यतो न निर्जरा मोक्षो नास्य कर्मास्त्रवात्क्वचित् ॥२५०८॥

अर्थ—जो अज्ञानी चारित्रहीन ज्ञान को धारण करता है और दोनों प्रकार के संयम से रहित तथा तप और सम्यग्दर्शन से रहित उत्कृष्ट जिनलिंग धारण करता है वह निरर्थक ही जिनलिंग धारण करता है क्योंकि बिना चारित्र के निरंतर कर्मों का आस्त्रव होता रहता है, इसलिए उनके न तो कर्मों की निर्जरा हो सकती है और न मोक्ष हो सकता है।

उत्कृष्ट ध्यान करने की प्रेरणा—

सल्लेश्याध्यानचारित्रविशेषैस्तपसा सताम्।
सद्गतिः स्याच्च तेभ्योऽपि ध्यानं कार्यं बुधैः परम् ॥२५०९॥

अर्थ—उत्तम शुभ लेश्या, ध्यान और चारित्र की विशेषता से तथा तपश्चरण से सज्जनों को श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा उनमें भी बुद्धिमानों को उत्कृष्ट ध्यान ही करना चाहिए।

सम्यग्ज्ञान एवं व्रतादिक के लिए सम्यग्दर्शन मूल कारण—

सम्यक्त्वाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्सर्वार्थदर्शिनी।
उपलब्धिः पदार्थानां सर्वेषां स्वपरात्मनाम् ॥२५१०॥
उपलब्धपदार्थोगी श्रेयोऽश्रेयश्च वेत्ति वै।
श्रेयोऽश्रेयोर्थवेत्तोद्भूतदुःशीलः सुशीलवान् ॥२५११॥
शीलेनाभ्युदयः सर्वस्ततो मोक्षं लभेत सः।
अतो ज्ञानव्रतादीनां सम्यक्त्वं मूलमुच्यते ॥२५१२॥

अर्थ—देखो सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली स्वकीय और परकीय समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है। जिसको समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, वह मनुष्य अपने कल्याण-अकल्याण को जान लेता है तथा कल्याण-अकल्याण को जान लेने से शीलरहित मनुष्य भी शीलवान् बन जाता है। शील पालन करने से सब तरह के अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं तथा अभ्युदय प्राप्त होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। अतएव कहना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान और व्रतादिकों के लिए सम्यग्दर्शन ही मूल कारण है।

ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्चारित्र प्रधान है—

कृत्स्नं चापि श्रुतज्ञानं पठितं सुष्ठु संश्रितम्।
गुणितं भ्रष्टचारित्रं ज्ञानवन्तं यतिं क्वचित् ॥२५१३॥
सद्गतिं नेतुमत्यर्थं न समर्थं भवेद्ध्रुवान्।
अतो ज्ञानात्प्रधानत्वं चारित्रं विद्धि मोक्षदम् ॥२५१४॥

अर्थ—जिस किसी यति ने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़ लिया है तथा अच्छी तरह उसको धारण कर लिया है, मनन कर लिया है तो भी चारित्र से भ्रष्ट उस ज्ञानी पुरुष को श्रेष्ठ गति में पहुँचाने के लिए आप कभी समर्थ नहीं हो सकते। अतएव हे मुने! ज्ञान की अपेक्षा तू सम्यक्चारित्र को ही प्रधान समझ क्योंकि यह निश्चित है कि मोक्ष सम्यक्चारित्र से ही प्राप्त होती है।

चारित्र नहीं पालन करने वाले का श्रुतज्ञान निष्फल है—

यदि प्रदीपहस्तो यः पतेत्कूपे प्रमादवान्।
तस्य दीपफलं किं स्यान्न किञ्चिदपि भूतले ॥२५१५॥

शिक्षित्वायोऽखिलं ज्ञानं यदि चारित्रमञ्जसा।

पालयेन्नात्र किं तस्य श्रुतज्ञानफलं भुवि ॥२५१६॥

अर्थ—जो कोई प्रमादी मनुष्य हाथ में दीपक लेकर भी कुएँ में पड़ जाये तो फिर उसने उस दीपक का फल ही क्या पाया अर्थात् इस लोक में उसे दीपक का फल कुछ नहीं मिला। इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त ज्ञान को पढ़कर भी यदि चारित्र को पालन नहीं करता है तो समझना चाहिए कि उसे इस संसार में श्रुतज्ञान का फल कुछ नहीं मिला।

उद्गमादि दोषों से रहित उपकरणादि ग्रहण करने वाले के ही शुद्ध चारित्र होता है—

पिण्डं वसतिकां ज्ञानसंयमोपधिमात्मवान्।

उद्गमोत्पादनादिभ्यो दोषेभ्यः प्रत्यहं सुधीः ॥२५१७॥

शोधयेद् योऽतिनिर्दोषचारित्रशुद्धये मुनिः ।

विशुद्धं तस्य चारित्रं जायते शिवकारणम् ॥२५१८॥

अर्थ—जो आत्मा के स्वरूप को जानने वाला बुद्धिमान् अपने निर्दोष चारित्र को सिद्ध करने के लिए आहार, वसतिका, ज्ञानोपकरण और संयमोपकरणों को उद्गम-उत्पादन आदि दोषों से प्रतिदिन शुद्ध करता है, आहार भी निर्दोष ग्रहण करता है तथा उपकरणों के ग्रहण में भी कोई दोष नहीं लगाता उसी मुनि के मोक्ष का कारण ऐसा अत्यन्त शुद्ध चारित्र होता है।

जिनलिंग के चिह्न निर्देश—

पूर्णमचेलकत्वं च लोचो वैराग्यवर्द्धकः।

सर्वसंस्कारहीना परा व्युत्सृष्टशरीरता ॥२५१९॥

प्रतिलेखनमित्येष लिङ्गकल्पश्चतुर्विधः ।

जिनेन्द्रलिङ्गिनां व्यक्तो लोके संवेगसूचकः ॥२५२०॥

अर्थ—पूर्णरूप से नग्नता धारण करना, वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलोंच करना, सब तरह के संस्कारों से रहित शरीर से भी निर्ममता धारण करना और प्रतिलेखन के लिए पिच्छिका धारण करना ये चार लिंगकल्प कहे जाते हैं। ये चारों ही भगवान् जिनेन्द्रदेव के लिंग को प्रकट करते हैं और लोक में वैराग्य के चिह्न हैं।

मयूर पिच्छिका के ५ गुणों का निर्देश—

रजःप्रस्वेदयोः सुष्ठ्वग्रहणं मृदुता परा।

सौकुमार्यं लघुत्वं च यत्र पञ्चगुणा इमे ॥२५२१॥

सन्ति मयूरपिच्छेऽत्र प्रतिलेखनमूर्जितम्।

तं प्रशंसन्ति तीर्थेशा दयायै योगिनां परम्॥२५२२॥

अर्थ—जिस पर न तो धूल लग सके, न पसीना लग सके, जो अत्यन्त कोमल हो, सुकुमार

हो और छोटी हो, ये पाँच गुण जिसमें हों वही प्रतिलेखन उत्तम गिना जाता है। ये पाँचों गुण मयूर पिच्छिका में हैं इसलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव जीवों की दया पालन करने के लिए मुनियों को मयूर पिच्छिका की ही प्रशंसा करते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनि कैसे प्रतिलेखन को ग्रहण करें—

प्रक्षिप्तं चक्षुषोर्यच्च मनाक्पीडां करोति न।
निर्ग्रन्थैर्निर्भयं रम्यं तद्ग्राह्यं प्रतिलेखनम् ॥२५२३॥

अर्थ—जिसको आँख में डाल देने पर भी रंचमात्र पीड़ा न हो वही निर्भय और मनोहर प्रतिलेखन निर्ग्रन्थ मुनियों को ग्रहण करना चाहिए। (जिसके रखने में कोई भय न हो मूठ में सोना चाँदी न लगा हो उसको निर्भय कहते हैं।)।

प्रतिलेखन [पिच्छिका] के अभाव में हिंसा से निवृत्ति नहीं हो सकती—

उत्थाय शयनाद्रात्रौ विनाऽत्र प्रतिलेखनात्।
कृत्वा प्रस्त्रवणादींश्च पुनः स्वपन् व्रजन्भुवि ॥२५२४॥
उद्वर्तनपरावर्तनानि कुर्वन्नगोचरे।
नेत्राणां वा यतिः सुप्तो जीवघातं कथं त्यजेत् ॥२५२५॥

अर्थ—यदि मुनि के पास प्रतिलेखन वा पिच्छिका न हो तो जब कभी रात्रि में वह अपनी शय्या से उठेगा, मूत्र की बाधा दूर करने जायेगा, फिर आकर सोयेगा, चलेगा, किसी पुस्तक, कमंडलु आदि को उठाएगा, रखेगा, उठेगा, करवट बदलेगा अथवा ये सब क्रियाएँ न भी करे तो भी नेत्र से न दिखने वाले स्थान में सोएगा, इन सब क्रियाओं में वह यति बिना पिच्छिका के जीवों के घात को कैसे बचा सकेगा अर्थात् मुनि के पास पिच्छिका हर समय होनी चाहिए, बिना पिच्छिका के जीवों की हिंसा का त्याग हो ही नहीं सकता।

मुनियों का खास चिह्न पिच्छिका है—

मत्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम्।
स्वयं पतितपिच्छानां लिङ्गचिह्नं च योगिभिः ॥२५२६॥

अर्थ—अतएव मुनियों को कार्तिक महीने में स्वयं गिरे हुए पंखों की पिच्छिका बनानी चाहिए क्योंकि यह मुनियों का खास चिह्न है।

कायोत्सर्गादि करते समय पिच्छिका से प्रमार्जन करना चाहिए—

आसने शयने स्थाने व्युत्सर्गे गमनादिके।
ग्रहणे स्थापने ज्ञानशौचोपकरणात्मनाम् ॥२५२७॥
उद्वर्तनपरावर्त्तनाङ्गकण्डूयनादिषु ।
कृपया यत्नतः कार्यं दृष्टिपूर्वं प्रमार्जनम् ॥२५२८॥

अर्थ—मुनियों को बैठते समय, सोते समय, खड़े होते समय, कायोत्सर्ग करते समय, गमनागमन करते समय, ज्ञानोपकरण वा शौचोपकरण के उठाते-रखते समय, उठते समय, करवट बदलते समय और खुजलाते समय कृपापूर्वक-प्रयत्नपूर्वक, आँख से देखकर पिच्छिका से प्रमार्जन करना चाहिए।

अशुद्ध आहार को ग्रहण करने वाला मुनि मूल स्थान को प्राप्त होता है—

यो विशोध्य मुनिर्भुंक्ते पिण्डोपध्याश्रयादिकान्।
मूलस्थानं स एवाप्तो यतित्वगुणदूरगः ॥२५२९॥

अर्थ— जो मुनि आहर के आश्रित रहने वाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किए आहार ग्रहण कर लेता है, वह मुनि मुनिपने के गुणों से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है (उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिए)।

अशुद्ध आहार को ग्रहण करने वाले अन्य संयमादिक क्रिया व्यर्थ है—

पिण्डोपध्यादिशुद्धीर्योऽकृत्वाऽतिमूढमानसः।
कायक्लेशं तपः कुर्याच्चिरप्रव्रजितोऽपि सन् ॥२५३०॥
तस्य संयमहीनं तत्तपो व्यर्थं यमादि च।
न चारित्रं क्रियाश्रेष्ठा न स्यात्पापास्रवाद् वृथा ॥२५३१॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का दीक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामग्री को बिना शुद्ध किए कायक्लेश तपश्चरण को करता है, उसका वह तपश्चरण संयम रहित कहलाता है और इसीलिए वह व्यर्थ है। इसी प्रकार उस मुनि के किए हुए यम, नियम, चारित्र भी सब व्यर्थ समझने चाहिए। उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती क्योंकि संयमहीन मुनि के सदा पापकर्मों का आस्रव होता रहता है और इसीलिए उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती है।

मूलगुण रहित उत्तरगुण फल प्रदाता नहीं—

छित्वा मूलगुणानाद्यान् ख्यातिपूजादिहेतुना।
वृक्षमूलादियोगान् यो बाह्यान् गृह्णाति दुर्द्धरान् ॥२५३२॥
तस्योत्तरगुणाः सर्वे मूलहीना द्रुमा इव।
समीहितफलं किं ते करिष्यन्ति जगत्त्रये ॥२५३३॥

अर्थ—जो मुनि अपनी कीर्ति के लिए अथवा अपना बड़प्पन वा पूज्यपना दिखलाने के लिए महाव्रतरूप मूलगुणों का तो भंग कर देता है और वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे योग धारण करना आदि अत्यन्त कठिन बाह्य तपश्चरणों को धारण करता है, उसके मूलगुणरहित उत्तरगुण ऐसे ही समझने चाहिए जैसे बिना जड़ के वृक्ष होता है। जिस प्रकार बिना जड़ की वृक्ष न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है और न फल सकता है उसी प्रकार मूलगुण रहित उत्तरगुण तीनों लोकों में कभी इच्छानुसार फल नहीं दे सकते।

अप्रासुक आहार ग्रहण करने वाला मुनि मोक्ष का इच्छुक नहीं वह अधम है—

हत्वा प्राणान् बहून् कुर्यादात्मनो यो महाबलम्।
अप्रासुकं सुखाकाङ्क्षी मोक्षाकाङ्क्षी न स क्वचित् ॥२५३४॥
एकद्वित्रिमृगादींश्च सिंहव्याघ्रादिकोऽत्र यः।
निहत्य खादयेत्पापी नीचः स कथ्यते यदि ॥२५३५॥
यो मुनिः प्रत्यहं हत्वा बहूंश्च स्थावरत्रसान्।
भक्षयेत्स कथं पापी नीचो वा नाधमो भवेत् ॥२५३६॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य अनेक प्राणियों को मारकर अपने को महाबली प्रकट करता है, उसी प्रकार अप्रासुक पदार्थों को ग्रहण करने वाला मुनि सुख को चाहने वाला कहा जाता है, वह मोक्ष को चाहने वाला कभी नहीं कहा जा सकता। देखो सिंह, बाघ आदि जीव एक, दो, तीन, चार आदि हिरण वा अन्य पशुओं को मारकर खा जाता है इसलिए वह पापी और नीच कहलाते हैं। इसी प्रकार जो मुनि बिना शुद्ध किया हुआ आहार ग्रहण करता है अर्थात् अनेक त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा कर आहार ग्रहण करता है, वह क्यों नहीं पापी, नीच और अधम कहलाएगा अर्थात् अवश्य कहलाएगा।

आरम्भ से होने वाले दोष—

आरम्भाज्जीवराशीनां वधो वधादघं महत्।
अघाद्बंधोभवेत्स्वस्य दुर्गतौ तीव्रदुःखदः ॥२५३७॥

अर्थ—और देखो आरंभ करने से जीवराशियों की हिंसा होती है, हिंसा होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से अपने ही आत्मा को नरकादिक दुर्गतियों में तीव्र दुःख देने वाला कर्मबंध होता है।

हिंसा त्याग की प्रेरणा—

तस्मादात्मा न हन्तव्यः स्वयं स्वेन वधादिना।
तेन प्राणिवधो नित्यं मोक्तव्यो यत्नतो बुधैः ॥२५३८॥

अर्थ—इसलिए बुद्धिमानों को जीवों की हिंसा करके अपने आत्मा की हिंसा नहीं करनी चाहिए और इसके लिए प्रयत्नपूर्वक सदा के लिए प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

अधःकर्म दोषयुक्त आहार करने वाले मुनि के तपश्चरण निरर्थक हैं—

ये स्थानमौनवीरासनाद्या हि दुष्कराः कृताः।
आतापनादियोगाश्च सद्ध्यानाध्ययनादयः ॥२५३९॥
षष्ठाष्टमादिमासान्ता उपवासा अघास्रवात्।
सर्वे निरर्थका नूनमधःकर्मान्नसेविनाम् ॥२५४०॥

अर्थ—जो मुनि अधःकर्म नाम के दोष से दूषित आहार को ग्रहण करते हैं, वे चाहे कायोत्सर्ग धारण करें, चाहे मौन धारण करें, चाहे वीरासन धारण करें, चाहे आतापन आदि कठिन-कठिन योग धारण करें, चाहे श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन आदि शुभ कार्यों में लगे रहें और चाहे वेला-तेला करें, पन्द्रह दिन वा महीनेभर का उपवास करें परन्तु उनके सदा पापकर्मों का ही आस्रव होता रहता है, इसलिए उनका सब तपश्चरण निरर्थक ही समझना चाहिए।

पञ्च पाप के त्याग बिना वस्त्र त्याग निष्फल—

यथोत्सृजति रौद्राहिः कञ्चुकं न विषं तथा।

कश्चित्साधुस्त्यजेद् वस्त्रं पञ्चसूना न मन्दधीः ॥२५४१॥

अर्थ—जिस प्रकार दुष्ट सर्प कांचली को छोड़ देता है परंतु विष को नहीं छोड़ता उसी प्रकार कोई-कोई साधु वस्त्रों का त्याग तो कर देते हैं परंतु वे मूर्ख पंच सूनों का त्याग नहीं करते।

हिंसा करने वाले पञ्च पाप का निर्देश—

उदूखलस्तथा चुल्ही प्रेषणी च प्रमार्जनी।

उदकुम्भ इमाः पञ्चसूना सत्त्वक्षयङ्कराः ॥२५४२॥

अर्थ—चक्की, ओखली, चूली, बुहारी और पानी रखने का परंडा ये पाँच अनेक जीवों की हिंसा करने वाले पंच पाप कहलाते हैं।

इन पापों की अनुमोदनादि करने वाले की दीक्षा व्यर्थ है—

आसु प्रवर्तते योऽधीः कृतकारितमोदनैः।

सुस्वादान्नाय तस्याहो वृथा दीक्षा दुरात्मनः ॥२५४३॥

अर्थ—जो मूर्ख मुनि अपने स्वादिष्ट अन्न के लिए कृत-कारित-अनुमोदना से इन पंच पापों में अपनी प्रवृत्ति करते हैं, उन दुष्टों की दीक्षा लेना भी व्यर्थ समझना चाहिए।

कौन श्रावक उभयलोक में भ्रष्ट माना जाता है—

योऽधःकर्मादिनिष्पन्नं भुङ्क्तेऽन्नं रसनान्धधीः।

जडो विराधनां कृत्वा षड्जीवानां च घातनम् ॥२५४४॥

श्रावकः सोऽधमोऽजातः पापारम्भप्रवर्तनात्।

उभयभ्रष्टतामाप्तो दानपूजादिवर्जनात् ॥२५४५॥

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता के कारण अंधा हुआ जो मूर्ख श्रावक छहों प्रकार के जीवों की विराधना करके वा छहों प्रकार के जीवों का घात करके अधःकर्म से उत्पन्न हुए अन्न को भक्षण करता है वह पापारंभ में प्रवृत्ति करने के कारण अधम कहलाता है और उस द्रव्य से वह दान-पूजा करने का भी अधिकारी नहीं रहता इसलिए वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों से भ्रष्ट गिना जाता है।

अध:कर्म दोष को करने वाला मुनि उभयलोक में भ्रष्ट हैं—

पचने पाचनेऽन्नानां सदाऽनुमनने शठः।
वर्तते वाङ्मनःकायैस्तस्माद्योऽत्र बिभेति न ॥२५४६॥
मिथ्यादृष्टिः स मन्तव्यो विरुद्धाचरणाद्भुवि।
न तस्य चेह लोकोऽस्ति कुकीर्तिवर्तनात् क्वचित् ॥२५४७॥
परलोको न जायेत संयमाचरणाद्विना।
किन्तु स्याद् दुर्गतौ नूनं गमनं व्रतभङ्गतः ॥२५४८॥

अर्थ—जो मूर्ख मन-वचन-काय से अन्न के पकाने, पकवाने वा अनुमोदना करने में प्रवर्त होते हैं, इन ऊपर लिखे पंच पापों से नहीं डरते उनको मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए क्योंकि वे विरुद्ध आचरणों को ही धारण करते हैं और इसीलिए इस लोक में भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड़ जाता है तथा संयमरूप आचरण धारण न करने के कारण उनका परलोक भी बिगड़ जाता है। इस प्रकार उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और व्रतभंग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गतियों में अवश्य पहुँचते हैं।

प्रायश्चित्त लेकर पुनः अध:कर्म दोष करने वाले के तप व्यर्थ है—

प्रायश्चित्तं विधायोच्चैर्यो भुनक्ति पुनः शठः।
अधःकर्मकृताहारं तस्य तन्निष्फलं भवेत् ॥२५४९॥

अर्थ—जो मूर्ख अध:कर्म दोष से दूषित आहार ग्रहण करने के कारण प्रायश्चित्त ले लेते हैं और प्रायश्चित्त लेकर फिर भी अध:कर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं, उनका भी वह सब तपश्चरण निष्फल समझना चाहिए।

कौन मुनि, मुनियों के गुणों से रहित है—

यः साधुर्यत्र देशादौ शुद्धेऽशुद्धेऽथवोभयोः।
आहारोषधिवासादिं यथालब्धं निजेच्छया ॥२५५०॥
शुद्धं वाऽशुद्धमादत्तेऽन्धवत्परीक्षया विना।
मुक्तो यतिगुणैः सोऽपि प्रोक्तः संसारवर्द्धकः ॥२५५१॥

अर्थ—जो मुनि शुद्ध वा अशुद्ध देश में अथवा शुद्ध-अशुद्ध मिले हुए देश में आहार उपकरण वसतिका आदि अपनी इच्छानुसार जैसा प्राप्त हो जाये, चाहे वह शुद्ध हो वा अशुद्ध हो उसको अंधे के समान बिना परीक्षा किए हुए ग्रहण कर लेता है, उसको भी मुनियों के गुणों से रहित ही समझ लेना चाहिए। उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने संसार को बढ़ाने वाला ही बतलाया है।

कैसा आहार लेने पर मुनि शुद्ध व अशुद्ध होता है—

योऽज्ञोऽधःकर्मजाहरे नित्यं परिणतः क्वचित्।
प्राप्तेऽपि प्रासुके हारे बन्धकः स हृदो भवेत् ॥२५५२॥

शुद्धं मृगयमाणो योन्नादिं कृतादिदूरगम्।
अधःकर्मकृतान्नाप्ते क्वचिच्छुद्धो हृदोऽत्र सः ॥२५५३॥

अर्थ—जो मूर्ख प्रतिदिन अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करता है उसे यदि किसी दिन प्रासुक आहार भी मिल जाये तो भी हृदय से वह कर्मों का बंध करने वाला ही समझा जाता है। इसी प्रकार यदि कोई मुनि कृत-कारित-अनुमोदना से रहित शुद्ध आहार को ढूँढ़ता है और दैवयोग से उसे अधःकर्म जन्य आहार मिल जाता है तो भी उसे हृदय से शुद्ध ही समझना चाहिए।

शुद्ध भिक्षाचर्या की महत्ता—

मूलोत्तरगुणेष्वत्र भिक्षाचर्योदिता जिनैः।
प्रवरा तां विना विश्वे ते कृताः स्यु र्निरर्थकाः ॥२५५४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों में भिक्षा के लिए चर्या करना ही उत्तम गुण माना जाता है, उस शुद्ध भिक्षाचर्या के बिना बाकी के समस्त गुण निरर्थक ही बतलाए हैं।

सदोष आहार का निषेध—

प्रत्यहं वरमाहारो भुक्तो दोषातिगः सताम्।
पक्षमासोपवासादिपारणे दोषजो न च ॥२५५५॥

अर्थ—सज्जनों को दोषरहित प्रतिदिन आहार कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा एक महीने के उपवास के बाद पारणा के दिन सदोष आहार लेना अच्छा नहीं।

अभयदान की महिमा—

मृत्यादिभयभीतानां सर्वथाऽखिलदेहिनाम्।
ददात्यभयदानं यस्तस्यैव सकला गुणाः ॥२५५६॥

अर्थ—जो मुनि मृत्यु के भय से भयभीत हुए समस्त प्राणियों को अभय दान देता है, उसी के समस्त गुण अपने आप आ जाते हैं।

आचार्यरूपी वैद्य ही मुनिरूपी रोगी का इलाज करते हैं—

आचार्यो ज्ञानवान्वैद्यः शिष्यो रोगी विरक्तवान्।
चर्यौषधं च निष्पापं क्षेत्रं सावद्यवर्जितम् ॥२५५७॥
वैयावृत्यकराः साह्यकर्त्तारः परयाऽनया।
सामग्र्या कर्मरुक्त्यक्तं कुर्यात्सूरिर्मुनिं द्रुतम् ॥२५५८॥

अर्थ—संघ में आचार्य तो महाज्ञानी वैद्य हैं, संसार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है, पापरहित चर्या ही औषधि है, पापरहित स्थान ही उसके लिए योग्य क्षेत्र है और वैयावृत्य करने वाले उसके सहायक हैं। वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनि को कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही निरोग सिद्ध बना देते हैं।

भिक्षाशुद्धि धारण करने की प्रेरणा—

भिक्षाशुद्धिं सुचर्यायै धूमाङ्गारमलोज्झिताम्।
प्रागुक्तसर्वदोषातीतां कुर्वन्तु मुमुक्षवः ॥२५५९॥

अर्थ—अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को अपनी चर्या के लिए पहले कहे हुए समस्त दोषों से रहित तथा धूम, अंगार आदि दोषों से रहित भिक्षाशुद्धि धारण करनी चाहिए।

जुगुप्सा का स्वरूप एवं अतिचारों की शुद्धि की प्रेरणा—

जुगुप्सा लौकिकी बाह्या व्रतभङ्गादिजाऽपरा।
लोकोत्तरा जुगुप्सातस्त्रिरत्नशुद्धिहानिजा ॥२५६०॥
व्रतातिचारसंशुद्धिः प्रायश्चित्तादिनिन्दनैः।
कर्तव्या स्वोत्तमाचारैर्लोकनिन्दादिहानये ॥२५६१॥

अर्थ—इस संसार में लौकिक घृणा तो बाह्य जुगुप्सा है, व्रतों के भंग होने से उत्पन्न होने वाली घृणा अंतरंग जुगुप्सा है और रत्नत्रय की शुद्धि की हानि होना लोकोत्तर जुगुप्सा है। मुनियों को लोक निंदा दूर करने के लिए प्रायश्चित्त धारण कर, आत्मनिंदा कर तथा उत्तम आचरण पालन कर अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिए।

लोकोत्तर निंदा के त्याग की प्रेरणा—

शङ्कादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शुद्धिं रत्नत्रये पराम्।
कृत्वा लोकोत्तरा निन्दा हेया संसारवर्द्धिनी ॥२५६२॥

अर्थ—मुनियों को शंकादिक दोषों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए और रत्नत्रय की परम विशुद्धि धारण कर संसार को बढ़ाने वाली लोकोत्तर निंदा का भी सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

मुनि को कैसा क्षेत्र छोड़ना चाहिए—

यत्रोत्पत्तिः कषायाणां यान्ति स्वखानिविक्रियाम्।
दुर्जनाभक्तिहीनाश्च सन्त्युपद्रवराशयः ॥२५६३॥
जायन्ते द्वेषरागाद्या विघ्ना ध्यानादिकर्मणाम्।
व्रतभङ्गश्चलं चित्तं तत्क्षेत्रं वर्जयेद्यतिः ॥२५६४॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, अपनी इन्द्रियाँ प्रबल हो जाये वा विकृत हो जायें जहाँ पर दुष्ट और भक्तिहीन मनुष्य रहते हों, जहाँ पर अनेक उपद्रव होते रहते हों, जहाँ पर रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते रहते हों, जहाँ पर ध्यान-अध्ययन आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित होते हों, जहाँ पर व्रतों का भंग होता हो और जहाँ पर चित्त चंचल हो जाता हो ऐसा क्षेत्र मुनियों को छोड़ देना चाहिए।

कैसे क्षेत्र में मुनिराज निवास करते हैं–

एकान्ते निर्जने स्थाने वैराग्यगुणवृद्धिदे ।
श्मशानाद्रिगुहादौ च शून्यगेहे वनादिषु ॥२५६५॥
पशुस्त्रीक्लीवदुष्टादिहीने शाम्ये शमप्रदे।
क्षेत्रे वासं प्रकुर्वन्ति मुनयो ध्यानसिद्धये ॥२५६६॥

अर्थ–मुनि लोग अपने ध्यान की सिद्धि के लिए एकांत और निर्जन स्थान में वैराग्य गुण को बढ़ाने वाले, श्मशान पर्वत की गुफाएँ, सूने मकान और वन में अत्यन्त शांत और परिणामों को शांत करने वाले तथा पशु, स्त्री, नपुंसक तथा दुष्ट जीवों से रहित क्षेत्र में निवास करते हैं।

पुनः कैसे क्षेत्र में मुनि निवास नहीं करें–

नृपहीनं च यत्क्षेत्रं यत्र दुष्टो नृपो भवेत्।
यत्र स्त्रीबालराजा च तत्र वासो न युज्यते ॥२५६७॥
दीक्षाग्रहणशीलाश्च यत्र सन्ति न धार्मिकाः।
हानयः संयमादीनां स्थातव्यं तत्र नोर्जितैः ॥२५६८॥

अर्थ–जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो, जहाँ का राजा दुष्ट हो और जहाँ पर स्त्री राज्य करती हो अथवा बालक राजा राज्य करता हो वहाँ पर मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिए। जहाँ पर दीक्षा ग्रहण करने वाले लोग न हों, जहाँ पर धर्मात्मा लोग निवास न करते हों और जहाँ पर संयम की हानि होती हो ऐसे स्थान में उत्कृष्ट मुनियों को कभी नहीं रहना चाहिए।

आर्यिका के निवास में मुनिराज को ठहरने का निषेध–

स्त्रीक्षान्तिकाश्रमे स्थातुं क्षणमात्रं न कल्पते।
यतीनामासनस्थानस्वाध्यायग्रहणादिभिः ॥२५६९॥
संसर्गेणार्यिकास्त्रीणां व्यवहाराभिधा भुवि।
जुगुप्सा परमार्थान्या जायते यमिनां द्रुतम् ॥२५७०॥

अर्थ–मुनियों को बैठने, कायोत्सर्ग करने अथवा स्वाध्याय ग्रहण करने के लिए भी स्त्रियों के अथवा आर्यिकाओं के आश्रम में क्षणमात्र भी नहीं ठहरना चाहिए क्योंकि आर्यिका वा स्त्रियों के संसर्ग से मुनियों को व्यवहार जुगुप्सा भी प्रकट होती है और लोकोत्तर जुगुप्सा भी प्रकट होती है।

कैसे पुरुषों के संसर्ग से रत्नत्रय की वृद्धि एवं हानि होती है–

जलकुम्भे यथा पद्मसम्पर्केण च वर्द्धते।
सुशीतत्वं सुगन्धित्वं हीयतेऽनलसङ्गमात् ॥२५७१॥
तथोत्तमाश्रयेणात्र सद्बोधिर्वर्द्धते तराम्।
क्षीयन्ते नीचसङ्गेन गुणादोषाश्चयोगिनाम् ॥२५७२॥

अर्थ—जिस प्रकार जल के घड़े में कमल के संसर्ग से उसका शीतलपना और सुगंधितपना गुण बढ़ता है तथा अग्नि के संयोग से वे दोनों गुण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्तम पुरुषों के आश्रय से मुनियों का रत्नत्रय अत्यन्त बढ़ता है और नीच पुरुषों के आश्रय से रत्नत्रय गुण घटता है वा मलिन होता है।

महामुनि को पाखंडी मुनि को संगति का निषेध—

प्रचण्डश्चपलो मन्दः पृष्टमांसादिभक्षकः।
गुर्वादिबहुलो मूर्खो दुराश्रयः सतां यतिः ॥२५७३॥
दम्भान्वितमदोषाणां दोषोद्भावनतत्परम्।
मारणत्रासनोच्चाटनवशीकरणाशयम् ॥२५७४॥
वैद्यज्योतिष्कसावद्यारम्भादिपरिवर्तकम्।
पिशुनं कुत्सिताचारं मिथ्यात्वोपगतं शठम् ॥२५७५॥
लोकलोकोत्तराचाराजानन्तं स्वेच्छया युतम्।
चिरप्रव्रजितं चापीत्याद्यन्यदोषभाजनम् ॥२५७६॥
संयतं वर्जयेद्दूरं सदाचारी महामुनिः।
पापापवादभीतात्मा तत्सङ्गं नाश्रयेत्क्वचित् ॥२५७७॥

अर्थ—जो मुनि नीच लोगों की संगति करता है वह क्रोधी, चंचल, मंद, पीठ का मांस भक्षण करने वाला अर्थात् पीठ पीछे निंदा करने वाला और मूर्ख होता है तथा वह अनेक गुरुओं का शिष्य होता है। जो मुनि पाखंडी है, निर्दोषों को भी दोषी कहने के लिए तत्पर रहता है, जो मारण, त्रासन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करने की इच्छा रखता है, जो वैद्य, ज्योतिष्क और पापरूप आरम्भों में प्रवृत्ति करता है, जो चुगलखोर है, जिसके आचरण निंदनीय हैं, जो मिथ्यादृष्टि है, मूर्ख है, जो लौकिक और लोकोत्तर आचरणों को नहीं जानता, जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है और चिरकाल का दीक्षित होने पर भी अन्य अनेक दोषों का भाजन है, ऐसे मुनि का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए। जो सदाचारी महामुनि हैं और पाप तथा अपवाद से सदा भयभीत रहते हैं वे महामुनि ऊपर कहे हुए पाखंडी मुनियों की संगति कभी नहीं करते हैं।

कैसा पापी मुनि दुर्गति का पात्र है—

सूरेर्मुक्त्वा कुलयोऽत्रैकाकीभ्रमेन्निजेच्छया।
उपदेशं न गृह्णाति पापश्रमण एव सः ॥२५७८॥
यः शिष्यत्वमकृत्वाऽत्र पूर्वस्वस्यशठाशयः।
त्वरितः कर्तुमाचार्यत्वं हिण्डति निजेच्छया ॥२५७९॥

घोंघाचार्यः स एवोक्तो मत्तदन्तीव पापधीः।
निरङ्कुशो गुणैर्हीनः स्वान्यदुर्गतिकारकः ॥२५८०॥

अर्थ—जो मुनि आचार्य के कुल को छोड़कर अपनी इच्छानुसार अकेला परिभ्रमण करता है तथा किसी का उपदेश नहीं मानता उसको पापी मुनि कहना चाहिए। जो मूर्ख पहले किसी आचार्य का शिष्य तो बनता नहीं और शीघ्र ही आचार्य पद धारण करने के लिए अपनी इच्छानुसार घूमता है उसको घोंघाचार्य वा दंभाचार्य समझना चाहिए। वह पापी है और मदोन्मत्त हाथी के समान गुणों से रहित होकर निरंकुश होता हुआ घूमता है। ऐसा मुनि स्वयं भी दुर्गति में जाता है और अन्य जीवों को भी दुर्गति में पहुँचाता है।

कैसा मुनि स्वपर की आत्मा को नष्ट करता है—

आचार्यत्वं नयेत् स्वस्याजानन् यः श्रीजिनागमम्।
स कुत्सितोपदेशैश्चात्मानं परं विनाशयेत् ॥२५८१॥

अर्थ—जो मुनि श्री जिनागम को तो जानता नहीं और आचार्य बन बैठता है वह मुनि अपने निंद्य उपदेश से अपने आत्मा को भी नष्ट करता है और अन्य जीवों को भी नष्ट करता है।

हेतुपूर्वक अहंकार त्यागने का उपदेश—

वर्षादिगणनैश्चाहं सर्व ज्येष्ठोऽत्र दीक्षया।
मत्तोऽन्ये लघवो हीतिगर्वः कार्यो न संयतैः ॥२५८२॥
यतो वर्षाणि गण्यन्ते न मुक्तिसाधने सताम्।
केचिदन्तर्मुहूर्तेन गता मोक्षं दृढव्रताः ॥२५८३॥

अर्थ—''मैं इतने वर्ष का दीक्षित हूँ अतएव मैं इन सब मुनियों में बड़ा हूँ, ये सब मुनि दीक्षा में मुझसे छोटे हैं'' इस प्रकार का अभिमान मुनियों को कभी नहीं करना चाहिए क्योंकि मोक्ष को सिद्ध करने के लिए सज्जन पुरुष वर्षों की गिनती नहीं करते। अपने व्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करने वाले बहुत से मुनि ऐसे हो गए हैं जो अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष चले गए हैं।

जीव के कर्मबन्ध का कारण—

रागद्वेषाक्षमोहादीनिष्टोयोयोगोऽतिदुर्द्धरः।
करोति कर्मणां बन्धं कषायैः सह देहिनाम् ॥२५८४॥
जीवस्य परिणामेनाणवः परिणमन्ति नुः।
कर्मत्वेन स्वतो नाङ्गी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥२५८५॥

अर्थ—रागद्वेष, इन्द्रियाँ और मोहादिक में लगे हुए दुर्द्धर मन-वचन-काय के योग कषायों का सम्बन्ध पाकर जीवों के कर्मों का बंध करते हैं। तीनों लोकों में भरे हुए कर्म परमाणु जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर जीवों के कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। यह आत्मा बिना योग और बिना

कषायों के स्वयं कर्मरूप परिणत नहीं होता।

कैसी आत्मा कर्मबन्ध नहीं करती एवं संसार से पार होती है—

ज्ञानचारित्रसम्पन्नः सद्ध्यानाध्ययने रतः।
निष्कषायः स्थिरात्मात्र कर्मबन्धं करोति न ॥२५८६॥
किन्तु संवरपोतेन तपसाऽखिलकर्मणाम्।
विधाय निर्जरां ध्यानी तरत्याशु भवाम्बुधिम् ॥२५८७॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित है, श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन में लीन है, कषायरहित है और स्थिर है अर्थात् मन-वचन-काय के योगों से रहित है वह आत्मा कभी कर्मों का बंध नहीं कर सकता किन्तु ऐसा कषायरहित स्थिर ध्यानी आत्मा संवररूपी जहाज पर चढ़कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और शीघ्र ही संसाररूपी समुद्र से पार हो जाता है।

विनयपूर्वक स्वाध्याय आदि करने का फल—

कुर्वन्स्वाध्यायमात्मज्ञः पञ्चाक्षसंवृतो भवेत्।
त्रिगुप्तश्चैक चित्तोऽत्र विनयेन निरास्रवः ॥२५८८॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि विनय के साथ स्वाध्याय करता है वह पाँचों इन्द्रियों को वश में करता है, तीनों गुप्तियों को पालन करता है और एकाग्रचित्त होने के कारण कर्मों के आस्रव से रहित हो जाता है।

तीनों काल में स्वाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ तप है—

द्विषड्भेदतपोभ्योऽपिस्वाध्यायेन समं तपः।
न भूतं परमं नास्ति न भविष्यति मोक्षदम् ॥२५८९॥

अर्थ—बारह प्रकार के तपश्चरण में भी स्वाध्याय के समान अन्य कोई तपश्चरण उत्कृष्ट और मोक्ष देने वाला न आज तक हुआ है न है और न आगे कभी हो सकता है।

सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन का फल—

ससूत्रा च यथा सूचिर्न नश्यति प्रमादतः।
तथा ससूत्र एवात्मा ज्ञानीरत्नत्रयाङ्कितः ॥२५९०॥

अर्थ—जिस प्रकार सूत्र सहित (डोरा सहित) सुई प्रमाद के कारण नष्ट नहीं होती, खोती नहीं, उसी प्रकार सूत्रसहित सूत्रों का वा सिद्धान्तशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी आत्मा रत्नत्रय से सुशोभित होता है।

निद्रा के दोष एवं उसे जीतने की प्रेरणा—

यत्नेन जय निद्रां त्वं यतो निद्रा ह्यचेतनम्।
कृत्वाऽत्रराक्षसी वाशु गिलेज्जनं गतक्रियम् ॥२५९१॥
तथा निद्रावशः प्राणी खादत्यखाद्यमञ्जसा।
अगम्यगमनं कुर्याद्विश्वपापेषु वर्तते ॥२५९२॥

अर्थ—हे मुने! तू प्रयत्नपूर्वक निद्रा को जीत क्योंकि यह निद्रा राक्षसी के समान है। राक्षसी जिस प्रकार मनुष्यों को मारकर खा जाती है उसी प्रकार यह निद्रा भी मनुष्य को अचेतन के समान क्रियारहित बनाकर निगल जाती है। इसके सिवाय इस निद्रा के वशीभूत हुए प्राणी अभक्ष्य भक्षण करते हैं, अगम्य गमन करते हैं और समस्त पापों में प्रवृत्ति करते हैं।

कौन मुनि मन को सरल रखता है—

इषुकारो यथा धत्ते ऋजुं चेषुं स्वचक्षुषा।
तथैकाग्रत्वमापन्नं ध्याने ध्यानी निजं मनः ॥२५९३॥

अर्थ—जिस प्रकार बाण चलाने वाला आँख से देखकर अपना बाण सीधा रखता है उसी प्रकार ध्यान करने वाला मुनि अपने ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त हुए अपने मन को सरल ही रखता है।

कैसे मुनि ध्यान से उत्पन्न अमृत का पान करते हैं—

द्रव्यात्क्षेत्राद्यमी कालाद्भवाद्भावाद्भवेऽन्वहम् ।
विश्वदुःखाकरं कस्य चिन्तयेत्परिवर्तनम् ॥२५९४॥
महामोहाग्निना नित्यं दह्यमाने जगत्त्रये।
विरक्ताः स्वसुखाद्धीराः पिबन्ति ध्यानजामृतम् ॥२५९५॥

अर्थ—यह समस्त संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से प्रतिदिन दुःखों की खानि बना रहता है, फिर भला ध्यान करने वाला किसको बदलकर चिंतन करे। ये तीनों लोक महामोहरूपी अग्नि से जल रहे हैं, इसलिए जो धीर वीर मुनि अपने सुख से विरक्त हैं, वे ही मुनि ध्यान से उत्पन्न हुए अमृत का पान करते रहते हैं।

ध्यानी पुरुष तृणादि के समान कषायों को निकाल देते हैं—

यथा नेत्रसमुद्राद्याःसहन्तेऽन्तर्गतं न च।
तृणादीनि तथा दक्षाः कषायाक्षसुखादिकान् ॥२५९६॥

अर्थ—जिस प्रकार नेत्र और समुद्र आदि पदार्थ अपने भीतर आए हुए तृणादिकों को सहन नहीं कर सकते हैं, बाहर निकाल कर फेंक देते हैं, उसी प्रकार चतुर पुरुष भी कषाय और इन्द्रियों के सुखों को सहन नहीं करते बाहर निकालकर फेंक देते हैं।

कैसे मुनि आत्मा का एकाग्रचित्त से ध्यान करते हैं—

कैवल्यदर्शनज्ञानमयं स्वात्मानमूर्जितम् ।
अनादिनिधनं कर्मातिगं निश्चयवेदिनः ॥२५९७॥
पृथक्कृत्वा शरीरादिपर्यायेभ्यो मुमुक्षवः ।
ध्यायन्ति स्वैकचित्तेन निर्विकल्पपदाश्रिताः ॥२५९८॥

अर्थ—जो मुनि मोक्ष की इच्छा करने वाले हैं, निश्चयनय से आत्मा के स्वरूप को जानते हैं और जिन्होंने निर्विकल्प पद का आश्रय ले लिया है वे मुनि केवलदर्शनमय, केवलज्ञानमय, अनादि-अनिधन कर्मों से रहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसे अपने आत्मा को शरीरादिक पर्यायों से सर्वथा अलग समझते हैं और एकाग्रचित्त से उस आत्मा का ध्यान करते हैं।

कषाय के वशीभूत आत्मा असंयमी मिथ्यादृष्टि है—

अकषायं तु चारित्रं कषायवश आत्मवान्।
भवेदसंयतो नूनं मिथ्यादृष्टिः कुमार्गगः ॥२५९९॥

अर्थ—चारित्र उसी को कहते हैं जो कषायरहित होता है, इसीलिए जो आत्मा कषाय के वशीभूत है वह अवश्य ही असंयमी है तथा कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टि है।

कैसा मुनि मोक्षमार्गी है—

यदोपशमितो विश्वकषायेभ्योऽतिशान्तधीः।
तदैवसंयतः पूज्यो भवेद् ज्ञानी शिवाध्वगः ॥२६००॥

अर्थ—अत्यन्त शांत बुद्धि को धारण करने वाला मुनि जब अपने कषायों को अत्यन्त शांत कर लेता है तभी वह संयमी, पूज्य, ज्ञानी और मोक्षमार्ग में चलने वाला कहलाता है।

अन्तिम समय गण में प्रवेश करने का निषेध—

अन्तकाले यतेः स्वस्य गणप्रवेशतो वरम्।
प्रवेशनं विवाहेऽत्र रागोत्पत्तिर्विवाहतः ॥२६०१॥

अर्थ—मुनियों को अंतिम समय में (समाधिमरण के समय) अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है।

गण में प्रवेश करने से उत्पन्न दोषों का निर्देश—

भवेत्पुनर्गणः सर्वदोषोत्पत्त्यादिहेतुकः।
शिष्यादिमोहसंयोगात्तस्मान्मृत्यौ गणं त्यज ॥२६०२॥

अर्थ—अपने गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है, इसीलिए अपने गण में सब तरह के दोष उत्पन्न हो सकते हैं, अतएव हे मुने! समाधिमरण के समय तू अपने गण का त्याग कर।

परगण में समाधिमरण करने से लाभ—

यथा पृथ्वीजलादीनामभावे जायतेऽत्र न।
अंकुरोऽखिलबीजानां वृद्धिहेतुः फलप्रदः ॥२६०३॥
तथाऽशिष्यादिसङ्गोत्थरागद्वेषाद्यभावतः ।
कर्मणां च कषायाणां नोत्पत्तिर्यमिनां भवेत् ॥२६०४॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा बिना अंकुर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग सकते हैं उसी प्रकार शिष्य आदि के संगति से उत्पन्न हुए रागद्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

मुनि क्षमादि गुणों से कषाय उत्पन्न न होने दे—

कषायैर्हेतुभूतैश्च विश्वे परिग्रहादयः।
जायन्ते मानसे नृणामनर्थशतकारिणः ॥२६०५॥
तेषां सर्वकषायाणामनुत्पत्त्यै मुनीश्वरैः।
विधेयं परमं यत्नं क्षमातोषादिभिः सदा ॥२६०६॥

अर्थ—इन मनुष्यों के हृदयों में सैकड़ों अनर्थ करने वाले समस्त परिग्रह इन कषायों के ही कारणों से होते हैं, इसलिए मुनियों को क्षमा और संतोष आदि आत्मगुण धारण कर समस्त कषायों को उत्पन्न न होने देने के लिए परम प्रयत्न करते रहना चाहिए।

इन्द्रिय लम्पटी ४-४ अंगुलप्रमाण जिह्वा इन्द्रिय एवं कामेन्द्रिय से अनन्त दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं—

अर्थार्थं जीवितार्थं च जिह्वाकामार्थमञ्जसा।
म्रियतेऽनन्तवारान् भो मारयेच्चापरान् जनः ॥२६०७॥
जिह्वोपस्थनिमित्तं च जीवोऽनादिभवार्णवे।
प्राप्तो घोरतरं दुःखं मज्जनोत्थमनन्तशः ॥२६०८॥
चतुरङ्गुलमानात्रजिह्वाही विश्वभक्षिका।
चतुरङ्गुलमात्रोपस्थोऽनन्तभववर्द्धकः ॥२६०९॥
एतैरष्टाङ्गुलोत्पन्नैर्दोषैर्दोषनिबन्धनैः ।
अनन्तदुःखसन्तानं प्राप्नुवन्ति खलम्पटाः ॥२६१०॥

अर्थ—देखो ये मनुष्य धन के लिए, जीवन के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के लिए और कामेन्द्रिय के लिए अनंतबार स्वयं मरता है और अनंतबार ही दूसरों को मारता है। इस जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के कारण यह जीव अनादि काल से इस संसाररूपी समुद्र में अनंतबार डूबा है और इसने अनंतबार

ही अत्यन्त महाघोर दुःख पाए हैं। यह जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी यद्यपि चार अंगुलप्रमाण है तथापि समस्त संसार को खा जाने वाली है। इसी प्रकार यह कामेन्द्रिय भी चार अंगुलप्रमाण है तथापि अनंत संसार को बढ़ाने वाली है। इस प्रकार इन आठ अंगुलप्रमाण जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले होते हैं और उन्हीं से यह इन्द्रिय लंपटी जीव अनंत दुःखों की परंपरा को प्राप्त होते हैं।

कैसे मन्त्र के द्वारा इन्हें कील देना चाहिए—

ज्ञात्वेतिरसनोपस्थसर्पौ त्रैलोक्यभीतिदौ।
दृढवैराग्यमन्त्रेण कीलयन्तु तपोधनाः ॥२६११॥

अर्थ—यही समझकर तीनों लोकों को भय उत्पन्न करने वाले ये जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रियरूपी सर्प वैराग्यरूपी मन्त्र के द्वारा तपस्वियों को कील देने चाहिए।

काष्ठादि स्त्रियों के संयोग से उत्पन्न हानि

काष्ठादिजाङ्गनारूपाद्भेतव्यं संयतैः सदा।
यतस्तद्दर्शनान्नूनं चित्तक्षोभो भवेन्नृणाम् ॥२६१२॥
सर्पिर्भृतघटाभोंगी स्त्रीज्वलज्ज्वालसन्निभा।
तयोः सम्पर्कतः किं किमनर्थो जायते न नुः ॥२६१३॥
स्त्रीसमीपं गताऽयेऽत्रहास्यवार्तादिलोकनैः।
नष्टास्ते भ्रष्टचारित्रा इतरे च शिवङ्गताः ॥२६१४॥

अर्थ—मुनियों को काठ की बनी हुई स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिए क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। यह मनुष्य घी से भरे हुए घड़े के समान है और यह स्त्री जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान है। इन दोनों के सम्बन्ध से मनुष्यों को भला क्या-क्या अनर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् सब कुछ तरह के अनर्थ हो सकते हैं। जो मनुष्य हँसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिए स्त्रियों के पास जाते हैं, वे चारित्र से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं तथा जो ऐसा नहीं करते स्त्रियों से अलग रहते हैं वे अवश्य मोक्ष जाते हैं।

मुनि, माता आदि स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग—

मातृभग्नीसुतामूकावृद्धास्त्रीरूपतोऽनिशम्।
भेतव्यं मुनिभिर्यस्मात्क्षोभः स्यान्नेत्रचित्तयोः ॥२६१५॥
हस्तपादपरिछिन्नां कर्णनासाविवर्जिताम्।
शतवर्षप्रमां नारीं दूरतो वर्जयेद् व्रती ॥२६१६॥

अर्थ—मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूँगी और वृद्धा आदि स्त्रियों के रूप से भी सदा डरते रहना चाहिए क्योंकि स्त्रियों के रूप से भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। जिस स्त्री के

हाथ-पैर कटे हुए हों और जिसके नाक, कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की हो तो भी व्रतियों को ऐसी स्त्री का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

भावों से विरक्त ही वास्तविक विरक्त है—

भावेन विरतो योगी विरक्तो विश्ववस्तुषु।
भवेत्स्वर्मुक्तिगामी च द्रव्येण भववर्द्धकः ॥२६१७॥

अर्थ—जो मुनि अपने भावों से विरक्त है उसे सब वस्तुओं से विरक्त समझना चाहिए तथा उसे ही स्वर्ग-मोक्ष जाने वाला समझना चाहिए। जो मुनि ऊपर से विरक्त है, भावों से विरक्त नहीं है, उसे संसार को बढ़ाने बाला ही समझना चाहिए।

ब्रह्मचर्य के घात करने वाले १० कारण—

विपुलाहारसेवार्थं वपुर्मुखादिशोधनम्।
गन्धमाल्यादिकादानं गीतवाद्यादिसंश्रुतिः ॥२६१८॥
सरागे चित्रशालादौ कोमले शयनासनम्।
स्त्रीसंसर्गोऽर्थवस्त्रादिग्रहणं भोगसिद्धये ॥२६१९॥
पूर्वसेवितभोगानुस्मरणं स्वस्य मानसे ।
इन्द्रियार्थरतौ चेहा सर्वेष्टरससेवनम् ॥२६२०॥
इमान् ब्रह्महेतून् यो दशदोषांस्त्यजेत्सदा।
दृढव्रतो यतिः सोऽत्र भवत्येव न चापरः ॥२६२१॥

अर्थ—बहुत सा आहार खाना, अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, गंध लगाना वा माला पहनना, गीत बाजे सुनना, राग को उत्पन्न करने वाली स्त्री और पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल शय्या पर सोना वा बैठना, स्त्रियों की संगति करना, भोग भोगने के लिए धन और वस्त्रादिक का ग्रहण करना, पहले भोगे हुए भोगों का अपने मन में स्मरण करना, इन्द्रियों के विषयों में रत होने की लालसा रखना और समस्त रसों का सेवन करना, ये दस ब्रह्मचर्य को घात करने के कारण हैं। जो मुनि इन दसों दोषों का त्याग कर देता है वही दृढ़व्रती कहलाता है, अन्य नहीं।

द्विविध परिग्रह त्याग की प्रेरणा—

मोहादिककषायाक्षैर्गृह्णात्यङ्गी परिग्रहान् ।
अस्माद् बाह्यान्तराः सङ्गाः सर्वे त्याज्याः शिवार्थिभिः ॥२६२२॥

अर्थ—यह जीव मोह, कषाय और इन्द्रिय आदि के द्वारा परिग्रहों को ग्रहण करता है इसलिए मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को बाह्य और अभ्यंतर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए।

श्रमण का स्वरूप एवं उनके भेद—

निस्सङ्गोऽत्र निरारम्भो भिक्षाचर्याशुभाशयः।
सद्ध्यानरत एकाकी गुणाढ्यः श्रमणो भवेत् ॥२६२३॥
नाम्ना स्थापनया द्रव्यभावाभ्यां श्रमणस्य च।
चतुर्विधोऽत्र निक्षेपो गुणिभिर्गुणसम्भवः ॥२६२४॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, समस्त आरम्भों से रहित है, भिक्षार्थ चर्या करने के लिए जिसके हृदय में शुद्धता है, जो श्रेष्ठ ध्यान में लीन रहता है, एकाकी है। आत्मा को सबसे भिन्न समझता है और अनेक गुणों से सुशोभित है उसी को श्रमण कहते हैं। गुणी पुरुष नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से अपने-अपने गुणों के अनुसार इन श्रमणों के चार भेद बतलाते हैं।

भाव श्रमणपना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं—

भावश्रमण एकोऽत्र शुद्धरत्नत्रयाङ्कितः।
विश्वाभ्युदयसौख्यादीन् भुक्त्वा स्यान्मुक्तिवल्लभः ॥२६२५॥
नामाद्याः श्रमणाः शेषाः गुणहीनाविधेर्वशात्।
भ्रमन्ति संसृतौ नैव लभन्ते स्वेष्ट-सम्पदः ॥२६२६॥

अर्थ—इनमें से एक भाव श्रमण ही शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित है वही मुनि समस्त अभ्युदयों के सुखों को भोगकर मोक्ष का स्वामी बनता है। बाकी के नाम श्रमण, स्थापना श्रमण वा द्रव्य श्रमण गुणों से रहित है और अपने-अपने कर्मों के निमित्त से संसार में परिभ्रमण ही करने वाले हैं, इसलिए वे अपनी मोक्षरूप इष्ट सामग्री को कभी नहीं पा सकते।

भावलिंगी बनने की प्रेरणा—

मत्वेति भावलिङ्गी त्वं भव रत्नत्रयान्वितः।
त्यक्त्वा योगिन् द्विधा सङ्गं यदीच्छसि शिवश्रियम् ॥२६२७॥

अर्थ—इसलिए हे मुने! यदि तू मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो ऊपर कही हुई सब बातों को समझकर और बाह्य-अभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर भावलिंगी बन और शुद्ध रत्नत्रय को धारण कर।

भिक्षाचर्या की महत्ता एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

व्रतशीलगुणाः सर्वे स्युर्भिक्षाचर्यया पराः।
भिक्षाचर्यां विशोध्यातो विहरन्तु शिवार्थिनः ॥२६२८॥

अर्थ—भिक्षा के लिए होने वाली चर्या की शुद्धि से व्रतशील आदि समस्त उत्कृष्ट गुण प्रकट होते हैं। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को भिक्षा के लिए होने वाली चर्या को विशुद्धतापूर्वक धारण करते हुए विहार करना चाहिए।

किसे गुणों की खानि कहते हैं—

भिक्षां वाक्यं मनो यत्नाद्यो विशोध्य चरेत्सदा ।
चारित्रं स जिनैः प्रोक्तो मुनिर्विश्वगुणाकरः ॥२६२९॥

अर्थ—जो मुनि भिक्षा, वचन, मन और चारित्र को प्रयत्नपूर्वक शुद्धकर अपनी प्रवृत्ति करता है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव समस्त गुणों की खानि कहते हैं।

शक्ति अनुसार ध्यानादि पालना चाहिए—

द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं भावं शक्तिं विबुध्य च।
ध्यानाध्ययनमत्यर्थं वृत्तं चरन्तु पण्डिताः ॥२६३०॥

अर्थ—अतएव विद्वान् मुनियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी शक्ति को समझकर ध्यान, अध्ययन और चारित्र को अच्छी तरह पालन करना चाहिए।

मुक्तिस्त्री की प्राप्ति हेतु किसका त्याग करें—

कलत्रसङ्गभेदाभ्यां द्विधा त्यागो भवेद्विदः।
कृत्वा तदुभयत्यागं लभन्ते मुक्तिकामिनीम् ॥२६३१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का त्याग और परिग्रहों का त्याग इस प्रकार दो तरह का त्याग बतलाया है, अतएव विद्वान् पुरुष इन दोनों का त्यागकर मुक्तिस्त्री की प्राप्त करते हैं।

मुनि को ५ स्थावर की विराधना नहीं करने की प्रेरणा—

पृथ्व्यादिकायिका जीवा ये पृथ्व्यादिवपुःश्रिताः।
सति पृथ्व्यादिकारम्भे ध्रुवं तेषां विराधना ॥२६३२॥
तस्मात्पृथ्व्यादिकारम्भो द्विविधस्त्रिविधेन च।
यावज्जीवं न कल्पेत जिनमार्गानुचारिणाम् ॥२६३३॥

अर्थ—यदि पृथ्वी के खोदने आदि का प्रारम्भ किया जायेगा तो पृथ्वीकायिक जीवों का तथा पृथ्वीकाय के आश्रित रहने वाले जीवों का अवश्य ही नाश होगा उनकी विराधना अवश्य होगी। अतएव जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को मन-वचन-काय से जीवन पर्यंत दोनों प्रकार का (पृथ्वीकायिक और पृथ्वी-कायाश्रित) पृथ्वी आदि का प्रारम्भ सदा के लिए छोड़ देना चाहिए तथा इसी प्रकार जलकायिक, जलकायाश्रित, वायुकायिक, वायुकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वनस्पतिकायिक और वनस्पतिकायाश्रित जीवों की विराधना का भी त्याग कर देना चाहिए।

कौन मुनि रत्नत्रय से भ्रष्ट है—

पृथ्व्यादिकायिकान् सत्त्वानेतान्श्रीजिनभाषितान्।
न श्रद्दधाति यः स स्याद्भ्रष्टो रत्नत्रयात्कुधीः ॥२६३४॥

अर्थ—जो मुनि भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इन पृथ्वीकायिक, पृथ्वीकायाश्रित, जलकायिक, जलकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वायुकायिक, वायुकायाश्रित और वनस्पतिकायिक, वनस्पतिकायाश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उस दुर्बुद्धि को रत्नत्रय से भ्रष्ट ही समझना चाहिए।

जीवराशि से भरे लोक में मुनि कैसी प्रवृत्ति करें—

विश्वसत्त्वाकुले लोके कथं चरेच्च संयमी।
कथं तिष्ठेत् कथं कुर्याच्छयनं चोपवेशनम् ॥२६३५॥
कथं भुंक्ते कथं ब्रूयाद् विहारं कथमाचरेत्।
कथं धत्ते क्रियाकर्म कथं बध्नाति नाशुभम् ॥२६३६॥

अर्थ—कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इस लोक में सब जगह जीवराशि भरी हुई है फिर भला मुनियों को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिए, किस प्रकार खड़े होना चाहिए, कैसे सोना चाहिए, कैसे बैठना चाहिए, कैसे आहार लेना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए, कैसे विहार करना चाहिए, किस प्रकार आचरण पालन करना चाहिए, किस प्रकार वंदना-प्रतिक्रमण आदि क्रियाकर्म करना चाहिए और किस प्रकार अशुभ कर्मों से दूर रहना चाहिए ?

मुनिराज को यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने की प्रेरणा—

चरेत्सर्वत्र यत्नेन तिष्ठेद्यत्नेन भूतले।
यत्नेन प्रासुकेदध्याच्छयनं च दृढासनम् ॥२६३७॥
भिक्षाशुद्ध्या च भुंजीत वाक्समित्या वदेद्यति।
विहारं दिवसे स्वेर्यासमित्या यत्नतो भजेत् ॥२६३८॥
प्रयत्नेन क्रियाकर्म करोति सकलं सदा।
इति पापं न बध्नाति क्षपयेत्प्राक्तनाऽशुभम् ॥२६३९॥

अर्थ—तो इसका उत्तर यह है कि मुनियों को यत्नाचारपूर्वक अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिए, यत्नाचार पूर्वक पृथ्वी पर बैठना चाहिए, यत्नाचारपूर्वक प्रासुक स्थान पर सोना चाहिए और प्रासुक स्थान पर ही दृढ़ आसन से बैठना चाहिए। इसी प्रकार उनको भिक्षा भी शुद्धतापूर्वक ग्रहण करनी चाहिए, भाषासमिति पूर्वक वचन बोलने चाहिए और विहार ईर्यासमिति पूर्वक दिन में ही यत्नाचार पूर्वक करना चाहिए। इसी प्रकार मुनियों को यत्नाचारपूर्वक ही वंदना, प्रतिक्रमण आदि सब क्रियाकर्म सदा करते रहना चाहिए। इस प्रकार करने से वह मुनि पापों से लिप्त कभी नहीं होता किन्तु पहले के अशुभ कर्मों को नाश ही करता है।

(छन्द–मालिनी)

परम समयसार को पालने का फल–

इति कथितमदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या परमसमयसारं ग्रन्थमाप्तैः प्रणीतम्।
त्रिभुवनपतिभूतिं सुष्ठु विज्ञाय भुक्त्वा सकलचरणयोगात्स्युश्च ते मुक्तिनाथाः ॥२६४०॥

अर्थ–इस प्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इस परम समयसार को जो मुनि अपनी शक्ति के अनुसार निर्दोष रीति से पालन करते हैं, वे पूर्ण चारित्र को धारण करने के कारण भगवान् जिनेन्द्रदेव की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंत में मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होते हैं।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

पुनः परम समयसार को पालने की प्रेरणा–

सर्वासातहरं विशुद्धजनकं पापारिनाशं करं स्वर्मोक्षैकनिबन्धनं सुविमलं संसारतापापहम्।
श्रीतीर्थेश्वरभाषितं मुनिवरैः सेव्यं सदा यत्नतः सेवध्वं निपुणाः परं समयसाराख्यं शिवाप्त्यै स्फुटम् ॥२६४१॥

अर्थ–यह ऊपर कहा हुआ परम समयसार समस्त दुःखों को दूर करने वाला है, विशुद्धियों को उत्पन्न करने वाला है, पापरूप शत्रु को नाश करने वाला है, स्वर्ग–मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अत्यन्त निर्मल है, संसार के संताप को नाश करने वाला है, भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सदा सेवन धारण करने योग्य है। अतएव चतुर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इस परम समयसार को अच्छी तरह पालन करते रहना चाहिए।

(छन्द–स्रग्धरा)

अरहंतादि की भक्ति का फल श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा–

नाभेयाद्या जिनेन्द्रास्त्रिभुवनय विजिताः धर्मचक्राधिपा ये
सिद्धालोकाग्रभूता हतविधिवपुषोऽत्रान्तहीनाः प्रसिद्धाः।
आचार्याः पाठका ये गुणगणसदनाः साधवो मुक्तिकामाः
आचाराङ्गागमज्ञा मम निज सुगुणान्संस्तुतास्ते प्रदद्युः ॥२६४२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते समयसारवर्णनो नाम नवमोऽधिकारः।

अर्थ–इस संसार में जो धर्मचक्र के स्वामी और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं तथा लोक शिखर पर विराजमान, समस्त कर्म और शरीर से रहित, संसार के परिभ्रमण से रहित और सर्वत्र प्रसिद्ध ऐसे अनंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं और आचारांग आदि समस्त आगम के जानकार मोक्ष की इच्छा करने वाले और अनेक गुणों के समूह के स्थान ऐसे आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु विद्यमान हैं, इस प्रकार के पाँचों परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ, इसके बदले में वे पाँचों परमेष्ठी मुझे अपने–अपने श्रेष्ठ गुण प्रदान करें।

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में समयसार को वर्णन करने वाला यह नौवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

दशमोऽधिकारः

मंगलाचरण—

अर्हतः सिद्धनाथांश्च समाधिबोधिपारगान्।
जन्ममृत्युजराहंतॄन् नौमि बोधिसमाधये ॥२६४३॥

अर्थ—अब मैं रत्नत्रय और समाधि की प्राप्ति के लिए जन्म, मरण तथा बुढ़ापे को नाश करने वाले और रत्नत्रय तथा समाधि पारगामी ऐसे भगवान् अरहंतदेव को तथा सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ।

प्रत्याख्यान संस्तर के कथन की प्रतिज्ञा—

संक्षेपेणाथ वक्ष्यामि सद्यतीनां समाधये।
अधिकारं परं प्रत्याख्यानं संस्तरसंज्ञकम् ॥२६४४॥

अर्थ—अब मैं श्रेष्ठ मुनियों को समाधि प्राप्त करने के लिए संक्षेप से प्रत्याख्यान संस्तर नाम के श्रेष्ठ अधिकार का निरूपण करता हूँ।

किन कारणों के आने पर संन्यास धारण करें—

उपसर्गेऽतिदुर्भिक्षे वृद्धत्वे व्याधिसंचये।
असाध्ये निष्प्रतीकारे मन्दाक्षे सति कारणे ॥२६४५॥
व्रतभङ्गादिकेऽन्यस्मिन् वा संन्यासं तपस्विनाम्।
विधातुं युज्यते नूनं प्रयत्नेन हिताप्तये ॥२६४६॥

अर्थ—किसी उपसर्ग के आ जाने पर, घोर दुर्भिक्ष पड़ जाने पर, अत्यन्त वृद्धावस्था आ जाने पर, अनेक असाध्य और उपायरहित व्याधियों के आ जाने पर, नेत्रों की ज्योति मंद हो जाने पर वा व्रतभंग के कारण मिल जाने पर वा और भी ऐसे ही अन्य कारण आ जाने पर, तपस्वियों को अपना आत्महित करने के लिए प्रयत्नपूर्वक संन्यास धारण करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

मरण निकट जानकर समाधि का उद्यम व क्षमा माँगना चाहिए—

आसन्नं मरणं स्वस्य कश्चिद्विज्ञाय सन्मुनिः।
निमित्ताद्यैः समाध्यर्थं कुर्यादुद्यममञ्जसा ॥२६४७॥
आपृच्छ्य स्वसुगुर्वादीन् क्षमयित्वा खिलान् परान्।
त्रिशुद्ध्या युक्तिमद्वाक्यैः स्वयं क्षान्त्वा स्वमानसे ॥२६४८॥

अर्थ—श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जानकर समाधि के लिए बहुत शीघ्र उद्यम करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले उन मुनियों को अपने श्रेष्ठ

गुरु से पूछना चाहिए और फिर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक युक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से क्षमा माँगनी चाहिए तथा अपने मन में सबको क्षमा कर देना चाहिए।

स्वगण के त्याग की प्रेरणा—

द्वित्र्यादियोगिभिः सार्द्धं परित्यज्य निजं गणम्।
मोहादिहानये सोऽस्मान्निर्गच्छति समाधये ॥२६४९॥

अर्थ—तदनंतर अपना मोह नाश करने के लिए दो-तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गण का त्याग कर समाधि धारण करने के लिए वहाँ से चल देना चाहिए।

परीक्षा करके ही आचार्य से समाधि का निवेदन करना चाहिए—

क्रमात्परगणस्थं स विख्यातं सूरिपुङ्गवम्।
आसाद्य संपरीक्ष्योच्चैर्नत्वा कार्यं निवेदयेत् ॥२६५०॥

अर्थ—फिर अनुक्रम से चलकर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुँचना चाहिए और उन आचार्य की अच्छी तरह परीक्षा कर तथा उनको नमस्कार कर उनसे अपना कार्य निवेदन करना चाहिए।

कैसे गुणों से युक्त आचार्य को निर्यापकाचार्य बनाएँ—

विश्वभव्यहितोद्युक्तः पञ्चाचारपरो महान्।
आगमे कुशलो धीमान् क्षोभ्यः परमार्थवित् ॥२६५१॥
आलोचितरहस्यापरिस्त्रावीसूरिसत्तमः ।
यः स निर्यापकः कार्य उत्तमः स्वसमाधये ॥२६५२॥

अर्थ—जो समस्त भव्यजीवों का हित करने में तत्पर हों, पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों, बुद्धिमान् हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ को जानने वाले हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किए हुए दोषों को कभी प्रकट न करते हों और जो सर्वोत्तम हों ऐसे उत्तम आचार्य को अपनी समाधि के लिए निर्यापकाचार्य बनना चाहिए।

निर्यापकाचार्य की आवश्यकता—

यथा पत्तनमासन्नाः कर्णधारैर्विनाम्बुधौ।
रत्नहेमभृता नावः प्रमज्जन्ति प्रमादतः ॥२६५३॥
तथा क्षपकनावोऽत्र मुक्तिद्वीपसमीपगाः।
दृग्ज्ञानचरणानर्घ्यरत्नपूर्णा भवाम्बुधौ ॥२६५४॥
निमज्जन्ति न सन्देहो विना निर्यापकैर्भुवि।
प्रमादेन ततो मृग्या मृत्यौ निर्यापका बुधैः ॥२६५५॥

अर्थ—जिस प्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुँची हुई कोई नाव बिना

मल्लाहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षरूपी द्वीप के समीप पहुँची हुई क्षपकरूपी नाव बिना निर्यापकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसाररूपी समुद्र में डूब जाती है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसलिए बुद्धिमान् मुनियों को समाधिमरण धारण करने के लिए निर्यापकाचार्य की अवश्य तलाश कर लेना चाहिए।

आचार्य परीक्षा करके आगन्तुक साधु को स्वीकार करते हैं—

आचार्यः सोऽपि तं युक्त्या प्रपरीक्ष्य परार्थकृत्।
स्वीकुर्यात्स्वगणं पृष्ट्वोत्तमार्थसाधनोद्यतम् ॥२६५६॥

अर्थ—तदनंतर परोपकार करने में तत्पर वे आचार्य भी युक्तिपूर्वक उसकी परीक्षा करते हैं फिर अपने गण को पूछकर मोक्ष के साधन में लगे हुए उन मुनि को अपने पास रहने की स्वीकारता देते हैं।

मुनि एकान्त में दोषों की आलोचना करता है—

ततोऽसौ क्षपको नत्वा ह्येकान्ते सूरिसन्निधौ।
ऋजुचित्तःस्वशुद्ध्यर्थं कुर्यादालोचनं स्फुटम् ॥२६५७॥

अर्थ—तदनंतर सरल हृदय को धारण करने वाला वह क्षपक भी किसी एकांत में आचार्य के समीप नमस्कार कर बैठता है और अपने आत्मा की शुद्धि के लिए स्पष्ट रीति से अपने दोषों की आलोचना करता है।

रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना करें—

मूलोत्तरगुणादीनां रत्नत्रयस्य जातुचित्।
अतीचाराः कृताः स्वेन कारिता ये परेण च ॥२६५८॥
हृदानुमानिता ये तान्त्रिशुद्ध्या सकलान् मलान्।
त्यक्त्वा लोचनदोषान् स सर्वान् सूरिं निवेदयेत् ॥२६५९॥

अर्थ—मूलगुण वा उत्तरगुणों में वा रत्नत्रय में कभी भी जो अतिचार लगाए हों, वा दूसरों से लगवाए हों वा हृदय से उनकी अनुमोदना की हो उन सबको आलोचना के समस्त दोषों से रहित होकर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक आचार्य से निवेदन कर देना चाहिए।

बालकवत् मायाचारी आदि दूषण रहित आलोचना करें—

ऋजुबुद्धिर्यथा बालो ब्रूयात्स्वस्य मनोगतम्।
याथातथ्येन चाजानन् वाच्यावाच्यादिकं वचः ॥२६६०॥
मायाभिमानलज्जादींस्त्यक्त्वा शुद्धमतिस्तथा।
यथाजातान्तथा दोषान् भाषते सूरिसन्निधौ ॥२६६१॥

अर्थ—जिस प्रकार सरल बुद्धि को धारण करने वाला बालक कहने योग्य वा न कहने योग्य वचनों को नहीं जानता हुआ यथार्थ रीति से अपने मन की बात बतला देता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि को धारण करने वाले उन मुनियों को भी मायाचारी, अभिमान और लज्जा को छोड़कर आचार्य के समीप समस्त दोषों को यथार्थ रीति से कह देना चाहिए।

तदनन्तर आचार्य क्षपक को प्रायश्चित्त देते हैं—

तदेवागमदृष्ट्याऽसौ गणी तद्दोषशान्तये।
ददाति विधिना तस्मै प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥२६६२॥

अर्थ—तदनंतर उन दोषों को शांत करने के लिए वे आचार्य भी आगम में कहे अनुसार विधिपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त उनके लिए देते हैं।

तदनन्तर आचार्य एवं क्षपक क्या करते हैं—

ततः स क्षपकः शक्त्या रत्नत्रयविशुद्धये।
यो दत्तः सूरिणा दण्डस्तं सर्वमाचरेत्क्रमात् ॥२६६३॥
यथाचार्यो मुनेस्तस्य हितायाह शुभाशुभान्।
मृत्युभेदान् श्रुतात्सप्तदश नीचोच्चजन्मदान् ॥२६६४॥

अर्थ—तदनंतर वह क्षपक भी अपने रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिए आचार्य के द्वारा दिए हुए समस्त दण्ड को अपनी शक्ति के अनुसार अनुक्रम से पालन करता है। इसके बाद वे आचार्य उन मुनिराज का हित करने के लिए ऊँच और नीच योनि में जन्म देने वाले और इसीलिए शुभ-अशुभ ऐसे मृत्यु के सत्रह भेदों को शास्त्र के अनुसार कहते हैं।

जिनेन्द्रदेव उपदिष्ट मरण के १० भेद—

आवीचिस्तद्भवाख्यं चावधिराद्यन्तसंज्ञकम्।
सशल्यं गृद्धपृष्ठाख्यं जिघ्रासमरणं ततः ॥२६६५॥
व्युत्सृष्टं हि वलाकाख्यं संक्लिश्यमरणं नृणाम्।
मरणानि दशैतानि भाषितानि जिनेश्वरैः ॥२६६६॥

अर्थ—आवीचिमरण, भवमरण, अवधिमरण, आद्यंतमरण, सशल्यमरण, गृद्धपृष्ठमरण, जिघ्रासमरण, व्युत्सृष्टमरण, वलाकामरण और संक्लिश्यमरण इस प्रकार ये दस प्रकार के मरण भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बतलाए हैं।

बालबाल मरणादि मरण के सात भेद—

बालबालमृतिर्बालो बालपण्डितनामकम्।
चतुर्थं मरणं भक्तप्रत्याख्यानाभिधानकम् ॥२६६७॥

इंगनीमरणं नाम प्रायोपगमनाभिधम्।
मरणं सप्तमं सर्वज्येष्ठं पण्डितपण्डितम् ॥२६६८॥

अर्थ—बाल-बाल मरण, बालमरण, बाल-पंडित मरण, भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनी मरण, प्रायोपगमन मरण और सर्वोत्तम पंडित-पंडित मरण इस प्रकार सात मरण ये बतलाए हैं।

१७ प्रकार के मरण किसके कारण?

इमानि देहिनां सप्तदशोक्तानि जिनागमे।
सद्गतीतरकर्तॄणि मरणानि गणेशिना ॥२६६९॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् गणधरदेव ने अपने जिनागम में प्राणियों को सद्गति और असद्गति देने वाले ये सत्रह प्रकार के मरण बतलाए हैं।

आवीचिमरण का स्वरूप—

यथाम्बुधौ जलौघानां वीचयः समयं प्रति।
उद्भूयोद्भूय तत्रैव विलीयन्ते तथाङ्गिनाम् ॥२६७०॥
उद्भूयोद्भूयकर्मायुः पुद्गलाणुषु यः क्षयः।
रसनां प्रत्यहं ज्ञेयमावीचिमरणं हि तत् ॥२६७१॥

अर्थ—जिस प्रकार समुद्र में पानी के समूह की लहरें समय-समय पर उठती हैं और उठ-उठकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार संसारी जीवों का आयुकर्म प्रत्येक समय में उदय होता रहता है और अपना रस देकर खिर जाता है, इसको आवीचिमरण कहते हैं। यह आवीचिमरण प्रतिदिन प्रतिसमय होता रहता है।

भव मरण एवं अवधिमरण का स्वरूप—

भुज्यमानायुषः पुंसो योऽन्तिमे समये भुवि।
प्राणत्यागो हि तद्विद्धि मरणं तद्भवाह्वयम् ॥२६७२॥
प्रकृत्याद्यैश्चतुर्बन्धैर्यादृशैः प्राग्भवे मृतः।
यस्तस्य तादृशैर्यच्चावध्याख्यं मरणं हि तत् ॥२६७३॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी आयु को भोगकर अंतिम समय में प्राण त्याग कर देता है उसको भवमरण कहते हैं। इस जीव ने पहले भव में जैसे प्रकृति, स्थिति आदि चारों प्रकार के कर्मों का बंध कर मरण किया था यदि वैसे ही कर्मों का बंध कर मरण करे तो उसको अवधिमरण कहते हैं।

आद्यंत मरण एवं सशल्य मरण का स्वरूप—

प्राक्तनात्स्वभवाद्बन्धैरन्यादृशैश्चतुर्विधैः ।
प्रकृत्याद्यैर्मृतिर्यानुराद्यन्तमरणं हि तत् ॥२६७४॥

मायामिथ्यानिदानाद्यैः शल्यैः सार्द्धं कषायिणाम्।
यत्प्राणमोचनं निन्द्यं सशल्यमरणं हि तत् ॥२६७५॥

अर्थ—पहले भव में जैसे प्रकृति, स्थिति आदि कर्मों का बंध किया था उससे भिन्न प्रकृति, स्थिति आदि कर्म प्रकृतियों का बंध कर जो मरण करता है उस मरण को आद्यंत मरण कहते हैं। कषायों को धारण करने वाले जीव माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्यों के साथ-साथ जो प्राण त्याग करते हैं उसको निंद्य सशल्य मरण कहते हैं।

गृध्रपृष्ठ मरण एवं जिघ्रास मरण का स्वरूप—

मृत्युर्यः क्रियते हस्तिकलेवरादिषु क्वचित्।
प्रविश्य प्राणिभिर्गृद्धपृष्ठाख्यं मरणं खु तत् ॥२६७६॥
स्वस्य स्वेन दुराचारैः कृत्वा घ्राणनिरोधनम्।
क्रियते स्वात्मघातो यो जिघ्रासमरणं हि तत् ॥२६७७॥

अर्थ—हाथी आदि पशुओं के कलेवरों में प्रवेश कर जो प्राणी मर जाते हैं उसको गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं। जो मनुष्य अपने ही दुराचारों से स्वयं सांस रोककर आत्मघात कर लेते हैं उसको जिघ्रासमरण कहते हैं।

व्युत्सृष्टमरण एवं वलाकामरण का स्वरूप—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मुक्त्वा शठात्मभिः ।
विधीयते मृतिर्याऽत्र व्युत्सृष्टमरणं च तत् ॥२६७८॥
पार्श्वस्थेनाऽत्र यत्प्राणमोचनं शिथिलात्मनाम्।
दीक्षितानां दुराचारैर्बलाकामरणं हि तत् ॥२६७९॥

अर्थ—जो मूर्ख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रयों को छोड़कर मर जाते हैं उसको व्युत्सृष्टमरण कहते हैं। शिथिल आचरणों को धारण करने वाले दीक्षित मुनि अपने दुराचरण के कारण प्राणत्याग करते हैं अथवा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के त्याज्य मुनि जो प्राणत्याग करते हैं उसको वलाकामरण कहते हैं।

संक्लेश मरण एवं बालबाल मरण का स्वरूप—

दृग्ज्ञानचरणाचारेषु संक्लेशं विधाय यः।
मृत्युस्तपस्विनां चित्ते संक्लिश्यमरणं खु तत् ॥२६८०॥
सम्यग्ज्ञानव्रतचारादृते प्राणविसर्जनम्।
मिथ्यादृशां हि यद् बालबालाख्यं मरणं च तत् ॥२६८१॥

अर्थ—अपने हृदय में, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में वा अपने आचरणों में संक्लेश उत्पन्न कर जो तपस्वियों की मृत्यु होती है उसको संक्लेश मरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है उसको बाल-बाल मरण कहते हैं।

बालमरण का स्वरूप—

दृग्ज्ञाने सति सद्दृष्टेर्योऽल्पेतरव्रताद्विना।
शिशोरिव वपुस्त्यागस्तद्बालमरणाह्वयम् ॥२६८२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी अणुव्रत वा महाव्रतों के बिना बच्चे के समान जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उसको बालमरण कहते हैं।

बालपण्डित मरण का स्वरूप—

स्थावरध्वंसनाद्यैर्ये सूक्ष्मपञ्चाघवर्तनैः।
बालास्त्रसाङ्गिरक्षाद्यैः स्थूलपञ्चाघवर्जनैः ॥२६८३॥
पण्डिताः श्रावकाश्चाऽत्र प्रोच्यन्ते बालपण्डिताः।
अणुव्रतजुषां तेषां मरणं बालपण्डितम् ॥२६८४॥

अर्थ—श्रावक लोग स्थावर जीवों की हिंसा, सूक्ष्म मिथ्याभाषण आदि सूक्ष्मरूप से पाँचों पापों की प्रवृत्ति करने के कारण बालक कहलाते हैं तथा त्रस जीवों की रक्षा करते हैं, स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं, इस प्रकार स्थूल रीति से पाँचों पापों का त्याग कर देते हैं, इसलिए वे पंडित कहलाते हैं। इस प्रकार वे श्रावक बालपंडित कहलाते हैं। उन अणुव्रत धारण करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रावकों का जो मरण है उसको बालपंडित मरण कहते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान एवं इंगिनी मरण का स्वरूप—

यद्भक्ताहारपानादींस्त्यक्त्वा स्वस्य प्रतिज्ञया।
प्राणोज्झनं च सा भक्तप्रत्याख्यानाह्वया मृतिः ॥२६८५॥
आत्मनोऽत्रेङ्गिताकारेणाभिप्रायेण योगिभिः।
साध्यते मरणं यत्तदिङ्गिणीमरणं हि तत् ॥२६८६॥

अर्थ—जो मुनि प्रतिज्ञापूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्यागकर प्राण त्याग करता है उसको भक्तप्रत्याख्यान नाम का मरण कहते हैं। जो योगी अपने आत्मा के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसको इंगिनी मरण कहते हैं।

प्रायोपगमन मरण का स्वरूप—

प्रायेणोपगमं कृत्वा जना स्थानाद्वनान्तरे।
पापाद्वैकाकिना धीरयमिना यच्चभाव्यते ॥२६८७॥
मरणं स्ववपुःक्षिप्त्वा ह्येकस्मिन्नचलासने।
कस्मिंश्चिन्मरणं तत्स्यात्प्रायोपगमनाह्वयम् ॥२६८८॥

अर्थ—जो धीर वीर एकाकी मुनि पापरूप मनुष्यों के स्थान को छोड़कर प्रायः निर्जन वन में चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसको प्रायोपगमन मरण कहते हैं।

पण्डित मरण के भेद एवं उसके स्वामी कौन?

भक्तोज्झनादिनामानो मृत्युभेदास्त्रयोप्यमी ।
ज्ञेया पण्डितमृत्योश्च प्रमत्तादिमहात्मनाम् ॥२६८९॥

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनी मरण और प्रायोपगमन मरण ये तीनों मरण पण्डित मरण के भेद हैं और प्रमत्त संयमी वा अप्रमत्त संयमियों के होते हैं।

पण्डित-पण्डित मरण का स्वरूप—

त्यक्त्वा केवलिनां प्राणान् गमनं यच्छिवालये।
मरणं तज्जगज्ज्येष्ठं वन्द्यं पण्डितपण्डितम् ॥२६९०॥

अर्थ—केवली भगवान् जो अपने शरीर को छोड़कर मोक्ष के लिए गमन करते हैं, वह तीनों लोकों में उत्तम और वंदनीय पण्डित-पण्डित मरण कहलाता है।

सैकड़ों जन्म को नष्ट करने वाले पण्डित मरण की प्रेरणा—

अमीषां मरणानां च मध्ये यत्पण्डिताह्वयम्।
मरणं क्षपक त्वं सत्साधयाऽत्राति यत्नतः ॥२६९१॥
साधितं मरणं ह्येकं पण्डिताख्यं प्रयत्नतः।
बहुजन्मशतादीनि क्षपकाणां छिनत्त्यहो ॥२६९२॥

अर्थ—हे क्षपक! इन सब मरणों में जो पण्डित मरण है उसी को तू प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर। यदि यह एक पण्डित मरण ही प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जायेगा तो उससे उस क्षपक के अनेक सैकड़ों जन्म-मरण क्षणभर में नष्ट हो जायेंगे।

कैसे मरणयुक्त मरण करना चाहिए?

अतः सन्मरणेनात्र मर्तव्यं तेन धीधनैः।
येनोत्पत्तिः पुनर्नस्याज्जन्ममृत्युजरांबिकाम् ॥२६९३॥

अर्थ—अतएव बुद्धिमानों को श्रेष्ठ मरण से ही मरना चाहिए, जिससे कि जन्म, मरण और बुढ़ापे को उत्पन्न करने वाला जन्म फिर कभी न हो।

कैसे जीव समाधिमरण रहित मरण करते हैं—

ये प्रणष्टमतिज्ञानाश्चतुःसंज्ञाबिडम्बिताः।
कौटिल्यपरिणामाश्च मोहारिग्रसिताः शठाः ॥२६९४॥

कषायाकुलचेतस्काः सनिदाना दृगुज्झिताः।
आर्तरौद्रत्रिदुर्लेश्याः शुभध्यानातिगा नराः ॥२६९५॥
असमाधिहृदा क्लेशेन म्रियन्ते समाधिना।
आराधके न ते प्रोक्ता मृतौ संसृतिवर्द्धनात् ॥२६९६॥

अर्थ—जिन जीवों का मतिज्ञान नष्ट हो गया है, जो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञाओं से विडंबित हैं, जिनके परिणाम कुटिल रहते हैं, जो मोहरूपी शत्रु से दबे हुए हैं, जो मूर्ख हैं, जिनके हृदय कषाय से आकुलित रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं, जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान में लीन रहते हैं, पहली तीन अशुभ लेश्याओं को धारण करते हैं, जो शुभध्यान से बहुत दूर रहते हैं और जिनके हृदय में कभी भी समाधि को स्थान नहीं मिलता, ऐसे लोग बिना समाधिमरण के केवल क्लेशपूर्वक ही मरते हैं, इसलिए आराधना करने वालों को मरण के समय इन सबका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ये सब जन्म-मरणरूप संसार को बढ़ाने वाले हैं।

कौन जीव देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं—

मरणे नष्टबुद्धीनां विराधिते सति स्फुटम्।
देवदुर्गतयो नूनं भवन्त्यत्राशुभाकराः ॥२६९७॥

अर्थ—नष्ट बुद्धि को धारण करने वाले जो लोग अपने मरण की विराधना कर देते हैं वे जीव महापाप की खानि ऐसी देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं।

रत्नत्रय की प्राप्ति इस लोक में दुर्लभ है—

बोधिं सम्यक्त्वमत्यन्तदुर्लभं भवकोटिभिः।
आगमिष्यति काले ह्यनन्ता दुर्भवपद्धतिः ॥२६९८॥

अर्थ—इस लोक में रत्नत्रय और सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, करोड़ों भवों में भी प्राप्त नहीं होता। यदि प्राप्त होता है तो काललब्धि के अनुसार प्राप्त होता है तथा नीच जन्मों की परम्परा अनंतबार प्राप्त होती चली आ रही है।

देव दुर्गति आदि क्या है, शिष्य ऐसा प्रश्न करता है—

देवदुर्गतयः काश्च का बोधिर्मरणं हृदा।
विनश्यति मुमुक्षूणां कीदृशेन भवो भवेत् ॥२६९९॥
अनन्तः केन शिष्येण पृष्टः सूरिरिति स्फुटम्।
उवाच देवदुर्गत्यादिकं सर्वं तदीहितम् ॥२७००॥

अर्थ—यहाँ पर कोई शिष्य अपने आचार्य से पूछता है कि हे प्रभो! देवदुर्गति क्या है? रत्नत्रय किसको कहते हैं? मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों का मरण कैसे हृदय से नष्ट हो जाता है जिससे कि उसको अनंत संसार की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में आचार्य उस शिष्य की इच्छानुसार देव

दुर्गति आदि का स्वरूप कहते हैं।

देवदुर्गति एवं उसमें उत्पन्न जीव का स्वरूप—

कांदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषाकरम्।
स्वमोहत्वं तथैवासुरत्त्वमेतैः कुलक्षणैः ॥२७०१॥
सम्पन्ना दुर्द्धियो मृत्वा गच्छन्ति देवदुर्गतीः।
कंदर्पाद्या इति प्रोक्ता नीचयोनिभवा दिवि ॥२७०२॥

अर्थ—जो मूर्ख कंदर्प जाति के कुलक्षणों को अभियोग्य जाति के कुलक्षणों को पाप की खानि ऐसे किल्विष रूप कुलक्षणों को स्वमोहत्व और असुररूप कुलक्षणों को धारण कर मरते हैं वे देव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं। स्वर्गों में कंदर्प आदि नीच योनि में उत्पन्न होने वाले जो देव हैं उन्हीं की गति को देव दुर्गति कहते हैं।

कैसे पाखण्डी साधु कंदर्पमय क्रिया करने वाले देव होते हैं—

असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसरागवचनादिकान्।
कन्दर्पोद्दीपकांल्लोके कंदर्परतिरञ्जितः ॥२७०३॥
कन्दर्पाः सन्ति देवा ये नग्नाचार्याः सुरालये।
कन्दर्पकर्मभिस्तेषु ह्युत्पद्यते स तत्समः ॥२७०४॥

अर्थ—जो साधु होकर भी असत्य वचन बोलते हैं, हँसी-ठहाका के वचन कहते हैं, राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं, कामदेव को बढ़ाने वाले उत्तेजित करने वाले वचन कहते हैं और जो कामसेवन में लीन हो जाते हैं, ऐसे जीव मरकर स्वर्ग में कंदर्प जाति के देव होते हैं वहाँ पर भी वे काम को बढ़ाने वाली क्रियाएँ ही करते रहते हैं। इस प्रकार कंदर्पमय क्रियाओं के करने से वे पाखंडी स्वर्ग में भी वैसे ही कंदर्पमय क्रियाएँ करने वाले होते हैं। ऐसे देवों को नग्नाचार्य भी कहते हैं।

कैसे साधु वाहन जाति के देव बनते हैं—

मन्त्रतन्त्रादिकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च।
ज्योतिष्कभेषजादीनि परा कार्याशुभानि च ॥२७०५॥
हास्यकौतूहलादीनि करोति स्वेच्छया वदेत्।
हस्त्यश्ववाहनेष्वत्र जायते सोऽमरोऽधमः ॥२७०६॥

अर्थ—जो मनुष्य साधु होकर भी मंत्र-तंत्र आदि अनेक कार्यों को करता है, ज्योतिष्क वा वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और भी बहुत से अशुभ कार्य करता है, हँसी करता है, कौतूहल-तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है, वह मरकर हाथी, घोड़ा आदि बनने वाले वाहन जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है।

कैसा आचरण करने से साधु मरकर किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न होता है—

तीर्थकृतां च सङ्घस्य चैत्यचैत्यालयस्य च।
आगमस्याविनीतो यः प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥२७०७॥
मायावी किल्विषाक्रान्तः किल्विषादि-कुकर्मभिः।
स किल्विषसुरो नीचो भवेत्किल्विष-जातिषु ॥२७०८॥

अर्थ—जो तीर्थंकरों की अविनय करता है, संघ की अविनय करता है, चैत्य-चैत्यालयों की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्मात्माओं के प्रतिकूल रहता है, जो मायाचारी है और महापापी है वह अपने महापापों के कारण किल्विष जाति के देवों में नीच किल्विष देव होता है।

कैसे साधु मरकर नीच व मोह जाति में उत्पन्न होते हैं—

उन्मार्गदेशको योऽत्र जिनमार्गविनाशकः।
सन्मार्गाद्विपरीतोऽत्र दृष्टिहीनः कुमार्गगः ॥२७०९॥
मिथ्यामायादिमोहेन मोहयन् मोहपीडितः।
जायते स स्वमोहेषु स्वभंडामरजातिषु ॥२७१०॥

अर्थ—जो साधु कुमार्ग का उपदेश देता है, जिनमार्ग का नाश करता है, श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है, कुमार्गगामी है, जो मिथ्यात्व, मायाचारी आदि तीव्र मोह से मोहित है, जो तीव्रमोह के कारण अत्यन्त दुःखी है वे स्वच्छन्द देवों में उत्पन्न होते हैं। देवों की स्वभंड नाम की नीच जाति में स्वमोह वा श्वमोह (कुत्ते के समान इधर-उधर स्वच्छंद फिरने वाले) देव होते हैं।

अम्बावरीष जाति में एवं असुरकुमारों में कैसे कर्म वाले साधु उत्पन्न होते हैं—

क्षुद्रः क्रोधी खलो मानी मायावी दुर्जनो यतिः।
युक्तोऽनुबद्धवैरेण तपश्चारित्रकर्मषु ॥२७११॥
संक्लिष्टः सनिदानो य उत्पद्यतेऽघकर्मणा।
रौद्रासुरकुमारेषु सोऽम्बरादि-कुजातिषु ॥२७१२॥

अर्थ—जो साधु क्षुद्र हैं, क्रोधी हैं, दुष्ट हैं, अभिमानी हैं, मायाचारी हैं, दुर्जन हैं, जो पहले जन्म के वा इसी भव के पहले वैर भावों को धारण करते हैं, जो तपश्चरण और चारित्र की क्रियाओं में संक्लेशता धारण करते हैं और जो निदान करते रहते हैं वे पापरूप कर्मों के कारण अंबावरीष जाति के नीच और रौद्र असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं।

रत्नत्रय की प्राप्ति कैसे साधु को दुर्लभ है—

मिथ्यादर्शनरक्ता ये सनिदानाः कुमार्गगाः।
कृष्णलेश्योद्धता रौद्रपरिणामागुणातिगाः ॥२७१३॥

त्यक्त्वा सद्दर्शनं संक्लेशान्म्रियन्ते समाधिना।
संसारे भ्रमतां तेषां बोधिश्चातीवदुर्लभा ॥२७१४॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं, जो कुमार्गगामी हैं, कृष्णलेश्या को धारण करने के कारण जो अत्यन्त उद्धत रहते हैं, जो रौद्र परिणामों को धारण करते हैं और गुणों से सर्वथा दूर रहते हैं, ऐसे जो जीव सम्यग्दर्शन को छोड़कर बिना समाधि के संक्लेश परिणामों से मरते वे जीव सदा इस संसार में परिभ्रमण किया करते हैं। उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाती है।

रत्नत्रय की प्राप्ति दूसरे भव में भी कैसे जीवों को सुलभ है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना अनिदानाः शुभाशयाः।
शुक्ललेश्याः शुभध्यानरताः सिद्धान्तवेदिनः ॥२७१५॥
धर्मध्यानादिसंन्यासै र्ये म्रियन्ते समाधिना ।
तेषामासन्नभव्यानां सुलभा बोधिरुत्तमा ॥२७१६॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, कभी निदान नहीं करते, जिनका हृदय शुद्ध है, जो शुक्ललेश्या धारण करते हैं, शुभध्यान में सदा लीन रहते हैं और सिद्धान्त शास्त्रों को जानते हैं, ऐसे जो मुनि समाधिपूर्वक धर्मध्यान वा शुक्लध्यान धारणकर संन्यास से मरण करते हैं उन आसन्न भव्यजीवों के उत्तम रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त सुलभ रीति से हो जाती है।

कैसे जीव अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं—

गुरूणां प्रत्यनीका ये दीर्घमिथ्यात्ववासिताः।
बहुमोहावृता दुष्टा आर्तरौद्रपरायणाः ॥२७१७॥
मदोद्धताः कुशीलाश्च म्रियन्तेऽत्रासमाधिना।
स्युस्ते ह्यनन्तसंसारा विश्वदुःखशताकुलाः ॥२७१८॥

अर्थ—जो जीव आचार्य वा गुरु से सदा प्रतिकूल रहते हैं, जो दीर्घ मिथ्यात्व को धारण करते हैं, जो तीव्र मोह से घिरे हुए हैं, जो दुष्ट हैं, आर्त-रौद्र परिणामों को धारण करते हैं, मद से मदोन्मत्त हैं, जो कुशीली हैं, ऐसे जीव बिना समाधि के मरकर अनंत संसार में परिभ्रमण किया करते हैं और सब तरह के सैकड़ों महा दुःखों से व्याकुल रहते हैं।

कैसे जीव संसार से शीघ्र पार हो जाते हैं—

जिनवाक्यानुरक्ता ये गुरूणां भक्तितत्पराः।
शुद्धभावाः सदाचारा रत्नत्रयविभूषिताः ॥२७१९॥
गुर्वाज्ञापालकादक्षा धर्मध्यानसमाधिना।
उत्तमं मरणं यान्ति स्युस्ते संसारपारगाः ॥२७२०॥

अर्थ—जो जीव जिनवाणी में सदा अनुरक्त रहते हैं, गुरुओं की भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, सदाचार पालन करते हैं, रत्नत्रय से सुशोभित हैं, गुरु की आज्ञा को सदा पालन करते रहते हैं और जो चतुर हैं, ऐसे जीव धर्मध्यान और समाधिपूर्वक उत्तम मरण को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं।

दुर्मरण से मरने का फल—

बालबालाशुभान्मृत्यून् मरिष्यन्ति बहूंश्च ते।
जिनवाक्यं न जानन्ति वराका येऽघवंचिताः ॥२७२१॥
स्वान्यशस्त्रादिघातेन विषादिभक्षणेन च।
जलानलप्रवेशाभ्यामनाचारादिकोटिभिः ॥२७२२॥
उच्छ्वासरोधनाद्यै र्ये र्दुमृतिं स्वस्य कुर्वते।
जन्ममृत्युजरादुःखौघस्तेषां वर्द्धते तराम् ॥२७२३॥

अर्थ—जो जीव अनेक बार अत्यन्त अशुभ ऐसे बाल-बाल मरण से मरते हैं, जो जिनवचनों को जानते ही नहीं, जो नीच हैं, पाप से ठगे हुए हैं, जो अपने ही शस्त्र से वा दूसरे के शस्त्र घात से मरते हैं वा विष भक्षण से मरते हैं, जल में डूबकर वा अग्नि में जलकर मरते हैं वा करोड़ों अनाचारों के कारण श्वास रोक कर मरते हैं, इस प्रकार जो दुर्मरण से मरते हैं, उनके जन्म-मरण-जरा आदि अनेक दुःखों के समूह निरंतर बढ़ते रहते हैं।

आचार्य क्षपक को बाल-बाल मरण का स्वरूप उसके त्याग हेतु समझाते हुए पंडित मरण की प्रेरणा—

उद्वेगभयसंक्लेशै-रूर्ध्वाधस्त्रिजगत्स्वपि।
त्रसस्थावरजीवेषु पराधीनतया त्वया ॥२७२४॥
मरणानि ह्यनन्तानि बालबालाशुभानि च।
अन्यैः प्राप्तानि च सर्वैरक्षान्धैर्बोधिदूरगैः ॥२७२५॥

अर्थ—हे क्षपक! इस ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोकरूप तीनों लोकों में तथा त्रस, स्थावर आदि अनेक जीव योनियों में पराधीन होकर उद्वेग, भय और संक्लेशरूप परिणामों से अनंतबार अशुभ बाल-बाल मरण किए हैं तथा इसी प्रकार रत्नत्रय से रहित और जीवों की रक्षा करने में अंधे ऐसे अन्य समस्त जीवों ने अनंतबार बाल-बाल मरण किए हैं।

क्षपक त्रियोगशुद्धि पूर्वक ४ आराधना की शुद्धि करता है—

ज्ञात्वेति क्षपकेह त्वं म्रियस्वाखिलयत्नतः।
पण्डितेन मुदा येन मृत्युघ्नश्च भविष्यसि ॥२७२६॥

इत्याचार्योपदेशेन योग्यस्थाने मठादिके।
समाधिसिद्धये युक्त्या संस्तरं स प्रपद्यते ॥२७२७॥

अर्थ—यही समझकर हे क्षपक! तू प्रसन्न होकर प्रयत्नपूर्वक पंडित मरण से मर, जिससे कि तेरा जन्म-मरण सदा के लिए नष्ट हो जाए। इस प्रकार प्राचार्य का उपदेश सुनकर वह क्षपक अपनी समाधि धारण करने के लिए युक्तिपूर्वक किसी मठ आदि योग्य स्थान में संस्तर स्वीकार करता है।

क्षपक ४ आराधना की शुद्धि एवं धारण करने के लिए कैसा चिंतन करता है—

तदैवाराधना शुद्धीश्चतुर्विधा दृगादिकाः ।
मनोवाक्कायसंशुद्ध्या कर्तुमारभते सुधीः ॥२७२८॥
शङ्कादिदोषदूरस्थाः सद्गुणाष्टविभूषिताः।
धर्मरत्नखनी मेऽस्तु दृग्विशुद्धिर्दृढापरा ॥२७२९॥
सर्वज्ञध्वनिसंभूता स्वांगपूर्वादिगोचरा ।
शुद्ध्या भवतु मे ज्ञानाराधनाचारपूर्विका ॥२७३०॥
त्रयोदशविधा पूर्णा व्रतैः समितिगुप्तिभिः।
सर्वैः दोषातिगा चास्तु चारित्राराधना मम ॥२७३१॥
समस्तेच्छानिरोधोत्थां तप आराधनां पराम्।
उग्रोग्राख्यां द्विषड्भेदां कुर्वेऽहं कर्महानये ॥२७३२॥

अर्थ—तदनंतर वह बुद्धिमान् मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक सम्यग्दर्शन आदि चारों प्रकार की आराधनाओं की शुद्धि करना प्रारंभ करता है। वह चिंतन करता है कि शंकादिक दोषों से रहित तथा निःशंकित आदि आठों गुणों से सुशोभित और धर्मरत्न की खानि ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मेरी सदा उत्कृष्ट और दृढ़ बनी रहे। जो ज्ञानाराधना भगवान् सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से प्रकट हुई है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के गोचर है ऐसी आचारपूर्वक मेरी ज्ञानाराधना की सदा शुद्धि बनी रहे। पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समितियों से परिपूर्ण ऐसी तेरह प्रकार की मेरी चारित्राराधना समस्त दोषों से रहित हो। मैं अपने कर्म नष्ट करने के लिए समस्त इच्छाओं के निरोध करने से उत्पन्न हुई तथा घोर वा उग्र-उग्ररूप को धारण करने वाली और बारह प्रकार के भेदों से सुशोभित ऐसी तप आराधना को धारण करूँगा।

पुनः क्षपक ४ महा आराधना को धारण करता है—

आराधना इमाः सारा महतीश्चचतुर्विधाः ।
सर्वोत्कृष्टाः करोत्येष विशुद्धा मुक्तिमातृकाः ॥२७३३॥

अर्थ—इस प्रकार चिंतन करता हुआ वह क्षपक मोक्ष की इच्छा देने वाली, अत्यन्त विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत ऐसी इन चारों प्रकार की महा आराधनाओं को धारण करता है।

क्षपक पुनः कषाय एवं काय का सल्लेखना करता है—

तथा कषायकायाभ्यां द्विधा सल्लेखनां कृती।
विधत्ते भुवि निःशल्यः क्षमातोषादिभिः परैः ॥२७३४॥

अर्थ—तदनंतर शल्यरहित वह बुद्धिमान् वह क्षपक क्षमा, संतोष आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर कषाय और काय दोनों की सल्लेखना करता है अर्थात् कषायों को घटाता है और शरीर से ममत्व का त्याग करता है।

कषाय सल्लेखना करने की विधि—

आदौ कुर्यात्कषायाणां परां सल्लेखनामिति।
क्षमेऽहं विश्वजीवानामपराधं किलाञ्जसा ॥२७३५॥
कृतं मयापराधं मे क्षम्यतां त्रिजगज्जनाः।
सर्वभूतेषु मैत्री च ममाऽस्तु सुखकारिणी ॥२७३६॥

अर्थ—वह क्षपक सबसे पहले कषायों की सल्लेखना करता है वह कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूँ तथा मुझसे जो अपराध बने हों, उनको तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर दें तथा सुख देने वाली मेरी मैत्री समस्त जीवों में हो।

पुनः क्षपक सम्पूर्ण विकारों का त्यागपूर्वक
समस्त पदार्थों में निर्ममत्व भाव धारण करता है—

गुणानुराग एवालं न वैरं केनचित्समम्।
रागं कषायसम्बन्धं प्रद्वेषं हर्षमञ्जसा ॥२७३७॥
दीनभावं भयं शोकं सोत्सुकत्वं कुचिन्तनम्।
कालुष्यं कृत्स्नदुर्ध्यानं स्नेहं रत्यरतिद्वयम् ॥२७३८॥
जुगुप्सादिकमन्यद्वा त्रिशुद्ध्या व्युत्सृजाम्यहम्।
सर्वभूतदयाचित्तः शत्रुमित्रादिवर्जितः ॥२७३९॥
ममत्वं निजदेहादौ जहामि सर्वथाखिलान्।
निर्ममत्वं सदा चित्ते प्रकुर्वे त्रिजगत्स्वपि ॥२७४०॥

अर्थ—समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ बैर भाव नहीं रखता, मैं राग को, कषायों के संबंध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनतारूप परिणामों को, भय, शोक को, उत्सुकता को, अशुभ ध्यान को, कलुषता को, सब तरह के दुर्ध्यान को, स्नेह को, रति तथा अरति को, जुगुप्सा को तथा और भी कर्मजन्य जो आत्मा के विकार हैं, उन सबका मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक त्याग कर देता हूँ। मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिए दया धारण करता हूँ तथा सबसे शत्रुता वा मित्रता का त्याग करता हूँ। मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूँ, मैं तीनों लोकों

के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूँ।

क्षपक किस प्रकार का आत्मचिंतन करता है—

आत्मैकालम्बनं मेऽस्तु सार्द्धं दृगादिसद्गुणैः।
तं बिना त्रिजगज्जालं सर्वं द्रव्यं त्यजाम्यहम् ॥२७४१॥
आत्मैव मे परं ज्ञानमात्मा क्षायिकदर्शनम्।
आत्मा परमचारित्रं प्रत्याख्यानं च निर्मलम् ॥२७४२॥
आत्मैव सकलो योग आत्मैव मोक्षसाधनः।
यतोऽत्रै तेगुणाः सन्ति विनात्मानं न जातुचित् ॥२७४३॥
एकाकी म्रियते देहो ह्येक उत्पद्यते विधेः।
एको भ्रमति संसारे एकः शुद्ध्यति नीरजाः ॥२७४४॥
एको मे शाश्वतोऽत्रात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।
शेषा मेऽङ्गादयो भावा बाह्याः संयोगसम्भवाः ॥२७४५॥

अर्थ—अब मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ-साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूँ, उसके सिवाय तीनों लोकों में भरे हुए समस्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूँ। मेरा यह आत्मा ही परम ज्ञान है, आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही परम चारित्र है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है। मेरा यह आत्मा ही समस्त योगरूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है क्योंकि आत्मा में जितने गुण हैं वा मोक्ष के कारणभूत जितने गुण हैं वे बिना आत्मा के कभी हो ही नहीं सकते हैं। यह प्राणी इस संसार में कर्म के निमित्त से अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप यह मेरा एक आत्मा ही नित्य है, बाकी के शरीरादिक जितने मेरे बाह्य भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं और सब कर्मादिक के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

पुनः क्षपक संयोगों का त्याग करके निंदापूर्वक प्रतिक्रमण करता है—

येन संयोगमूलेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।
मया तं कर्मजं सर्वं संयोगं व्युत्सृजाम्यहम् ॥२७४६॥
मूलोत्तरगुणादीनां मध्ये नाराधितो गुणः।
यः कश्चित्तं त्रिधा दोषं गर्हे प्रतिक्रमामि च ॥२७४७॥

अर्थ—जिस कर्म के संयोग से मुझे अनादिकाल से आज तक दुःखों की परंपरा प्राप्त हुई है, उन कर्मों से उत्पन्न हुए समस्त संयोगों को मैं त्याग करता हूँ। मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कोई गुण मैंने आराधन न किया हो उस दोष की मैं मन-वचन-काय से गर्हा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उसके लिए प्रतिक्रमण करता हूँ।

पुनः सात भयादि की निंदा करता है—

भयान् सप्तमदानष्टौ चतु:संज्ञास्त्रिगौरवान्।
गर्हेऽहं च त्रयस्त्रिंशदासादना हि सर्वथा ॥२७४८॥

अर्थ—मैं सातों भयों की निंदा करता हूँ, आठों मदों की निंदा करता हूँ, चारों संज्ञाओं की निंदा करता हूँ, तीनों गौरव वा अभिमानों की निंदा करता हूँ और तैंतीस आसादनाओं की सर्वथा निंदा करता हूँ।

पुनः सप्त भय एवं अष्ट मदों का त्याग करता है—

इहामुत्रभयोऽत्राणागुप्तिमृत्युभयानि च।
वेदनाकस्मिकश्चैते जहामि भयसप्तकम् ॥२७४९॥
विज्ञानैश्वर्यमाज्ञा च कुलजातितपोबलाः।
रूपं सत्सु गुणेष्वत्रैतेषु गच्छामि नो मदम् ॥२७५०॥

अर्थ—इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी रक्षा न होने का भय, अगुप्ति (नगर में परकोट के न होने) का भय, मृत्यु का भय, वेदना का भय और आकस्मिक भय ये सात भय हैं, मैं इन सातों भयों का त्याग करता हूँ। ज्ञान का मद, ऐश्वर्य का मद, आज्ञा का मद, कुल का मद, जाति का मद, तप का मद, बल का मद और रूप का मद ये आठ मद हैं। मैं इन गुणों में होने वाले सब मदों का त्याग करता है।

क्षपक ३३ आसादनाओं के त्याग का संकल्प करता है—

पञ्चैवात्रास्तिकायाश्च षड्जीवजातयस्ततः।
महाव्रतानि पञ्च प्रवचनस्याष्टमातरः ॥२७५१॥
पदार्था नव चोक्ता हि त्रयस्त्रिंशदिति स्फुटम्।
आसादना जिनैर्जातु मनाक् कार्या मया न भोः॥२७५२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पाँच अस्तिकाय, छह प्रकार के जीव, पाँच महाव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएँ, नौ पदार्थ बतलाए हैं, इन सबकी संख्या तैंतीस होती है इन तैंतीसों से संबंध रखना वा इनसे ममत्व रखना इनका तिरस्कार करना इनके निमित्त से रागद्वेष उत्पन्न करना तैंतीस आसादनाएँ बतलाई हैं इन आसादनाओं को मैं रंचमात्र भी नहीं लगने दूँगा।

कैसे ध्यानपूर्वक हृदय में सल्लेखना धारण करनी चाहिए—

निन्दनीयं च यत्किंञ्चित्सर्वं निन्दामि तद्हृदि।
गर्हणीयमकृत्यं यद् गर्हेतद् गुरुसन्निधौ ॥२७५३॥
इत्याद्यन्यशुभध्यानैः कृत्वा सल्लेखनां हृदि ।
कषायाणां पुनः कुर्यात् कायसल्लेखनां यतिः ॥२७५४॥

अर्थ—इस संसार में जो कुछ निंदनीय है, उसकी मैं अपने हृदय में निंदा करता हूँ तथा जो गर्हा करने योग्य दुष्कृत्य हैं उनकी मैं गुरु के समीप में गर्हा करता हूँ। इस प्रकार के ध्यान से अथवा और भी शुभ ध्यानों से अपने हृदय में कषायों की सल्लेखना करनी चाहिए और फिर उस मुनि को काय की सल्लेखना करनी चाहिए।

क्षपक शरीर को कैसे कृश करें—

षष्टाष्टमादिपक्षैकमासाद्यनशनैः परैः।
तपोभेदैर्द्विषड्भिश्च शोषयेत् क्रमतो वपुः ॥२७५५॥

अर्थ—वेला-तेला करके वा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास करके तथा और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण करके अनुक्रम से अपने शरीर को कृश करना चाहिए।

किस क्रम से क्षपक अन्नादिक का त्याग करता है—

ततस्त्यक्त्वा क्रमेणान्नं स्तोकस्तोकेन धर्मधीः।
गृह्णाति केवलं नीरं धर्मध्यानसमाधये ॥२७५६॥
पश्चाद्युक्त्याम्बुपानं च परित्यज्य करोति सः।
परलोकोत्तमार्थाय ह्युपवासान्निरन्तरम् ॥२७५७॥

अर्थ—तदनंतर उस धर्मबुद्धि को धारण करने वाले यति को धर्मध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिए थोड़ा-थोड़ा करके अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिए। तदनंतर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिए वा मोक्ष प्राप्त करने के लिए युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सदा के लिए उपवास धारण कर लेता है।

किस विधि से क्षपक इन्द्रिय आदि का मुंडन करता है—

मुण्डनं दशमुण्डानां करोत्येषु सुयुक्तितः।
संकोच्येन्द्रियवाक्कायमनोऽवयवचञ्चलान् ॥२७५८॥
स्वस्वाक्षविषयेष्वत्र व्रजतः पञ्चखात्मकान्।
जित्वा शक्त्या स पञ्चेन्द्रियमुण्डान् कुरुते बलात् ॥२७५९॥
मौनेन वचसः कृत्वा मुण्डनं हस्तपादयोः।
वपुषो रोधनं युक्त्या स्वस्वेच्छाचलनाद्बुधः ॥२७६०॥
निरुध्य श्रुतपाशेन भ्रमन्तं चित्तमर्कटम्।
पञ्चेति मुण्डनान्येष करोति च शिवाप्तये ॥२७६१॥

अर्थ—तदनंतर वह क्षपक पाँचों इन्द्रिय मन-वचन-काय और शरीर की चंचलता को छोड़कर युक्तिपूर्वक दस प्रकार का मुंडन धारण करता है। पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में दौड़ लगाती हैं उनको अपनी शक्ति के अनुसार जीतकर जबर्दस्ती पाँचों इन्द्रियों को मुंडन करता है। इसी प्रकार

मौन धारण कर वचन का मुंडन करता है, हाथ-पैरों की क्रियाओं को रोककर हाथ-पैरों का मुंडन करता है तथा वह बुद्धिमान् अपनी इच्छानुसार चलायमान होने वाले शरीर को रोककर शरीर का मुंडन करता है। चारों ओर कूदते हुए इस मनरूपी बंदर को भी श्रुतज्ञान के जाल में बाँधकर मनका मुंडन कर लेता है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए वह यति हाथ, पैर, शरीर, मन और वचन इन पाँचों का मुंडन करता है।

मुंडन के भेद—

पञ्चेन्द्रियारिमुण्डास्त्रिमुण्डाहस्ताङ्घ्रिकायजाः।
मनो वचो द्विमुण्डौ चामी मुण्डा दश वर्णिताः ॥२७६२॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का मुंडन, हाथ-पैर और शरीर का मुंडन तथा मन और वचन का मुंडन इस प्रकार आचार्यों ने दस प्रकार का मुंडन बतलाया है।

किसका मुंडन व्यर्थ है—

अमीभिर्मुण्डनैर्दीक्षा सफलामुक्तिदा सताम्।
एभिर्विना जिताक्षाणां शिरसो मुण्डनं वृथा ॥२७६३॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों की मोक्ष देने वाली दीक्षा इन्हीं दस मुंडनों से सफल मानी जाती है। इन मुंडनों के बिना इन्द्रियों को न जीतने वाले लोगों के मस्तक का मुंडन करना व्यर्थ ही है।

अधिक भूखादि की वेदना होने पर क्षपक किस प्रकार चिंतन करता है—

तस्मिन्बहूपवासानां करणे तीव्रवेदना।
क्षुधाद्यैर्यदि जायेत तदेति चिन्तयेत्सुधीः ॥२७६४॥
अहो क्षुद्वेदना श्वभ्रे साध्या विश्वान्नभक्षणैः।
अब्धिनीरैस्तृषा पीडा चानुभूता मया चिरम् ॥२७६५॥
मयात्रारण्यशैलादौ मृगादिपशुजातिषु।
मृगतृष्णादिभिः प्राप्ता तीव्रा क्षुत्तृट्कुवेदना ॥२७६६॥
इत्याद्या अपरा घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः।
भ्रमताऽत्रभवारण्येऽनुभूता दुस्सहा मया ॥२७६७॥
सर्वा पुद्गलराशिश्चान्नाद्याऽत्र भक्षिता मया।
क्षुत्तृषाशान्तये पीतमब्ध्यम्बोरधिकं जलम् ॥२७६८॥
तथापि न मनागासीत् तृप्तिर्मेऽन्नादिभक्षणैः।
किन्तु नित्यं प्रवर्द्धेतेऽतीवक्षुत्तृट्कुवेदने ॥२७६९॥

अर्थ—इस प्रकार उपवास धारण करने से यदि भूख-प्यास की वेदना अधिक होती हो तो उस बुद्धिमान् क्षपक को भी नीचे लिखे अनुसार चिंतन करना चाहिए। देखो मैंने नरकों में भूख की इतनी

महावेदना सहन की है कि यदि उस समय तीनों लोकों का समस्त अन्न खाने को मिल जाता तो भी वह भूख नहीं मिटती तथा वहीं पर प्यास की भी इतनी वेदना सही है कि यदि तीनों लोकों के समुद्रों का जल भी पीने को मिल जाता तो वह प्यास नहीं मिटती। इसी प्रकार जंगल और पर्वतों पर हिरण आदि पशुओं की पर्याय मृगतृष्णा के द्वारा अत्यन्त तीव्र भूख और प्यास की वेदना सहन की है। इस संसाररूपी वन में परिभ्रमण करते हुए मैंने इनके सिवाय और भी भूख प्यास की असह्य और घोर वेदनाएँ वा परीषह सहन किए है। अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए मैंने भूख की वेदना मिटा देने के लिए अन्न की समस्त पुद्‍गल राशि भक्षण कर ली है तथा प्यास की वेदना मिटाने के लिए समुद्रों के जल से भी अधिक जल पी डाला है तथापि इस अन्न जल के भक्षण करने से रंचमात्र भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है किन्तु ये भूख-प्यास की दोनों कुवेदनाएँ प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं।

काम भोग अतृप्तकारी हैं नरकादि गति के कारण हैं—

यथेन्धनचयैरग्निः समुद्रश्च नदीशतैः।
तृप्तिं नैति तथा जीवः कामभोगैः प्रमाऽतिगैः ॥२७७०॥
काङ्क्षितो मूर्च्छितो रोगी कामभोगैश्च मानसे।
नित्यं कलुषितोभूतो भुञ्जानोऽपिकुमार्गगः ॥२७७१॥
भोगान् दुष्परिणामेन श्वभ्रदुःखनिबन्धनम्।
दुरन्तं पापसन्तानं बध्नाति केवलं वृथा ॥२७७२॥

अर्थ—जिस प्रकार ईंधन के समूह से अग्नि तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता उसी प्रकार प्रमाण से अधिक काम भोगों का सेवन करने पर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता। यह जीव अपने मन में काम भोगों के ही कारण अनेक पदार्थों की इच्छाएँ करता है, मूर्च्छित होता है, रोगी होता है तथा वह कुमार्गगामी भोगों को नहीं भोगता हुआ भी सदा कलुषित परिणामों को धारण करता है, उस कलुषितरूप अशुभ परिणामों के कारण व्यर्थ ही नरक के महादुःखों के कारण और अत्यन्त कठिन ऐसे अनेक पाप कर्मों का बंध करता है।

कैसे मुनि धन्य हैं—

आहारस्य निमित्तेन नरकं यान्ति सप्तमम्।
मत्स्यायदि ततो नूनमाहारोऽनर्थसागरः ॥२७७३॥
पूर्वं कृततपोभ्यासश्चानिदानः शिवाप्तये।
पश्चाद्भूतकषायो यो जित्वा सर्वान् परीषहान् ॥२७७४॥
क्षुत्तृषादिभवांस्तीव्रान् साधयेन्मरणोत्तमम्।
धन्यः स एव लोकेऽस्मिन् सार्थं तस्य तपोऽखिलम् ॥२७७५॥

अर्थ—देखो इस आहार के ही निमित्त से बड़े-बड़े मत्स्य सातवें नरक तक पहुँचते हैं, इसलिए

कहना चाहिए कि यह आहार ही अनेक अनर्थों का समुद्र है। जिन्होंने पहले बहुत से तपश्चरण का अभ्यास किया है तथा कभी निदान किया नहीं है और मोक्ष प्राप्त करने के लिए जिन्होंने कषायों को नष्टकर भूख-प्यास आदि से होने वाले समस्त तीव्र परीषहों का सहन किया है तथा अंत में जिन्होंने उत्तम पंडित मरण सिद्ध कर लिया है वे ही मुनि इस संसार में धन्य हैं और उन्हीं का समस्त तपश्चरण सार्थक है।

कैसे मुनि संसार समुद्र में डूबते हैं—

पूर्वंकृततपोघोराः प्रतिपालितसद्व्रताः।
पश्चात्कर्मगुरुत्वेन क्षुधाद्यतिपरीषहैः ॥२७७६॥
ये पतन्ति स्वधैर्यादेर्मृत्युकाले भवार्णवे।
मज्जनं निश्चितं तेषां वृथा तपो यमादिकम् ॥२७७७॥

अर्थ—जिन्होंने पहले घोर तपश्चरण किए हैं और श्रेष्ठ व्रतों का अच्छी तरह पालन किया है, परंतु पीछे कर्मों के तीव्र उदय से क्षुधादिक कठिन परीषहों के कारण मरण के समय में अपने धैर्य से गिर जाते हैं वे इस संसाररूपी समुद्र में अवश्य डूबते हैं तथा उनका तप, यम आदि सब व्यर्थ समझा जाता है।

क्षपक क्षुधादि परीषहों को सहता है—

इत्यादि चिन्तनैरेषोऽत्राक्षोभ्यः शुद्धचेतसा।
सहते परया शक्त्या क्षुधातृषादिवेदनाम् ॥२७७८॥

अर्थ—इस प्रकार शुद्ध हृदय से चिंतन करता हुआ वह यति कभी क्षुब्ध नहीं होता और अपनी परम शक्ति प्रकट कर क्षुधा-तृषा आदि परीषहों को सहन करता है।

क्षपक को पूर्व में किए गए भ्रमण के चिंतन की प्रेरणा—

शुष्काधरोदरस्यास्य क्षीणगात्रस्य योगिनः।
चर्मास्थिमात्रशेषस्य काठिन्यसंस्तरेण च ॥२७७९॥
उत्पद्यते महादुःखं यद्येषमानसे तदा।
चिन्तयेत्प्राक्तनं स्वस्य भवभ्रमणमञ्जसा ॥२७८०॥

अर्थ—जिसके होठ ,पेट सब सूख रहे हैं, जिसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो रहा है और केवल हड्डी, चमड़ा ही बाकी रह गया है, ऐसे उस क्षपक योगी को कठिन संस्तर का महादुःख उत्पन्न होता है, उस समय उसको अपने हृदय में पहले किए हुए संसार के परिभ्रमण का चिंतन करना चाहिए।

किस प्रकार के चिंतन से क्षपक संस्तर की वेदना को सहन करते हैं—

अहो जलस्थलाकाशे कटकादिभवा भुवि ।
प्राग्भवे वसता भुक्ता महती वेदना मया ॥२७८१॥

वज्रकंटकसंकीर्णे श्वभ्रे परवशेन भोः।
स दुःखं वसितं पापाच्चिरकालं मया विधेः ॥२७८२॥
कियन्मात्रा ततोऽत्रेयं वेदना संस्तरादिजा।
विचिन्त्येति स दुःखं सहते संस्तरोद्भवम् ॥२७८३॥

अर्थ—उसको चिंतन करना चाहिए कि देखो पहले भवों में मैंने जल, स्थल, आकाश और पर्वतों पर निवास किया है तथा उनसे उत्पन्न हुई अनेक महावेदनाएँ मैंने सहन की है। कर्म के परवश हुए मैंने पापकर्म के उदय से वज्रमय काँटों से भरे हुए नरक में चिरकाल तक निवास किया है और वहाँ पर अनेक महादुःख भोगे हैं। फिर भला यह कठिन संस्तर से उत्पन्न हुई वेदना कितनी है, यही चिंतन कर वह क्षपक कठिन संस्तर से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों को सहन करता है।

क्षपक क्या करके मन को निराकुल बनाता है—

इत्यादिसद्विचाराद्यैर्ध्यानैर्धर्मशतैः परैः।
परमेष्ठिपदध्यानैरनुप्रेक्षार्थचिन्तनैः ॥२७८४॥
आगमामृतपानैश्च तर्पयित्वा निजं मनः।
स्वस्थं कुर्यात्स तत्त्वज्ञः स्वात्मध्यानसमाधये ॥२७८५॥

अर्थ—तत्त्वों को जानने वाला वह क्षपक अपने आत्मध्यान और समाधि के लिए ऊपर कहे अनुसार श्रेष्ठ विचारों को धारण कर, सैकड़ों उत्कृष्ट धर्मध्यानों को धारण कर, परमेष्ठी के चरण कमलों का ध्यान कर अथवा परमेष्ठी के वाचक पदों का ध्यान कर वा अनुप्रेक्षाओं का चिंतन कर अथवा आगमरूपी अमृत का पान कर अपने मन को संतुष्ट करता है और उसको सब तरह से निराकुल बना लेता है।

निराकुल मन वाला क्षपक किसका ध्यान करता है—

निर्विकल्पमनाः ध्यानी चिदानन्दमयं परम्।
ध्यातुमारभते चित्ते परमात्मानमञ्जसा ॥२७८६॥

अर्थ—जिसका मन सब तरह के संकल्प विकल्पों से रहित है, ऐसा ध्यान करने वाला वह क्षपक शीघ्र ही अपने मन में चिदानंदमय सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का ध्यान करना प्रारम्भ करता है।

अभ्यन्तर योग धारण करने की प्रेरणा—

अस्मिन्नवसरे योगी क्षीणदेहपराक्रमः।
बाह्ययोगं विधातुं सोऽशक्तः सन्नपि धीधनः ॥२७८७॥
योगमभ्यन्तरं सारं सर्वाराधनपूर्वकम्।
एकचित्तेन मुक्त्यर्थं विधत्तेऽत्र निरन्तरम् ॥२७८८॥

अर्थ—जिसका शरीर और पराक्रम क्षीण हो गया है ऐसा वह बुद्धिमान् योगी यदि उस समय

बाह्य योग धारण करने में असमर्थ हो जाये तो फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस योगी को एकाग्र-चित्त से निरन्तर समस्त आराधनाओं की आराधनापूर्वक सारभूत अभ्यन्तर योगधारण करना चाहिए।

पञ्चपरमेष्ठी वाचक पद के चिंतन की प्रेरणा—

एतस्मिन्समये दक्षो द्वादशाङ्गाखिलागमम् ।
चित्ते चिन्तयितुं धीरः सोऽशक्तोऽपि महामनाः ॥२७८९॥
सर्वसिद्धान्तमूलं यत्पदमेकद्वयादिकम् ।
सारं तच्चिन्तयेद्युक्त्या प्रशस्तध्यानसिद्धये ॥२७९०॥

अर्थ—यदि उस समय वह महामना धीर वीर चतुर क्षपक अपने मन में द्वादशांग श्रुतज्ञान को चिंतन करने में समर्थ न हो तो उसको प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिए समस्त सिद्धान्तों का मूलकारण और सारभूत ऐसा पंचपरमेष्ठी का वाचक एक पद का वा दो पद का युक्तिपूर्वक चिंतन करना चाहिए।

क्षपक को दुष्ट व्याधि आने पर कैसी औषधि सेवन करना चाहिए—

क्षीणगात्रे तदा तस्य दुर्व्याधिर्जायते यदि।
सोऽघपाकेन तद्धान्यै हीदं गृह्णाति चौषधम् ॥२७९१॥

अर्थ—कदाचित् पापकर्म के उदय से उस समय उस क्षपक के क्षीण शरीर में कोई दुष्ट व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिए उस क्षपक को नीचे लिखे अनुसार औषधि ग्रहण करनी चाहिए अर्थात् नीचे लिखे अनुसार चिंतन करना चाहिए।

क्षपक को जिनवचनरूपी अमृतरस का ग्रहण करने की प्रेरणा—

जिनेन्द्रवचनं तथ्यं जन्ममृत्युजरान्तकम्।
रोगक्लेशहरं यत्स्याद्विश्वदुःखक्षयङ्करम् ॥२७९२॥
ग्राह्यं तद्धि मया सारं रोगक्लेशार्तशान्तये।
जन्मादिदाहनाशाय सुधारसमिवोर्जितम् ॥२७९३॥

अर्थ—उसे चिंतन करना चाहिए कि इस संसार में भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन ही तथ्य हैं वे ही जन्म मरण और बुढ़ापे को नष्ट करने वाले हैं, रोग और क्लेश को दूर करने वाले हैं और समस्त दुःखों को क्षय करने वाले हैं। अतएव रोग और क्लेशों के दुःखों को दूर करने के लिए और जन्म-मरण का संताप शांत करने के लिए उत्कृष्ट अमृतरस के समान सारभूत जिनवचन मुझे ग्रहण करने चाहिए।

क्षपक रोगों से उत्पन्न क्लेशों को शांत करने के लिए किसकी शरण लेता है—

अस्माद्रोगभवक्लेशाच्छरणं यामि संप्रति ।
सर्वार्हत्सिद्धसाधूनां शरण्यानां जगत्सताम् ॥२७९४॥

केवलिप्रोक्तधर्मस्य शरण्यस्याखिलापदि ।

तपो रत्नत्रयादीनां विश्वासातारिघातिनाम् ॥२७९५॥

अर्थ—अब मैं इन रोगों से उत्पन्न हुए क्लेशों को शांत करने के लिए तीनों लोकों के सज्जनों को शरणभूत ऐसे समस्त अरहंत, सिद्ध और साधुओं की शरण लेता हूँ तथा समस्त आपत्तियों में शरणभूत ऐसे केवली भगवान् के कहे हुए धर्म की शरण लेता हूँ और समस्त दुःखरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले तप और रत्नत्रय की शरण लेता हूँ।

रत्नत्रय आदि शरणभूत क्यों?

यतो लोकोत्तमा ये ते विश्वमङ्गलकारिणः।

शरण्या भव्यजीवानां ममाऽपि सन्तु सिद्धिदाः ॥२७९६॥

अर्थ—क्योंकि संसार में ये ही लोकोत्तम हैं, ये ही समस्त मंगल करने वाले हैं और ये ही भव्यजीवों को शरण हैं, इसलिए ये सब मेरे लिए भी समस्त कार्यों की सिद्धि करें अथवा मुझे सिद्ध अवस्था प्रदान करें।

धीर वीरता के साथ रोगादि सहना ही श्रेष्ठ है—

धीरत्वेनापि मर्तव्यं कातरत्वेन वा यदि।

कातरत्वं मुदा त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥२७९७॥

धीरत्वेनापि सोढव्यं रोगादिकर्मजं फलम्।

कातरत्वेन वा पुंसां धीरत्वेन वरं च यत् ॥२७९८॥

अर्थ—देखो! मरना धीर वीरता के साथ भी होता है और कातरता के समय (रो-रो कर) भी होता है परन्तु कातरता का त्याग कर धीरवीरता के साथ मरण करना अच्छा है, इसी प्रकार रोग, क्लेश, कर्मों का फल धीरवीरता के साथ भी सहन किया जाता है और कायरता के साथ भी सहन किया जाता है परन्तु कायरता को छोड़कर धीरवीरता के साथ रोग वा क्लेशों को सहन करना मनुष्यों के लिए हितकारक है।

शीलपूर्वक मरण करना ही श्रेष्ठ है—

शीलेनाप्यत्र मर्तव्यं निःशीलेनापि चेत्सताम्।

निःशीलत्वं परित्यज्य शीलत्वे मरणं वरम् ॥२७९९॥

अर्थ—इसी प्रकार शीलादिक व्रतों को धारण कर भी मरण होता है और बिना शील व्रतों को धारण किए भी मरण होता है परंतु सज्जन पुरुषों को निःशीलता का त्याग कर शील धारण कर मरना अच्छा।

पुनः क्षपक को मन स्थिर करने की प्रेरणा—

इत्यादिचिन्तनैर्ध्यानैः कुर्वन् स स्वमनः स्थिरम्।
ददाति जातु गन्तुं न मनाक् क्लेशार्तसन्निधिम् ॥२८००॥

अर्थ—उस क्षपक को इस प्रकार चिंतन कर तथा ध्यान धारण कर अपने मन को स्थिर रखना चाहिए और अपने मन को क्लेश और दुःखों के समीप रंचमात्र भी नहीं जाने देना चाहिए।

निरीहवृत्ति धारक क्षपक महालोभ के लिए कैसी उत्तम याचना करता है—

तदासोऽतिनिरीहोऽपि महालोभकृतोद्यमः।
उत्तमामुत्तमार्थाप्त्यै याञ्चां कुर्यादिमां भुवि ॥२८०१॥
अर्हतां वीतमोहानामकायानां च या गतिः।
पञ्चमी त्रिजगत्प्रार्थ्या सा मे भवतु शर्मणे ॥२८०२॥
तीर्थेशसिद्धनिर्मोहयोगिनां ये परा गुणाः।
अनन्तज्ञानदृष्ट्याद्यास्ते मे सन्तु शिवाप्तये ॥२८०३॥

अर्थ—उस समय यद्यपि वह क्षपक निरीह वृत्ति को धारण करता है तथापि वह किसी महालोभ के लिए उद्यम करता है और इसलिए वह उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए नीचे लिखे अनुसार सबसे उत्तम याचना करता है। वह याचना करता है कि भगवान् वीतराग अयोगकेवली अरहंतदेव की जो तीनों लोकों के द्वारा प्रार्थनीय पंचमगति होती है, वही सुख देने के लिए मुझे प्राप्त हो। भगवान् तीर्थंकर परमदेव, भगवान् सिद्ध परमेष्ठी और मोह रहित मुनियों जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि उत्तम गुण हैं वे सब मोक्ष प्राप्त होने के लिए मेरे आत्मा में प्रकट हों।

क्षपक को उत्तम याचना के लिए कैसा चिंतन करना चाहिए—

रत्नत्रययुता बोधिः समाधिः शुक्लपूर्वकः।
यावद्यास्याम्यहं मोक्षं तावन्मेऽस्तु भवेभवे ॥२८०४॥
अमीभिर्दुद्धराचारैः कृत्स्नदुष्कर्मणां क्षयः।
चतुर्गतिजदुःखानां मे चास्तु मुक्तिहेतवे ॥२८०५॥
जिननाथ जगत्पूज्य देहि त्वं सन्मृतिं मम।
अधुना त्वद्गुणान्सर्वांस्त्वद्गतिंश्चाशुभक्षयम् ॥२८०६॥

अर्थ—जब तक मुझे मोक्ष प्राप्ति न हो, तब तक मुझे भव-भव में रत्नत्रय सहित बोधि की प्राप्ति होती रहे और शुक्लध्यान पूर्वक समाधि की प्राप्ति होती रहे। मैंने जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए कठिन-कठिन तपश्चरण किए हैं, उनके फल से मेरे समस्त कर्मों का नाश हो तथा चारों गतियों के समस्त दुःखों का नाश हो। हे जिननाथ! हे जगत्पूज्य! आप मुझे इस समय श्रेष्ठ मरण दें, अपने सब गुण दें, अपनी सब सद्गति दें और मेरे सब अशुभों को नाश करें। इस प्रकार उस क्षपक को चिंतन

करना चाहिए।

मृत्यु के निकट आने पर पञ्चपरमेष्ठी का जप एवं ध्यान करने की प्रेरणा—

मृत्यवस्थां क्रमादाप्य परमेष्ठ्याख्यसत्पदान्।
पञ्चैवाऽत्र जपेद्वाचा स चैकद्व्यादिसत्पदम् ॥२८०७॥
यदि तान् जपितुं योगी सोऽसमर्थो गिरा तदा।
ध्यायेत्पञ्चनमस्कारांश्चेतसा परमेष्ठिनाम् ॥२८०८॥

अर्थ—इस प्रकार चिंतन करते हुए उस क्षपक की यदि मृत्यु अवस्था अत्यन्त समीप आ जाये तो उसे अपने वचन से परमेष्ठी के वाचक पाँचों श्रेष्ठ पदों का जप करना चाहिए अथवा किसी भी एक-दो पद का जप करना चाहिए। यदि वह योगी उन परमेष्ठी के वाचक पदों को उच्चारणपूर्वक जप करने में असमर्थ हो जाये तो उसको अपने हृदय में ही पंचपरमेष्ठी के वाचक पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करना चाहिए।

क्षपक किस प्रकार प्राणों का त्याग करे—

इत्यादिसर्वयत्नेन ध्यायन् जपन्पदोत्तमान्।
कुर्वन् वा स्वात्मनोध्यानं शृण्वन्निर्यापकाऽऽस्यजान् ॥२८०९॥
सारधर्माक्षरान् ध्यानी निःशल्यो निर्भयः सुधीः।
ध्यानाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यां त्यजेत्प्राणान् समाधिना ॥२८१०॥

अर्थ—इस प्रकार शल्य रहित, भय रहित, ध्यान करने वाले उस बुद्धिमान् क्षपक को ऊपर लिखे अनुसार सब तरह के प्रयत्नपूर्वक पंच परमेष्ठी के वाचक उत्तम पदों का जप करते हुए, ध्यान करते हुए, वा अपने आत्मा का ध्यान करते हुए अथवा उन निर्यापकाचार्य के मुख से निकले हुए सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण कर समाधिपूर्वक अपने प्राणों का त्याग करना चाहिए।

श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध करने वाले क्षपक मरकर कहाँ उत्पन्न होता है

ततोऽसौ शुद्धिमापन्नोऽहमिन्द्रपदमूर्जितम्।
नाकं सर्वार्थसिद्धिं वा गच्छेत्सन्मृतिसाधनात् ॥२८११॥

अर्थ—तदनंतर अत्यन्त शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ वह क्षपक श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध कर लेने के कारण उत्कृष्ट अहमिद्र पद प्राप्त करता है वा सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होता है अथवा स्वर्गों में उत्तम देव होता है।

समाधिमरण से उत्पन्न श्रेष्ठ धर्म से किसकी प्राप्ति होती है—

संन्यासोत्थ सुधर्मेण सुदेवनृगतौ सुखम्।
महत्त्रिभवपर्यन्तं सुरेशचक्रिभूतिजम् ॥२८१२॥

भुक्त्वा हत्वा स्वकर्माणि तपसा यान्ति निर्वृतिम्।
पण्डिता मुनयः प्राप्य ह्यष्टौ सिद्धगुणान्परान् ॥२८१३॥

अर्थ—इस समाधिमरण से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ धर्म से विद्वानों को वा मुनियों को उत्तम देव गति वा उत्तम मनुष्यगति में सर्वोत्तम सुख मिलते हैं तथा तीन भव तक वे इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूतियों का अनुभव कर अंत में अपने तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और सिद्धों के आठों परमगुणों को प्राप्त कर लेते हैं।

जघन्य आराधन का फल—

जघन्याराधना येषां तेऽपि भुक्त्वा परं सुखम्।
सप्ताष्टभवपर्यन्तं द्विगतौ यान्ति निर्वृतिम् ॥२८१४॥

अर्थ—जो भव्यजीव जघन्य रीति से आराधनाओं की आराधना करते हैं वे भी सात-आठ भव तक परम सुखों का अनुभव करते हैं और अंत में कर्मों को नष्टकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

उत्तम मरण को सिद्ध करने की प्रेरणा—

इति ज्ञात्वा फलं सारं मरणस्योत्तमस्य च।
साधयन्तु विदो यत्नाच्छिवाय मरणोत्तमम् ॥२८१५॥

अर्थ—इस प्रकार उत्तम मरण का ऐसा अच्छा फल समझकर विद्वान् लोगों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक उत्तम मरण को सिद्ध करना चाहिए।

सर्प काटने आदि उपसर्ग के आने पर दो प्रकार के संन्यास धारण करने की प्रेरणा—

यदि सर्पविषाद्यैश्च चोपसर्गैर्नृपादिजैः।
मरणं जायते स्वस्य स सन्देहं तदा सुधीः ॥२८१६॥
समासेन जगज्जन्तून् क्षमयित्वा स्वमानसे।
कृतकारितदोषादीन् विनिन्द्य निन्दनादिभिः ॥२८१७॥
भूत्वा सर्वत्र निःशल्यो निर्ममत्वं विधाय च।
संन्यासं द्विविधं हीदं गृह्णाति शिवसिद्धये ॥२८१८॥

अर्थ—यदि सर्प काट ले वा विष भक्षण कर ले वा राजा आदि का घोर उपसर्ग आ जाये और अपने मरने में सन्देह हो जाये तो उस बुद्धिमान् को संक्षेप से ही अपने मन में संसार के समस्त प्राणियों को क्षमा कर देना चाहिए तथा कृत, कारित, अनुमोदना से हुए समस्त दोषों की निंदा गर्हा के द्वारा आलोचना करनी चाहिए तथा सर्वत्र शल्यरहित, ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए नीचे लिखे अनुसार दोनों प्रकार का संन्यास धारण करना चाहिए।

पहले संन्यास मरण धारण करने का स्वरूप—

अस्मिन् देशेऽवधौ काले यदि मे प्राणमोचनम्।
तदास्तु जन्मपर्यन्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥२८१९॥
जीविष्यामि क्व चिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात्।
करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये ॥२८२०॥

अर्थ—उसको पहला संन्यास तो इस प्रकार धारण करना चाहिए कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जायें तो मेरे जन्म पर्यंत चारों प्रकार के आहार का त्याग है तथा दूसरा संन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिए कि यदि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊँगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिए इतने काल के बाद अवश्य ही पारणा करूँगा।

तीन प्रकार के आहार के त्याग की विधि—

यदि नीरं विनाप्रत्याख्यानमादातुमिच्छति।
तदा समाधये स्वस्येदं प्रत्याख्यानमाचरेत् ॥२८२१॥
प्रत्याख्यामि विना नीरं चतुर्धाहारमाऽऽमृतौ।
अन्तर्बाह्योपधीन् सर्वान् सावद्यं त्रिविधेन च ॥२८२२॥
यः कश्चिदुपधिर्मेऽत्र बाह्योवाऽऽभ्यन्तरोऽशुभः।
तमाहारं शरीरं च यावज्जीवं त्यजाम्यहम् ॥२८२३॥

अर्थ—यदि वह क्षपक उस समय पानी को रखना चाहता है, पानी को छोड़कर बाकी का त्याग करना चाहता है तो उसे अपनी समाधि धारण करने के लिए नीचे लिखे अनुसार प्रत्याख्यान–त्याग करना चाहिए। मैं अपने मरणपर्यंत पानी को छोड़कर बाकी के चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूँ तथा मैं मन-वचन-काय से अंतरंग और बाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग करता हूँ और समस्त पापों का त्याग करता हूँ। इस समय मुझसे सम्बन्ध रखने वाला जो अशुभ बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह है, मैं उसका जीवनपर्यंत तक के लिए त्याग करता हूँ तथा जीवनपर्यंत ही आहार और शरीर का त्याग करता हूँ, शरीर से ममत्व छोड़ता हूँ।

मरण के निश्चित होने पर ४ आहार के त्याग की प्रेरणा—

अथवा स्वस्य निश्चित्य मरणं प्रागतं भुवि।
प्रत्याख्यानमिति ग्राह्यं दक्षैः सिद्ध्यै चतुर्विधम् ॥२८२४॥

अर्थ—अथवा यदि अपने मरने का अवश्य निश्चय हो जाये तो चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिए।

प्रथम समाधि धारण करने वाले का पहले बतायी
विधि से मरण करने की प्रेरणा एवं उसका फल—

एषोऽपि पूर्ववत्सर्वान् धर्मध्यानादिकान् परान्।
स्वीकृत्य साधयित्वाऽऽशु चतुराराधनाः पराः ॥२८२५॥
समाधिना वपुस्त्यक्त्वा संन्यासाज्जिनधर्मतः।
सौधर्मादिसर्वार्थसिद्ध्यन्तं धर्मधीर्व्रजेत् ॥२८२६॥

अर्थ—इस क्षपक को भी पहले के समान उत्कृष्ट धर्मध्यानादिक सब धारण करने चाहिए, चारों प्रकार की आराधनाओं को आराधन करना चाहिए और समाधिपूर्वक संन्यास से शरीर का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार समाधिमरण करने वाला धर्मात्मा जिनधर्म के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक उत्तम देवों में जन्म लेता है।

(छन्द–मालिनी)

पण्डित मरण करने का फल—

इति गणधरजातं पण्डिताख्यं प्रयत्नादनघमरणसारं साधयेद्यः स्वसिद्ध्यै।
सुरनरपतिसौख्यं प्राप्य मुक्त्यङ्गनां स श्रयति परमयोगात्कृत्स्नकर्माणि हत्वा ॥२८२७॥

अर्थ—इस प्रकार जो भव्यजीव अपने आत्मा की सिद्धि के लिए भगवान् गणधरदेव के द्वारा कहे हुए पापरहित और सारभूत इस पंडित मरण को प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लेता है वह जीव इन्द्र और चक्रवर्तियों के सुख भोगकर तथा अंत में परमयोग धारण कर समस्त कर्मों को नाश करता है और फिर मोक्षस्त्री को प्राप्त कर लेता है।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

बुद्धिमानों को पण्डित मरण की पुनः प्रेरणा—

मत्वेतीह बुधाप्रयत्नमनसा स्वर्मुक्तिसंसिद्धये
कृत्वा सत्तप ऊर्जितं निरुपमं सार्द्धं समस्तैर्व्रतैः।
जन्मान्ते किलसाधयन्तु मरणं सत्पण्डिताख्यं परं
स्याद्येनाऽत्रनृजन्मसद्व्रततपःसर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥२८२८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को स्वर्ग–मोक्ष सिद्ध करने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त व्रतों के साथ–साथ उपमारहित ऐसा सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण करना चाहिए तथा अंत में सर्वोत्कृष्ट पंडित मरण को सिद्ध कर लेना चाहिए, जिससे कि श्रेष्ठ व्रत, उत्तम तप और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाये।

(छन्द-स्रग्धरा)

चार आराधना की महिमा एवं उसकी प्राप्ति की भावना—

विश्वार्च्या विश्ववन्द्याः शिवसुखजननीधर्मरत्नादिखानीः
सेव्या नित्यं मुनीन्द्रैः सकलविधिहरा अर्गलाः श्वभ्रगेहे।
साराः सोपानमालाः सुरगृहगमने सद्गुणग्रामधात्रीः
वन्देऽत्राराधनाप्त्यै जिनवरपददाऽऽराधनादेवता वै ॥२८२९॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते प्रत्याख्यानसंस्तरवर्णनो नाम दशमोऽधिकारः।

अर्थ—यह चारों प्रकार की आराधनारूपी देवता तीनों लोकों में पूज्य है, तीनों लोकों में वंदनीय है, मोक्ष सुख देने वाली है, धर्मरत्न की खानि है, श्रेष्ठ मुनिराज ही नित्य इसका सेवन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करने वाली है, नरक के घर को बंद करने के लिए वेंडा है, सब में सार है, स्वर्ग की सीढ़ी है, अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करने वाली है और तीर्थंकर पद को देने वाली है, ऐसी इस आराधना को मैं आराधना प्राप्त करने के लिए नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में प्रत्याख्यान संस्तर को वर्णन करने वाला यह दसवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

एकादशोधिकारः

मंगलाचरण—

सर्वशीलगुणाधारान् विश्वातिशयभूषितान्।
वन्देऽर्हत इहामुत्र त्रिजगच्छर्मकारकान् ॥२८३०॥

अर्थ—जो भगवान् अरहंतदेव समस्त शील और समस्त गुणों के आधार हैं, जो समस्त अतिशयों से विभूषित हैं और इस लोक तथा परलोक में तीनों जगत् के जीवों का कल्याण करने वाले हैं उन भगवान् अरहंतदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

शील एवं गुणों के कथन की प्रतिज्ञा—

अथ वक्ष्ये समासेन शीलानि सकलान्यपि।
गुणांश्च निखिलान् युक्त्या संख्ययोत्तमयोगिनाम् ॥२८३१॥

अर्थ—अब मैं उत्तम योगियों के लिए युक्ति और संख्यापूर्वक समस्त शीलों को कहता हूँ और समस्त गुणों को कहता हूँ।

शील के १८००० भेदों का निर्देश—

त्रियोगाः करणं त्रेधा चतुः संज्ञा खपञ्च वै।
दशपृथ्व्यादिकायाश्च धर्माः क्षमादयो दश ॥२८३२॥
अन्योऽन्यं गुणिता एते योगाद्याः श्रुतकोविदैः।
अष्टादशसहस्राणि शीलानि स्युर्महात्मनाम् ॥२८३३॥

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वीकायिक आदि दस प्रकार के जीव और उत्तम क्षमादिक दस धर्म इन सब योगादिकों को परस्पर गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं, ये ही महात्माओं के शील हैं, ऐसा श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादिक देव कहते हैं।

योगों के ९ भेदों का कथन—

मनोयोगो वचोयोगः काययोगोऽशुभाश्रितः।
योगानां यानि पापादिक्रियाप्रवर्तकानि च ॥२८३४॥
तानि त्रिकरणान्यत्रोच्यन्ते करणरोधनैः।
अभ्यस्तास्तेऽत्र योगा नवभेदा भवन्ति वै ॥२८३५॥

अर्थ—शुभ मनोयोग, शुभ वचनयोग और शुभ काययोग ये तीन तो योग कहलाते हैं तथा उन योगों के द्वारा जो पुण्य-पापरूप क्रिया होती है उनको यहाँ पर तीन करण कहते हैं। यदि उन मन-वचन-काय की होने वाली क्रियाओं को, करणों को रोक दिया जाये तो योगों के नौ भेद हो जाते हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि यहाँ हिन्दी अर्थ में शुभ योग और शुभ क्रिया को रोकना करण कहा है

किन्तु मूल श्लोक से तीन अशुभ योग और उनके आश्रित पापादि की क्रिया में प्रवृत्ति को तीन करण कहा है। इन तीन योग और तीन करण का परस्पर में गुणा करने से योग के नव भेद होते हैं।

योगों को ४ संज्ञा से गुणा करने पर शील के ३६ भेदों का कथन—

आहारभयसंज्ञे संज्ञेमैथुनपरिग्रहे ।
चतुरन्नादिसंज्ञानां चतुर्धा विरतोऽत्र यः ॥२८३६॥
क्रियन्ते मुनिभिस्ताभिश्चतुर्भिर्गुणिता नव।
भेदा भवन्ति शीलस्य षट्त्रिंशत्संख्यकाः सताम् ॥२८३७॥

अर्थ—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये संज्ञा के चार भेद हैं, इनका त्याग करना अर्थात् आहार संज्ञा का त्याग करने के लिए अन्नादिक का त्याग कर देना, भय के त्याग के लिए परिग्रह नहीं रखना, मैथुन के त्याग के लिए ब्रह्मचर्य धारण करना और परिग्रह के त्याग के लिए ममत्व छोड़ना, संज्ञाओं का त्याग है। ऊपर कहे हुए योग निरोधों के नौ भेदों से इन चार के साथ गुणा करने से शील के छत्तीस भेद हो जाते हैं।

३६ भेदों को ५ इन्द्रिय से गुणा करने पर १८० भेद होते हैं—

स्पर्शाक्षरसनघ्राण - चक्षुःश्रोत्रनिवारणैः।
षट्त्रिंशद्वर्गिता भेदाः स्युरशीत्यधिकं शतम् ॥२८३८॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनको वश में करना इन्द्रियों का त्याग है। इसलिए छत्तीस से इन पाँचों को गुणा करने से शील के एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं।

शील के १८००० भेदों का कथन—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायिका भुवि।
द्वित्रितुर्येन्द्रियाः पञ्चाक्षाश्चेति दशधाङ्गिनः ॥२८३९॥
अमीषां रक्षणान्यत्र विधीयन्ते मुनीश्वरैः।
यत्नेन यानि तानि स्युर्दशशीलानि धीमताम् ॥२८४०॥
दशभिर्गुणितं चैते युक्त्याशीत्यधिकं शतम्।
अष्टादशशतान्युत्पद्यन्ते शीलानियोगिनाम् ॥२८४१॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दस प्रकार के जीव हैं। मुनिराज इन दसों प्रकार के जीवों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करते हैं, इसलिए ये दस भेद भी शील के ही गिने जाते हैं। ऊपर जो शील के एक सौ अस्सी भेद बतलाए हैं उनसे इन दस के साथ गुणा कर देने से शील के अठारह सौ भेद हो जाते हैं।

शील के १८००० भेदों का कथन—

उत्तमाद्या क्षमामार्दवं सारं चार्जवोत्तमम्।
सत्यं शौचं महत्संयमस्तपस्त्याग ऊर्जितः ॥२८४२॥
आकिञ्चन्योत्तमो ब्रह्मचर्यं दशविधः परः।
एष धर्मो जगत्पूज्यः श्रमणानां शिवप्रदः ॥२८४३॥
दशभिर्गुणितान्येभिरष्टादशशतानि च।
अष्टादशसहस्राणि सन्ति शीलानि योगिनाम् ॥२८४४॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दस प्रकार का धर्म है। यह धर्म जगत्पूज्य है और मुनियों को मोक्ष प्रदान करने वाला है। ऊपर जो शील के अठारह सौ भेद बतलाए हैं उनसे इन दस धर्मों के साथ गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं। ये सब मुनियों के शील कहलाते हैं।

शील की महिमा—

इत्यादिगणनाभिश्च जायन्ते व्रतधारिणाम्।
सुशीलानां यतीशानां शीलनि निखिलान्यपि ॥२८४५॥
अष्टादशसहस्रप्रमाणान्यर्च्यानि नाकिभिः।
निर्मलानीह त्रैलोक्येऽनन्तशर्माकराणि वै ॥२८४६॥

अर्थ—इस प्रकार की गणना से व्रतों को धारण करने वाले और शीलों को पालन करने वाले मुनिराजों के शीलों के सब भेद हो जाते हैं। ये अठारह हजार शील इन्द्रों के द्वारा भी पूज्य हैं, अत्यन्त निर्मल हैं और तीनों लोकों में अनंत कल्याण करने वाले हैं।

शील के पालने वाले की महिमा एवं उसे पालने की प्रेरणा—

शीलाभरणयुक्तांश्च त्रिजगच्छ्रीः स्वयं मुदा।
वृणोत्येत्य जिनश्रीश्च मुक्तिरालोकते मुहुः ॥२८४७॥
प्रकम्पन्ते सुरेशानां शीलेनाऽत्रासनानि भोः।
किंकरा इव सेवन्ते पादान् शीलजुषां सुराः ॥२८४८॥
विघटन्ते सुशीलानां सर्वोपद्रवकोटयः।
निरर्गला भ्रमेत्कीर्तिश्चन्द्रांशुवज्जगत्त्रये ॥२८४९॥
जीवितव्यं दिनैकं च वरं शीलवतां भुवि।
निःशीलानां वृथा नूनं पूर्वकोटिशतप्रमम् ॥२८५०॥

मत्वेतीमानि शीलानि सर्वाणि कृत्स्नयत्नतः।
पालयन्तु बुधा मुक्त्यै दुर्लभान्यल्पचेतसाम् ॥२८५१॥

अर्थ—जो महापुरुष इन अठारह हजार शीलों से सुशोभित हैं उनको तीनों लोकों की संपदा प्रसन्नता के साथ स्वयं आकर स्वीकार करती है तथा भगवान् जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी और मुक्तिरूपी लक्ष्मी बार-बार उनको देखती है। इन शीलों के प्रभाव से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा शील पालन करने वालों के चरण-कमलों की देव लोग भी सेवक के समान सेवा करते रहते हैं। शील पालन करने वालों के समस्त करोड़ों उपद्रव स्वयं नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा के समान उनकी निर्मल कीर्ति निरर्गल होकर तीनों लोकों में फैल जाती है। शील पालन करने वालों का एक दिन भी जीना अच्छा परंतु बिना शील के सैकड़ों करोड़ वर्ष भी जीना व्यर्थ है। यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इन समस्त शीलों का पालन करते रहना चाहिए। जो छोटी बुद्धि को धारण करने वाले हैं उनके लिए तो इन शीलों का पालन करना अत्यन्त कठिन है।

मुनिराज के ८४ लाख गुणों के भेद—

एकविंशतिहिंसाद्याश्चत्वारोऽतिक्रमादयः ।
शतपृथ्व्यादिकायाश्चदशब्रह्मविराधनाः ॥२८५२॥
दशालोचनजा दोषा दशशुद्धिकरा इमे।
अन्योन्यं वर्गिता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥२८५३॥

अर्थ—हिंसादिक के इक्कीस भेद हैं, अतिक्रमणादिक के चार भेद हैं, पृथ्वीकायादि के सौ भेद हैं, ब्रह्मचर्य की विराधना के दस भेद हैं, आलोचना के दस दोष हैं और इनके त्याग को शुद्ध करने वाले दस गुण हैं। इन सबको गुणा करने से चौरासी लाख हो जाते हैं।

प्राणिहिंसादिक के २१ भेदों का निर्देश—

प्राणिहिंसा मृषावादोऽदत्तादानं च मैथुनम्।
सङ्गः क्रोधो मदो माया लोभो भयोऽरतिस्ततः ॥२८५४॥
रतिस्तथा जुगुप्साऽथ मनोवाक्कायचञ्चलाः।
मिथ्यादर्शनमेव प्रमादः पैशून्यमेव हि ॥२८५५॥
अज्ञानं सकलाक्षाणामनिग्रह इमे भुवि।
एकविंशतिदोषाः स्युर्नृणां दोषविधायिनः ॥२८५६॥

अर्थ—१. प्राणियों की हिंसा करना, २. झूठ बोलना, ३. चोरी करना, ४. मैथुन सेवन करना, ५. परिग्रह रखना, ६. क्रोध, ७. मद, ८. माया, ९. लोभ, १०. भय, ११. अरति, १२. रति, १३. जुगुप्सा, १४. मन की चंचलता, १५. वचन की चंचलता, १६. काय की चंचलता, १७. मिथ्यादर्शन,

१८. प्रमाद, १९. पैशून्य, २०. अज्ञान और २१. पंचेन्द्रियों का निग्रह न करना ये समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले प्राणिहिंसादिक इक्कीस दोष हैं।

किसके गुण हो जाते हैं—

यैर्दयादिव्रताचारैर्विपरीताः कृता इमे।
दोषा गुणा हि तेषां स्युस्त्रिजगत्पूज्ययोगिनाम् ॥२८५७॥

अर्थ—यदि दया आदि व्रतों को पालन कर इन दोषों के विपरीत आचरण किए जायें तो तीनों जगत् के द्वारा पूज्य मुनियों के लिए वे ही सब गुण हो जाते हैं।

अतिक्रमणादि दूषणों के त्यागने से व्रतादि धर्म की वृद्धि होती है—

अतिक्रमणमेवैकं व्यतिक्रमण एव हि।
अतीचारोऽप्यनाचारो दोषाश्चत्वार इत्यमी ॥२८५८॥
व्रतादीनां प्रयत्नेन वर्जिता यैर्जितेन्द्रियैः।
जायन्ते ते गुणास्तेषां व्रतादिधर्मवृद्धिदाः ॥२८५९॥

अर्थ—अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार अतिक्रम आदि दोष कहलाते हैं। जो जितेन्द्रिय पुरुष इन दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करने वाले वे गुण हो जाते हैं।

गुणों के ८४ भेदों का निर्देश—

गुणैश्चतुर्भिरेभिस्ते प्राग्गुणा एकविंशतिः ।
गुणाश्चतुरशीतिश्च भवेयुर्गुणिताः सताम् ॥२८६०॥

अर्थ—पहले जो हिंसा का त्याग आदि इक्कीस गुण बतलाए हैं, उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने से गुणों के चौरासी भेद हो जाते हैं।

जीवादि की विराधना से १०० भेद—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायदेहिनः ।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तुर्येन्द्रियाः पञ्चेन्द्रिया दश ॥२८६१॥
इमे भेदाः किलाभ्यस्ताः पृथ्व्याद्याः परस्परम्।
शतभेदा भवन्त्यत्र दोषास्तेषां विराधनात् ॥२८६२॥
अमीषां सर्वयत्नेन रक्षणं ये प्रकुर्वते।
तेषां सद्व्रतिनां दोषास्तावन्तः स्युर्गुणा हि ते ॥२८६३॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय ये दस जीवों के भेद होते हैं तथा इन दसों प्रकार के जीवों की विराधना के दस भेद हो जाते हैं, इनको परस्पर गुणा कर देने से दश प्रकार के प्राणी

और उनकी दस प्रकार की विराधना इन दोनों को परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते हैं। श्रेष्ठ व्रतों को धारण करने वाले जो मुनि प्रयत्नपूर्वक इन दसों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते रहते हैं और उनको दस प्रकार की विराधना से बचाते रहते हैं, उनके उत्तरगुणों के सौ गुण माने जाते हैं।

८४०० भेदों का कथन निर्देश—

गुणाश्चतुरशीतिस्ते शतेनानेन वर्गिताः।
गुणा भवन्ति दक्षैश्चतुराशीतिशतप्रमाः ॥२८६४॥

अर्थ—पहले उत्तरगुणों में चौरासी गुण बतला चुके हैं, उनको इन सौ से गुणा कर देने से चौरासी सौ भेद हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले १० भेदों के कथन निर्देश—

स्त्रीसंसर्गो महास्वादरसाद्याहारभोजनम् ।
गन्धमाल्यादिसंस्पर्शकोमलं शयनासनम् ॥२८६५॥
शरीरमण्डनं गीतवाद्यादिश्रवणं ततः।
अर्थहेमादिसम्पर्कः कुशीलदुर्जनाश्रयः ॥२८६६॥
राजसेवाऽक्षसौख्याय रात्रिसंचरणं वृथा।
एते विराधना दोषा ब्रह्मचर्यस्य वै दश ॥२८६७॥

अर्थ—१. स्त्रियों की संगति करना, २. महास्वादिष्ट सरस आहार का भोजन करना, ३. गंध माला आदि को सूँघना, ४. कोमल शयन और आसन पर सोना-बैठना, ५. शरीर को सुशोभित बनाये रखना, ६. गीत बाजे आदि का सुनना, ७. सोना-चाँदी आदि धन से सम्बन्ध रखना, ८. कुशीली दुष्टों की संगति रखना, ९. राजसेवा करना, १०. इन्द्रियों के सुख के लिए व्यर्थ ही रात्रि में घूमना, ये दस ब्रह्मचर्य की विराधना करने वाले दोष हैं।

८४००० भेदों का कथन निर्देश—

त्रिशुद्ध्या ये त्यजन्ते तान् दशदोषांस्तपस्विनः।
जायन्ते सद्गुणास्तेषां दशैव व्रतं शुद्धिदाः ॥२८६८॥
एतैर्दशविकल्पैश्चतुरशीतिशतान्यपि ।
गुणितानि सहस्राश्चतुरशीतिप्रमाणकाः ॥२८६९॥

अर्थ—जो तपस्वी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक इन दस दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दस गुण प्रकट हो जाते हैं, ऊपर गुणों के चौरासी सौ भेद बतलाए हैं, उनसे इन दस को गुणा कर देने से गुणों के चौरासी हजार भेद हो जाते हैं।

आलोचना के दस भेदों का कथन—

आकम्पितश्चदोषोऽनुमानितोऽदृष्टबादरौ ।
सूक्ष्मः प्रच्छन्नदोषोऽथ शब्दाकुलितसंज्ञकः ॥२८७०॥
दोषो बहुजनोऽव्यक्तस्तत्सेवीति दशस्फुटम्।
दोषा आलोचनस्यैव ज्ञेया एतेऽघकारकाः ॥२८७१॥

अर्थ—आकंपित, अनुमानित, अदृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी ये दस पाप उत्पन्न करने वाले आलोचना के दश दोष हैं।

८ लाख ४० हजार गुणों के कथन का निर्देश—

अमीषां दशदोषाणां यत्नेन त्यजनात्सताम्।
उत्पद्यन्ते गुणाः शुद्धिकरास्तावन्त एव हि ॥२८७२॥
एतैश्चतुरशीतिश्च सहस्त्रावर्गिता गुणैः।
चत्वारिंशत्सहस्त्राणि ह्यष्टलक्षाधिकान्यपि ॥२८७३॥

अर्थ—जो सज्जन पुरुष प्रयत्नपूर्वक इन दस दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करने वाले दस गुण प्रकट हो जाते हैं। ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके हैं, उनके साथ इन दस का गुणा कर देने से आठ लाख चालीस हजार गुण हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त के दस भेद—

आलोचनं त्रिशुद्ध्याप्रतिक्रमणं च तद्द्वयम्।
विवेकोऽथ तनूत्सर्गस्तपश्च्छेदः स्वदीक्षया ॥२८७४॥
मूलं च परिहारोऽथश्रद्धानं दशसंख्यकाः।
प्रायश्चित्तस्य भेदा हि भवन्त्येते विशुद्धदाः ॥२८७५॥

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, दोनों करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षा का छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दस समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाले प्रायश्चित्त के भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के १० भेद किसके गुण व किसके दोषरूप होते हैं—

विपरीता अमी दोषा जायन्तेऽत्र प्रमादिनाम्।
सम्यगाचरिता नूनं गुणाः शुद्धिकराः सताम् ॥२८७६॥

अर्थ—यदि इन प्रायश्चित्तों के विपरीत आचरण किया जाये तो ये ही दस दोष हो जाते हैं तथा ये दोष प्रमादियों को अवश्य लगते हैं। यदि इन्हीं प्रायश्चित्तों के भेदों को अच्छी तरह पालन किया जाये तो सज्जनों के व्रतों को शुद्ध करने वाले ये ही दस गुण हो जाते हैं।

मुक्ति के कारणभूत ८४ लाख गुणों का कथन—

एतैर्दशगुणैश्चत्वारिंशत्सहस्रसद्गुणाः ।
अष्टलक्षाधिका युक्त्या प्राक्तना गुणिता बुधैः ॥२८७७॥
लक्षाश्चतुरशीतिश्च भवेयुः पण्डिता गुणाः।
सर्वदोषारिहन्तारो मुनीनां मुक्तिहेतवः ॥२८७८॥

अर्थ—ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणों के भेद बतलाए हैं उनके साथ इन दस से गुणा कर देने से चौरासी लाख गुण हो जाते हैं। ये सब गुण मुनियों के समस्त दोषरूपी शत्रुओं को नाश करने वाले हैं और मुक्ति के कारण हैं।

कैसे गुणों को धारण करने वाले पूज्य पद प्राप्त होते हैं—

एतैर्महागुणैर्यान्ति त्रिजगत्पूज्यतापदम्।
गणेशजिनचक्र्यादिभूतिं च गुणशालिनः ॥२८७९॥

अर्थ—जो महापुरुष इन गुणों को धारण कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं वे पुरुष इन गुणों के माहात्म्य से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य पद को प्राप्त होते हैं और गणधर, तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि की महाविभूति को प्राप्त होते हैं।

उत्तम गुणों के धारण करने वाले महापुरुषों की उभयलोक में कैसी महिमा होती है—

यथाऽत्रैव लभन्तेऽहो यशःसत्कारपूजनम्।
नमस्कारस्तवादीनि गुणिनश्च पदे पदे ॥२८८०॥
तथाहमिन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्रादिपदानि च।
प्राप्यामुत्र श्रयन्ते ते पूजास्तुतिशतानि च ॥२८८१॥

अर्थ—जो पुरुष इन उत्तम गुणों को धारण करते हैं, उनका इस लोक में यश फैलता है, लोग पद-पद पर उनका आदर सत्कार करते हैं, उनकी पूजा करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं तथा इसी प्रकार परलोक में भी अहमिन्द्र, देवेन्द्र, नागेन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम पद उनको प्राप्त होते हैं और वहाँ पर भी सैकड़ों बार उनकी पूजा होती है और सैकड़ों बार उनकी स्तुति होती है।

जगत् में कौन पूज्य है और कौन अपूज्य है—

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते दक्षैः सत्पुरुषाश्रिताः।
निर्गुणा न च लोकेस्मिन् सत्कुलादियुता अपि ॥२८८२॥

अर्थ—सत्पुरुषों के आश्रित रहने वाले गुण विद्वान् पुरुषों के द्वारा सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो पुरुष निर्गुण होते हैं वे चाहे कितने ही अच्छे कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों तथापि उनकी पूजा कोई नहीं करता।

मर जाने पर भी कौन सदा जीवित एवं कौन जीवित रहने पर भी मरे के समान है?

इहामुत्र च जीवन्ति जीवन्तो वा मृताः स्फुटम्।
गुणिनो गुणसंयोगाज्जगद्विख्यातकीर्तितः ॥२८८३॥
जीवन्तोऽपि मृता ज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमाः।
दृक्तपोज्ञानवृत्तादिगुणहीनाः कुकीर्तितः ॥२८८४॥

अर्थ—गुणी पुरुष उन गुणों के निमित्त से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल जाती है। इसलिए वे इस लोक में भी जीते हैं और परलोक में भी जीते हैं। वे मर जाने पर भी सदा जीवित ही रहते हैं। जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदि गुणों से रहित हैं, उनकी अपकीर्ति चारों ओर फैल जाती है, इसलिए वे जीवित रहते हुए भी सुगंध रहित पुष्प के समान मरे हुए के समान समझे जाते हैं।

सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति की प्रेरणा—

मत्वेति धीधना नित्यं पालयन्तु गुणोत्तमान्।
गुणिनां पदसंसिद्ध्यै दृगाद्यान् यत्नतो भुवि ॥२८८५॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को गुणियों का पद प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुणों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक पालन करते रहना चाहिए।

दस प्रकार के धर्मों का स्वरूप एवं नामों का निर्देश—

अथ धर्मं प्रवक्ष्यामि दशभेदं सुखाम्बुधिम्।
साक्षान्मुक्तिपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि योगिनाम् ॥२८८६॥
आद्या क्षमोत्तमा श्रेष्ठं मार्दवं चार्जवोत्तमम्।
सत्यं शौचं महान् संयमस्तपस्त्यागसत्तमः ॥२८८७॥
आकिञ्चन्यं परं ब्रह्मचर्यं सल्लक्षणान्यपि।
इमानि धर्ममूलानि श्रमणानां दशैव हि ॥२८८८॥

अर्थ—अथानंतर-अब आगे दस प्रकार के धर्मों का स्वरूप कहते हैं। ये दस प्रकार के धर्म मुनियों के लिए सुख के समुद्र हैं और मोक्षरूपी नगर में जाने के लिए मार्ग का साक्षात् पाथेय है, मार्ग व्यय है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य यह मुनियों के दस धर्म हैं और समस्त धर्मों का मूल है।

क्षमा धर्म का स्वरूप निर्देश—

मिथ्यादृक्शत्रुदुष्टाद्यैः कृते सत्यत्युपद्रवे।
अपकीर्तिभयादिभ्यः सह्यते ताडनादिकम् ॥२८८९॥

संयतैरिह लोकार्थं न परमार्थसिद्धये।
यत्सा क्षमोच्यते सद्भिः सामान्यपुरुषाश्रिता ॥२८९०॥

अर्थ—यदि कोई मिथ्यादृष्टि, शत्रु वा दुष्ट लोग किसी मुनि पर घोर उपद्रव करें, उनकी अपकीर्ति करें, उन्हें भय दिखलायें वा ताड़नादिक करें तो जो मुनि केवल इस लोक के लिए उसको सहन करते हैं, परलोक के लिए सहन नहीं करते उसको सज्जन पुरुष सामान्य पुरुषों के आश्रित रहने वाली क्षमा कहते है।

किसके उत्तम क्षमा होती है—

आस्य-दृष्टिविषर्द्ध्यादीनांसामर्थ्येऽत्र सत्यपि।
केवलं कर्मनाशाय सह्यते यो महात्मभिः ॥२८९१॥
प्राणनाशकरो घोरोपसर्गो दुर्जनैः कृतः।
उत्तमाख्या क्षमा सोक्ता धर्मरत्नखनी परा ॥२८९२॥

अर्थ—परंतु जो मुनि उसी विष ऋद्धि, दृष्टि विष ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होने पर भी केवल कर्मों को नाश करने के लिए दुष्टों के द्वारा किए हुए प्राणों को नाश करने वाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं, उन महात्माओं के धर्मरत्न की खानि ऐसी सर्वोत्तम उत्तम क्षमा होती है।

उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा—

स्वदोषगुणचिन्ताद्यैः प्रत्यक्षादिविचिन्तनैः।
विचारचतुरैः कार्या सर्वत्रैका क्षमा परा ॥२८९३॥

अर्थ—अपने गुण दोषों को चिंतन कर अथवा प्रत्यक्ष-परोक्ष के गुण-दोषों को चिंतन कर विचारशील चतुर पुरुषों को सर्वत्र एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिए।

साधु किस प्रकार चिंतन करते हुए निंदा आदि के वचन सहते हैं—

यदि कश्चित्कुधीः कुर्यात्साधोर्निन्दां तदा यमी।
हृदीति चिन्तयेदेते दोषाः सन्ति न वा मयि ॥२८९४॥
विद्यते यदि दोषो मे न चास्य सत्यभाषणात्।
दोषाभावेऽथवाऽज्ञानाद्वक्त्येष मम दूषणम् ॥२८९५॥
न मारयति मां मे न किञ्चिद् गृह्णाति सद्गुणम्।
इत्यादिचिन्तनैस्तेन सोढव्यं निन्दनादिकम् ॥२८९६॥

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधु की निंदा करता हो तो उस समय उस साधु को अपने मन में विचार करना चाहिए कि मुझमें ये दोष है वा नहीं। यदि मुझमें ये दोष है तो इसका कोई दोष नहीं है क्योंकि यह तो सत्य भाषण कर रहा है। यदि अपने में ये दोष न हों तो उनको विचार करना

चाहिए कि यह अपने अज्ञान से मेरे दोषों को कहता है, मुझे मारता तो नहीं है अथवा मेरे श्रेष्ठ गुणों को तो ग्रहण नहीं करता अथवा नहीं छीनता, इस प्रकार चिंतन कर उन मुनियों को अपनी होने वाली निंदा को सहन करना चाहिए।

किस प्रकार के चिंतन से गाली आदि के वचन सहते, क्षमा भाव धरते हैं—

यदि कश्चित्परोक्षेण मुनिमाक्रोशति क्रुधा।
तदेति मुनिना ध्येयं क्रोधाग्निजलदोपमम् ॥२८९७॥
आक्रोशति परोक्षेऽयं प्रत्यक्षे मां न पापधीः।
लाभोऽस्मान्मम मत्वेति क्षन्तव्यं तेन तत्कृतम् ॥२८९८॥

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष क्रोध में आकर परोक्ष में किसी मुनि को गाली देता हो वा कड़वे बुरे वचन कहता हो तो क्रोधरूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ के समान उन मुनि को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि यह पापी परोक्ष में ही मुझे गाली देता है, प्रत्यक्ष में आकर तो गाली नहीं देता मेरे लिए यही बड़ा लाभ है। यही समझकर उन मुनियों को उस दुष्ट का अपराध क्षमा कर देना चाहिए।

दुष्ट दुर्वचन सहन करने की प्रेरणा—

वा क्रोशति यतिं कश्चित्प्रत्यक्षेण दुरात्मकः।
तदेति चिन्तनीयं सन्मुनिना कोपनाशकम् ॥२८९९॥
ददाति केवलं मेऽयं गालीं हन्ति न मां शठः।
गालीभिः किं व्रणान्यत्र जायन्ते मेऽशुभानि वा ॥२९००॥
अतोऽत्रामुत्रहानिश्चास्यैव निन्दनतो न मे।
विचिन्त्येति स्वमौनेन सोढव्यं तेन दुर्वचः ॥२९०१॥

अर्थ—यदि कोई दुरात्मा प्रत्यक्ष में ही आकर किसी मुनि को गाली दे तो उस मुनि को क्रोध को नाश करने वाला इस प्रकार का चिंतन करना चाहिए कि यह मूर्ख मुझे गाली ही देता है, मुझे मारता तो नहीं है, गाली से मेरे घाव थोड़े ही हुए जाते हैं अथवा मेरी कुछ हानि थोड़ी ही होती है। यदि वास्तव में देखा जाये तो मेरी निंदा करने से इस लोक में भी इसकी हानि होती है और परलोक में भी इसकी हानि होती है। इसमें मेरी कुछ हानि नहीं होती इस प्रकार चिंतन कर और मौन धारण कर उन मुनिराज को उस दुष्ट के दुर्वचन सहन कर लेने चाहिए।

क्रोध से ताड़नादि करने पर मुनिराज किस प्रकार चिंतन करते हैं—

अथवा यद्यधीः कश्चित्साधुं ताडयति क्रुधा।
तदेत्थं साधुना चित्ते चिन्तनीयं क्षमाकरम् ॥२९०२॥
हन्त्येवायं कुधीर्मां मत्प्राणान् हरति नाञ्जसा।
अस्मान्मे लाभ एवात्र न च हानिरघक्षयात् ॥२९०३॥

वाऽत्रायं वधबन्धाद्यैर्मे पापं हरति स्फुटम्।
न च पुण्यमतोऽस्यैव हानिर्वृद्धिर्ममोर्जिता ॥२९०४॥
अथवा मद्रिपुश्चायं प्राग्भवे ताडितो मया।
ततो मां ताडयत्यत्रऽदोषो मेऽस्य न जातुचित् ॥२९०५॥

अर्थ—यदि कोई मूर्ख क्रोध में आकर किसी साधु को ताड़ना करे, मारे तो उन मुनिराज को अपने चित्त में क्षमा की खानिरूप ऐसा चिंतन करना चाहिए कि यह मूर्ख मुझे मारता ही है, मेरे प्राणों का हरण तो नहीं करता अतएव इसमें मेरा लाभ ही है, मेरी हानि कुछ नहीं है, मेरे तो इसमें पाप नष्ट होते हैं, असाता कर्मों की निर्जरा होती है। इस प्रकार चिंतन करना चाहिए अथवा इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि यह मूर्ख मुझे मारकर वा बाँधकर मेरे पापों का हरण करता है, मेरे पुण्य को तो हरण नहीं करता? इसलिए ऐसा करने में इसकी तो हानि है और मेरे लिए लाभ है अथवा उन मुनिराज को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि यह मेरे पहले भव का शत्रु है, मैंने पहले भव में इसको मारा होगा इसलिए यह इस भव में मुझे मारता है, यह तो मेरा ही दोष है इसमें इसका क्या दोष है।

अपने ही कर्म का उदय जान मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

प्राग्भवे वा कृतं कर्म यत्तन्मयैव भुज्यते।
निमित्तमात्रमत्रेमं मन्ये दुःखादिकारकम् ॥२९०६॥
मदीयमपिऽचेच्चित्तं व्रजेत्क्रोधाग्निसन्निधिम्।
अज्ञस्यास्य विदो मेऽत्र को विशेषस्तदा पृथक् ॥२९०७॥

अर्थ—अथवा उन मुनिराज को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि मैंने पहले भवों में जो कर्म किए हैं वे मुझ ही भोगने पड़ेंगे। यह प्राणी तो उन कर्मों के उदय से होने वाले दुःखों में केवल निमित्त कारण है। मुख्य कारण तो मेरे ही कर्मों का उदय है। यदि इस समय मेरे हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो आए तो फिर इस मूर्ख में और मुझ ज्ञानी में अलग-अलग विशेषता क्या होगी? फिर तो दोनों ही समान हो जायेंगे।

क्रोध करने से पूर्व साधना भी व्यर्थ हो जाती है—

क्रोधहालाहलाक्रान्तं निर्विषीकर्तुमक्षमः।
अहं यदि कथं क्रोधविषं पिबामि साम्प्रतम् ॥२९०८॥
अभ्यस्तो यः शमः पूर्वं बहुकष्टैर्मयाधुना।
वैफल्यं तस्य जायेत यदि कोपं करोम्यतः ॥२९०९॥

अर्थ—यदि मैं क्रोधरूपी महाविष से आक्रांत हुए इस पुरुष को निर्विष करने में समर्थ नहीं हूँ अर्थात् यदि मैं इसका क्रोधरूपी विष दूर नहीं कर सकता हूँ तो फिर मैं इस समय क्रोधरूपी विष का पान क्यों करूँ। यदि मैं इस समय क्रोध करता हूँ तो मैंने पहले अनेक कष्ट सहनकर जो उपशमरूप

(अत्यन्त शांत) परिणामों का अभ्यास किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है।

स्थिरचित्त से उपद्रव सहने की प्रेरणा—

इत्यादिचिन्तनैश्चित्तं स्थिरीकृत्याशु साधुना।
सोढव्यं निखिलं लोके ताडनं दुर्जनोद्भवम् ॥२९१०॥

अर्थ—इस प्रकार चिंतन कर उन मुनिराज को अपना चित्त स्थिर कर लेना चाहिए और इस लोक में दुष्टों के द्वारा उत्पन्न हुए मारण-ताड़न आदि सब उपद्रव सहन कर लेने चाहिए।

प्राण हरण करने के अवसर पर भी मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

यदि कश्चिदृषेः प्राणान् गृह्णाति श्वभ्रनायकः।
ऋषिणेदं तदा चिन्तनीयं कोपाग्निनीरदम् ॥२९११॥
आदत्तेऽयं मम प्राणान् न च धर्मं शिवप्रदम्।
अस्माद्बालाद्धि मे लाभो न हानिर्धर्मवर्द्धनात् ॥२९१२॥

अर्थ—यदि कोई नरक को जाने वाला दुष्ट किसी मुनि के प्राण ही हरण करता हो तो उन मुनिराज को उस समय क्रोधरूपी अग्नि को शांत करने के लिए मेघ के समान इस प्रकार का चिंतन करना चाहिए, यह मूर्ख मेरे प्राणों को लेता है, मोक्ष देने वाले मेरे धर्म को तो नहीं लेता, इसलिए इस मूर्ख से मेरी कोई हानि नहीं है किन्तु मेरे धर्म की वृद्धि होने से मेरा लाभ ही है।

मुनिराज मारने वाले को भी मित्र एवं हितू मानते हैं—

जरा जर्जरितं कायं हत्वा दिव्यं गुणाकरम्।
वपुर्दत्ते वधाद्यैर्मे कथं स न सुहृद्वरः ॥२९१३॥
वंधाद्यैः पापकर्मभ्यो यद्ययं मां न मोचयेत्।
तदा मोक्षः कुतस्तेभ्यो मेऽस्मादेषहितंकरः ॥२९१४॥
कारागारनिभात्कायान्मोचयित्वाशु मां हि यः।
स्वर्गादौ स्थापयत्येव कथं स शत्रुरुच्यते ॥२९१५॥

अर्थ—और देखो यह प्राणी मुझे मारकर जरा से जर्जरित हुए मेरे शरीर को नाश करता है और अनेक गुणों की खानि ऐसा दिव्य शरीर मुझे देता है, इसलिए यह तो मेरा सबसे बढ़कर मित्र है। यदि यह प्राणी मुझे मारकर पापकर्मों से मुझे नहीं छुड़ाता तो मैं उन पापों से कैसे छूटता? इसलिए कहना चाहिए कि यह तो मेरा सबसे अच्छा हित करने वाला है। अरे जो पुरुष कारागार के समान इस शरीर से मुझे शीघ्र ही छुड़ाकर मुझे स्वर्गादिक में पहुँचा देता है, यह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है उसे तो मैं अपना मित्र समझता हूँ।

पुनः उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा—

इत्यादिसद्विचारौघैः प्राणनाशेपि साधुना।
क्षमैका सर्वथा कार्या कोपः कार्यो न जातुचित् ॥२९१६॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक तरह से अपने श्रेष्ठ विचार धारण कर प्राण नाश होने पर भी मुनिराज को एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिए। उन मुनिराज को क्रोध कभी नहीं करना चाहिए ।

मुनिराज चन्दन के वृक्ष एवं पृथ्वी के समान अविकारी और अचल होते हैं—

छेदनैः कर्तनैर्दाहैर्विक्रियां याति चन्दनम्।
न यथात्र तथा योगी सर्वोपद्रवराशिभिः ॥२९१७॥
कम्पते न यथा पृथ्वी खननज्वालनादिभिः।
उपसर्गैस्तथा विश्वैर्ध्यानस्थो धीरसंयमी ॥२९१८॥

अर्थ—जिस प्रकार चंदन को छेदने से, काटने से वा जलाने से चंदन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार समस्त उपद्रवों के समूह आ जाने पर भी योगी के हृदय में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार पृथ्वी को खोदने वा जलाने से पृथ्वी कभी कंपायमान नहीं होती उसी प्रकार समस्त उपसर्गों के आ जाने पर भी ध्यान में स्थिर हुए धीरवीर संयमी अपने ध्यान से कभी चलायमान नहीं होते हैं।

सैकड़ों उपसर्गों के आने पर भी साधु विकृत नहीं होते हैं—

क्वचिद् दुग्धामृतादीनि विषायन्ते विधेर्वशात्।
नोपसर्गैश्च साधूनां चित्तानन्दामृतानि भोः ॥२९१९॥

अर्थ—कभी-कभी कर्मों के निमित्त से वा अन्य किसी कारण से दूध वा अमृत आदि उत्तम पदार्थ भी विषरूप हो जाते हैं परंतु साधुओं के हृदय से उत्पन्न हुआ आनंदामृत सैकड़ों उपसर्गों के आ जाने पर भी कभी विषरूप वा विकाररूप नहीं होता।

क्रोध की निंदा एवं क्षमा की महिमा का वर्णन—

न कोपसदृशो वह्निर्विश्वप्रज्ज्वालनक्षमः।
अमृतं न क्षमातुल्यं त्रिजगत्प्रीणनक्षमम् ॥२९२०॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान अन्य कोई अग्नि नहीं है क्योंकि यह क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ है। इसी प्रकार क्षमा के समान इस संसार में कोई अमृत नहीं है क्योंकि इस क्षमा से तीनों लोकों के प्राणी अत्यन्त संतुष्ट हो जाते हैं।

क्रोध करने वाले जीवों की हानि—

द्वीपायनः स्वकोपेन दग्ध्वा द्वारावतीं मुनिः।
सर्वां स्वस्य शरीरं चागात्तैजसेन दुर्गतिम् ॥२९२१॥

क्रोधेनाघार्जनं कृत्वा बहवो नारदादयः।
रौद्रध्यानाद् गताः श्वभ्रं स्त्रीश्चादिरहिता अपि ॥२९२२॥

अर्थ—देखो द्वीपायन मुनि ने क्रोध कर तैजस समुद्घात के द्वारा समस्त द्वारिका नगरी जला डाली, अपना शरीर जला डाला और अंत में उसे नरकरूप दुर्गति में जाना पड़ा। इनके सिवाय स्त्री, धन आदि से रहित ऐसे नारद आदि बहुत से प्राणी क्रोध के कारण अनेक पापों को उपार्जन कर अंत में रौद्रध्यान से मरकर नरक पहुँचे हैं।

क्रोध अग्नि के समान आत्मिक गुणों को नष्ट करता है—

कोपाग्निर्जृम्भतेसाधोर्यस्य कायकुटीरके।
तस्य दृष्ट्यादिरत्नानि भस्मीभावं व्रजन्त्यतः ॥२९२३॥
पूर्वं दहति कोपाग्निर्देहं ततोऽपरान्जनान्।
इह पुंसां च धर्मादीन् दत्तेऽमुत्र ह्यधोगतिम् ॥२९२४॥

अर्थ—जिस साधु के शरीररूपी झोपड़ी में क्रोधरूपी अग्नि लग जाती है, उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जलकर भस्म हो जाते हैं। यह क्रोधरूपी अग्नि पहले तो अपने शरीर को जलाती है फिर अन्य प्राणियों को जलाती है और फिर उन साधुओं के धर्मादिक गुणों को नष्ट करती है तथा फिर अंत में परलोक में नरकादिक अधोगति को देती है।

जिनेन्द्रदेव क्रोध करने वाले को क्या समझते हैं—

यदि कोपं क्वचित्कुर्यान्नग्नो वा चीवरावृतः।
तदा नीचो जिनैः प्रोक्तः सोऽन्त्यजादपि पापधीः ॥२९२५॥

अर्थ—यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला ऐलक वा क्षुल्लक कहीं पर क्रोध करता है तो भगवान् जिनेन्द्रदेव उस पापी को चांडाल से भी नीच समझते हैं।

अनेकों दोषों को उत्पन्न करने वाले क्रोध को मुनि कैसी तलवार से नाश करते हैं—

न क्रोधेन समो वैरी सर्वानर्थाकरोऽशुभः।
इहामुत्र मनुष्याणां सप्तमश्वभ्रकारकः ॥२९२६॥
इत्यादिदोषकर्तारं क्रोधशत्रुं तपोधनाः।
क्षमाखड्गेन मोक्षाय दुर्जयं घ्नन्तु शक्तितः ॥२९२७॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान मनुष्यों का अन्य कोई शत्रु नहीं है क्योंकि यह क्रोध इस लोक में भी समस्त अनर्थों को करने वाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करने वाला है और परलोक में भी सातवें नरक तक पहुँचाने वाला है। इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न करने वाले और अत्यन्त दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपनी शक्ति से क्षमारूप तलवार के द्वारा नाश कर डालते हैं।

क्षमा की महिमा और किसने इसे धारण करके केवलज्ञान को प्राप्त किया—

क्षमामुक्तिसखी प्रोक्ता जिनैर्मुक्तिवशीकरा।
कल्पवल्लीक्षमा नृणां सङ्कल्पितसुखप्रदा ॥२९२८॥
क्षमां रक्षा परा पुंसां शत्रुभ्य: शममातृका:।
क्षमा धर्मसुरत्नानां खनी सारा शुभङ्करा ॥२९२९॥
पार्श्वेशसंजयन्ताख्यशिवभूत्यादियोगिन:।
क्षमयात्राचिराज्जित्वा बहूपसर्गान्वैरिजान् ॥२९३०॥
केवलावगमं प्राप्य त्रिजगद्भव्यपूजनम्।
लोकाग्रशिखरं जग्मुर्बहव: शर्मसागरम् ॥२९३१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस क्षमा को मोक्ष को वश करने वाली ऐसी मोक्ष की सखी बतलाया है तथा यही क्षमा मनुष्यों के लिए इच्छानुसार सुख देने वाली कल्पलता के समान है। मनुष्यों को शत्रुओं से रक्षा करने वाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है। यह क्षमा उपशम की माता है, सबमें सारभूत है, शुभ करने वाली है और धर्मरूप रत्नों की खानि है। देखो भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी, संजयंत मुनि और शिवभूति आदि कितने ही मुनि इस क्षमा को धारण कर ही शत्रुओं से उत्पन्न अनेक उपसर्गों को जीतकर शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं तथा तीनों लोकों के भव्यजीवों के द्वारा पूजे जाकर अनंतसुखों के समुद्र ऐसे लोक शिखर पर जा विराजमान हुए हैं।

सर्वश्रेष्ठ गुणों का समूह रूप क्षमा को धारण करने की प्रेरणा—

क्षमासमं तपो नास्ति क्षमातुल्यं न सद्व्रतम्।
क्षमाभं न हितं किञ्चित्क्षमानिभं न जीवितम् ॥२९३२॥
इत्यादीन् परमान् ज्ञात्वा क्षमाया गुणसंचयान्।
कुर्वन्तु सुधियो नित्यं क्षमां कृत्स्नप्रयत्नत: ॥२९३३॥

अर्थ—इस संसार में क्षमा के समान अन्य कोई तप नहीं है, क्षमा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ व्रत नहीं है, क्षमा के समान कोई हित नहीं है और क्षमा के समान कोई जीवन नहीं है। इस प्रकार इस क्षमा के सर्वोत्कृष्ट गुणों के समूह को समझकर बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयत्न के साथ नित्य ही क्षमा धारण करनी चाहिए।

उत्तम मार्दव धर्म के कथन की प्रतिज्ञा—

इत्येकं लक्षणं सारं धर्मस्याख्याय धीमताम्।
क्षमाख्यं धर्ममूलं च द्वितीयं मार्दवं ब्रुवे ॥२९३४॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिमानों के लिए धर्म का मूल और सारभूत ऐसे एक उत्तमक्षमा नामक धर्म का लक्षण कहा। अब आगे दूसरे उत्तम मार्दव का लक्षण कहते हैं।

मार्दव धर्म का लक्षण—

सत्सूत्तमेषु सर्वेषु सज्जात्यादिषु चाष्टसु।
मृदुभिश्चित्तवाक्कायैर्निहत्य तत्कृतं मदम् ॥२९३५॥
क्रियते मृदुभावोयोऽखिलाहंकारवर्जित:।
तद्धर्मलक्षणं ज्ञेयं मार्दवं सत्कृपाकरम् ॥२९३६॥

अर्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर ये अभिमान के आठ कारण बतलाए हैं, इन सबकी उत्तमता प्राप्त होने पर भी मुनियों को अपने कोमल मन-वचन-काय को धारण कर इन आठों मदों का त्याग कर देना चाहिए तथा सब तरह के अभिमानों का त्यागकर अपने कोमल परिणाम धारण करने चाहिए। श्रेष्ठ दया को पालन करने वाला यही मार्दव धर्म का लक्षण है।

कोमल एवं कठोर परिणामों के फल का निर्देश—

व्रतशीलसमस्तानि यान्ति सम्पूर्णतां सताम्।
सुमार्दवेन मुक्तिस्त्री दत्ते चालिङ्गनं दृढम् ॥२९३७॥
त्रियोगमार्दवत्वेन धर्मिणां धर्म उल्वण:।
उत्पद्यते गुणैर्विश्वै: सार्द्धं विश्वसुखाकर: ॥२९३८॥
काठिन्यपरिणामेन जायते पापमूर्जितम्।
क्षयोऽखिलव्रतादीनां निन्द्यं च श्वभ्रसंबलम् ॥२९३९॥

अर्थ—इस मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं तथा इस मार्दव धर्म से ही मुक्तिस्त्री दृढ़ आलिंगन देने को तत्पर रहती है। मन-वचन-काय तीनों को कोमल रखने से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ-साथ समस्त सुखों को देने वाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रकट होता है तथा कठिन परिणामों को रखने से प्रबल पाप उत्पन्न होता है, समस्त व्रतों का नाश होता है और अत्यन्त निंद्य ऐसा नरकगति का साधन प्रकट हो जाता है।

मार्दव धर्म के धारण करने की प्रेरणा—

इतिसन्मृदुकाठिन्यचित्तयो: फलमञ्जसा।
शुभाशुभं विदित्वाहो हत्वा कठिनमानसम् ॥२९४०॥
विश्वसत्त्वकृपाक्रान्तं मार्दवं सुष्ठुयत्नत:।
कुर्वन्तु मुनयो धर्मशिवश्रीसुखवृद्धये ॥२९४१॥

अर्थ—इस प्रकार कोमल परिणामों का फल शुभ और कठिन परिणामों का फल अशुभ समझकर कठिन परिणामों का त्याग कर देना चाहिए और उन मुनियों को धर्म तथा मोक्ष की लक्ष्मी और सुख बढ़ाने के लिए प्रयत्नपूर्वक समस्त जीवों की कृपा से परिपूर्ण ऐसा मार्दव धर्म धारण करना चाहिए।

पुनः जिनेन्द्रदेव कथित आर्जव धर्म का स्वरूप निर्देश—

हृदि यत्संस्थितं कार्यं ब्रूयते वचसा च तत्।
वपुषा चर्यते तथ्यमृजुबुद्धिभिरञ्जसा ॥२९४२॥
एतदार्जवमत्यर्थ-मुत्तमं धर्मलक्षणम्।
प्रणीतं धर्मनाथेन सतां धर्मकुलालयम् ॥२९४३॥

अर्थ—अपनी सरल बुद्धि को धारण कर अपने मन में जो कार्य जिस रूप से चिंतन किया है, उसको उसी रूप से कहना और शरीर के द्वारा उसी रूप से करना, उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है। धर्म की परंपरा का घर ऐसा यह आर्जव धर्म का लक्षण सज्जनों के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आर्जव धर्म की महिमा एवं उसका फल—

पुसां चार्जवभावेन जायन्ते निर्मला गुणाः।
त्रिजगत्सुखसाराणि तीर्थेशादिविभूतयः ॥२९४४॥
धर्मिणामृर्जुचित्तेनोत्तमो धर्मो भवान्तकः।
साक्षान्मुक्तिवधूदाता भवेत्सर्वार्थसाधकः ॥२९४५॥
आर्या आर्जवयोगेन ह्यव्रता अपि भोगिनः।
यान्ति देवालयं नूनं मतोऽस्याप्यमात्रकः ॥२९४६॥

अर्थ—इस आर्जव धर्म के निमित्त से मनुष्यों को अत्यन्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं, तीनों जगत् के सारभूत सुख प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरादिक की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। मृदु हृदय को धारण करने से धर्मात्माओं को, संसार को नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देने वाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है। देखो सदा भोगोपभोग सेवन करने वाले और अव्रती ऐसे भोगभूमियाँ भी मन-वचन-काय को सरल रखने के कारण स्वर्ग में ही जाकर जन्म लेते हैं।

किसके ध्यानादि तप निष्फल है—

कौटिल्यपरिणामेन कुटिला यान्ति दुर्गतिम्।
अहो पापार्जनं कृत्वा मार्जारमकरादिकाः ॥२९४७॥
कूटद्रव्यमिव व्यर्थं निष्फलं स्वप्नराज्यवत्।
विषमिश्रितदुग्धं वा तपोध्यानादिदुर्धियाम् ॥२९४८॥

अर्थ—तथा बिल्ली, मगर आदि मायाचारी कुटिल जीव अपने कुटिल परिणामों के ही कारण अनेक पापों को उत्पन्न कर दुर्गति में जाकर जन्म लेते हैं। जो सरल बुद्धि को धारण नहीं करते, उनके तप और ध्यानादिक सब नित्य द्रव्य के समान व्यर्थ हैं, स्वप्न में मिले हुए राज्य के समान निष्फल हैं और विष मिले हुए दूध के समान हानि करने वाले हैं।

मायाचारी रूप क्रियाओं का फल एवं उसे त्यागने की प्रेरणा—

मायाविनां तपोधर्मसंयमो वा शुभक्रिया।
क्व यतो निश्चितं मायाऽघेन तिर्यग्गतिर्भवेत् ॥२९४९॥
मत्वेति दूरतस्त्यक्त्वा मायावाक्यादिमञ्जसा।
ऋजुयोगेन कुर्वीध्वमार्जवं मुक्तये बुधाः ॥२९५०॥

अर्थ—मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम वा शुभ क्रियाएँ कुछ नहीं बन सकतीं क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न हुए पाप के कारण मायाचारियों को तिर्यंच गति की ही प्राप्ति होती है। यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मायाचारी से मिले हुए मन-वचन-काय को दूर से ही त्याग कर देना चाहिए और मन-वचन-काय की सरलता धारण कर आर्जव धर्म का पालन करना चाहिए।

सत्यधर्म का लक्षण एवं उसे धारण करने का फल—

स्वान्येषां हितमुद्दिश्य धर्मतत्त्वार्थगर्भितम्।
ब्रूयते यद्वचस्तथ्यं सारं सिद्धान्तवेदिभिः ॥२९५१॥
भाषासमितिमालम्ब्य तत्सत्यं धर्मलक्षणम्।
ज्ञानबीजं जगन्मान्यं कर्मघ्नं मोक्षकारणम् ॥२९५२॥
सत्येन विमला कीर्तिर्भ्रमेल्लोकत्रये सताम्।
महाधर्मश्च जायेत ज्ञानाद्यैः सद्गुणैः सह ॥२९५३॥
त्रिजगच्छ्रीः परं सौख्यं जगत्पूज्या च भारती।
सर्वज्ञवैभवं सत्याल्लभ्यते सत्यवादिभिः ॥२९५४॥

अर्थ—सिद्धान्त को जानने वाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते हैं तथा भाषा समिति को आलंबन कर वचन कहते हैं, वह सत्यधर्म का लक्षण है। यह सत्यधर्म ज्ञान का बीज है, तीनों लोकों में मान्य है, कर्मों को नाश करने वाला है और मोक्ष का कारण है। इस सत्यधर्म के कारण सज्जनों की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है और सम्यग्ज्ञानादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ उनको महाधर्म की प्राप्ति होती है। सत्यवादियों को इस सत्यधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है, परम सुख की प्राप्ति होती है, तीनों लोकों में पूज्य ऐसी सरस्वती की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ की विभूति प्राप्त होती है।

असत्य बोलने का फल एवं सत्य बोलने की प्रेरणा—

जडत्वं मुखरोगत्वं स्वाकीर्तिदुःखमञ्जसा।
दुर्गतिं च महत्पापं लभन्तेऽनृतभाषिणः ॥२९५५॥

इत्यैतयोः फलं ज्ञात्वा त्यक्त्वा मृषावचोऽखिलम्।
वदन्तु निपुणाः सत्यं मधुरं सद्वचोहितम् ॥२९५६॥

अर्थ—मिथ्या भाषण करने वालों को अज्ञानता की प्राप्ति होती है, मुख के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, संसार में अपकीर्ति फैल जाती है, अनेक दुःखों की प्राप्ति होती है और महा पाप उत्पन्न होता है। इस प्रकार सत्य, असत्य दोनों का फल समझकर बुद्धिमानों को सब तरह के मिथ्या भाषण त्याग कर देना चाहिए और हित करने वाले मधुर सत्य वचन कहने चाहिए।

शौच धर्म का लक्षण—

इन्द्रियार्थेष्वनासक्तं निस्पृहं विश्ववस्तुषु।
सर्वाङ्गिकरुणाक्रान्तं मनः कृत्वाऽघवर्जितम् ॥२९५७॥
लोभशत्रुं निहत्योच्चैः सन्तोषो यो विधीयते।
विश्वार्थस्वसुखादौ तच्छौचं सद्धर्मलक्षणम् ॥२९५८॥

अर्थ—जो मुनि अपने मन से इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग कर देते हैं, अपने ही मन में समस्त पदार्थों की निस्पृहता धारण करते हैं और समस्त जीवों की दया पालन करते हैं। इस प्रकार अपने मन को पापरहित बनाकर लोभरूपी शत्रु को सर्वथा नाश कर डालते हैं और समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादिक में पूर्ण संतोष धारण करते हैं, उसको शौच नाम का धर्म कहते हैं।

लोभ के चार भेद एवं उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

जीवितारोग्य - पञ्चेन्द्रियोपभोगैश्चतुर्विधः।
स्वान्ययोरत्र लोभश्च दक्षैस्त्याज्यः स मुक्तये ॥२९५९॥

अर्थ—इस संसार में लोभ चार प्रकार का है, जीवित रहने का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ, पंचेन्द्रियों का लोभ और भोगोपभोगों की सामग्री का लोभ। चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अपने तथा दूसरों के दोनों के लिए चारों प्रकार के लोभ का त्याग कर देना चाहिए।

किसको शौच धर्म की प्राप्ति होती है—

निर्लोभानां जिताक्षाणां शौचधर्मो हि केवलम्।
जायते परमो मुक्त्यै न कामाशक्तचेतसाम् ॥२९६०॥

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतने वाले निर्लोभी हैं, उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करने वाले परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है, उनके शौचधर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती।

निर्लोभी एवं लोभी पुरुषों को संसार में किसकी प्राप्ति होती है—

शौचेन महती लक्ष्मीर्भुवनत्रयगोचरा।
मुक्तिस्त्री स्वयमायाति निर्लोभांश्च यशः परम् ॥२९६१॥

लोभिनां लोभपापेन दारिद्रं दु:खमुल्वणम्।
दुर्गतौ भ्रमणं पापं दुर्ध्यानं चाशुभो भवेत् ॥२९६२॥

अर्थ—निर्लोभी पुरुषों को इस शौचधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाली महालक्ष्मी प्राप्त होती है तथा मोक्ष लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त हो जाती है और उनका सर्वोत्कृष्ट यश तीनों लोकों में फैल जाता है। लोभी पुरुषों को लोभ रूप पाप से दरिद्रता उत्पन्न होती है, घोर दु:ख प्राप्त होते हैं, अनेक दुर्गतियों में परिभ्रमण होता है, महापाप उत्पन्न होता है, निंद्य अशुभ ध्यान होता है और अशुभ कर्मों का बंध होता है।

किसके द्वारा लोभरूपी शत्रु को नष्ट करना चाहिए—

मत्वेत्याहत्य लोभारिं सन्तोषखड्गघातत: ।
अन्त: शौचं विधातव्यं बुधैर्मुक्त्यै जलादृते ॥२९६३॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए संतोषरूपी तलवार की चोट से लोभरूपी शत्रु को मार डालना चाहिए और बिना जल के अंतरंग शौच को धारण करना चाहिए।

संयम धर्म का स्वरूप निर्देश—

मन: पञ्चेन्द्रियाणां यद्रोधनं परिरक्षणम्।
षड्जीवानां त्रिशुद्ध्या चाचर्यतेऽत्र मुमुक्षुभि: ॥२९६४॥
संयम: स जिनै: प्रोक्त: साक्षान्मुक्तिनिबन्धन:।
तपोदृग्ज्ञानधर्मादिगुणानां शुद्धकारक: ॥२९६५॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनि लोग मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पाँचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव संयम कहते हैं। यह संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा तप, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्मादिक समस्त गुणों को शुद्ध करने वाला है।

संयम के भेद एवं उनके स्वामी का निर्देश—

वोपेक्षापहृताभ्यां स संयमो द्विविधो मत:।
आद्य उत्कृष्टकायानां द्वितीयोऽपरयोगिनाम्॥२९६६॥

अर्थ—अथवा उपेक्षा संयम और अपहृत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद हैं। उत्कृष्ट शरीर को धारण करने वालों के उपेक्षा संयम होता है और अन्य मुनियों के अपहृत संयम होता है।

उपेक्षा संयम एवं अपहृत संयम का स्वरूप निर्देश—

उत्कृष्टाङ्गबलाढ्यस्य विदस्त्रिगुप्तिधारिण: ।
रागद्वेषाद्यभावो य उपेक्षासंयमोऽत्र स: ॥२९६७॥

दक्षैः समितयः पञ्च यत्र संवर मातृकाः।
यत्नेन प्रतिपाल्यन्तेऽपहृताख्यः स संयमः ॥२९६८॥

अर्थ—महाज्ञानी और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाले महामुनियों के उत्कृष्ट शरीर में बल होने के कारण जो रागद्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं। जो चतुर मुनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करने वाली पाँचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं।

संयम के उत्कृष्ट ५ भेद—

सामायिकाभिधं छेदोपस्थापनसमाह्वयम्।
परिहारविशुद्धिः सूक्ष्मसाम्परायनामकम् ॥२९६९॥
यथाख्याताख्य--चारित्रं पञ्चभेदा इमे पराः।
संयमस्य बुधैर्ज्ञेयाश्चारित्राख्याः शिवङ्कराः ॥२९७०॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के उत्कृष्ट भेद हैं। ये सब मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले हैं और संयम के ही उत्कृष्ट भेद कहलाते हैं। ऐसा बुद्धिमानों को समझ लेना चाहिए।

सामायिक चारित्र का स्वरूप—

सर्वसावद्ययोगानां सर्वथा यच्च वर्जितम्।
निन्दास्तुतिसुहृच्छत्रुदृषद्रत्नादिवस्तुषु ॥२९७१॥
सुखदुःखादिसंयोगे समताकरणं बुधैः।
विधीयते त्रिशुद्ध्या तद् वृत्तं सामायिकाह्वयम् ॥२९७२॥

अर्थ—जहाँ पर बुद्धिमान् पुरुष मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक समस्त सावद्यरूप (पापरूप) योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं तथा निंदा-स्तुति में, शत्रु-मित्र में, रत्न और पाषाण में और सुख-दुःखादि के संयोग में समता धारण करते हैं, उस चारित्र को सामायिक नाम का चारित्र कहते हैं।

छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप—

देशकालनिरोधाद्यैः प्रमादेन च कारणैः।
अङ्गीकृतव्रतादीनां जातातीचारदोषतः ॥२९७३॥
प्रायश्चित्तस्वनिन्दाद्यैः यद्विशोधनमञ्जसा।
क्रियते व्रतिभिस्तद्धि छेदोपस्थापनं मतम् ॥२९७४॥

अर्थ—किसी देश, काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किए हुए व्रतों में कोई अतिचार लग जाये तो अपनी निंदा, गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार का संशोधन करना, दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध

करना छेदोपस्थापन नाम का संयम कहलाता है।

परिहारविशुद्धि चारित्र कौन धारण कर सकता है?

त्रिंशद्वर्षप्रमायुस्त्रिवर्षाणामुपरि स्फुटम् ।
अधस्तले नवाष्टानां पादसेवी जितेन्द्रियः ॥२९७५॥
तीर्थंकरस्य सद्धैर्यवीर्यकायबलाङ्कितः।
योऽनेकदेशभाषादिचतुरो नवपूर्ववित् ॥२९७६॥
निष्प्रमादो महादुःखचर्य्या सत्तपसा युतः।
परिहारविशुद्धिं सः कर्तुमर्हति नापरः ॥२९७७॥

अर्थ—जिस मुनि की आयु कम से कम तीस वर्ष की है, जो तीन वर्ष से ऊपर आठ-नौ वर्ष तक भगवान् तीर्थंकर परमदेव के समीप चरण कमलों के समीप रह चुका हो, जो जितेन्द्रिय हो, श्रेष्ठ धैर्य, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ शरीर से सुशोभित हो तो अनेक देश की भाषाओं के जानने में चतुर हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्व का पाठी हो, प्रमाद रहित हो, जो अत्यन्त कठिन और दुःखमय चर्या करता हो और श्रेष्ठ तपश्चरण करता हो वही मुनि परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र को धारण कर सकता है। जिसमें ये गुण नहीं है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र को कभी धारण नहीं कर सकता।

परिहार विशुद्ध चारित्र का स्वरूप—

वर्जयित्वा त्रिसन्ध्यां चानेकदेशविहारिणा।
एकाकिनाऽप्यनेनैव योगिना वनवासिना ॥२९७८॥
गम्यते यत्र यत्नेन गव्यूतिद्वयमन्वहम्।
परिहारविशुद्ध्याख्यं तच्चारित्रं विशुद्धिदम् ॥२९७९॥

अर्थ—परिहार विशुद्धि संयम को धारण करने वाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़कर बाकी के समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है, वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है, वह आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध करने वाला परिहार विशुद्धि नाम का चारित्र कहलाता है।

सूक्ष्म साम्पराय नामक चरित्र का स्वरूप—

सूक्ष्मीकृतस्वलोभेन शुक्लध्यानविधायिना।
क्षपकोपशमश्रेण्यारूढेन मोहघातिना ॥२९८०॥
सूक्ष्मात्मानुभवो योऽत्रक्रियते शुद्धचेतसा।
तत्सूक्ष्मसाम्परायाख्यं चारित्रं लोभघातकम् ॥२९८१॥

अर्थ—जिन महामुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यन्त सूक्ष्म कर लिया है, जो

शुक्लध्यान धारण कर रहे हैं, जो क्षपकश्रेणी वा उपशमश्रेणी में विराजमान हैं, जो मोहनीय कर्म को घात करने वाले हैं, ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ को घात करने वाला सूक्ष्मसांपराय नामक चारित्र कहते हैं।

यथाख्यात चारित्र का स्वरूप—

यथातथ्येन सर्वेषां व्रतादीनां च पालनम्।
आगमोक्त्यान्तरे स्वानुभवनं परमात्मनः ॥२९८२॥
निर्मोहानां भवेद्यत्र शुक्लध्यानसुधाशिनाम्।
तच्चारित्रं यथाख्याताभिधं घातिविघातकम् ॥२९८३॥

अर्थ—जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यानरूपी अमृत का पान कर रहे हैं, ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों को यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उसको घातिया कर्मों को नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

संयम की महिमा एवं उसको पालने की प्रेरणा—

चारित्रैः पञ्चभिश्चैतैश्चतुर्भिर्वा शिवाङ्गना।
ध्यानिभिर्लभ्यते नूनं समस्तगुणभूषिता ॥२९८४॥
संयमेनसतां स्याच्च संवरोऽखिलकर्मणाम्।
निर्जरासद्गुणग्रामः सुखं वाचामगोचरम् ॥२९८५॥
संयमेन समं स्वल्पं कृतं तपोमहाफलम्।
फलत्यत्र न संदेहो धीमतां स्वशिवादिषु ॥२९८६॥
संयमेन विना पुंसां तपोध्यानं व्रतादिकम्।
वृथा भवेन्न च सार्थं सर्वपापभवाश्रयात् ॥२९८७॥
विदित्वेति विधातव्यः संयमः संवरार्थिभिः।
कृत्स्नयत्नेन मुक्त्यर्थं रत्नत्रयविशुद्धये ॥२९८८॥

अर्थ—इन पाँचों प्रकार के चारित्र से अथवा चार प्रकार के चारित्र से ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है। इस संयम को धारण करने से सज्जन पुरुषों के समस्त कर्मों का संवर होता है, समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है। इस संयम के साथ-साथ थोड़ा सा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादिक की प्राप्ति में महाफल देता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप, ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव होता ही रहता है। यही समझकर

संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिए।

तप का स्वरूप और उसके भेद—

पञ्चाक्षविषयाणां यत्समस्तेच्छानिरोधनम्।
तत्तपः सूरिभिः प्रोक्तं परं सद्धर्मकारणम् ॥२९८९॥
प्रागुक्तं यद्द्विषड्भेदं विस्तरेण तपोऽखिलम्।
धर्मार्थिभिर्विधेयं तत्सद्धर्माय भवापहम् ॥२९९०॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना आचार्यों के द्वारा तप कहलाता है। यह तप उत्कृष्ट धर्म है और श्रेष्ठ धर्म का कारण है। पहले इस तप के बारह भेद विस्तार के साथ कह चुके हैं। वह सब तप संसार को नाश करने वाला है, इसलिए धर्मात्मा पुरुषों को श्रेष्ठ धर्म धारण करना चाहिए।

त्याग धर्म का स्वरूप एवं ज्ञान दान का निर्देश—

अन्तर्बाह्योपधीनां यन्मूर्च्छात्यजनमञ्जसा।
मनोवाक्काययोगैः स त्याग उत्तमधर्मदः ॥२९९१॥
तथाऽज्ञानहरं ज्ञानदानसिद्धान्तगोचरम्।
शब्दार्थोभयसम्पूर्णं यत्सत्पात्राय दीयते ॥२९९२॥

अर्थ—मन-वचन-काय के तीनों योगों से अंतरंग और बाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है। यह त्याग सबसे उत्तम धर्म को देने वाला है। अज्ञान को हरण करने वाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है। यह ज्ञानदान सिद्धान्त शास्त्र के गोचर है अर्थात् सिद्धान्त शास्त्रों का पढ़ाना ज्ञानदान है। सिद्धान्त शास्त्र के शब्द, अर्थ वा शब्द अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिए दिए जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं।

अभय दान का स्वरूप एवं ज्ञान दान एवं अभय दान का फल—

अभयाख्यं महद्दानं भयभीताखिलात्मनाम्।
त्यागः स उच्यते सद्भिः केवलज्ञाननेत्रदः ॥२९९३॥
ज्ञानदानेन लभ्यन्ते श्रुतज्ञानादयोऽखिलाः।
बुधैश्च निर्भयं स्थानं दयादानेन निश्चितम् ॥२९९४॥

अर्थ—तीसरा त्याग अभयदान है, भय से भयभीत हुए समस्त जीवों को अभय दान देना अभय दान है, यह सब दानों में उत्तम दान है और केवलज्ञानरूपी नेत्रों को देने वाला है ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है। विद्वान् पुरुषों को ज्ञानदान देने से पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दयादान देने से मोक्षरूप निर्भय स्थान की प्राप्ति होना अवश्य ही निश्चित है।

परिग्रह त्याग से लाभ—

सङ्गत्यागेन जायेत चित्तशुद्धिः परा सताम् ।
तथाध्यानं प्रशस्तं च ध्यानात्कर्मक्षयस्ततः ॥२९९५॥
केवलज्ञानलक्ष्मीश्च ततो मुक्तिवधूस्तया।
अनन्तसुखमात्मोत्थं सिद्धश्रिया गुणैः समम् ॥२९९६॥

अर्थ—परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनंत गुण और अनंत लक्ष्मी के साथ-साथ आत्मा से उत्पन्न होने वाला अनंतसुख प्राप्त होता है।

परिग्रह ग्रहण से हानि—

सङ्गादिमूर्च्छया पुंसां दुर्ध्यानं जायते तराम्।
दुर्ध्यानाच्च महापापं पापाद्दुःखपरंपरा ॥२९९७॥

अर्थ—परिग्रहादिक में ममत्व रखने से मनुष्यों के अशुभ ध्यान होता है, अशुभ ध्यान से महापाप होता है और पाप से अनेक दुःखों की परंपरा प्राप्त होती है।

परिग्रह त्याग की महिमा आकांक्षापूर्वक परिग्रह के त्यागने की प्रेरणा—

सङ्गत्यागसमो धर्मो न जगच्छ्रीसुखाकरः।
सङ्गमूर्च्छानिभं पापं न महच्छ्वभ्रदुःखदम् ॥२९९८॥
विज्ञायेति निहत्याशु सङ्गाकाङ्क्षां सुखार्थिनः।
धर्मायाखिलसङ्गानां त्यागं कुर्वन्तु धर्मदम् ॥२९९९॥

अर्थ—इस संसार में परिग्रह के त्याग के समान अन्य कोई धर्म नहीं है क्योंकि यह धर्म तीनों लोकों की लक्ष्मी और सुख की खानि है। इसी प्रकार परिग्रह में मूर्च्छा रखने के समान अन्य कोई पाप नहीं है क्योंकि परिग्रह में मूर्च्छा रखना नरक के महादुःख देने वाली है। यही समझकर सुख चाहने वाले पुरुषों को धर्म की प्राप्ति के लिए समस्त परिग्रहों की आकांक्षा का त्याग कर देना चाहिए और उसके साथ समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए। यह परिग्रहों का त्याग ही धर्म की प्राप्ति कराने वाला है।

आकिंचन्य धर्म का स्वरूप—

देहोपधिखशर्मादौ ममत्वं त्यज्यतेऽत्र यत्।
निस्पृहैर्योगशुद्ध्या तदाकिञ्चन्यं सुखाकरम् ॥३०००॥

अर्थ—जो निस्पृह मुनि मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक शरीर, परिग्रह और इन्द्रियों के सुख

में ममत्व का त्याग कर देते हैं उसको सुख देने वाला आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

परिग्रह के ममत्व के त्यागने की प्रेरणा—

यथा यथा शरीरादौ निर्ममत्वं प्रवर्द्धते।
तथा तथा निरोधश्च पापानां निर्जरा सताम् ॥३००१॥
अक्षार्थोपधिशर्मादित्यक्तुं यच्छक्यते बुधैः।
तत्त्याज्यं सकलं वस्तुमनोवाक्कायशुद्धिभिः ॥३००२॥
त्यक्तुं यच्छक्यते नाहो कायादिपुस्तकादिकम्।
त्याज्यं तेषां ममत्वं च सर्वथा दोषकारणम् ॥३००३॥

अर्थ—जैसे-जैसे शरीरादिक में निर्ममत्व बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे सज्जनों के पापों का निरोध होता रहता है और कर्मों की निर्जरा होती रहती है। बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रियों के विषयों को और परिग्रहों के सुख को जितना त्याग कर सकते हैं उनको उतना त्याग मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक अवश्य कर देना चाहिए तथा जो शरीर वा पुस्तक आदि ऐसे परिग्रह हैं जिसका त्याग किया ही नहीं जा सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ऐसा ममत्व अवश्य छोड़ देना चाहिए।

परिग्रह में ममत्व धारने से हानि—

एवं ये कुर्वते नित्यं ह्याकिञ्चन्यं परं भवेत्।
तेषां धर्मार्णवं दोषसंचयं ममकारिणाम् ॥३००४॥

अर्थ—इस प्रकार जो परिग्रह का त्याग वा ममत्व का त्याग कर देते हैं, उनके धर्म का सागर ऐसा सर्वोत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म होता है तथा जो परिग्रहादिकों में ममत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं।

उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारने की प्रेरणा—

मत्वेति ममतां त्यक्त्वा सर्वां कायादिवस्तुषु।
निर्ममत्वाशयैः कार्यमाकिञ्चन्यं शिवाप्तये ॥३००५॥

अर्थ—यही समझकर निर्ममत्व धारण करने वाले पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए शरीरादिक समस्त पदार्थों में पूर्ण ममत्व का त्यागकर उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारण करना चाहिए।

सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का लक्षण—

दृश्यन्ते सकला नार्यो यत्रऽमात्रादिसन्निभाः।
त्यक्तरागैर्मनोनेत्रैर्ब्रह्मचर्यं तदुत्तरम् ॥३००६॥
ब्रह्मचर्येण मुक्तिस्त्री वृणोति ब्रह्मचारिणाम्।
सर्वैः गुणैः समं शीघ्रं स्वर्गश्रियोऽत्र का कथा ॥३००७॥

अर्थ—रागद्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी

माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है। ब्रह्मचारियों को इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्तिस्त्री समस्त गुणों के साथ-साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है, फिर भला स्वर्ग की लक्ष्मी की तो बात ही क्या है।

किसका हृदय शुद्ध एवं किसका हृदय अशुद्ध रहता है—

उत्पद्यते परो धर्मो हृच्छुद्ध्या ब्रह्मचारिणाम्।
कामिनां चित्तशुद्धिः क्व तया विना शुभं कुतः ॥३००८॥

अर्थ—ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध रहता है इसलिए उनको परम धर्म की प्राप्ति होती रहती है तथा कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता इसलिए उनका कल्याण भी नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य पालने की प्रेरणा—

ज्ञात्वेति धीधना नित्यं योगशुद्ध्या विमुक्तये।
पालयन्तु विरक्त्याऽहो ब्रह्मचर्यं सुधर्मदम् ॥३००९॥

अर्थ—यही समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक तथा परिणामों में विरक्तता धारण कर श्रेष्ठ धर्म देने वाला यह ब्रह्मचर्य सदा पालन करते रहना चाहिए।

दस धर्म पालने की प्रेरणा—

एषो दशविधो धर्मो मुक्तिस्त्रीहृदयप्रियः।
क्षमादिलक्षणैर्विश्वैः कर्तव्यो मुक्तिकांक्षिभिः ॥३०१०॥

अर्थ—इस प्रकार यह दस प्रकार का धर्म है और मुक्तिस्त्री के हृदय को अत्यन्त प्रिय है अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को उत्तम क्षमा आदि समस्त धर्मों को धारण कर सदा इसका पालन करते रहना चाहिए।

धर्म की महिमा एवं उसे पालने की प्रेरणा—

न धर्मसदृशो बन्धुरिहामुत्र हितङ्करः।
नात्रधर्मसमः कल्पद्रुमः कल्पितभोगदः ॥३०११॥
चिन्तामणिर्न धर्माभिश्चिन्तितार्थशतप्रदः।
धर्मतुल्योनिधिर्नास्ति ह्यखण्डो वा सुहृद्वरः ॥३०१२॥
न धर्मसन्निभं पुंसां पाथेयं परजन्मनि।
सहगामी क्वचिन्नान्यो धर्माद्वाशर्मदः शुभः ॥३०१३॥
धर्माद्विना न कोऽप्यन्यो मोक्षं नेतुं नरान् क्षमः।
उद्धर्तुं नरकाद्वाऽहो दातुं चेन्द्रादिसत्पदम् ॥३०१४॥

इत्याद्यस्य फलं ज्ञात्वा प्रवरं सुष्ठु शक्तितः।
भजध्वं धर्ममेकं च त्यक्त्वा पापं सुखार्थिनः ॥३०१५॥

अर्थ—इस संसार में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में हित करने वाला धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा इसी धर्म के समान इच्छानुसार भोगों को देने वाला अन्य कोई कल्पवृक्ष नहीं है। इस धर्म के समान सैकड़ों चिंतित पदार्थों को देने वाला कोई चिंतामणि रत्न नहीं है अथवा इस धर्म के समान कोई अखंड निधि नहीं है और इस धर्म के समान अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है। मनुष्यों को परजन्म में जाने के लिए इस धर्म के समान कोई पाथेय (मार्ग का व्यय) नहीं है तथा कल्याण करने वाला शुभ रूप ऐसा वा साथी भी इस धर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है। इस धर्म के सिवाय अन्य कोई भी मनुष्यों को मोक्ष ले जाने में समर्थ नहीं है अथवा नरक से उद्धार करने के लिए भी तथा इन्द्रादिक श्रेष्ठ पद देने के लिए भी धर्म के सिवाय अन्य कोई समर्थ नहीं है। अतएव सुख की इच्छा करने वालों को इस धर्म का ऐसा श्रेष्ठ फल समझकर अपनी शक्ति के अनुसार पापों का त्यागकर इस एक धर्म का ही सेवन करना चाहिए।

(छन्द–मालिनी)

किसको धारण कर मोक्ष स्थान प्राप्त किया जा सकता है—

इति मुदितसुधर्मं विश्वनाथैर्मुदार्च्यं दशविधमपदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या।
त्रिभुवनपतिसेव्यं शर्मसारं च भुक्त्वा जिनपतिविभवं ते यान्ति मोक्षं गुणाब्धिम् ॥३०१६॥

अर्थ—इस प्रकार यह दस प्रकार का धर्म तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है और समस्त दोषों से रहित है। ऐसे इस धर्म को जो अपनी शक्ति के अनुसार धारण करते हैं वे तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवनीय ऐसे सारभूत सुखों का अनुभव कर तीर्थंकर की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंत में अनेक गुणों के समुद्र ऐसे मोक्ष स्थान में जा विराजमान होते हैं ।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

अन्त में धर्म को नमस्कार करके आचार्य पापों के नाश की याचना करते हैं—

धर्मश्री धनकाङ्क्षिणां च धनदो धर्मंश्रयन्ते विदो
धर्मेणैव सदाप्यते वरसुखं धर्माय भक्त्या नमः।
धर्मान्नास्त्यपरो गुणाष्टजनको धर्मस्य खानिः क्रियाः
धर्मे मे दधतो मनः प्रतिदिनं हे धर्म पापं जहि ॥३०१७॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते शीलगुणदशलाक्षणिक-धर्मवर्णनोनामैकादशमोऽधिकारः।

अर्थ—यह धर्म लक्ष्मी और धन की इच्छा करने वालों को धन देता है, विद्वान् लोग ही इस धर्म को धारण करते हैं, इस धर्म से ही श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होती है, इसीलिए मैं इस धर्म के लिए भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। इस धर्म के सिवाय सम्यक्त्व आदि आठों गुणों को देने वाला अन्य

कोई नहीं है, क्रियाकर्म वा धर्मानुष्ठान ही इस धर्म की खानि है अतएव मैं अपने मन को प्रतिदिन धर्म में ही लगाता हूँ, हे धर्म तू मेरे पापों को नाश कर ।

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचारप्रदीप नाम के महाग्रन्थ में शीलगुण दशलक्षण धर्म को निरूपण करने वाला यह ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

द्वादशमोऽधिकारः

मंगलाचरण

वीतरागान्मुनीन्द्रौघाननुप्रेक्षार्थचिन्तकान् ।
सद्ध्यानध्वस्तकर्मारीन् वन्दे विश्वहितोद्यतान् ॥३०१८॥

अर्थ—जो मुनिराज वीतराग हैं, अनुप्रेक्षाओं का सदा चिंतन करते रहते हैं, जिन्होंने अपने श्रेष्ठ ध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और जो समस्त संसार का हित करने वाले हैं ऐसे मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

बारह अनुप्रेक्षाओं के कथन की प्रतिज्ञा—

प्रत्यहं या अनुप्रेक्षा द्वादशैव मुनीश्वरैः।
वैराग्याय सदा ध्येयास्ता वक्ष्ये रागहानये ॥३०१९॥

अर्थ—मुनियों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रतिदिन चिंतन करना चाहिए। इसलिए रागद्वेष को नष्ट करने के लिए मैं उन अनुप्रेक्षाओं का निरूपण करता हूँ ।

द्वादश अनुप्रेक्षाओं के नाम निर्देश—

अनित्याख्या ह्यनुप्रेक्षा द्वितीया शरणाभिधा।
संसारसंज्ञिकैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवाह्वयाः ॥३०२०॥
संवरो निर्जरा लोको बोधिदुर्लभनामकः।
धर्म एता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥३०२१॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएँ भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कही हैं।

अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप निर्देश—

अनित्यानि समस्तानि वपुरायुः सुखानि च।
इन्द्रचापसमानानि राज्यसौधधनानि च ॥३०२२॥
यौवनं जरयाक्रान्तं स्वायुर्यममुखेऽस्थितम्।
रोगैः सन्मिश्रिता भोगाः सौख्यं दुःखपुरस्सरम् ॥३०२३॥
इन्द्रचक्रिबलेशादिपदानि शाश्वतानि न।
इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यबलान्यभ्रोपमानि च ॥३०२४॥

श्रृंखलाभाश्चला नार्यः कुटम्बं स्वविडम्बकम्।
पुत्राः पाशोपमा गेहवासो वन्दिगृहोपमः ॥३०२५॥
रूपं पुसां क्षणध्वंसि शंपावच्चलजीवितम्।
सम्पदो विपदोऽन्ते स्युर्भंगुरं निखिलं जगत् ॥३०२६॥
आजन्मदिनमारभ्य जीवान् स्वान्तं नयत्यहो।
समयाद्यैः सदा पापी यमो खण्डप्रयाणकैः ॥३०२७॥
यत्किञ्चिद्दृश्यते वस्तु सुन्दरं भुवनत्रये।
कालानलेन तत्सर्वं भस्मीभावं भवेद्विधेः ॥३०२८॥

अर्थ—यह शरीर, आयु, सुख, राज्य, भवन और धन आदि सब अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं। यह यौवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, अपनी आयु यमराज के मुख में ही रह रही है, भोग सब रोगों से मिले हुए हैं और सुखों के आगे सदा दुःख ही बने रहते हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहने वाले नहीं हैं तथा इन्द्रिय, आरोग्य, सामर्थ्य और बल सब बादल के समान थोड़ी देर तक ही ठहरने वाले हैं। चंचल स्त्रियाँ सांकल के समान बंधन में डालने वाली हैं, कुटुम्ब सब विडम्बना मात्र है, पुत्र जाल के समान बाँधने वाले हैं और घर का निवास कारागार के समान है। मनुष्यों का यह रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, संपत्तियाँ सब विपत्तियों के मध्य में रहती हैं। इस प्रकार यह समस्त जगत् क्षणभंगुर है। यह महापापी यमराज समय-समय के अनुसार थोड़ा-थोड़ा चल कर जन्मपर्यंत सबेरे से शाम तक अनेक जीवोंको अपने पास बुला लेता है। इस संसार में तीनों लोकों में जो कुछ सुन्दर पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब कालरूपी अग्नि से जलकर भस्म हो जाते हैं।

अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष सिद्ध करने की प्रेरणा—

इत्यनित्यं जगद्ज्ञात्वा नित्यं मोक्षं सुलोभिनः।
अनित्यैः स्वशरीराद्यैः साधयन्तु दृगादिभिः ॥३०२९॥

अर्थ—इस प्रकार जगत् को अनित्य समझकर मोक्ष के लोभी पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर इस अनित्य शरीरादिक से नित्य स्वरूप मोक्ष को सिद्ध कर लेना चाहिए।

अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

वने व्याघ्रगृहीतस्य मृगस्येव जगत्त्रये।
यमारातिगृहीतस्य जन्तोर्न शरणं क्वचित् ॥३०३०॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी वन में किसी हिरण को सिंह पकड़ लेता है, उस समय उस हिरण का कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार जब इस जीव को यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब इसको बचाने वाला शरणभूत तीनों लोकों में कोई दिखाई नहीं देता।

समस्त आपत्तियों में शरणभूत कौन?

अर्हन्तोऽत्राशरीराश्च त्रिविधाः साधवोऽखिलाः।
इहामुत्र शरण्याः स्युः सर्वत्रापदि धीमताम् ॥३०३१॥
तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मो रत्नत्रयात्मकः।
सहगामी शरण्यः स सतां यमान्तको महान् ॥३०३२॥
संसारभयभीतानां जिनशासनमद्भुतम्।
शरणं विद्यते पुंसां जन्ममृत्युसुखापहम् ॥३०३३॥
मन्त्रतन्त्रौषधादीनि व्यर्थानि निखिलान्यपि।
सन्मुखे सति जन्तूनां यमेऽकिञ्चित्कराणि च ॥३०३४॥

अर्थ—इसलिए बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही शरण हैं अथवा उन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला, सर्वोत्कृष्ट और यमराज को नाश करने वाला ऐसा रत्नत्रयरूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है। जीव संसार से भयभीत हैं उनके लिए जन्म-मृत्यु के दुःखों को दूर करने वाला सर्वोत्कृष्ट यह जिनशासन ही शरणभूत है। जिस समय यमराज इन जीवों के सन्मुख होता है, उस समय मंत्र, तंत्र और औषधि आदि सब कुछ न करने वाली हो जाती हैं।

मृत्युरूपी यमराज से कोई नहीं बचा सकता—

नीयमानो यमेनाङ्गी वराकः स्वालयं प्रति।
इन्द्रचक्रिखगेशाद्यैः क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥३०३५॥
यत्रेन्द्राद्या यमेनाधः पात्यन्ते स्वपदाद्बलात्।
कस्तत्रोद्धरतेऽन्योऽस्मात्सर्वजीवक्षयङ्करात् ॥३०३६॥

अर्थ—जिस समय यह यमराज इस दुखिया जीव को अपने घर ले जाता है उस समय इन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि कोई भी क्षणभर के लिए भी नहीं बचा सकता। अरे जब यह यमराज इन्द्र को भी जबर्दस्ती अपने पैरों के नीचे डाल लेता है तो फिर समस्त जीवों को क्षय करने वाले यमराज से और कौन बचा सकता है।

पञ्च परमेष्ठी की शरण लेने की प्रेरणा—

विज्ञायेति जिनेन्द्रोक्तधर्मस्य परमेष्ठिनाम्।
नित्यं मोक्षं यमादिभ्यो व्रजन्तु शरणं बुधाः ॥३०३७॥

अर्थ—यही समझकर विद्वान् पुरुषों को भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म की शरण लेनी चाहिए, पाँचों परमेष्ठियों की शरण लेनी चाहिए और यम, नियम पालन कर सदा रहने वाली मोक्ष

प्राप्त कर लेनी चाहिए।

५ परावर्तन रूप संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप—

द्रव्यक्षेत्राभिधे कालभवभावाह्वयेऽशुभे।
संसारे दुःखसम्पूर्णे भ्रमन्ति कर्मणाङ्गिनः ॥३०३८॥
कर्मनोकर्मपर्याप्तिभिर्गृहीता न पुद्गलाः।
न मुक्ता बहुशो जीवैर्ये ते न स्युर्जगद्गृहे ॥३०३९॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु भ्रमन्तो निखिलांगिनः।
यत्रोत्पन्नामृतानैव स प्रदेशो न विद्यते ॥३०४०॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्देहिनः कर्मणाऽऽधृताः।
येषु जातामृताऽहो न नस्युस्ते समया भुवि ॥३०४१॥
चतुर्गतिषु जीवैश्च यावद् ग्रैवेयकान्तिमम्।
न गृहीता न मुक्ता या सा योनिर्नास्ति भूतले ॥३०४२॥
मिथ्याविरतिदुर्योगकषायैश्च निरन्तरम्।
प्रमादैर्विषयान्धाः स्वं बध्नन्ति कर्मपुद्गलैः ॥३०४३॥

अर्थ—यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पाँच प्रकार का है, यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है, ऐसे संसार में ये प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं। इन तीनों लोकों में ऐसे कोई पुद्गल नहीं हैं जो इस जीव ने कर्म, नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनंतबार ग्रहण न किए हों और अनंतबार ही न छोड़े हों। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई लोक का प्रदेश नहीं है जहाँ पर संसार में परिभ्रमण करते हुए ये जीव उत्पन्न न हुए हों अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुए हों। इसी प्रकार इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है जिसमें ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से न जन्मे हों और न मरे हों। इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अंत तक ऐसी कोई योनि नहीं है जो इस जीव ने न ग्रहण की हो न मरकर छोड़ी हो। विषयों में अंधे हुए ये जीव मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगों के द्वारा निरंतर पुद्गलों के द्वारा बने हुए कर्मों का बन्ध करता रहता है।

संसार में परिभ्रमण का कारण—

इति संसारकान्तारेऽनादौ घोरे भ्रमन्त्यहो।
धर्मरत्नत्रयोपेतं ह्यप्राप्येन्द्रियलोलुपाः ॥३०४४॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादिकाल से चले आए घोर दुःखमय संसाररूपी वन में सदा परिभ्रमण किया करते हैं।

संसार में भ्रमण करते जीव कैसे-कैसे कष्ट भोगते हैं—

जन्ममृत्युजरादुःखं रोगक्लेशशतानि च।
इष्टवस्तुवियोगं चानिष्टसंयोगसंचयम् ॥३०४५॥
अपमानशतादीनि दारिद्र्यं विरहान्बहून।
दौर्भाग्यादिमहादुःखान् प्राप्नुवन्ति भवाङ्गिनः ॥३०४६॥

अर्थ—ये संसारी जीव सैकड़ों जन्म-मरण-जरा, दुःख, रोग और क्लेशों को प्राप्त होते हैं, इष्ट पदार्थों के वियोग और अनिष्ट पदार्थों के संयोग को प्राप्त होते हैं, सैकड़ों अपमानों को प्राप्त होते हैं, दरिद्रता को प्राप्त होते हैं, अनेक प्रकार के विरहों को प्राप्त होते हैं, दुर्भाग्यता को प्राप्त होते हैं और अनेक महादुःखों को प्राप्त होते हैं।

संसार का स्वरूप समझ विवेकीजन को क्या करना चाहिए—

श्वभ्रस्थलजलाकाशे जायमाना विधेर्वशात्।
म्रियमाणाः पराधीना लभन्ते दुःखमुल्वणम् ॥३०४७॥
सुखदुःखद्वयं भान्ति संसारे निर्विवेकिनाम्।
किञ्चित्सुखलवेनैव सर्वदुःखं विवेकिनाम् ॥३०४८॥
इत्यशर्माकरं ज्ञात्वा भवं मोक्षं सुखार्णवम्।
साधयन्तु बुधाः शीघ्रं तपोरत्नत्रयादिभिः ॥३०४९॥

अर्थ—ये जीव अपने-अपने कर्म के निमित्त से नरक में उत्पन्न होते हैं, जल, स्थल वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर पराधीन होकर मरते हैं इस प्रकार महा दुःखों को प्राप्त होते हैं। इस संसार में जो निर्विवेकी पुरुष हैं उनके लिए सुख-दुःख दोनों अच्छे लगते हैं और विवेकी पुरुषों को सुख किंचित् मात्र दिखाई देता है, बाकी समस्त संसार महादुःखमय प्रतीत होता है। अतएव विद्वान् पुरुषों को इस संसार को अनेक दुःखों का घर समझकर तपश्चरण और रत्नत्रय के द्वारा बहुत शीघ्र सुख का समुद्र ऐसा मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिए।

एकत्व भावना का स्वरूप—

एको रोगोभराक्रान्तो रुदन् दीनो यमालयम्।
गच्छेत्स्वजनमध्यान्न कोपि तेन समं व्रजेत् ॥३०५०॥
एको वध्नाति कर्माणि ह्येको भ्रमति संसृतौ।
एकोऽत्र जायते देही एकश्च म्रियते सदा ॥३०५१॥
यत्र नानाहितैर्भोगैर्यः कायः पोषितोऽपि सः।
पादैकं न व्रजेद्देहिना सार्द्धं दुर्जनादिवत् ॥३०५२॥

तत्र ये स्वजना जाताः स्वस्वकार्यपरायणाः।
कर्मायत्ताः कथं यान्ति जीवेन सह तेऽखिलाः ॥३०५३॥
एकः पापार्जनाद्गच्छेन्नरकं दुःखपूरितम्।
पुण्यपाकवशादेकः स्वर्गं सर्वसुखाङ्कितम् ॥३०५४॥
त्रसस्थावरकायेष्वेकाकी भ्रमति दुःखभाक्।
आर्यम्लेच्छकुलेष्वत्र नृगतौ विधिवञ्चितः ॥३०५५॥
एकस्तपोऽसिना हत्वा कर्मारातीन् स्वपौरुषात्।
मोहेन सह भव्योऽत्र व्रजेन्मोक्षं गुणाकरम् ॥३०५६॥

अर्थ—यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्री होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटुम्ब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही कर्मबंध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देने वाली भोगोपभोग सामग्री से पालन पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पेंड भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वह वहीं पड़ा रहता है। इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटुम्बी लोग जो अपने-अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे, वे सब इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं अर्थात् कभी नहीं? यह जीव इकट्ठे किए हुए पापकर्म के उदय से अकेला ही दुःखों से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्म के उदय से अकेला ही समस्त सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता है। कर्मों से ठगा हुआ वह प्राणी अकेला ही दुःखी होता हुआ त्रस और स्थावरकायिक जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्यगति में आर्य वा म्लेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यह अकेला ही भव्यजीव अपने पौरुष से तपश्चरणरूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ-साथ समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर अनंत गुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है।

एकत्व भावना के चिंतन की प्रेरणा—

इत्येकत्वं परिज्ञाय स्वस्य सर्वत्र धीधनाः।
एकत्वं भावयन्त्वात्मनोऽत्रैकत्वपदाप्तये ॥३०५७॥

अर्थ—इस प्रकार सर्वत्र अपने अकेलेपन का परिज्ञान करके बुद्धिमानों को मोक्षरूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिए इस एकत्व भावना का चिंतन करते रहना चाहिए।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

यत्र देहात्पृथग्भूतो मृतः साक्षाद्विलोक्यते।
देही जडेतरैस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः ॥३०५८॥

जीवात्पञ्चेन्द्रियाण्यत्र भिन्नरूपाणि तत्त्वतः।
कर्मजान्यन्यवस्तूनि मनःकायवचांसि च ॥३०५९॥
अन्या माता पिताप्यऽन्योऽन्या भार्यास्वजनोऽखिलः।
पुत्राद्यन्यत्कुटम्बं च स्याद्देहिनां चतुर्गतौ ॥३०६०॥
आत्मानं दर्शनज्ञानवृत्तादिगुणभाजनम् ।
मुक्त्वा किञ्चिन्न वस्तु स्यात्स्वकीयं भुवनत्रये ॥३०६१॥

अर्थ—जहाँ पर मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यमय अन्य पदार्थ वा कुटुम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाये तो पाँचों इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने-अपने कर्म के उदय से प्राप्त हुए हैं। चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न हैं, पिता भी भिन्न हैं, स्त्री भी भिन्न हैं, समस्त कुटुम्ब वर्ग भी भिन्न हैं और पुत्रादिक भी सब भिन्न हैं। इन तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्मा को छोड़कर बाकी का और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है।

अन्यत्व भावना के स्वरूप को जानने वाले को क्या करना चाहिए—

इत्यन्यत्वं विदित्वा स्वं देहादेस्तत्त्ववेदिनः।
पृथक्कृत्याङ्गतोऽभ्यन्तरे ध्यायन्तु स्वचिन्मयम् ॥३०६२॥

अर्थ—तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इस प्रकार अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न समझकर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए उसका ध्यान करना चाहिए।

अशुचि भावना का स्वरूप—

दृश्यते यत्र दुर्गंधेस्वदेहेऽप्यशुभाकरे।
विश्वाशुचित्वबाहुल्यं भार्यादौ तत्र किं शुचिः ॥३०६३॥
एकान्ततोऽशुभं तीव्रं नरके छेदनादिजम्।
नारकाङ्गेऽशुचित्वं च कृत्स्नदुःखनिबन्धनम् ॥३०६४॥
देहछेदाङ्गभारारोपणाद्यशुभमुल्वणम् ।
तिर्यग्गतौ तदङ्गादौ चाशुचित्वकृमिव्रजम् ॥३०६५॥
बीभत्से श्वभ्रसादृश्ये गर्भे वसन्ति देहिनः।
नवमासांस्ततो जन्म लभन्तेऽशुचियोनिना ॥३०६६॥
बालत्वेऽशुचिमध्येऽत्र लोटन्ति यौवने नराः।
सेवन्ते चाशुचिद्वारं स्त्रीणां कामार्तपीडिताः ॥३०६७॥

रक्त-मांसाशुभाकीर्णं चर्मबद्धास्थिसंचयम्।
विश्वाशुभाकरीभूतं मलमूत्रादिभाजनम् ॥३०६८॥
रोगोरगविलं निन्द्यमशुभं स्वकलेवरम्।
विद्धि त्वं दुःखदं सर्वानर्थानां मूलमञ्जसा ॥३०६९॥
स्त्र्यशुचिद्वारजाता ये भोगाश्च स्वान्यदेहयोः।
कदर्थानाभवास्तेषामशुभं वर्ण्यतेऽत्र किम् ॥३०७०॥

अर्थ—जहाँ पर अनेक अशुभों की खानि और दुर्गन्धमय अपने शरीर में ही समस्त अपवित्रता की बहुलता दिखाई देती है, फिर भला स्त्रियों के शरीर में पवित्रता कैसे आ सकती है। देखो नरक में नारकियों के शरीर में तीव्र अपवित्रता है, वह अपवित्रता स्वभाव से ही अशुभरूप है, छेदन-भेदन से उत्पन्न होती है और अन्य समस्त दुःखों के कारणों से उत्पन्न होती है। तिर्यंचगति में भी तिर्यंचों का शरीर छेदा जाता है, अधिक भार से वह थक जाता है, अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, इस प्रकार तिर्यंचों का शरीर भी अत्यन्त अपवित्र है। मनुष्यभव में यह प्राणी नौ महीने तक तो नरक के समान अत्यन्त बीभत्स गर्भ में निवास करता है और फिर अत्यन्त अपवित्र योनि के द्वारा जन्म लेता है। फिर बालकपन में अपवित्र स्थानों में ही लोटता फिरता है और यौवन अवस्था में काम से पीड़ित होकर स्त्रियों की महा अपवित्र योनि का सेवन करता है। हे जीव देख! तेरा यह शरीर रुधिर, मांस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका है, भीतर हड्डियों का ढेर भर रहा है, मल-मूत्र का भाजन है, समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निंद्य है, अनेक दुःख देने वाला है और समस्त अनर्थों की जड़ है। हे जीव! तू अपने शरीर को ऐसा समझ। जो भोग स्त्रियों की अत्यन्त अपवित्र योनि से उत्पन्न हुए हैं तथा अपने और दूसरों के शरीर को संघट्टत करने से उत्पन्न होते हैं उन भोगों की अपवित्रता का भला क्या वर्णन करना चाहिए अर्थात् वे तो अत्यन्त अपवित्र हैं ही।

अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष पद की सिद्धि की प्रेरणा—

इत्याद्यशुचिसम्पूर्णं जगद् ज्ञात्वा विरागिणः।
वपुषाऽशुचिना मोक्षं साधयन्तु शुचिप्रदम् ॥३०७१॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त जगत् को अपवित्रमय जानकर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यन्त पवित्र ऐसी मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिए।

कौन संसार समुद्र में डूबते हैं?

भयदुःखशताकीर्णे घोरे संसारसागरे।
कर्मास्त्रवैर्निमज्जन्ति धर्मपोतातिगा जनाः ॥३०७२॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्रव होते रहने से

सैकड़ों भय और दु:खों से भरे हुए इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं।

आस्रव के कारणों के त्यागने की प्रेरणा—

रागद्वेषो द्विधा मोहखानि संज्ञाश्चतु:प्रमा:।
गौरवाणि कषायाश्च योगा हिंसादयो नृणाम् ॥३०७३॥
एते नर्थाकरीभूता दुस्त्याज्या: कातराङ्गिनाम्।
त्याज्या: कर्मारिभीतै: कृत्स्नकर्मास्त्रवहेतव: ॥३०७४॥

अर्थ—राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियाँ, चारों प्रकार की संज्ञा, गौरव, कषाय, योग और हिंसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं और कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इसका त्याग कर सकते हैं, इसलिए कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहने वाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

आस्रव अनुप्रेक्षा का चिंतन करने वाला भव्यजीव
रागद्वेष संज्ञादि की बार-बार निंदा करता है—

येनात्र तुष्यति द्रव्ये कुत्सिते द्वेष्टि दुर्जन:।
दृग्वृत्तादौ च तौ रागद्वेषौ धिग्भवतोऽशुभौ ॥३०७५॥
येनादत्ते न सम्मार्गं कुमार्गं मन्यते जन:।
अक्षामिषे सुखं वेत्ति द्विधा मोहो धिगस्तु स: ॥३०७६॥
अभिभूता जगज्जीवा वारं वारं चतुर्गतौ।
स्वं जानन्ति न यैस्तानि खानि यान्तु क्षयं सताम् ॥३०७७॥
संज्ञाभिर्याभिरत्यर्थं पीडिता जन्तवोऽखिला:।
अर्जयन्ति महापापं ता यान्तु प्रलयं स्वत: ॥३०७८॥
गारवैर्यैर्जडा: पापं घोरं गुरुतरं वृथा।
उपार्ज्य नरकं यान्ति गच्छन्तु नाशमाशु ते ॥३०७९॥
कषायरिपवस्तेऽत्र व्रजन्तु क्षयमञ्जसा।
यैर्दुष्कर्मस्थितिं कृत्वा पतन्ति नरकेऽङ्गिन: ॥३०८०॥
दुर्योगैर्यैर्निजात्मानं निबध्य कर्मबन्धनै:।
क्षयन्ति दुर्गतौ जीवास्ते धिग्भवन्तु चञ्चला: ॥३०८१॥

अर्थ—जिस रागद्वेष के कारण दुष्ट पुरुष धनादिक द्रव्यों में संतोष मनाते हैं और कुत्सित द्रव्य में द्वेष करते हैं अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में द्वेष करते हैं, ऐसे अशुभ रागद्वेष को बार-बार धिक्कार हो। जिस मोह के कारण यह जीव श्रेष्ठ मार्ग को तो ग्रहण नहीं करता और कुमार्ग को बहुत

अच्छा मानता है तथा जिस मोह के कारण इन्द्रियों के विषयों में ही सुख मानता है, ऐसे दोनों प्रकार के मोह को बार-बार धिक्कार हो। जिन इन्द्रियों के कारण ये जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर बार-बार तिरस्कृत होते हैं और अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते, ऐसी इन सज्जनों की इन्द्रियों का शीघ्र ही नाश हो। जिन आहारादिक संज्ञाओं के कारण ये समस्त जीव अत्यन्त पीड़ित वा दु:खी हो रहे हैं और महापाप उत्पन्न कर रहे हैं उन संज्ञाओं का भी अपने आप नाश हो। जिन गारव तथा अभिमानों से ये अज्ञानी जीव व्यर्थ ही महापाप उपार्जन कर नरक में जाते हैं उन अभिमानों का भी शीघ्र ही नाश हो। जिन कषायों से ये जीव कर्मों की स्थिति बाँधकर नरक में पड़ते हैं वे कषायरूपी शत्रु शीघ्र ही नाश को प्राप्त हों। जिन चंचल योगों से ये जीव अपने आत्मा को कर्मरूपी बंधनों से बाँधकर दुर्गति में गिर पड़ते हैं उन चंचल योगों को भी धिक्कार हो।

अल्प आस्रव भी संसार का ही कारण है—

हिंसाद्यैः पञ्चभिर्घोरं यैरुपार्ज्याऽत्र किल्विषम्।
गच्छन्ति दुर्धियः श्वभ्रं प्रलयं यान्तु पञ्च ते ॥३०८२॥
इत्याद्यैः प्रत्ययैः सर्वैः कर्मास्रवैर्गले धृताः।
भ्रमन्तोऽत्र शठाः नित्यं लभन्ते दुःखमुल्वणम् ॥३०८३॥
यावत्कर्मास्रवोऽल्पोऽपि कुर्वतामपि सत्तपः।
न तावच्छाश्वतस्थानं किन्तु संसार एव हि ॥३०८४॥

अर्थ—जिन हिंसादिक पांचों पापों से ये मूर्ख जीव घोर पापों का उपार्जन कर नरक में पड़ते हैं उन पाँचों पापों का भी शीघ्र ही नाश हो। इस प्रकार कर्मास्रव के समस्त कारणों से जकड़े हुए मूर्ख प्राणी इस संसार में सदा परिभ्रमण किया करते हैं और घोर दु:खों का अनुभव किया करते हैं। श्रेष्ठ तपश्चरण करने वाले मुनियों के भी जब तक थोड़े से कर्मों का भी आस्रव होता रहता है, तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किन्तु उनका संसार ही बढ़ता रहता है।

त्रियोग की शुद्धतापूर्वक आस्रव रोकने की प्रेरणा—

इत्यास्रवमहादोषान् ज्ञात्वा निरुध्य प्रत्ययान्।
योगशुद्ध्यास्रवान् विश्वान् निराकुर्वन्तु धीधनाः ॥३०८५॥

अर्थ—इस प्रकार आस्रव के महादोषों को समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोककर समस्त आस्रव को बंद कर देना चाहिए।

संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

रागद्वेषादिपूर्वोक्तान् निरुध्यास्रवकारणान्।
कर्मास्रवनिरोधे यः संवरः स शिवङ्करः ॥३०८६॥

अर्थ—पहले जो रागद्वेष आदि आस्रव के कारण बतलाए हैं उन सबको रोककर कर्मों के

आस्रव का निरोध करना चाहिए। कर्मों के आस्रव का निरोध होना ही मोक्ष देने वाला संवर है।

आस्रव को किसके द्वारा रोका जाता है—

रागद्वेषौ निरुध्येते सर्पौ वा ज्ञानमन्त्रत:।
दृग्वृत्ताभ्यां द्विधा मोहो रुध्यते दुष्टदन्तिवत् ॥३०८७॥
तपसेन्द्रियसंज्ञा निराक्रियन्ते जितेन्द्रियै:।
गौरवा विनयेनात्र त्यज्यन्ते वैरिणो यथा ॥३०८८॥
निगृह्यन्ते कषायाश्च क्षमाद्यस्त्रैरिवारय:।
निरुध्यन्ते चलायोगा गुप्तिपाशेन वा मृगा: ॥३०८९॥
हिंसादीनि निवार्यन्ते समितिव्रतसंयमै: ।
प्रशस्तध्यानलेश्याद्यै रुध्यते सकलास्त्रव: ॥३०९०॥

अर्थ—ये रागद्वेषरूपी सर्प ज्ञानरूपी मंत्र से रोके जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से दुष्ट हाथी के समान दोनों प्रकार का मोह रुक जाता है। जितेन्द्रिय पुरुष तपश्चरण के द्वारा इन्द्रिय और संज्ञाओं को रोकते हैं और गारवों वा अभिमानों को शत्रुओं के समान विनय से रोकते हैं। इसी प्रकार कषायरूपी शत्रुओं को क्षमा, मार्दव आदि शस्त्रों से वश में करते हैं, गुप्तिरूपी जाल से हिरणों के समान चंचल योगों को वश में कर लेते हैं। इसी प्रकार व्रत, समिति और संयम से हिंसादिक पाँचों पापों को निवारण करते हैं और प्रशस्त ध्यान तथा शुक्ललेश्या से समस्त आस्रव को रोक देते हैं।

किसके निर्जरा के साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है—

इति युक्त्या सुयोगाद्यैर्निरुध्य निखिलास्त्रवान्।
ये कुर्यु: संवरं तेषां निर्वाणं निर्जरायुतम् ॥३०९१॥

अर्थ—इस प्रकार योग धारण कर युक्तिपूर्वक जो समस्त आस्रवों को रोक लेते हैं और संवर धारण कर लेते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संवर की महिमा एवं उसे सिद्ध करने की प्रेरणा—

येन कर्मास्त्रवो रुद्ध: संवरो युक्तिभि: कृत:।
तस्यैवेष्टं सुसिद्धि: स्यात्तं विना निष्फलं तप: ॥३०९२॥
मत्वेति संवरं दक्षा: कुर्वन्त्वेकं शिवाप्तये।
परीषहजयैर्ज्ञानसद्ध्यानसंयमादिभि: ॥३०९३॥

अर्थ—जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोककर संवर धारण किया है, उसी के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिए। यही समझकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए परीषहों को जीतकर, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठ ध्यान को धारण कर और संयम को पालन कर एक संवर ही सिद्ध कर लेना

चाहिए।

निर्जरा का स्वरूप एवं उसके भेद—

रुद्धास्त्रवमहर्षेश्चारित्रसद्गुणभागिनः ।
तपोभिर्दुष्करैर्मुक्तिजननी निर्जरा भवेत् ॥३०९४॥
निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया देशतः सर्वतो नृणाम्।
स्वकर्मवशतो देशनिर्जरान्या तपोभवा ॥३०९५॥

अर्थ—जिन महामुनियों ने समस्त आस्त्रव को रोक दिया है और जो चारित्ररूपी श्रेष्ठ गुण को धारण करते हैं उनके कठिन-कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोक्ष की देने वाली निर्जरा होती है। वह निर्जरा दो प्रकार की है–एक एकदेश निर्जरा और दूसरी सर्वदेश निर्जरा। उनमें से एकदेश निर्जरा अपने-अपने कर्मों के उदय से होती है और सर्वदेश निर्जरा तपश्चरण से होती है।

एक देश एवं सर्वदेश निर्जरा का लक्षण—

चतुर्गतिषु सर्वेषां भ्रमतां कर्मणां क्षयात्।
श्रमाद्या निर्जरा जाता सा हेयादेशनिर्जरा ॥३०९६॥
संवरेण समं यत्नात्तपोभिर्याबुधैः कृता।
विपुला मुक्तिसंसिद्ध्यै सा ग्राह्या सर्वनिर्जरा ॥३०९७॥

अर्थ—चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीवों के कर्मों के क्षय होने से जो निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है। बुद्धिमान् लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है।

कौन जीव अत्यन्त शुद्ध होता है—

अग्निना धातुपाषाणो यथा शुद्ध्यति योगतः।
तथा तपोग्निना भव्यः कृतः संवरनिर्जरः ॥३०९८॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातुपाषाण (जिस पाषाण में सोना वा चाँदी निकले) युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चरणरूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करने वाला भव्यजीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति किसको होती है?

यथा यथा मुनीन्द्राणां जायते कर्मनिर्जरा।
तथा तथा च मुक्तिस्त्री मुदायाति स्वयंवरा ॥३०९९॥
ध्यानयोगेन भव्यानां समस्तकर्मनिर्जरा।
यदा तदैव जायेत मोक्षलक्ष्मीर्गुणैःसमम् ॥३१००॥

अर्थ—मुनियों के जैसी-जैसी कर्मों की निर्जरा होती जाती है, वैसे ही वैसे स्वयं वरण करने वाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है। जिस समय भव्यजीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, उसी समय अनंत गुणों के साथ-साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

संवरपूर्वक निर्जरा करने की प्रेरणा—

मत्वेति निर्जरा नित्यं कर्तव्या मुक्तये बुधैः।
तपोयोगैः सदाचारैः सर्वा संवरपूर्विका ॥३१०१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए तपश्चरण, ध्यान और सदाचार धारण कर संवरपूर्वक पूर्ण कर्मों की निर्जरा सदा करते रहना चाहिए।

लोक अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याद् झल्लरीसमः।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे लोकस्येति त्रिधा स्थितिः ॥३१०२॥
पापिनः पापपाकेन पच्यन्ते छेदनादिभिः।
सप्तश्वभ्रेष्वधो भागे नारका नारकैः सदा ॥३१०३॥
पुण्येन पुण्यवन्तोऽस्योर्ध्वभागे सुखमुल्बणम् ।
कल्पकल्पान्तविश्वेषु भुञ्जन्ति स्त्रीमहर्द्धिभिः ॥३१०४॥
क्वचित्सौख्यं क्वचिद्दुःखं मध्यलोके क्वचिद्द्वयम्।
प्राप्नुवन्ति नृतिर्यञ्चःपुण्यपापवशीकृताः ॥३१०५॥
लोकाग्रे शाश्वतं धाम मनुष्यक्षेत्रसम्मितम्।
सिद्धा यत्र लभन्ते हो अनन्तं सुखमात्मजम् ॥३१०६॥

अर्थ—यह लोकाकाश नीचे वेत्रासन के (स्टूल के) आकार है, मध्य में झल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग (परवावज) के आकार है। इस प्रकार यह लोक तीन भागों में बँटा हुआ है। इस लोक के अधोभाग में सातों नरकों में महापापी नारकी अपने पापकर्म के उदय से छेदन-भेदन आदि के द्वारा महादुःख भोगा करते हैं। इसी प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्पवासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्यकर्म के उदय से देवांगना और महा ऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महा ऋद्धियों के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं। इसी प्रकार मध्यलोक में पुण्य-पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यंच कहीं सुख भोगते हैं, कहीं दुःख भोगते हैं और कहीं सुख-दुःख दोनों भोगते हैं। इस लोक के शिखर पर मनुष्यलोक के समान एक नित्य स्थान है, जहाँ पर सिद्ध भगवान् शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत सुखों का अनुभव किया करते है।

लोक अनुप्रेक्षा को समझने वाले को प्रेरणा—

इति लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थं शिवालयम्।
हत्वा मोहं दृगाद्यैश्च साधयन्तु विदो द्रुतम् ॥३१०७॥

अर्थ—इस प्रकार तीनों लोकों का स्वरूप समझकर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझकर विद्वान् पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिए।

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप—

युगच्छिद्रे प्रवेशश्चसमिलाया यथाम्बुधौ।
दुर्लभोऽनन्तसंसारे नृ-भवोऽत्रतथाङ्गिनाम् ॥३१०८॥

अर्थ—यदि किसी समुद्र में एक ओर बैल के कंधे का जुआ डाला जाये और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जुए के छिद्र में पड़ने वाली बांस की कील डाली जाये जिस प्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जुए के छिद्र में उस बांस की कील का पड़ जाना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

आर्यदेश उत्तम-कुल आदि की प्राप्ति की क्रमशः दुर्लभता का निर्देश—

क्वचिल्लब्धे मनुष्यत्वेप्यार्यदेशोऽतिदुर्लभः ।
तस्मात्सुकुलमत्यर्थं दुर्लभं कल्पशाखिवत् ॥३१०९॥
कुलतो दुर्लभं रूपं रूपादायुश्च दुर्घटम्।
आरोग्यमायुषोऽक्षाणि पटूनिसुलभानि न ॥३११०॥
तेभ्योऽपि सुमतिः साध्वी निष्पापा सुष्ठुदुर्लभा।
मतेः कषायहीनत्वं विवेकाद्यतिदुर्लभम् ॥३१११॥
एतेभ्यः सद्गुरो सारः संयोगो दुर्लभस्तराम्।
संयोगाद्धर्मशास्त्राणां श्रवणधारणं नृणाम् ॥३११२॥
सुगमं न ततः श्रद्धानं निश्चयोऽतिदुर्लभः।
ततः सद्दर्शनज्ञाने विशुद्धिः सुष्ठुदुर्लभा ॥३११३॥
ततो निर्मलचारित्रं दुष्प्राप्यं निधिवत्तराम्।
लब्धेष्वेतेषु सर्वेषु यावज्जीवं निरन्तरम् ॥३११४॥
सर्वदा निरवद्याचरणमत्यन्तदुर्घटम्।
तस्मात्समाधिमृत्युः स्यान्निधिवद्दुर्लभः सताम् ॥३११५॥

अर्थ—यदि कदाचित् किसी काल में मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाये तो आर्य देश में जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि कदाचित् आर्य देश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाये तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार उत्तम कुल से सुन्दर

रूप का प्राप्त होना दुर्लभ है, उससे पूर्ण आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है। पूर्ण आयु से भी नीरोग शरीर का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है और नीरोग शरीर की प्राप्ति होने पर भी इन्द्रियों की चतुरता प्राप्त होना कभी सुलभ नहीं हो सकता। कदाचित् इन्द्रियों की चतुरता भी प्राप्त हो जाये तो पापरहित श्रेष्ठ बुद्धि का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि कदाचित् निष्पाप बुद्धि भी प्राप्त हो जाये तो कषाय रहित होना और विवेक का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। इन समस्त संयोगों के मिल जाने पर भी सारभूत श्रेष्ठ गुरु का संयोग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि कदाचित् श्रेष्ठ गुरु का भी संयोग मिल जाये तो धर्मशास्त्रों का सुनना तथा उनका धारण करना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इनका भी संयोग मिल जाये तो उन धर्मशास्त्रों में कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करना उनका निश्चय करना अत्यन्त ही दुर्लभ है तथा उस श्रद्धान से भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विशुद्धि रखना अत्यन्त ही दुर्लभ है। कदाचित् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की विशुद्धि भी प्राप्त हो जाये तो निधि के मिलने के समान निर्मल चारित्र का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इन सबका संयोग प्राप्त हो जाये तो अपने जीवन पर्यंत निरंतर सर्वदा निर्दोष चारित्र का पालन करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। यदि कदाचित् यह भी प्राप्त हो जाये तो सज्जनों को निधि मिलने के समान समाधिमरण का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

कौन जीव बोधि के फल को प्राप्त करता है—

इति दुर्लभबोधिं ये प्राप्य यत्नेन धीधनाः।
साधयन्ति शिवादीनि तेषां बोधिफलं भवेत् ॥३११६॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ ऐसे बोधिरूप रत्नत्रय को पाकर जो विद्वान् प्रयत्न पूर्वक मोक्षादिक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को बोधि का फल प्राप्त हुआ समझना चाहिए।

कौन जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं—

आसाद्य बोधिमज्ञा ये कुर्वते मोक्षसाधने।
प्रमादं दीर्घसंसारे ते भ्रमन्ति विधेर्वशात् ॥३११७॥

अर्थ—जो मूर्ख पुरुष इस रत्नत्रयरूप बोधि को पाकर मोक्ष के सिद्ध करने में प्रमाद करते हैं वे पुरुष अपने कर्मों के उदय से दीर्घकाल तक इस महासंसार में परिभ्रमण किया करते हैं।

किनका बोधि प्राप्त करना सफल है—

मत्वेति बोधिसद्रत्नं प्राप्य शीघ्रं शिवश्रियम्।
साधयन्तु बुधा यत्नाद्येन तत्सफलं भवेत् ॥३११८॥

अर्थ—यही समझकर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिए, जिससे उनका बोधि का प्राप्त होना सफल हो जाये।

पुनः दस धर्म पालन करने की प्रेरणा—

प्रागुक्तो दशधा धर्मः कर्तव्यो धर्मैकाङ्क्षिभिः।
भुक्तिमुक्तिप्रदो नित्यं क्षमादिलक्षणोत्तमः ॥३११९॥

अर्थ—धर्म की इच्छा करने वाले पुरुषों को उत्तम, क्षमा, मार्दव आदि लक्षणों से सुशोभित तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाला जो ऊपर कहा हुआ दस प्रकार का धर्म है वह सदा पालन करते रहना चाहिए।

मोक्ष प्रदायिनी अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की प्रेरणा—

अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिर्द्वादशैव निरन्तरम्।
वैराग्यवृद्धये ध्येया रागहान्यै शिवङ्कराः ॥३१२०॥

अर्थ—विद्वान् पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिए और रागद्वेष को नष्ट करने के लिए इन बारह अनुप्रेक्षाओं का निरंतर चिंतन करते रहना चाहिए क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ अवश्य मोक्ष प्रदान करने वाली हैं।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

द्वादश अनुप्रेक्षा की महिमा एवं उनके चिन्तन का फल—

एता द्वादशभावनाः सुविमलास्तीर्थेश्वरैः सेविता
प्रोक्ता भव्यनृणां हिताय परमा वैराग्यवृद्ध्यै बुधाः।
ये ध्यायन्ति सदाऽमले स्वहृदये तेषां मुदा वर्द्धते
संवेगोऽत्र परो विनश्यति तरां रागः शिवश्रीर्भवेत् ॥३१२१॥

अर्थ—ये बारह भावनाएँ अत्यन्त निर्मल हैं, तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिंतन करते हैं और भव्यजीवों का हित करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिए कही गई है, इसलिए जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिंतन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है, राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है।

(छन्द-मालिनी)

उपसंहारात्मक अनुप्रेक्षाओं की महिमा—

निरुपमगुणखानीर्मोक्षलक्ष्मीसखीश्च जिनवरमुखजाताः सेविताः श्रीगणेशैः।
दुरितगिरिविघाते वज्रधाराः सदैव प्रभजत शिवकामा भावना द्वादशैताः ॥३१२२॥

अर्थ—ये बारह भावनाएँ अनुपम गुणों की खानि है, मोक्षलक्ष्मी की सखी है, भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई है तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पापरूपी पर्वतों को चूर-चूर करने के लिए वज्र की धारा के समान है। अतएव मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को इन बारह भावनाओं का चिंतन सदा करते रहना चाहिए।

परीषहों के कथन की प्रतिज्ञा—

मुनीनां येऽथ सोढव्याः परीषहाश्च तानिह।
मार्गाच्यवनदुष्कर्मनिर्जरार्थं दिशाम्यहम् ॥३१२३॥

अर्थ—मुनिराज अपने चारित्रमार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए तथा पापकर्मों की निर्जरा करने के लिए जिन परीषहों को अवश्य सहन करते हैं उनको मैं कहता हूँ।

२२ परीषहों के नाम निर्देश—

क्षुत्पिपासाऽथ शीतोष्णाख्यौ दंशमशकाह्वयः।
नाग्न्यारत्यभिधौ स्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहौ ॥३१२४॥
शय्याक्रोशो वधो याञ्चा लाभो रोगपरीषहः।
तृणस्पर्शो मलः सत्कारपुरस्कारसंज्ञकः ॥३१२५॥
प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनान्येते परीषहाः ।
सोढव्या यतिभिर्नित्यं द्वाविंशतिः शिवाप्तये ॥३१२६॥

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याञ्चा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए इन परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिए।

क्षुधा परीषह को जीतने के लिए किस प्रकार चिन्तन करना चाहिए—

षष्ठाष्टमेकपक्षाद्यु - पवासाऽलाभकारणैः।
उत्पद्यते मुनेः स्वान्तर्दाहिन्यग्निशिखेव क्षुत् ॥३१२७॥
यदा तेन तदा चित्ते स्मरणीयमिदं स्फुटम्।
अहो परवशेनात्र याप्ता क्षुद्वेदना मया ॥३१२८॥
नृगतौ वन्दिगेहाद्यैः जलस्थलखगादिषु।
तिर्यग्गतौ निरोधाद्यैः श्वभ्रेषु भ्रमता चिरम् ॥३१२९॥
तस्या इयं कियन्मात्रा विचिन्त्येति शिवार्थिना।
जेतव्या वेदना क्षुज्जा सन्तोषात्तेन नान्यथा ॥३१३०॥

अर्थ—किसी मुनिराज ने वेला वा तेला किया हो अथवा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास किया और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अंतरंग को जलाने वाली क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है। उस समय उन मुनिराज को अपने हृदय में यह चिंतन करना चाहिए कि मैंने परवश होकर जो भूख की वेदना सही है, मनुष्यगति में बंदीगृह में पड़कर भूख की वेदना सही है, जलचर, थलचर और नभचर के पशु पक्षियों की योनियों में जो

भूख की वेदना सही है। तिर्यंचगति में बाँधे जाने वा रोके जाने के कारण जो भूख की वेदना सही है तथा नरकगति में जो भूख की वेदना सही है, उसके सामने यह भूख कितनी है, कुछ भी नहीं है, इस प्रकार चिंतन कर मोक्ष चाहने वालों को संतोष धारण कर भूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिए, बिना संतोष के क्षुधा वेदना कभी नहीं जीती जा सकती।

मुनिराज को किस प्रकार के चिंतन से तृषा परीषह जीतना चाहिए

बहूपवासमार्गश्रमविरुद्धान्नसेवनैः ।
ग्रीष्मभानुकरैस्तीव्रा पिपासा जायते यतेः ॥३१३१॥
तदेदं चिन्तनीयं सन्मुनिना दुर्द्धरा तृषा।
पराधीनतयाऽत्रा हो अनुभूता चिरं मया ॥३१३२॥
नरतिर्यग्गतौ श्वभ्रे प्रदेशे निर्जले वने।
इति ध्यानेन धीरः सज्जयतात्तृट्परीषहम् ॥३१३३॥

अर्थ—अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और ग्रीष्मऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों को तीव्र प्यास की वेदना होती है। उस समय उन मुनियों को इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि मैंने परवश होकर मनुष्यगति में, तिर्यंचगति में, नरक में और निर्जन वनों में चिरकाल तक बड़ी-बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है। इस प्रकार चिंतन कर उन धीरवीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतना चाहिए।

प्यास की शांति के लिए मुख प्रक्षालनादि का निषेध—

शुष्कौष्ठमुखसर्वांगस्तृषाग्निस्तपितोऽपि सन् ।
तच्छान्त्यै जातु न कुर्यान्मुखप्रक्षालनादिकम् ॥३१३४॥

अर्थ—यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के होठ सूख गए हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी वे उस प्यास की शांति के लिए अपना मुख प्रक्षालन आदि कभी नहीं करते हैं।

मुनिराज को किस प्रकार के चिंतन से शीत वेदना जीतनी चाहिए—

तुषारबहुले शीतकाले चतुःपथादिषु ।
स्थितस्य शीतवाताद्यैः शीतबाधा परा भवेत् ॥३१३५॥
तदैष नारकाणां च पशूनां नृदरिद्रीणाम्।
चिन्तनैः शीतदुखौघं सहते दृढचेतसा ॥३१३६॥

अर्थ—जिस शीतऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराहे पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है। उस समय वे मुनिराज नारकियों के, पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों को चिंतन करते हुए अपने

चित्त को दृढ़ बनाकर शीत की वेदना को सहन करते हैं।

किस प्रकार की गर्मी से शीत वेदना दूर करते हैं—

तथा ध्यानोष्मणा योगी शीतबाधां निवारयेत्।
मनाक् प्रावरणाग्न्यादीन् शीतशान्त्यैर्न चिन्तयेत् ॥३१३७॥

अर्थ—उस समय वे मुनिराज ध्यानरूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिए न तो किसी के ओढ़ने का चिंतन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करने वाले पदार्थों का चिंतन करते हैं।

किस प्रकार के चिंतन से उष्ण वेदना जीतते हैं—

ग्रीष्मोग्रभास्करोष्णांशुपित्तरोगपथश्रमैः।
आतापनमहायोगक्षारान्नानशनादिभिः ॥३१३८॥
दुस्सहोष्णमहातापो जायते वनवासिनः।
निराश्रयपशुनृणां नारकाणां विधेर्वशात् ॥३१३९॥
जातोष्णचिन्तनेनासौ सद्ज्ञानामृतपानतः।
उष्णदुःखं जयेन्नाम्बुसेकावगाहनादिभिः ॥३१४०॥

अर्थ—गर्मी के दिनों में जब सूर्य की किरणें अत्यन्त तीव्र और उष्ण होती हैं वा पित्त रोग हो जाता है अथवा मार्ग के चलने से परिश्रम बढ़ जाता है वा वे मुनिराज आतापन महायोग धारण कर लेते हैं अथवा वे अधिक लवण मिला हुआ अन्न ग्रहण कर लेते हैं उस समय वन में निवास करने वाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महासंताप उत्पन्न होता है। उस समय वे निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के वा नारकियों के कर्मों के उदय से होने वाली तीव्र उष्ण वेदना का चिंतन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृत का पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते।

दंशमशक परीषहजय का स्वरूप—

दंशैश्च मशकैः सर्वैर्मक्षिकावृश्चिकादिभिः।
भक्षमाणोऽत्र दिग्वस्त्रो वृक्षमूलादिषु स्थितः ॥३१४१॥
न मनाक् खिद्यते यत्र ध्यानी ध्यानाच्चलेन्न च।
परीषहजयो ज्ञेयः स दंशमशकाह्वयः ॥३१४२॥

अर्थ—जो मुनि दिगम्बर अवस्था को धारण किए हुए किसी वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, उस समय यदि कोई डांस, मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि कीड़े, मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंचमात्र भी खेदखिन्न नहीं होते और न वे ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं।

इसको दंशमशक परीषह-विजय कहते हैं।

नाग्न्य परीषहजय का स्वरूप—

नग्नत्वेन च ये जाताः शीतोष्णाद्या उपद्रवाः।
शरीरविक्रिया जीवभक्षणैर्हसनादिभिः ॥३१४३॥
सह्यन्ते यत्र धैर्येण ते संक्लेशाद्विनान्वहम्।
दिगम्बरधरैर्ज्ञेयो नाग्न्यदोषजयोऽत्र सः ॥३१४४॥

अर्थ—नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठंडी-गर्मी के उपद्रव होते हैं, अनेक जीव काट लेते हैं, शरीर में कोई विकार भी हो जाता है और अनेक दुष्ट लोग भी उनको देखकर हँसते हैं, इन सब उपद्रवों को वे दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ प्रतिदिन सहन करते हैं इसको नाग्न्य परीषहजय कहते हैं।

अरति परीषहजय का स्वरूप—

अरण्यवासशीतोष्णोग्रतपश्चरणादिभिः।
शब्दैर्भयानकैर्जातारतिः सिंहादिजैर्निशि ॥३१४५॥
मुनिभिर्जीयते याऽत्र रतिं कृत्वाऽऽगमामृते।
ध्यानज्ञानरतैः स्याच्चारतिबाधाजयोऽत्र सः ॥३१४६॥

अर्थ—वन का निवास, शीत-उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह, व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं तथापि ज्ञान-ध्यान में लीन रहने वाले वे मुनिराज आगमरूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति की बाधा को जीतते हैं इसको अरति परीषहजय कहते हैं।

स्त्री परीषहजय का स्वरूप—

हावभावविलासाङ्गास्य भ्रूविकार-जल्पनैः।
कटाक्षशरविक्षेपैः शृङ्गाररसदर्शनैः ॥३१४७॥
उन्मत्तयौवनास्त्रीभिः कृतोऽनर्थोव्रतान्तकः।
सह्यते योगिभिर्योऽत्र स्त्रीबाधाजय एव सः ॥३१४८॥

अर्थ—कोई मुनिराज किसी एकांत स्थान में विराजमान हों और वहाँ पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियाँ आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार, मुख के विकार, भौहों के विकार, गाना-बजाना बकवाद करना, कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना और श्रृंगार रस का दिखाना आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करने वाला अनर्थ करती हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं, इसको स्त्री परीषहजय कहते हैं।

चर्या परीषहजय का स्वरूप—

भीमारण्याद्रिदुर्गेषु नानादेशपुरादिषु।
विहरद्भिः सदा खण्डपाषाणकण्टकादिभिः ॥३१४९॥
जातपादव्यथाया यः क्रियते सर्वथाजयः।
निर्ग्रन्थैर्मुक्तये चर्यापरीषहजयोऽत्र सः ॥३१५०॥

अर्थ—जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वत पर, किलों में, अनेक देश और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े वा काँटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे-छोटे घाव हो जाते हैं तथापि वे दिगम्बर मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस सबको सहन करते हैं, जीतते हैं इसको चर्या परीषहजय कहते हैं।

निषद्या परीषहजय का स्वरूप—

बहूपसर्गसंजातैः कन्दराद्रिवनादिषु।
कृतवज्रासनादिभ्योऽचलनं यन्महात्मनाम् ॥३१५१॥
धृतासनविशेषाणां ध्यानारोपितचेतसाम्।
सर्वदाचलयोगानां निषद्याजय एव सः ॥३१५२॥

अर्थ—जो मुनिराज किसी गुफा में, पर्वत पर वा वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसी प्रकार विशेष-विशेष कठिन आसन धारण करके भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं, उनके इस परीषह सहन करने को निषद्या जय कहते हैं।

शय्या परीषहजय का स्वरूप—

स्वाध्यायध्यानयोगाध्वश्रमखेदादिहानये।
निद्रां मौहूर्तिकीं युक्त्यानुभवद्भिर्जिताशयैः ॥३१५३॥
दण्डैकपार्श्वशय्यादौ क्रियते परिवर्तनम्।
न सिंहाद्युपसर्गौधैर्यच्छय्याजय एव सः ॥३१५४॥

अर्थ—जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिए युक्तिपूर्वक मुहूर्त मात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दंड के समान वा किसी एक करवट से सोते हैं, सिंहादिक का उपद्रव होने पर भी जो कभी करवट नहीं बदलते उसको शय्या परीषहजय कहते हैं।

आक्रोश परीषहजय का स्वरूप—

मिथ्यादृग्म्लेच्छचाण्डालशत्रुपापिदुरात्मना ।
परुषाद्यवमानावज्ञाधिक्कारवचांसि च ॥३१५५॥
आक्रोशादीन्बहून् श्रुत्वा त्रिशुद्ध्या सहनं हियत्।
विना क्लेशेन दक्षाणामाक्रोशजय एव सः ॥३१५६॥

अर्थ—जो मुनिराज मिथ्यादृष्टि, म्लेच्छ, चांडाल, शत्रु, पापी और दुरात्माओं के कठोर वचनों को, अपमानजनक शब्दों को, तिरस्कार वा धिक्कार के वचनों को वा अनेक प्रकार के गाली-गलौच के शब्दों को सुन करके भी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उनको सहन करते हैं, उनको सुनकर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उन चतुर मुनियों के आक्रोश परीषहजय कही जाती है।

वध परीषहजय का स्वरूप—

मिथ्यादृग्दुर्जनैर्दुष्टैः शत्रुभिः श्वभ्रगामिभिः।
कोपादिभिः प्रयुक्ताश्च बन्धवन्धादिताडनाः ॥३१५७॥
सद्यः प्राणहरा यत्र सह्यन्तेधीरयोगिभिः।
योगशुद्ध्या घनाशाय वधमर्षणमेव तत् ॥३१५८॥

अर्थ—जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिए मिथ्यादृष्टि, दुर्जन, दुष्ट, नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोधपूर्वक किए गए बध, बंधन वा ताड़न आदि को सहन करते हैं तथा वे धीर वीर मुनि मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उसी समय प्राणहरण करने वाले बध-बंधनादि को भी सहन करते हैं उसको बध परीषहजय कहते हैं।

याचना परीषहजय का स्वरूप—

व्याधिक्लेशशताद्यैर्यद्बहूपवासपारणैः ।
याच्यते नौषधाम्ब्वादि याञ्चासहनमेव तत् ॥३१५९॥

अर्थ—जो मुनि सैकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करने पर भी कभी औषधि वा जल आदि की याचना नहीं करते हैं उसको याचना परीषहजय कहते हैं।

अलाभ परीषह विजय का स्वरूप—

अलाभो योऽन्नपानादेः षष्ठाष्टमादिपारणे।
त्रिशुद्ध्या सह्यते तुष्टैरलाभविजयोऽत्र सः ॥३१६०॥

अर्थ—जो मुनिराज बेला, तेला आदि अनेक उपवास करके पारणा को निकलें और अन्न-पानादिक का लाभ न हो तो भी वे मुनिराज संतुष्ट होकर मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उस भूख-प्यास की तथा आहारादिक के न मिलने की बाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परीषह

विजय कहते हैं।

रोग परीषहजय का स्वरूप—

कुष्टोदरव्यथावातपित्तज्वरादिरुक्शतैः ।
दुस्सहैः पापपाकोत्थैर्विश्वदुःखनिबन्धनैः ॥३१६१॥
जाता या वेदनाया यन्महत्याः सहनं बुधैः।
कर्महान्यै प्रतीकारं विना रोगजयोऽत्र सः ॥३१६२॥

अर्थ—जो मुनिराज अपने कर्मों को नाश करने के लिए कोढ़, उदर शूल, वातज्वर, पित्तज्वर आदि अपने पापकर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दुःखों को देने वाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महावेदना को भी बिना प्रतिकार वा इलाज कराये सहन करते हैं उन बुद्धिमानों के रोग परीषहजय कहलाती है।

तृणस्पर्श परीषहजय का स्वरूप—

शुष्कपत्रतृणादीनां स्पर्शनैश्च मरुद्वशैः।
जातकण्डुविकारादेस्त्यक्तदेहमहात्मभिः ॥३१६३॥
क्लेशादृतेऽघनाशाय सहनं यद्विधीयते।
त्रिशुद्ध्या स तृणस्पर्शपरीषहजयोऽत्र सः ॥३१६४॥

अर्थ—अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देने वाले जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिए मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक वायु से उड़कर आए हुए सूखे पत्ते वा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं, उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उसको तृणस्पर्श परीषहजय कहते हैं।

मल परीषहजय का स्वरूप—

मलजल्लादिलिप्ताङ्गं ध्रियते यद्विरागिभिः।
संस्कारक्षालनातीतमर्द्ध - दग्धशवप्रमम् ॥३१६५॥
स्नानादीन् दूरतस्त्यक्त्वा दयायै रागहानये।
दुष्कर्ममलनाशाय मलधारणमेव तत् ॥३१६६॥

अर्थ—जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिए, राग को नष्ट करने के लिए और पापकर्म रूपी मल को नाश करने के लिए स्नान आदि को दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान मल, पसीना, नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको मल परीषह जय कहते हैं।

सत्कार-पुरस्कार परीषहजय का स्वरूप—

नमः स्तवप्रशंसादिः सत्कार उच्यते बुधैः।
अग्रतः करणं यात्रादेः पुरस्कार एव सः ॥३१६७॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नैस्तपःसद्गुणशालिभिः।
द्विधैषस्त्यज्यते सत्कारपुरस्कार एव सः ॥३१६८॥

अर्थ—नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार कहलाता है तथा चलते समय यात्रादिक में उनको आगे रखना स्वयं पीछे चलना पुरस्कार कहलाता है। जो मुनिराज ज्ञान विज्ञान से सुशोभित हैं और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं, ऐसे मुनिराज इन दोनों सत्कार-पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार-पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते उसको सत्कार-पुरस्कार परीषहजय कहते हैं।

प्रज्ञा परीषहजय का स्वरूप—

अहं विद्वान् जगद्वेत्ता वलीवर्दा इमे जडाः।
किञ्चित्तत्त्वं न जानन्ति हीत्यादिगर्व एव यः ॥३१६९॥
सर्वांगपूर्वविद्भिश्च निवार्यते मदान्तकैः।
सद्वादिभिर्महाप्राज्ञैः प्रज्ञाजयः स ऊर्जितः ॥३१७०॥

अर्थ—जो मुनि ग्यारह अंग, चौदह पूर्व के जानकार हैं, महाबुद्धिमान् हैं, वाद-विवाद करने में सर्वश्रेष्ठ हैं और अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूँ, संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूँ, बाकी के ये लोग सब बैल के समान मूर्ख हैं, तत्त्वों का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते इस प्रकार के अभिमान को वे सदा के लिए त्याग कर देते हैं उसको प्रज्ञा परीषहजय कहते हैं।

अज्ञान परीषहजय का स्वरूप—

अज्ञोऽयं वेत्ति किञ्चिन्न परमार्थं पशूपमः।
इत्यादिकटुकालापसहनं यज्जनोद्भवम् ॥३१७१॥
ईदृशं दुर्द्धरं घोरतपो मे कुर्वतो नघम्।
अद्याप्युत्पद्यते कश्चिद् ज्ञानाद्यतिशयोऽत्र न ॥३१७२॥
इत्यादि - बहुकालुष्यं मनसो यन्निहत्यते।
स्वल्पज्ञानिभिरज्ञानपरीषहजयो हि सः ॥३१७३॥

अर्थ—जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं उनके लिए अन्य दुष्ट लोग ''यह अज्ञानी है यह परमार्थ को कुछ नहीं जानता पशु के समान है'' इस प्रकार कड़वे वचन कहते हैं तथापि वे उनको सहन करते हैं तथा ''मैं इस प्रकार का दुर्द्धर और घोर और पापरहित तपश्चरण करता हूँ तो भी मुझे ज्ञान का

कुछ भी अतिशय प्रकट नहीं होता श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रकट नहीं होता'' इस प्रकार की कलुषता अपने मन में कभी नहीं लाते उसको अज्ञान परीषहजय कहते हैं।

अदर्शन परीषहजय का स्वरूप—

प्रातिहार्याणि कुर्वन्ति सुराःसद्योगधारिणाम्।
महातपस्विनामेतत् प्रलापमात्रमेव हि ॥३१७४॥
यतो मे दुर्द्धरानुष्ठानसत्तपो विधायिनः।
विख्यातोऽतिशयः कश्चिज्जाते नामरैः कृतः ॥३१७५॥
प्रव्रज्याऽनर्थिकाऽत्रेयमित्यादिस्त्यज्यते च यः।
सङ्कल्पो दृग्विशुद्धया हि सोऽदर्शनजयो बुधैः ॥३१७६॥

अर्थ—''शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करने वाले महा तपस्वियों के लिए प्रातिहार्य प्रकट करते हैं उनका अतिशय प्रकट करते हैं, परन्तु यह कहना प्रलाप मात्र है यथार्थ नहीं है क्योंकि मैं बड़े-बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्द्धर अनुष्ठान पालन करता हूँ तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रकट नहीं करते इसलिए कहना चाहिए कि यह दीक्षा लेना भी व्यर्थ है'' इस प्रकार के कलुषित संकल्प-विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं उसको बुद्धिमान् लोग अदर्शन परीषहजय कहते हैं।

परीषहों को सहन करने की प्रेरणा—

एते कर्मोदयोत्पन्ना द्वाविंशतिपरीषहाः।
सर्वशक्त्याऽघनाशाय सोढव्या मुक्तिगामिभिः ॥३१७७॥

अर्थ—ये बाईस परीषह अपने-अपने कर्मों के उदय से प्रकट होती हैं इसलिए मोक्ष प्राप्त करने वाले मुनियों को अपने पाप नाश करने के लिए अपनी सब शक्ति लगा कर ये परीषहों को सहन करना चाहिए।

किस-किस कर्म के उदय से कौन-कौन सी परीषह होती है—

ज्ञानावरणपाकेन प्रज्ञाज्ञानपरीषहौ ।
दर्शनाभिधमोहोदयेनादर्शनसंज्ञकः ॥३१७८॥
लाभान्तरायपाकेन स्यादलाभपरीषहः ।
नाग्न्याभिधा निषद्या चाक्रोशो याञ्चापरीषहः ॥३१७९॥
स्यात्सत्कारपुरस्कारो मानाह्वयकषायतः ।
अरत्यरतिनाम्नो वेदोदयात्स्त्रीपरीषहः ॥३१८०॥
वेदनीयोदयेनाऽत्र क्षुत्पिपासा-परीषहः।
शीतोष्णाख्यौ तथा दंशमशको हि परीषहः ॥३१८१॥

शय्या चर्या वधो रोगस्तृणस्पर्शो मलाह्वयः।
एकादश इमे पुंसां प्रजायन्ते परीषहाः ॥३१८२॥

अर्थ—इन परीषहों में से ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह प्रकट होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह प्रकट होते हैं। लाभांतराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होते हैं। नाग्न्य परीषह, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार-पुरस्कार परीषह मान कषाय नाम के चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं, अरति परीषह अरति नाम के नोकषाय चारित्र मोहनीय के उदय से होते हैं और स्त्री परीषह वेद नाम के नोकषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। इस प्रकार सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

एक जीव के एक समय में एक साथ कितने परीषह हो सकते है—

एकस्मिन्समये ह्येकजीवस्य युगपद् भुवि।
परीषहाः प्रजायन्तेऽङ्गिनां चैकोनविंशतिः ॥३१८३॥
मध्येशीतोष्णयो र्नूनमेक एव परीषहः।
शय्या चर्यानिषद्यानां तथैकः स्यान्नचान्यथा ॥३१८४॥

अर्थ—एक जीव के एक समय में एक साथ जीवों के उन्नीस परीषह हो सकते है क्योंकि शीत और उष्ण परीषह में से कोई एक ही परीषह होते हैं तथा शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों परीषहों में से कोई एक परीषह होता है। इसमें कभी अंतर नहीं होता।

किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं—

मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषु सप्तसु।
सर्वे परीषहाः सन्ति ह्यपूर्वकरणे सताम् ॥३१८५॥
अदर्शनं विना ह्येकविंशतिः स्युः परीषहाः।
विंशतिश्चानिवृत्तौ हि विनाऽरतिपरीषहात् ॥३१८६॥
शुक्लध्यानेन तत्रैव प्रनष्टो वेदकर्मणि।
स्त्र्याख्ये परीषहे नष्टे ते स्युरेकोनविंशतिः ॥३१८७॥
ततो मानकषायस्य क्षयात्तत्रैव वा शमात्।
नाग्न्यनामनिषद्याख्याक्रोशयांचापरीषहाः ॥३१८८॥
सत्कारादिपुरस्कारश्चामीभिः पञ्चभिर्विना।
अनिवृत्यादिषु क्षीणकषायान्तेषु निश्चितम् ॥३१८९॥

गुणस्थानचतुष्केषु चतुर्दशपरीषहाः।
छद्मस्थवीतरागाणां भवन्त्यल्पाः सुखप्रदाः ॥३१९०॥
नष्टे घातिविधौ क्षीणकषाये च परीषहाः।
प्रज्ञाज्ञानाह्वयालाभा नश्यन्ति घातिघातिनः ॥३१९१॥
केवलज्ञानिनो वेदनीयाख्यविद्यमानतः ।
उपचारेण कथ्यन्तेऽत्रैकादशपरीषहाः ॥३१९२॥

अर्थ—मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह होते हैं। अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में अदर्शन को छोड़कर बाकी की इक्कीस परीषह होते हैं। अनिवृत्तिकरण नाम के नौवें गुणस्थान में अरति परीषह को छोड़कर बाकी की बीस परीषह होते हैं। उसी नौवें गुणस्थान में जब शुक्लध्यान के द्वारा वेद कर्म नष्ट हो जाता है, तब स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाते हैं और उस समय नौवें गुणस्थान में उन्नीस परीषह ही रह जाते है। इसी नौवें गुणस्थान में आगे चलकर जब मान कषाय नष्ट हो जाता है अथवा मान कषाय का उपशम हो जाता है तब नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार-पुरस्कार ये पाँच परीषह नष्ट हो जाते हैं, उस समय उसी नौवें गुणस्थान में इन पाँचों के बिना चौदह परीषह रह जाते है। ये चौदह परीषह नौवें गुणस्थान के इस भाग से लेकर क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में रहते हैं परंतु छद्मस्थ वीतरागों के अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में ये परीषह बहुत ही थोड़े रहते हैं और सुख देने वाले ही होते हैं दुःख नहीं देते। क्षीणकषाय के अंत में जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब उन केवली भगवान् के प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाते हैं अतएव केवली भगवान् के वेदनीयकर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाते हैं।

केवली भगवान् के रंचमात्र भी दुःख का कारण परीषह नहीं—

घातिकर्मबलापायात्स्वकार्यकरणेऽक्षमाः ।
दातुं दुःखमशक्ताश्च विगतान्तसुखाश्रयात् ॥३१९३॥

अर्थ—केवली भगवान् के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकते तथा उन भगवान् के अनंतसुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिए वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकते।

नरकादि गति में कितनी परीषह होते हैं?

सर्वे तीव्रतराः सन्ति सर्वोत्कृष्टाः परीषहाः।
नारकाणां गतौ घोरास्तथा तिर्यग्गतावपि ॥३१९४॥
प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनालाभनाग्न्यसंज्ञकाः ।
अरतिस्त्रीनिषद्याख्याक्रोशयाञ्चापरीषहाः ॥३१९५॥

सत्कारादिपुरस्कारः क्षुत्पिपासावधोप्यमी।
सन्ति देवगतौ स्वल्पाश्चतुर्दशपरीषहाः ॥३१९६॥

अर्थ—नरकों में नारकियों के और तिर्यंचगति में तिर्यंचों के समस्त परीषह होते हैं तथा अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट होती हैं। देवगति में प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, यांचा, सत्कार-पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा और वध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूप में होते हैं।

ध्यानादि द्वारा परीषह सहने की प्रेरणा—

एते परीषहा विश्वे कर्मजाः कर्महानये।
सोढव्याः संयतैः शक्त्या ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥३१९७॥

अर्थ—ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा अवश्य सहन करने चाहिए।

मुनिराज किस प्रकार परीषहरूपी योद्धाओं को जीतते हैं—

चारित्रसङ्गरे घोरे परीषहमहाभटाः।
यैर्जिताः सत्तपोवाणैर्वृत्तचापार्पितैर्दृढैः ॥३१९८॥
तेषां नश्यन्ति कर्माणि पञ्चाक्षतस्करैः समम्।
ढौकते त्रिजगल्लक्ष्मीर्मुक्तिश्रिया सहाचिरात् ॥३१९९॥

अर्थ—अपने चारित्र में अचल रहने वाले जो मुनिराज चारित्ररूपी घोर युद्ध में चारित्ररूपी धनुष पर श्रेष्ठ तपरूपी बाण चढ़ाकर परीषहरूपी महायोद्धाओं को जीत लेते हैं, उनके समस्त कर्म पाँचों इन्द्रियरूपी चोरों के साथ-साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी के साथ-साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

परीषहों को नहीं जीतने से हानि—

परीषहभटेभ्यो ये भीता नश्यन्ति कातराः।
सच्चारित्ररणात्प्राप्यतेऽपकीर्तिर्जगत्त्रये ॥३२००॥
हास्यं स्वजनसाधूनां मध्ये चतुर्गताविह।
अमुत्र पापपाकेन स्युर्विश्वदुःखभाजनाः ॥३२०१॥

अर्थ—जो कायर मुनि परीषहरूपी योद्धाओं से डरकर भाग जाते हैं वे उस चारित्ररूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं, अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हँसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उनको चारों गतियों के समस्त महादुःख प्राप्त होते हैं।

धैर्यरूपी तलवार से परीषहों को जीतने की प्रेरणा—

मत्वेति सुधियो नित्यं स्वारीनिव परीषहान्।
जयन्तु धैर्यखड्गेन मुक्तिसाम्राज्यसिद्धये ॥३२०२॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिए अपनी धैर्यरूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान ये समस्त परीषह सदा के लिए जीत लेने चाहिए।

ऋद्धियों के कथन की प्रतिज्ञा एवं उनके भेद—

ऋद्धीरथ मुनीन्द्राणामृषीणां सत्तपो भवाः।
समासेन प्रवक्ष्यामि तपोमाहात्म्यव्यक्तये ॥३२०३॥
ऋद्धिबुद्ध्याह्वया चाद्या क्रियर्द्धिर्विक्रियाभिधा।
तपऋद्धिर्बलर्द्धिश्चौषधर्द्धिरससंज्ञकाः ॥३२०४॥
क्षेत्रर्द्धिर्योगिनामेता ऋद्धयोऽष्टविधाः पराः।
जनन्योऽखिलसौख्यानां तपःशुद्धिप्रभावजाः ॥३२०५॥

अर्थ—अथानंतर-मुनियों के, ऋषियों के श्रेष्ठ तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। अतएव उस तप का माहात्म्य प्रकट करने के लिए संक्षेप से उन ऋद्धियों का स्वरूप कहता हूँ। बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ मुनियों के होती हैं। ये सब ऋद्धियाँ तपश्चरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रकट होती हैं और समस्त सुखों को उत्पन्न करने वाली होती हैं।

बुद्धि ऋद्धि के भेद व क्रिया ऋद्धि के भेद—

केवलावधिसंज्ञाने मनःपर्ययबोधनः।
बीजकोष्ठाह्वये बुद्धीपादानुसारिसंज्ञका ॥३२०६॥
संभिन्नश्रोत्रदूरास्वादनस्पर्शनदर्शनाः ।
घ्राणाश्रवणसामर्थ्ये दशपूर्वित्वमेव हि ॥३२०७॥
सच्चतुर्दशपूर्वित्वं विश्वार्थावगमक्षमम्।
अष्टाङ्गपरिपूर्णा महानिमित्तज्ञता परा ॥३२०८॥
सत्प्रज्ञाश्रवणत्वं च प्रत्येकबुद्धता परा।
वादित्वमृद्धिभेदाः स्युर्बुद्धेरष्टादशाप्यमी ॥३२०९॥

अर्थ—केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पादानुसारि, संभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दशपूर्वित्व वा चतुर्दशपूर्वित्व, समस्त पदार्थों के जानने की सामर्थ्य, अष्टांग महानिमित्त की पूर्णता, प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येक बुद्धता और श्रेष्ठ वादित्व इस प्रकार अठारह अतिशयों का प्राप्त होना बुद्धिऋद्धि के भेद हैं।

क्रिया ऋद्धि का प्रथम भेद व रूप चारणऋद्धि के भेद—

चारणत्वं तथाकाशगामित्वं व्योमगामिनाम्।
द्विधा क्रियर्धिरत्रेति तत्रैते चारणाः पराः ॥३२१०॥
जलजङ्घाभिधास्तन्तुपुष्पपत्राख्यचारणाः।
बीजश्रेणिफलाग्राग्निशिखाद्युपरिगामिनः ॥३२११॥
जलमादाय वाप्यादिष्वप्कायिकविराधनाम्।
अकुर्वन्तो मनाग्भूमाविव कार्याय पादयोः ॥३२१२॥
व्रजन्त्युद्धारनिक्षेपाभ्यां येऽखिलाङ्गिरक्षकाः।
महाकारुण्यचित्तास्ते भवन्ति जलचारणाः ॥३२१३॥
भूमेरुपरि चाकाशे चतुरङ्गुलसम्मिते ।
स्वजंघोत्क्षेपनिक्षेपाभ्यां यान्ति बहुयोजनान् ॥३२१४॥
विहारकर्मणे ये ते योगिनो जङ्घचारिणः।
एवमन्येऽपि विज्ञेया तन्त्वादिचारणाः पराः ॥३२१५॥

अर्थ—चारणऋद्धि और आकाशगामी ऋद्धि ये दो प्रकार की क्रियाऋद्धियाँ आकाशगामी मुनियों के होती हैं। अब आगे चारण ऋद्धियों को विशेष रीति से लिखते हैं। जलचारण, जंघाचारण, तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, बीजचारण, श्रेणीचारण, फलचारण, अग्निशिखाचारण आदि चारणऋद्धि के अनेक भेद हैं। जो मुनि अपने कार्य के लिए बावड़ी, सरोवर आदि जल में जलकायिक जीवों की रंचमात्र भी विराधना न करते हुए पृथ्वी के समान उस जल पर पैरों को उठाते-रखते हुए चलते हैं, ऐसे समस्त जीवों की रक्षा करने वाले और हृदय में महा करुणा धारण करने वाले वे मुनिराज जलचारण ऋद्धि को धारण करने वाले कहलाते हैं। जो मुनि भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में अपनी जंघाओं को उठाते-रखते हुए विहार करते हैं और इसी प्रकार अनेक योजन चले जाते हैं उन मुनियों को जंघाचारण ऋद्धिधारी कहते हैं। इसी प्रकार तंतुचारण, पुष्प, फल चारण आदि चारण ऋद्धियों के भेद समझ लेने चाहिए।

आकाशगामिनी ऋद्धि का स्वरूप—

पर्यंकासनयुक्ता वा निषण्णा वा सुचारणाः।
कायोत्सर्गस्थिताः पादोद्धारनिक्षेपणेन वा ॥३२१६॥
वा ताभ्यामन्तरेणैव बहुयोजनगामिनः।
आकाशगामिनो ज्ञेयाः कुशलाः व्रजने च खे ॥३२१७॥

अर्थ—आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि चलने में अत्यन्त चतुर होते हैं तथा पर्यंकासन से बैठकर वा अन्य किसी आसन से बैठकर वा कायोत्सर्ग से खड़े होकर वा पैरों को

उठाते-रखते हुए वा पैरों को बिना उठाए रखे अनेक योजन चले जाते हैं, उसको आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं।

विक्रिया ऋद्धि के भेद—

अणिमा महिमानाम्नी लघिमा गरिमा ततः।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं वशकारकम् ॥३२१८॥
तथैवाप्रतिघातोऽन्तर्द्धानमदृश्यकारणम् ।
कामरूपित्वमित्याद्या विक्रियर्द्धिरनेकधा ॥३२१९॥

अर्थ—विक्रियाऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशत्व, वश करने वाली वशित्व, अप्रतिघात, अदृश्यता का कारण अंतर्धान और कामरूपित्व आदि अनेक भेद हैं।

तपोतिशय ऋद्धि के ७ भेद का कथन—

उग्रो दीप्ततपस्तप्तो महद्धोरतपस्ततः ।
सर्वकार्यविधौ शक्तस्तपोघोरपराक्रमः ॥३२२०॥
घोराद्यन्तगुणब्रह्मचर्यं स्वप्नेऽप्यखण्डितम्।
सत्तपोऽतिशयर्द्धिश्चैषा मता सप्तधा सताम् ॥३२२१॥

अर्थ—उग्रदीप्ततप, तप्ततप, महाघोरतप, समस्त कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ ऐसा घोर तप, घोर पराक्रम, घोरगुण और स्वप्न में अखंडित रहने वाला घोर ब्रह्मचर्य इस प्रकार तपोतिशय ऋद्धि के सात भेद हैं।

बलऋद्धि का स्वरूप एवं भेद—

मनोवाक्कायभेदेन त्रिधा बलर्द्धिरुच्यते।
सर्वाङ्गपाठचिन्तादौ सत्तपश्चरणे क्षमाः ॥३२२२॥

अर्थ—मनोबल, वचनबल और कायबल के भेद से बलऋद्धि के तीन भेद हैं। वे मुनिराज इस बलऋद्धि से समस्त अंगों का पाठ और चिंतन क्षणभर में कर लेने के लिए समर्थ हो जाते हैं।

औषधि ऋद्धि के भेद—

आमखेलाख्यजल्लमलोविट्सर्वौषधिस्ततः।
तथैवास्यविषो दृष्टिविषर्द्धिरिति योगिनाम् ॥३२२३॥
विश्वरोगहरा ज्ञेयाऽत्रौषधर्द्धिः पराऽष्टधाः।
सत्तपोवृत्तधर्मादिमाहात्म्यव्यक्तिकारिणी ॥३२२४॥

अर्थ—आम, खेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्य विष और दृष्टि विष ये समस्त रोगों को हरण करने वाली औषधि ऋद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। ये सब ऋद्धियाँ तप, चारित्र और धर्म के माहात्म्य को प्रकट करने वाली हैं।

रस ऋद्धि के भेद—

परा आस्यविषा दृष्टिविषा महर्षयोऽद्भुताः।
सत्क्षीरास्राविणोमध्वास्रविणो मुनिपुङ्गवाः ॥३२२५॥
सर्पिरास्राविणश्चैवा मृतास्राविण ऊर्जिताः।
एवं रसर्द्धिसंप्राप्ताः षड्विधा ऋषयो मताः ॥३२२६॥

अर्थ—रसऋद्धि के छह भेद हैं–आस्यविषा, दृष्टिविषा, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी और अमृतस्रावी। इनसे सुशोभित होने वाले मुनि रसऋद्धिधारी कहलाते हैं।

क्षेत्र ऋद्धि के भेद—

द्विधा क्षेत्रर्द्धिसंप्राप्ता इत्यक्षीणमहानसाः।
जनावगाहदाःस्वस्याश्रमेऽक्षीणमहालयाः ॥३२२७॥

अर्थ—क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं–एक अक्षीणमहानस और आश्रम में समस्त लोगों को जगह देने वाली अक्षीणमहालय इनसे सुशोभित होने वाले मुनि क्षेत्रऋद्धिधारी कहलाते हैं।

ऋद्धियों की महिमा—

इमा अष्टविधाः साराः ऋद्धयो विविधास्तथा।
तपोमाहात्म्यजा ज्ञेया ऋषीणां शिवशर्मदाः ॥३२२८॥

अर्थ—इस प्रकार ये आठ प्रकार की ऋद्धियाँ कहलाती हैं, इन सारभूत ऋद्धियों के अनेक भेद हैं तथा ऋषियों के तपश्चरण के माहात्म्य से प्रकट होती हैं और उन्हें मोक्ष देने वाली होती हैं।

किनके ये ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं—

निराकाङ्क्षास्त्रिशुद्ध्या येऽनघं कुर्वन्ति सत्तपः।
ऋद्धयः सकलास्तेषां जायन्ते स्वयमेव हि ॥३२२९॥

अर्थ—जो मुनि मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक बिना किसी आकांक्षा के पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं, उनके अपने आप समस्त ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं।

तप नहीं करने से हानि—

जिनदीक्षां मुदादाय तपोऽयेऽत्र न कुर्वते।
तेषां रोगव्रजोऽमुत्र दुर्गतिर्नित्यभक्षणात् ॥३२३०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी इच्छानुसार दीक्षा धारण करके भी तपश्चरण नहीं करते उनके अनेक रोग प्रकट होते हैं और नित्य भक्षण करने से परलोक में दुर्गति होती है।

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

मत्वेति शिवसिद्ध्यर्थं कुर्वन्तु सत्तपोऽन्वहम्।
विश्वर्द्धिजनकं शक्त्या भवभीताः शिवार्थिनः ॥३२३१॥

अर्थ—यही समझकर संसार से भयभीत हुए और मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त ऋद्धियों को प्रकट करने वाला यह श्रेष्ठ तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करते रहना चाहिए।

(छन्द–मालिनी)

ऋद्धिधारी मुनिराज की वन्दना, स्तुति—

इति विमलमहर्द्ध्यालङ्कृता ये महान्तः सकलगुणसमुद्राः विश्वपूज्या ऋषीन्द्राः।
शिवगतिसुखकामा वन्दिताः संस्तुतास्ते मम निखिलनिजर्द्धीर्मुक्तिसिद्ध्यै प्रदद्युः ॥३२३२॥

अर्थ—इस प्रकार जो मुनि निर्मल महाऋद्धियों से सुशोभित हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, ऋषिराज हैं और मोक्ष गति के सुखों की इच्छा करने वाले हैं, उनकी मैं वंदना एवं स्तुति करता हूँ। वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिए मुझे अपनी समस्त ऋद्धियों को प्राप्त करें।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं महिमा—

मूलाचारादिशास्त्रान् वरगणिगदितान् संविलोक्यार्थतो वै
मूलाचारप्रदीपाभिधममृतसमं ज्ञानतीर्थं मयाऽत्र।
सम्यक्स्वाचारदीपं जगति सुयमिनां धर्मबीजं बुधार्च्य-
मेतत्स्वान्याऽघहान्यै दुरितचयहरं ग्रन्थसारं च चक्रे ॥३२३३॥

अर्थ—मैंने श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा कहे हुए मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों को देखकर तथा उनका सार लेकर अपने और अन्य जीवों के पापनाश करने के लिए अमृत के समान यह मूलाचार प्रदीप नाम का सारभूत ग्रन्थ मुनियों के लिए बनाया है। यह ग्रन्थ ज्ञान का तीर्थ है, श्रेष्ठ आचारों को दिलाने वाला दीपक है, धर्म का बीज है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है और पापों के समूह को नाश करने वाला है।

(छन्द–वंशस्थ)

ग्रन्थ रचना का कारण—

न कीर्तिपूजादिकलाभवाञ्छया न वा कवित्वाद्यभिमानकाङ्क्षया।
ग्रन्थः कृतः किन्तु परार्थसिद्धये स्वधर्मवृत्त्यै भुवि केवलं मया ॥३२३४॥

अर्थ—यह ग्रन्थ मैंने न तो अपनी कीर्ति व पूजा आदि के लाभ की इच्छा से बनाया है और न अपना कवित्व के अभिमान को दिखलाने की इच्छा से बनाया है किन्तु केवल दूसरों का उपकार करने के लिए और अपने धर्म की वृद्धि के लिए मैंने यह ग्रन्थ बनाया है।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

पूज्य सरस्वती से क्षमा याचना–

अस्मिन्ग्रन्थवरे सुमार्गकथके किञ्चिन्मयोक्तं च यत्
मात्रासन्धिपदादिहीनमखिलाज्ञानप्रमादादिभिः ।
आचाराङ्गमसंविरुद्धमथवा सर्वं क्षमत्वाऽम्ब तं
पूज्ये भारति तीर्थनाथमुखजे दोषं मदीयं भुवि ॥३२३५॥

अर्थ–हे माता सरस्वती! हे तीर्थंकर के मुखकमल से उत्पन्न हुई देवी! मैंने सुमार्ग को दिखलाने वाले इस श्रेष्ठ ग्रन्थ में अपने पूर्ण अज्ञान वा प्रमादादिक से आचारांग शास्त्र के विरुद्ध कहा हो व मात्रा, संधि, पद आदि कुछ कम कहा हो, उस मेरे दोष को हे पूज्य सरस्वती तू क्षमा कर।

(छन्द–वसन्ततिलका)

ग्रन्थ के पठन-पाठन का फल–

ये पठन्ति सुविदो वरशास्त्रं धर्मरत्ननिधिमात्महिताय।
आदिमाङ्गजमिमं निरवद्यं ते विबुध्य यतिमार्गसमग्रम् ॥३२३६॥
तत्त्वतोऽनुचरणाद्दिविसौख्यं प्राप्यशक्रपदजं शुभबीजम्।
चक्रिराजविभवं च निहत्य कृत्स्नकर्मकिलयान्ति शिवान्तम् ॥३२३७॥
ये पाठयन्ति निपुणा यमिनः शिवाय शुद्धं यथार्थसहितं वरशास्त्रमेतत्।
ते ज्ञानदानजनिताद्भुतधर्मतः स्यु र्लब्ध्वाखिलागममिह त्रिजगच्छरण्याः ॥३२३८॥

अर्थ–यह मूलाचार प्रदीप नाम का शास्त्र धर्मरूप रत्नों की निधि है, पहले आचारांग से उत्पन्न हुआ है और निर्दोष है, इसलिए जो बुद्धिमान् पुरुष अपना हित करने के लिए इसको पढ़ते हैं, वे मुनियों के समस्त मार्ग को जानकर और यथार्थ रीति से उसको आचरण कर स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ के सुखों को प्राप्त कर व वहाँ के इन्द्रपद के सुखों को प्राप्त कर बचे हुए पुण्यकर्म से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त करते हैं तथा अंत में समस्त कर्मों को नाशकर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं। जो चतुर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस शास्त्र को यथार्थ अर्थ सहित शुद्ध रीति से पढ़ाते हैं, वे ज्ञानदान से उत्पन्न हुए अद्भुत धर्म के प्रभाव से समस्त आगम के पारगामी होकर तीनों लोकों को शरणभूत हो जाते हैं अर्थात् अरहंत व सिद्ध हो जाते हैं।

(छन्द–वसन्ततिलका)

ग्रन्थ को लिखने-लिखवाने का फल–

ये संलिखन्ति सुधियः स्वयमेव चेमं ग्रन्थं धनेन धनिनः खलु लेखयन्ति।
ते ज्ञानतीर्थपरमोद्धरणाद्धरित्र्यां तीर्थेश्वराः किल भवेयुरहो क्रमेण ॥३२३९॥

अर्थ–इसी प्रकार जो बुद्धिमान् इस ग्रन्थ को स्वयं लिखते हैं व जो धनी धन खर्च कर लिखाते हैं वे इस पृथ्वी पर ज्ञानरूपी तीर्थ के परम उद्धार करने वाले कहे जाते हैं और इसीलिए वे

अनुक्रम से तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं।

(छन्द–मालिनी)

ग्रन्थकर्ता (सकलकीर्ति) शास्त्र शुद्धि के लिए विशेष ज्ञानियों से प्रार्थना करते हैं–

रहितसकलदोषा ज्ञानपूर्णा ऋषीन्द्रास्त्रिभुवनपतिपूज्याः शोधयन्त्वेव यत्नात्।
विशदसकलकीर्त्याख्येन चाचारशास्त्रमिदमिहगणिना संकीर्तितं धर्मसिद्ध्यै ॥३२४०॥

अर्थ–यह आचारशास्त्र ग्रन्थ धर्म की सिद्धि के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे आचार्य सकलकीर्ति ने बनाया है। जो मुनिराज समस्त दोषों से रहित हों, ज्ञान से परिपूर्ण हों और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हों, वे इस ग्रन्थ को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करें।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

समस्त गुणों की प्राप्ति हेतु तीर्थंकर देव की स्तुति–

सर्वेतीर्थकराः परार्थजनका लोकत्रयोद्योतकाः
वन्द्या विश्वहितोद्यता भवहराधर्मार्थकामादिदाः।
अन्तातीतगुणार्णवा निरुपमा मुक्तिस्त्रियो वल्लभा
लोकेऽकारणबन्धवो निजगुणाप्त्यै सन्तु नो वः स्तुताः ॥३२४१॥

अर्थ–इस संसार में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं, वे सब मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को प्रकट करने वाले, तीनों लोकों के पदार्थों को प्रकाशित करने वाले, तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय, समस्त जीवों का हित करने वाले, संसार को नाश करने वाले, धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को देने वाले, अनंत गुणों के समुद्र, उपमारहित मुक्ति–स्त्री के स्वामी और इस लोक में बिना कारण सबका हित करने वाले बंधुरूप हुए हैं, इसीलिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ। वे तीर्थंकर परमदेव हमारे लिए तुम्हारे अपने समस्त गुण प्राप्ति करने के लिए होवें।

(छन्द–शार्दूलविक्रीडित)

समस्त सिद्धि के लिए सिद्ध भगवान् की स्तुति–

सिद्धा मुक्तिवधूसुसङ्गसुखिनोऽनन्तास्त्रिलोकाग्रगा
ध्येयास्तत्पदकाङ्क्षिभिः मुनिवरैः प्राक्तीर्थनाथैरपि।
वन्द्याअष्टगुणाङ्किताः शिवकराः मूर्तातिगा निर्मलाः
ज्ञानांगा मम वो दिशन्तु सकलां सिद्धिं निजां संस्तुताः ॥३२४२॥

अर्थ–इसी प्रकार अनंत सिद्ध परमेष्ठी मुक्तिरूपी स्त्री के समागम से अत्यन्त सुखी हैं, तीनों लोकों के शिखर पर विराजमान हैं, सिद्धपद की इच्छा करने वाले मुनियों को ध्यान करने योग्य हैं, पहले भगवान् तीर्थंकर परमदेव ने भी उनकी वंदना की है, वे सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हैं, मोक्ष के देने वाले हैं, अमूर्त हैं, निर्मल हैं और ज्ञानरूप शरीर को धारण करने वाले हैं। ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूँ, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरे लिए तुम सबके लिए अपनी समस्त

सिद्धि प्रदान करें।

समस्त साधुओं की स्तुति—

पञ्चाचारपरायणाः सुगणिनः स्वाचारसंदर्शिन-
श्चाचाराद्यखिलांगपाठनिपुणा अध्यापकाः साधवः।
विश्वे शक्तिभरेण योगसहिताः स्वाचारमार्गोद्यताः
ये ते विश्वहितङ्कराश्च मम वो दद्युः स्वकीयान्गुणान् ॥३२४३॥

अर्थ—इस संसार में पंचाचारों के पालन करने में तत्पर तथा अपने आचारों को दिखलाने वाले दूसरों से पालन कराने वाले जितने आचार्य हैं तथा आचारांगादि समस्त अंगों के पढ़ने-पढ़ाने में निपुण जितने उपाध्याय हैं और अपनी शक्ति के अनुसार योगों को धारण करने वाले अपने आचार मार्ग में उद्यत रहने वाले तथा समस्त जीवों का हित करने वाले जितने साधु हैं, वे सब तुम्हारे लिए और मेरे लिए अपने-अपने समस्त गुण प्रदान करें।

जैन शासन की स्तुति—

भवरिपुभयभीतानां शरण्यं बुधार्च्यं निरुपमगुणपूर्णं स्वर्गमोक्षैकहेतुम्।
गणधरमुनिसेव्यं धर्ममूलं गरिष्ठं जयतु जगति जैनं शासनं पापदूरम् ॥३२४४॥

अर्थ—इस संसार में यह जैनशासन संसाररूपी शत्रु से भयभीत हुए जीवों के लिए शरणभूत है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है, उपमारहित गुणों से पूर्ण है, स्वर्ग-मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, गणधर और मुनियों के द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म का मूल है, सर्वोत्कृष्ट है और पापों से रहित है। ऐसा यह जैनशासन तीनों लोकों में जयवंत हो।

(छन्द-स्रग्धरा)

आचार प्रदीप नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं स्तुति—

विश्वेशैर्ज्ञानतीर्थं महितमपमलं वन्दितं संस्तुतं च
विश्वाचारप्रदीपं गुणगणजनकं तीर्थनाथैः प्रणीतम्।
अर्थादङ्गादिपूर्वैर्गणधरयमिभिर्यन्निबद्धं मया तत्
नित्यं यात्वत्र वृद्धिं सकलयतिगणैर्धर्मतीर्थं हि यावत् ॥३२४५॥

अर्थ—जो आचार प्रदीप ज्ञान का तीर्थ है, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, वंदनीय है, स्तुति करने योग्य है, समस्त आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, अनेक गुणों के समूह को उत्पन्न करने वाला है, अर्थरूप से भगवान् तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है तथा अर्थरूप से अंग पूर्व के द्वारा गणधर परमदेवों ने इसकी रचना की है, उसी को मैंने रचना रूप में प्रकट कर दिया है, ऐसा यह ग्रन्थ, जब तक धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति रहे तब तक, समस्त मुनियों के समूह के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे।

(छन्द-शार्दूलविक्रीडित)

आचार्य स्वयं ज्ञान तीर्थ की स्तुति करते हुए स्तुति के फल की कामना कर रहे हैं—

एतद्ज्ञानसुतीर्थसारमतुलं प्रोक्तं मया संस्तुतं
वन्द्यं मेति सुलोभिनः शिवपथं रत्नत्रयं निर्मलम्।
शुद्धिं वाक्तनुचेतसां च सुमृतिं बोधिं समाधिं गुणान्
तीर्थेशां सुगतिं ददातु सकलं दुःखं निहत्य द्रुतम् ॥३२४६॥

अर्थ—यह वंदना करने योग्य, स्तुति करने योग्य, उपमारहित और सारभूत ऐसा मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान तीर्थ अत्यन्त लोभ करने वाले मेरे समस्त दुःखों को दूरकर मुझे मोक्षमार्ग प्रदान करें, निर्मल रत्नत्रय प्रदान करें, मन-वचन-काय की शुद्धि प्रदान करें, पंडित मरण प्रदान करें, बोधि और समाधि को प्रदान करें, तीर्थंकरों के गुणों को प्रदान करें और सबसे उत्तम गति प्रदान करें।

(छन्द-मालिनी)

पञ्च परमेष्ठी की स्तुतिपूर्वक मंगल कामना करते हैं—

असमगुणनिधानास्तीर्थनाथाः शरण्या
जगति रहितदेहा विश्वलोकाग्रभूताः।
विविधगुणमहान्तः साधवो येऽखिलास्ते
मम सकलसुखाप्त्यै सन्तु माङ्गल्यदा वः ॥३२४७॥

अर्थ—इस संसार में अनुपम गुणों के निधान और सबको शरणभूत जितने तीर्थंकर हैं तथा शरीर रहित और लोक शिखर पर विराजमान जितने सिद्ध हैं और अनेक गुणों से सुशोभित जितने आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं वे सब मेरे लिए समस्त सुखों को देने वाले हों और तुम्हारे लिए समस्त मंगलों को देने वाले हों।

शास्त्र के श्लोक संख्या का प्रमाण—

पञ्चषष्ठ्याधिकाः श्लोकास्त्रियस्त्रिशच्छतप्रमाः।
अस्याचारसुशास्त्रस्य ज्ञेयाः पिण्डीकृता बुधैः ॥३२४८॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रन्थे भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचितेऽनुप्रेक्षापरीषहर्द्धिवर्णनो नाम द्वादशमोऽधिकारः॥

अर्थ—विद्वान् पुरुषों ने इस आचार शास्त्र के समस्त श्लोकों की संख्या तीन हजार तीन सौ पैंसठ बतलाई है।

इस प्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में अनुप्रेक्षा, परीषह और ऋद्धियों का वर्णन करने वाला यह बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

❑ ❑ ❑

मूलाचार महाग्रन्थ अन्तर्गत श्लोकानुक्रमणिका

अ

ई

ओ

क

ख

ग

घ

च

छ

प

म

य

ष

स

समाप्तम्